भारतीय इतिहास का परिचय

15.2

डॉ० राजबली पाण्डेय

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

भारतीय इतिहास का परिचय

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

४३

भारतीय इतिहास का परिचय

लेखक

डॉ० राजबली पाण्डेय, एम. ए., डी. लिट्., विद्यारत्न

महामना मालवीय प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभाग, भाषा तथा शोध संस्थान, जबलपुर विश्वविद्यालय

तथा

भूतपूर्व प्राचार्य, कॉलेज ऑफ् इण्डोलॉजी, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय

चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : द्वितीय, संवत् २०२० वि०
मूल्य : संशोधित मूल्य 20/-

Telephone : 3076

THE
VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA
58

BHARTIYA ITIHASA KA PARICHAYA

(INTRODUCTION TO INDIAN HISTORY)

BY

DR. RAJ BALI PANDEY,
M. A. D. Litt., Vidyaratna,

Mahamana Malaviya Professor and Head of the Department of Ancient Indian History and Culture, Institute of Languages and Research, University of Jabalpur, Jabalpur

and

Ex-Principal, College of Indology,
Banaras Hindu University, Varanasi.

THE
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI-1
1963

प्रस्तावना

'भारतीय इतिहास का परिचय' भारत के इतिहास का एक धारावाहिक संक्षिप्त और सरल विवरण है। इस छोटी सी पुस्तक में विस्तार के साथ, मूल धारा के अगल-बगल के विवरणों को, देना संभव नहीं था। इसलिये इसमें उन्हीं घटनाओं, विचार-धाराओं और व्यक्तियों का समावेश किया गया है, जिन्होंने भारतीय इतिहास को किसी न किसी रूप में प्रभावित किया और उसके विकास में योग दिया है। यह चुनाव उपयोगिता और महत्त्व के आधार पर किया गया है। यह पुस्तक मुख्यतः माध्यमिक विद्यार्थियों और सामान्य पाठकों को ध्यान में रखकर लिखी गयी है। इसलिये ऐसी शैली और पद्धति को अपनाया गया है जिनके द्वारा इतिहास का क्रम और घटनाओं का महत्त्व सरलता से उनकी समझ में आ जाय।

इतिहास केवल घटनाओं और तिथियों का समूहमात्र नहीं है, किन्तु उनके भीतर से प्रवाहित होनेवाली किसी देश के जीवन की धारा है। इस धारा को पहचानना और उसकी अभिव्यक्ति करना ही इतिहासकार का काम है। किसी देश के इतिहास की आत्मा को पहचानने के लिये उसकी परम्परा और जातीय संस्कारों से परिचय आवश्यक है। यह देश के साहित्य की घनिष्ठ जानकारी के बिना संभव नहीं। इसके लिये देशीय अथवा राष्ट्रीय दृष्टि की भी अपेक्षा है। विदेशी दृष्टि और उसके अनुकरण पर किसी देश का वास्तविक इतिहास नहीं लिखा जा सकता। अभी तक भारतीय इतिहास पर विदेशी दृष्टि और पद्धति का बहुत गहरा आरोप है। सच्चे भारतीय इतिहास के प्रणयन के लिये इससे मुक्ति अनिवार्य है।

परन्तु राष्ट्रीय दृष्टि का यह अर्थ कदापि नहीं कि अपने देश की दुर्बलताओं पर पर्दा डाल दिया जाय और अपनी कोरी प्रशंसा की जाय। अपनी दुर्बलताओं को जानना, अपना आत्म-परीक्षण और उसके आधार पर अपने भावी पथ के लिये संकेत राष्ट्र की बहुत बड़ी सेवा है। किन्तु दुर्बलताओं के साथ साथ अपने देश की जीवनी शक्ति का अनुसन्धान और उसका उद्बोधन उसकी और भी बड़ी सेवा है। भावना के क्षेत्र में इतिहास का यही महत्त्वपूर्ण कार्य है। यदि इस पुस्तक द्वारा इस दिशा में विद्यार्थियों और सामान्य विद्यार्थियों को थोड़ा भी लाभ हुआ तो यह सफल समझी जायेगी।

इस पुस्तक के प्रणयन में डॉ० विशुद्धानन्द पाठक तथा श्री कन्हैया-शरण पांडेय से समय समय पर विशेष सहायता मिली, जिसके लिये मैं उनका आभारी हूँ। इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित करने के लिये चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी का भी आभार मानता हूँ।

काशी
गंगादशहरा, सं० २०२०

राजबली पाण्डेय

विषय-सूची

भारतीय इतिहास का परिचय

भारतवर्ष
(प्राकृतिक)
पामीर पठार
हिन्दुकुश
थर मरुस्थल
तिब्बत पठार
पश्चिम
पयोधि
बंगसागर
लक
द्वीप
समूह
अंडमन
द्वीप
समूह
भारत महा सागर

१ अध्याय

देश और निवासी

१. देश का नाम

जिस देश में हम बसते हैं उसका पुराना नाम भारतवर्ष है। यह नाम पड़ने के कई कारण बतलाये जाते हैं। एक परम्परा के अनुसार पौरव-वंशी राजा दुष्यन्त और शकुन्तला के पुत्र चक्रवर्ती भरत के नाम पर यह देश भारतवर्ष कहलाया। दूसरी पौराणिक ख्याति और जैन साहित्य में यह पाया जाता है कि भगवान् ऋषभदेव के बड़े पुत्र महायोगी, तपस्वी और गुणवान् भरत के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। इन दोनों परम्पराओं में एक दोष जान पड़ता है। नगरों और प्रान्तों के नाम व्यक्तियों के ऊपर रखे पाये जाते हैं, परन्तु देशों के नाम प्रायः जातियों के नाम पर पड़ते रहे हैं। अधिक सच तो यह जान पड़ता है कि भरत के वंशजों की प्राचीन भरत जाति ने ही यह नाम देश को दिया। राजनीति, धर्म, विद्या और संस्कृति में भरत जाति आर्यों में अग्रणी थी। उसके विस्तार और प्रभाव से सारा देश भारतवर्ष अथवा **'भरतों का देश'** कहलाया। यहाँ तक कि देश की विद्या और कला का नाम भी **भारती** पड़ा। जब यूनानी इस देश के सम्पर्क में आये तब उन्होंने सिन्धु नदी के पास के प्रदेशों को **इण्डिया** नाम दिया, जिसका प्रयोग युरोपीय लोगों ने सारे देश के लिये किया। भारतवर्ष में यह नाम प्रचलित न हो सका। ईरानियों ने सिन्धु के पास के प्रान्तों में बसनेवालों को हिन्दू और उनके देश को **हिन्दुस्तान** नाम दिया। पीछे ईरानी भाषा से प्रभावित और जातियों ने सारे देश को हिन्दुतान कहा। ये दोनों विदेशी नाम राजनीति के कारण चलते रहे, परन्तु देश के सामाजिक जीवन में **भारतवर्ष** नाम आज तक सर्वप्रिय रहा है और स्वतंत्र भारत ने विधानतः अपना यही राष्ट्रीय नाम ग्रहण किया है।

२. स्थिति, विस्तार और सीमा

भारतवर्ष ७ और ३७ अक्षांश उत्तरी तथा ६२ और ९८ देशान्तर पूर्वी में स्थित है। यह दक्षिणी एशिया के बीच में समुद्र में घुसता हुआ चला गया है। उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में भारत महासागर और पश्चिम में

काठियावाड से लेकर आसाम तक फैला हुआ है। उतने बड़े भूभाग पर फैलने के कारण, इसमें विविध प्रकार के जलवायु, वनस्पति, जीव-जन्तु और मानव जातियाँ पायी जाती हैं। इस विविधता ने देश के जीवन और इतिहास को बहुत दूर तक प्रभावित किया है।

३. प्राकृतिक अवस्था

मोटे तौर पर भारतवर्ष को हम नीचे लिखे भागों में बाँट सकते हैं—(१) हिमालय और उसका सिलसिला, (२) उत्तर भारत के मैदान, (३) सिन्धु और राजस्थान के मरुस्थल, (४) विन्ध्य-मेखला, (५) दक्षिण का पठार, (६) समुद्र-तट के तंग और उपजाऊ मैदान और (७) भारत महासागर और उसके द्वीप।

(१) हिमालय और उसकी शृंखला—देश के उत्तर में पूर्व से पश्चिम तक लगभग दो हजार मील लम्बाई में हिमालय और उसका सिलसिला फैला हुआ है। इस ऊँचे पर्वत ने देश के सारे जीवन को प्रभावित किया है। यह उत्तर से आनेवाली ठंढी हवा को रोकता है और समुद्र से उठनेवाली मानसूनों को उत्तर जाने से रोक करके देश में पानी बरसा कर उसको उपजाऊ बनाता है। इसकी हिमराशि से उत्तर भारत की बड़ी-बड़ी नदियाँ निकलती हैं, जिन्होंने उत्तर भारत के मैदानों का निर्माण किया है और उनको उपजाऊ और धनी बनाया है। अपना ऊँचा सिर उठाये हिमालय उत्तर में संतरी का काम करता है। इसीलिये उत्तर से इस देश पर कोई बड़ा सैनिक आक्रमण नहीं हुआ है। हिमालय की कन्दराओं के एकान्त और प्राकृतिक सौन्दर्य ने देश के मानसिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक जीवन पर छाप डाली है। हिमालय की ऊँचाई के सामने मनुष्य का अहंकार झुक जाता है। यहाँ के चिन्तकों ने हिमालय की गुफाओं में बैठ कर जीवन की गम्भीर समस्याओं पर विचार किया है। पुराणों के इलावर्त और कालिदास के शिव तथा पार्वती की विहार-भूमि को हिमालय ने ही जन्म दिया था। आज भी एकान्त-प्रेमी और आनन्द के खोजी लोग हिमालय से आकृष्ट होते हैं। पश्चिमोत्तर और पूर्वोत्तर में हिमालय की ऊँचाई कम हो गयी है। पश्चिमोत्तर में नदियों ने उसको काट कर रास्ता बना लिया है। इन्हीं रास्तों से भारत का मध्य और पश्चिमी एशिया तथा यूरोप से सम्पर्क रहता आया है। पूर्वोत्तर में रास्ते कम हैं। फिर भी बहुत पुराने समय से पीली किरात जातियाँ धीरे-धीरे इधर से इस देश में आती रही हैं। इस तरह हिमालय ने बाहरी आक्रमण और प्रभाव से देश की रक्षा करते हुए भी इसको बाहरी सम्पर्क के लाभ से वंचित नहीं किया।

(२) **उत्तर भारत के मैदान**—हिमालय की तलहटी और विन्ध्याचल के बीच में उत्तर भारत के मैदान स्थित हैं। इनके तीन भाग किये जा सकते हैं—(क) गंगा की घाटी, (ख) सिन्धु की घाटी और (ग) ब्रह्मपुत्र की घाटी। ये मैदान इन्हीं नदियों की देन हैं। ये इन्हीं की लायी मिट्टी से बने हैं, इन्हीं से सींचे जाते हैं और इन्हीं ने ही बहुत पुराने समय से इन मैदानों में आने-जाने के मार्गों को निर्धारित किया है। इन मैदानों में पहलेपहल सभ्य जीवन का उदय हुआ। यहाँ के निवासियों ने न केवल अपनी आर्थिक उन्नति की, किन्तु थोड़े परिश्रम से अपनी जीविका कमाकर शेष समय में चिन्तन और साधना के द्वारा साहित्य, कला, धर्म, दर्शन और विज्ञान को भी जन्म दिया। परन्तु जहाँ उत्तर भारत के मैदानों का उपजाऊपन यहाँ की समृद्धि का कारण था वहाँ वह मध्य एशिया की भूखी और बर्बर जातियों को आक्रमण के लिये निमंत्रण भी देता था। इन मैदानों में कोई प्राकृतिक रुकावट न होने के कारण आक्रमणकारी आसानी से उत्तर भारत पर शीघ्र फैल जाते थे।

(३) **सिन्ध और राजस्थान के मरुस्थल**—सिन्धु की घाटी का निचला भाग प्रायः मरु है। बहुत पुराने समय में यह हरा-भरा प्रदेश था, परन्तु वर्षा की पेटियों के बदलने और सिस्तान और ईरान के रेगिस्तानों के प्रभाव से यह क्रमशः मरुस्थल होता गया। राजस्थान का अधिकांश एक समय समुद्र था; उसके सूख जाने पर उसका पेटा रेगिस्तान के रूप में निकल आया। इन रेगिस्तानों ने बोलन दर्रे से चढ़ाई करनेवाली जातियों को पूर्व की ओर बढ़ने से रोका और खैबर दर्रे से आनेवाली जातियों को दो धाराओं में बाँट दिया। एक धारा दक्षिण-पूर्व न जाकर सीधे पूर्व चली जाती थी और दूसरी सिन्धु के सहारे सिन्ध होते हुए सुराष्ट्र और फिर दक्षिण में चली जाती थी। बाहरी आक्रमणों से दब कर मध्य-युग में कई राजवंशों ने राजस्थान में शरण ली और नये राजवंशों की स्थापना करके प्राचीन भारतीय जीवन और संस्कृति की रक्षा की।

(४) **विन्ध्य-मेखला**—भारत के बीचोबीच खंभात की खाड़ी से लेकर बंगाल की खाड़ी तक पहाड़ों का सिलसिला चला गया है। जिस तरह हिमालय भारत को एशिया के और देशों से अलग करता है उसी तरह, कम पैमाने पर, विन्ध्याचल दक्षिण भारत को उत्तर से विभक्त करता है। हिमालय की तरह यह भी पश्चिम और पूर्व की ओर झुक गया है। इन छोरों की ओर रास्ते बन गये हैं, जिनसे होकर उत्तर-दक्षिण के बीच आना-जाना और सम्पर्क उत्पन्न हुआ। इसके कारण उत्तर-दक्षिण में प्राकृतिक भेद होते हुए भी जीवन में समता और समन्वय स्थापित हुए। विन्ध्य के अंचलों में अमरकंटक, महा-

कान्तार और झाड़खण्ड के जंगली भाग हैं जहाँ जंगली और अर्द्धसभ्य जातियाँ वसती हैं, जो उत्तर और दक्षिण के सम्पर्क से धीरे-धीरे सभ्य समाज में मिलती आयी हैं।

(५) दक्षिण का पठार—विन्ध्याचल के दक्षिण और पूर्वी तथा पश्चिमी घाटों के बीच दक्षिण का पठार स्थित है। इसमें छोटी-छोटी पहाड़ियों के होते हुए भी काफी समतल भूमि है जिसमें मनुष्य के बसने, खेती करने तथा आने-जाने के लिए सुविधायें हैं। यहाँ की भूमि ज्वालामुखी के उद्गार से निकली हुई राख और लावा से बनी है और इसलिए उपजाऊ भी है। बहुत पुराने समय में यहाँ पर मनुष्यों के उपनिवेश बस गये थे और उत्तर भारत से आकर आर्यों ने अपने राज्य भी स्थापित कर लिये थे।

(६) पश्चिमी और पूर्वी घाट—दक्षिण के पठार के पश्चिम और पूर्व में पहाड़ों की दो श्रृङ्खलायें उत्तर से दक्षिण की ओर चली गयी हैं, जिनको अब पश्चिम और पूर्वी घाट कहते हैं। पहाड़ के ये दो सिलसिले मैसूर के दक्षिण में जाकर मिलते हैं, और इनकी संगम-भूमि को मलय पर्वत कहते हैं। इसके दक्षिण में सुदूर-दक्षिण के प्रदेश हैं, जिसमें द्रविड अथवा तामिलनाड सबसे प्रसिद्ध है। दक्षिण की प्रायः सभी नदियाँ दक्षिण के पश्चिमी घाट से निकलती हैं, और पठार को सींचती हुई पूर्वी घाट को काटकर बंगाल की खाड़ी में गिरती हैं। पश्चिमी घाट की पहाड़ियों में मनुष्य को अपनी जीविका के निर्वाह के लिए कड़ा परिश्रम करना पड़ता है, इसलिए यहाँ मनुष्य का स्वभाव युद्ध-प्रिय है। यही कारण है कि बहुत प्राचीन काल में कई युद्धप्रिय राजवंश पश्चिमी घाट के प्रदेशों में उत्पन्न हुए। पश्चिमी घाट ने अपनी पहाड़ी स्थिति और पर्वत-दुर्गों के कारण बहुत दिनों तक विदेशी आक्रमणों को रोका। मुसलमानों और अंग्रेजों का आधिपत्य यहाँ सबसे पीछे स्थापित हुआ।

जहाँ तक सुदूर दक्षिण का प्रश्न है, प्रकृति ने इसे कई छोटे-छोटे भागों में बाँट दिया है। इसीलिए यहाँ विभिन्न प्रकार की जातियाँ, भाषायें और रीति-रिवाज पाये जाते हैं। यही कारण है कि जाति-प्रथा का सबसे भयंकर रूप इसी प्रदेश में मिलता है और भारतीय इतिहास में इस प्रदेश के छोटे-छोटे टुकड़े बराबर अलग रहने का प्रयास करते आये हैं।

(७) समुद्र तट के तंग और उपजाऊ मैदान—पश्चिमी घाट और पश्चिमी सागर के बीच एक तंग समुद्र का किनारा उत्तर में कोंकण से लेकर दक्षिण में केरल तक चला गया है। पश्चिम सागर से उठनेवाली मानसून यहाँ बहुत अधिक पानी बरसाती है, इसलिए यह किनारा अत्यन्त हरा-भरा है। यद्यपि इसमें अच्छे प्राकृतिक बन्दरगाह बहुत कम हैं, फिर भी यहाँ के समुद्र-

तट के नगरों से पश्चिमी एशिया, अफ्रिका और भूमध्यसागरीय प्रदेशों से सम्पर्क होता रहा है। पूर्वी घाट और बंगाल की खाड़ी के बीच का प्रदेश पश्चिमी समुद्र से अधिक चौड़ा और समतल है यहाँ पानी भी पर्याप्त बरसता है, इसलिए यह खेती और बसने के लिए उपयुक्त भी है। पुराने समय में उत्तर भारत से उड़ीसा होते हुए यहाँ आने का मार्ग था और कलिंग, आन्ध्र और द्रविड राज्य यहाँ स्थापित थे।

(८) लंका—यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से लंका भारत से आजकल अलग है, फिर भी प्राकृतिक और सांस्कृतिक दृष्टियों से यह भारत का ही एक अंग है। वास्तव में सुदूर-दक्षिण की भूमि समुद्र में घुसती हुई लंका तक चली जाती है, यद्यपि बीच में उसकी तह नीची हो जाने के कारण एक उथला समुद्री भाग बीच में आ गया है। लंका और भारत के बीच में बराबर घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। लंका की जातियाँ, वहाँ की भाषायें, सामाजिक रीति-रिवाज और धार्मिक विश्वास और संस्थायें भारत से मिलती-जुलती हैं।

(९) समुद्र—भारत का पश्चिमी भाग, दक्षिणी छोर और पूर्वी भाग भारत महासागर से घिरे हुए हैं। भारत महासागर भारत को न केवल दूसरे देशों से अलग करता है, परन्तु उसको एशिया, दक्षिणी पूर्वी युरोप, अफ्रिका, हिन्दचीन और पूर्वी द्वीप-समूह से मिलाता भी है। दक्षिणी एशिया के बीच में होने के कारण भारत इसी समुद्र के द्वारा व्यापार तथा राजनीतिक और सांस्कृतिक धाराओं का बहुत प्राचीन काल से केन्द्र रहा है।

४. निवासी

(अ) प्रजातियाँ—विशाल देश होने के कारण भारतवर्ष कई भौगोलिक भागों में बँटा हुआ है, जो जलवायु में एक दूसरे से भिन्न हैं। इसी कारण बहुत पुराने समय में भारत में कई प्रजातीय भूमियाँ बन गयीं। भारत की सबसे बड़ी प्रजातीय भूमि उत्तर भारत में आर्यावर्त्त था, जहाँ पर आर्य प्रजाति का उदय और विकास हुआ। इसके उत्तर में हिमालय के उपरले भागों में किरात प्रजाति का मूल स्थान है। आर्यावर्त्त के दक्षिण विन्ध्य-मेखला में कई जंगली और पर्वतीय प्रजातियाँ बसती थी, जिनको मोटे तौर पर शबर-पुलिंद कहा जा सकता है। विन्ध्य के दक्षिण में प्राचीन काल में कई प्रजातियाँ रहती थीं, जिनके नाम पुराणों और महाकाव्यों में वानर, ऋक्ष, राक्षस आदि पाए जाते हैं। इन प्रजातियों के साथ उत्तर भारत और विन्ध्य-मेखला में बहुत प्रजातियाँ आकर मिल गयीं। इन मिश्रित प्रजातियों का आधुनिक सामूहिक नाम द्रविड है। भारत की सब प्रजातियों का विस्तार

मिश्रण, राजनीतिक युद्ध, उपनिवेश, व्यापार तथा सामाजिक और धार्मिक सम्पर्क से बराबर होता आया है, इसलिए यद्यपि मूल प्रजातीय भूमियों में मूल जातियों की प्रधानता है, फिर भी भारत की जातियों में परस्पर मिश्रण बहुत हुआ है। भारत की मूल प्रजातियों में कुछ बाहर के लोग भी आकर मिल गये, जिनमें ईरानी, यूनानी, शक, कुषण, हूण, अरब, तुर्क और बहुत कम

शबर

किरात (मंगोल)

द्रविड

आर्य
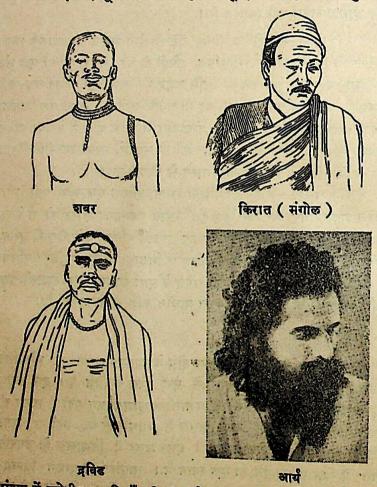
संख्या में युरोपीय प्रजातियाँ सम्मिलित हैं। अरबों के पहिले जो जातियाँ देश में बाहर से आयीं वे भारतीय समाज में पूर्णतया घुल-मिल गयीं। अरब और उनकी परवर्त्ती मुस्लिम जातियाँ धार्मिक और राजनीतिक कारणों से भारतीय जनता से नहीं मिल सकीं, यद्यपि साथ बसने के कारण भारतीय समाज से प्रभावित हुईं और भारतीय समाज पर इन्होंने भी अपना प्रभाव डाला। भारतीय इतिहास के निर्माण में इन सभी जातियों का हाथ है।

(आ) **भाषायें**—जिस प्रकार भारत में कई प्रजातीय भूमियाँ हैं, उसी प्रकार उसमें कई भाषा-परिवार भी हैं। उत्तर भारत के भाषा-परिवार को **आर्यभाषा-परिवार** कहते हैं, इसमें आसामी, बंगाली, उड़िया, हिन्दी, पश्तो, सिन्धी, गुजराती और महाराष्ट्री सम्मिलित हैं। इनके ऊपर कम या अधिक मात्रा में अन्य आर्येतर भाषाओं का भी प्रभाव पड़ा है।

दक्षिण की भाषाओं की गणना **द्रविड-भाषा-परिवार** में है। इसमें तेलगू, तामिल, कन्नड और मलयालम सम्मिलित हैं। लंका की तामिल भाषा भारत की तामिल भाषा से प्रायः अभिन्न है, और सिंहली भाषा आर्य-भाषा-परिवार की एक शाखा है। इन भाषाओं के ऊपर आर्य-भाषाओं की गहरी छाप है। विन्ध्य मेखला में बोली जानेवाली भाषाओं के परिवार को **शबर-पुलिंद** कह सकते हैं, जिसको आजकल की भाषा में आग्नेय कहा जाता है। इस परिवार की मुण्डा और मानखमेर, ये दो मुख्य बोलियाँ हैं। हिमालय के उपरले भाग और पूर्वोत्तर छोरों में **किरात-भाषा-परिवार** है, जिस पर तिब्बती और चीनी भाषा का प्रभाव है, किन्तु इनका शब्द भाण्डार आर्यभाषा परिवार के शब्दों से भरा हुआ है। भारत की सभी भाषाएँ प्राचीन ब्राह्मी लिपि से निकली हुई देवनागरी तथा अन्य प्रादेशिक लिपियों (ब्राह्मी से निकली हुई) में लिखी जाती हैं। उर्दू कही जानेवाली भाषा हिन्दी की ही एक विभाषा है, जो इस्लामी प्रभाव के कारण अरबी, फारसी शब्दों से भरी हुई और अरबी लिपि में लिखी जाती है।

५. भारत की मौलिक एकता

भारत में भौगोलिक विविधता, जातीय भेद और भाषाओं की बहुलता देखकर भारत की एकता कभी कभी आँखों से ओझल हो जाती है। इस बात पर आवश्यकता से अधिक जोर देकर बहुत से लेखकों ने यह भी मान लिया है कि भारत में कभी एकता रही नहीं है। यह धारणा बाहरी भेदों पर अवलम्बित और भ्रान्त है।

यह ठीक है कि प्रकृति ने भारत को कई भागों में बाँट रखा है, पर यह और भी अधिक सच है कि प्रकृति ने भारत की एक दृढ सीमा बनाकर उसको एक **भौगोलिक इकाई** प्रदान की है। भौगोलिक दृष्टि से भारत एक स्पष्ट इकाई है। इस भौगोलिक इकाई को भारत के लोगों ने अपनी बुद्धि और भावना में भी उतार लिया है। जब कोई धार्मिक व्यक्ति स्नान करता है, तो भारत की मुख्य सात नदियों के जल का आह्वान करता है।[1] इसी प्रकार

---

१. गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

भारतीयों की धार्मिक भावनायें भारत के सात कुलपर्वत, सात पवित्र पुरियाँ तथा चारों धाम, सारे भारतवर्ष के ऊपर फैले हुए हैं। उदाहरण के लिए धामों में वदरिकाश्रम हिमालय के अंचल में, रामेश्वरम् भारत और लंका के बीच में, द्वारका पश्चिमी समुद्र तट पर और जगन्नाथपुरी पूर्वी समुद्र-तट पर स्थित हैं। ये चारों धाम सभी भारतीयों के लिये समान रूप से पवित्र और दर्शनीय हैं। भारतभूमि को स्वर्ग से भी श्रेष्ठ माना गया है—'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।' विष्णुपुराण ने भारतभूमि की प्रशंसा इन शब्दों में है :

'गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥'

[देवता यह गान करते हैं कि भारत में रहनेवाले धन्य हैं। स्वर्ग तथा मोक्ष के कारणभूत इस भारत में, पुरुषों को देवत्व से पुनः मानव रूप में अवतारित होना पड़ता है।]

भारतीय इतिहास में राजनीतिक एकता का भी अभाव नहीं रहा है। बहुत प्राचीनकाल से भारतीयों का यह राजनीतिक आदर्श रहा है कि सारा देश एकछत्र के शासन में रखा जाय। ब्राह्मण साहित्य में तथा पुराणों में कई एक चक्रवर्ती राजाओं और सम्राटों के दृष्टान्त पाये जाते हैं, जो सारे देश के ऊपर आधिपत्य स्थापित करके अश्वमेध, राजसूय और वाजपेय आदि यज्ञ करते थे। छठवीं शताब्दी ई० पू० के बाद भी नन्द, मौर्य, शुङ्ग, आन्ध्र, गुप्त, और पुष्य-भूति आदि वंशों ने भारत में बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित किये। मध्य और आधुनिक युग में भी प्रतिहार, गहरवार, चालुक्य, राष्ट्रकूट, चोल और पालवंश के बहुत बड़े-बड़े राज्य स्थापित हुए।

भारतवर्ष में भौगोलिक और राजनीतिक एकता से कहीं अधिक गम्भीर और स्थायी सांस्कृतिक एकता है। भारत की सामाजिक व्यवस्था में वर्ण और जाति का आधार प्रायः सब स्थानों में पाया जाता है। सभी प्रान्तों में कुछ स्थानीय भेद होते हुये भी सामाजिक रीति-रिवाज प्रायः एक तरह के मिलते हैं। धार्मिक जीवन और दार्शनिक विचारों में भी बहुत साम्य है। भाषा और साहित्य भारत को एक सूत्र में बाँधने के लिए बहुत बड़े साधन रहे हैं। संस्कृत, पालि एवं प्राकृत सारे देश में लगभग समान रूप से आदर पाती थीं। वेद, रामायण, महाभारत तथा दूसरे महाकाव्य, नाटक और कथासाहित्य सारे देश की समान रूप से सम्पत्ति हैं। साहित्य और कला के आदर्श भी प्रायः समान ही हैं। भवन निर्माण-कला, मूर्ति-कला, चित्रकला, संगीत और रंगमंच इन सभी में भारतवर्ष की मौलिक एकता स्पष्ट दिखायी पड़ती है।

२ अध्याय

भारत की आदिम सभ्यता

भारतवर्ष संसार के उन देशों में से है, जहाँ पर पहलेपहल मानव जातियों का उदय हुआ। ये मानत जातियाँ पहले पशुओं की तरह अपना जीवन विताती थीं। उनको अच्छी तरह सभ्य होने में बहुत लम्बा समय बीता। उनके विकास के कई काल थे। इन कालों का नाम मनुष्यों के भौतिक साधनों के ऊपर रखा गया है। जिस काल में जिस वस्तु के हथियार और औजार मनुष्य बनाता था, उन्हीं के आधार पर कालों का भी नामकरण किया गया है। मोटे तौर पर इन कालों को पूर्व पाषाण-काल, उत्तर पाषाण-काल और धातु-काल कहा जा सकता है।

१. पूर्व पाषाण-काल

पूर्व पाषाण-काल में मनुष्य जंगली पशुओं के समान रहता था और उन्हीं के साथ संघर्ष में अपना जीवन बिताता था। उन पशुओं से अपनी रक्षा करने और कुछ खाने-पीने के सामान इकट्ठा करने तथा उनको खाने योग्य बनाने के लिए पत्थर के टुकड़ों को तोड़-फोड़कर मनुष्य ने कुल्हाड़ी, तीर, भाले तथा काटने, खोदने, फेंकने, छेद करने, कूटने और छीलने के बहुत से हथियार तथा औजार बनाये। इस काल के मनुष्यों को अपना घर बनाना नहीं आता था, इसलिये उन्होंने गर्मी, वर्षा और ठण्डक से अपनी रक्षा करने के लिए पहाड़ों की गुफाओं और नदियों या झीलों के छोड़े हुए कगारों में शरण ली।

मनुष्य जंगल के फल और मूल इकट्ठा करके तथा जानवरों का शिकार करके अपना निर्वाह करता था। शायद आग का उपयोग उसे मालूम न था, इसलिए भोजन के सामान को वह कच्चा ही खा जाता था। असभ्य होते हुए भी मनुष्य में कुछ सामाजिक भाव उत्पन्न होने लगे। वह छोटे-छोटे समूहों में रहता था और लज्जा उत्पन्न होने पर अपने गुप्तांगों को पत्तों और पेड़ों की छाल से उसने ढकना शुरू किया। ऐसा जान पड़ता है कि यद्यपि मनुष्य भौतिक शक्तियों से डरता अवश्य था, किन्तु उसमें धर्म की भावना उत्पन्न नहीं हुई थी। वह अपने मुर्दों को जंगलों या खुले मैदानों में छोड़ देता था, जिनको जंगली जानवर खा जाते थे या वे अपने आप सड़-गल जाते थे।

२. उत्तर पाषाण-काल

पूर्व पाषाण-काल में बहुत लम्बा समय बिताने के बाद मनुष्य ने धीरे-धीरे अपनी स्मृति, अनुभव और परम्परा से लाभ उठाते हुए सभ्य जीवन में प्रवेश किया और मानव विकास का उत्तर पाषाण-काल शुरू हुआ। यद्यपि इस युग में भी मनुष्य पत्थर के ही हथियारों और औजारों से काम लेता था, फिर भी पहले की अपेक्षा वे अधिक सुन्दर बनने लगे और उनकी संख्या और प्रकार
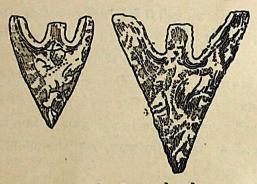
पाषाण-काल के हथियार और औजार
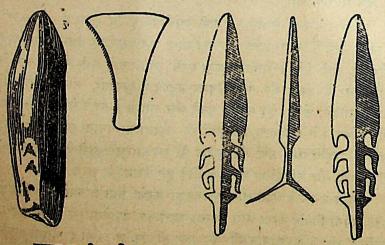
पाषाण कालीन हथियार धातु कालीन हथियार

भी बढ़ गये। मनुष्य ने इसी युग में सभ्यता की मजबूत नींव रखी। उसने अपना घर आप बनाना शुरू किया। प्रकृति की बनायी हुई कन्दराओं और कगारों को छोड़कर अपने हाथ से उसने लकड़ी की टहनियों, फूस और मिट्टी तथा पत्थर के ढेलों से झोपड़ियाँ बनायीं। मनुष्य के उद्योग-धन्धों में भी विकास हुआ। फल और मूल इकट्ठा करने से सन्तुष्ट न होकर उसने पशुपालन और

खेती करना भी शुरू किया। पशुओं को एक बार मार डालने के बदले, मनुष्य ने उनको पालना, उनका दूध पीना और उनसे काम लेना सीखा। जंगल को कहीं-कहीं साफ करके उसने अनाज पैदा करना भी प्रारम्भ किया। इन दोनों व्यवसायों के अलावे बढ़ई, पत्थरकट, कुम्हार, बुनकर, रंगरेज आदि के पेशे भी इसी समय शुरू हुए। जंगलों में बिजली गिरने या पेड़ की टहनियों की रगड़ के कारण आग लग जाने से मनुष्य को कभी-कभी भुना हुआ मांस मिल जाता था। उसको पके हुए भोजन का स्वाद लग गया और उसने भोजन पकाने की कला भी सीखी। पूर्व पाषाण-काल में पत्ते और छाल से ही मनुष्य अपना शरीर ढकता था, उत्तर पाषाण-काल में कपास का पता उसे लग गया था और उसने कपास बोना, सूत कातना, और कपड़े बुनना और रंगना भी सीख लिया। कपड़े थोड़े और दो-तीन टुकड़ों में ही पहिने जाते थे। बाल सँवारने और शरीर का श्रृंगार करना भी लोगों ने सीखा। पत्थर, कौड़ी, सीप, हड्डी, नख आदि के बने हुए आभूषण भी लोग धारण करने लगे।

जहाँ मनुष्य ने अपने भौतिक जीवन में विकास किया, वहाँ सामाजिक और मानसिक जीवन में भी उन्नति हुई। भौगोलिक कारणों से मैदान, जंगल मरु, पर्वत और समुद्र-तट पर अलग-अलग जातियों का संगठन हुआ। ये जातियाँ आपस में तो संगठित और एकरूप थीं, परन्तु रीति-रिवाज और रहन-सहन में दूसरी जातियों से भिन्न होती थीं। पशुपालन और खेती के धन्धों ने मनुष्य को बड़े-बड़े परिवारों में रहने को विवश किया। इससे पति, पत्नी, मातापिता, भाई-बहन आदि के सम्बन्ध भी स्थिर हुए। परिवार का सबसे योग्य और अनुभवी पुरुष परिवार का नेता होता था। कई परिवारों का एक मुखिया भी इसी युग में उत्पन्न हुआ, जिसने आगे चलकर धीरे-धीरे राजा का रूप धारण किया। ऐसा जान पड़ता है, कि इसी काल में धार्मिक भावना भी उत्पन्न हुई। मनुष्य अपनी उपमा से संसार के पदार्थों में एक जीवनीशक्ति का अनुभव करता था, जिसको भूतवाद कहा जा सकता है। उसको ऐसा विश्वास हुआ कि शरीर के मरने पर भी वह जीवन-शक्ति नष्ट नहीं होती, इसलिए उसने मरे हुए व्यक्तियों की समाधि और दाह-संस्कार करना भी शुरू किया। जीवन-शक्ति से संयुक्त पत्थर के टुकड़ों और लकड़ी के कुन्दों की पूजा भी शायद इसी समय प्रारम्भ हुई। जीवन में उन्नति के साथ-साथ मनुष्य ने पदार्थों और भावों को समझने के लिये भाषा का भी विकास किया। ध्वनि, अर्थ और कल्पना के आधार पर शब्द, वाक्यांश और वाक्यों की रचना होने होने लगी। इस तरह स्पष्ट मालूम होता है कि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में

मनुष्यों ने उत्तर पाषाण-काल में काफी उन्नति कर ली थी और आगे की सभ्यता के लिये रास्ता साफ कर लिया था।

३. धातु-काल

उत्तर पाषाण-काल के आखिरी दिनों में ही मनुष्य का कुछ धातुओं से परिचय हो गया था। सबसे पहले उसे सोने का पता चला। सोने की चमक में एक बड़ा आकर्षण था। वह इसकी खोज में इधर-उधर भटकता फिरता था। सोना केवल गहने बनाने के काम आता था, भौतिक जीवन के विस्तार में इससे कोई विशेष सहायता नहीं मिली। सोने के बाद उत्तर भारत में ताम्र-काल और दक्षिण में लौह-काल शुरू हुआ। काँसे का काल केवल सिन्ध में पाया जाता है। ताँबे के साथ साथ चाँदी का पता भी लग गया था। धातुओं के आविष्कार ने मनुष्य की शक्ति और योग्यता को बढ़ाया। भद्दे और कमजोर औजारों और हथियारों के बदले अब वह कड़े, पैने और स्थायी धातु के सामान बनाने लगा। एक और भी बात इसमें दिखायी पड़ती है। वह उपयोगिता से ही सन्तुष्ट न रहकर सौन्दर्य पर भी ध्यान देने लगा। इस समय के हथियारों की मुट्ठियों पर स्वस्तिक (卐) और क्रास (+) बने मिलते हैं, जो सबसे पुराने धर्म और शोभा के प्रतीक हैं। इस समय के कवच के नमूने भी मिले हैं, जिनसे मालूम होता है, कि मनुष्य यंत्र-मंत्र, जादू-टोना में भी विश्वास रखता था। शव का संस्कार अक्सर दाहक्रिया से होता था, यद्यपि समाधि देने की प्रथा अब भी प्रचलित थी।

४. सिन्धु घाटी की प्राचीन सभ्यता

सिन्धु की निचली घाटी में जहाँ पर आजकल दक्षिणी-पश्चिमी पंजाब और सिन्ध के अर्द्ध रेगिस्तानी मैदान हैं, वहाँ एक समय हरे-भरे खेत और घने नगर बसे हुए थे। हरप्पा, मोहेनजोदारो और उनके आसपास के खंडहरों के खनन से बहुत-सी वस्तुयें इस काल की मिली हैं। इनके आधार पर हम प्राचीन सिन्धुघाटी की सभ्यता का चित्र खींच सकते हैं। यह सभ्यता काफी पुरानी है। इसका काल ई० पू० तीसरी और चौथी सहस्राब्दी माना गया है। इस बात पर बहुत मतभेद है कि इस सभ्यता के निर्माण करनेवाले कौन लोग थे। जो लोग यह मानते हैं कि भारतीय आर्य बाहर से इस देश में आये थे, वे सिन्धु-घाटी की सभ्यता के निर्माताओं को द्रविड या सुमेरियन मानते हैं। परन्तु खनन से निकली हुई पूरी सामग्रियों को देखने से यह कहना कठिन हो जाता है कि यह वैदिक सभ्यता से भिन्न सभ्यता थी। बहुत सम्भव तो यह जान पड़ता है कि इस सभ्यता के निर्माण करनेवाले आर्य अथवा आर्य-असुर मिली हुई जाति के लोग थे।

(अ) नगर-रचना और भवन-निर्माण—हरप्पा और मोहेनजोदारों के खंडहरों पर खड़े होनेवालों की दृष्टि को सब से पहले जो चीजें अपनी ओर आकृष्ट करती हैं, वे हैं इन स्थानों की नगर-रचना और मकान बनाने की कला। ये नगर एक निश्चित योजना के अनुसार बनाये गये थे। यहाँ पर सड़कें सीधी और एक दूसरे को समकोण पर काटती हुई जाती हैं तथा उनके किनारे पंक्तियों में मकान बने हुए थे। मकान ईंट के बनते थे। उनकी नीवें काफी गहरी तथा चौड़ी और दीवारें मोटी बनी हुई हैं। बहुत से मकान दो-मंजिले बने थे। घरों की फर्श ईंट की बनी हुई और पक्की थी। हरेक मकान में खिड़की और दरवाजे लगे हुए थे। अक्सर प्रत्येक मकान में कुआँ मिलता है और घर घर में स्नान-गृह, अग्निकुण्ड, गन्दे तथा बरसात के पानी निकालने के लिये मोरियाँ और कूड़ा रखने के लिये स्थान बने हुए हैं। सिन्धु घाटी के रहनेवालों को मकानों में आराम, हवा के प्रवेश और सफाई का पूरा ध्यान था। हरप्पा और मोहेनजोदारो के मकानों को चार भागों में बाँटा जा सकता है :—(१) साधारण नागरिकों के रहने के मकान, (२) सार्वजनिक उपयोग के मकान, (३) सार्वजनिक स्नान के कुण्ड और (४) मन्दिर तथा धर्म-स्थान मोहेनजोदारो में एक बहुत बड़ा स्नान-कुण्ड मिला है। यह चौकोर बना हुआ है और उसमें नीचे उतरने की सीढ़ियाँ हैं। इसके किनारे कमरे बने हुए थे, जो शायद कपड़े बदलने के काम में आते थे। कुछ विद्वानों का मत है कि यह कुण्ड मनोविनोद के लिये था, लेकिन बहुत से लोग यह मानते हैं, कि इसका उपयोग धार्मिक था, और पर्व के अवसरों पर लोग इसमें स्नान करते थे।

सिन्धु घाटी की सभ्यता

(आ) आर्थिक जीवन—सिन्धु घाटी की फलती-फूलती सभ्यता का आर्थिक आधार काफी पक्का था। इन नगरों के पीछे के मैदानों में खेती होती थी, लोग पशु-पालन करते थे, और कई तरह के उद्योग धन्धे भी चलते थे।

खुदाई के अवसर पर गेहूँ और जौ के नमूने कोयले के रूप में मिले हैं। फलों में खजूर, जो आज भी सिन्ध में पाया जाता है, यहाँ का मुख्य फल था। बहुत से जानवरों के अस्थिपंजर और हड्डी के टुकड़े खुदाई के समय मिले थे। इनसे मालूम होता है कि गाय, बैल, भैंस, भेड़, हाथी, ऊँट, जबरा, सूअर, मुर्गाबियाँ आदि पाले जाते थे। घोड़ों और कुत्तों की हड्डियाँ भी यहाँ पायी गयी हैं। हरिण और नेवले आदि जंगली जानवरों की हड्डियाँ भी खुदाई में मिली हैं। खेती और पशुपालन के साथ-साथ इनसे सम्बन्ध रखनेवाले कई एक व्यवसाय यहाँ उत्पन्न हो गये थे। कपास से कपड़ा बुनने का काम लोग अच्छी तरह जानते थे। खनन में कपड़े के टुकड़े भी कोयले की शक्ल में पाये गये थे। सिन्ध आज भी कपास के लिए भारत में प्रसिद्ध है। धातु, पत्थर और लकड़ी के गहने भी बनाये जाते थे। मिट्टी के बर्तन बनाने की कला में लोग काफी निपुण थे।

(इ) सामाजिक जीवन—इन नगरों के निर्माण से यह भी मालूम होता है, कि यहाँ के निवासी दुकानदारी और व्यापार का काम भी जानते थे। नगर-निर्माण, मकानों की बनावट और मिले हुए पदार्थों से यह मालूम होता है, कि इन नगरों में मध्यम श्रेणी के लोग बसते थे, जिनमें न कोई बहुत धनी और न कोई बहुत दरिद्र था। इनके जीवन में समता थी और सम्भवतः इनकी शासन-प्रणाली पंचायती थी। यहाँ के भोजन में अन्न, फल, मांस, अण्डे, दूध आदि मुख्य थे। कपड़े पहनने में काफी सादगी थी। ऊपर के वस्त्र में शाल और चादरें काम में आती थीं। नीचे के वस्त्र के सम्बन्ध में कुछ कहना कठिन है। जान पड़ता है कि धोती से मिलती-जुलती कोई पोशाक चलती थी। स्त्रियाँ केश सँवारती थीं और पुरुष दाढ़ी और मूँछ रखते थे। शृंगार के समय दर्पण काम में लाया जाता था। दर्पण धातु के ऊपर चमकती हुई पालिश करके बनाये जाते थे। आभूषण का शौक स्त्री और पुरुष दोनों को था। स्त्री और पुरुष दोनों ही हार, बाजू और अँगूठियाँ पहनते थे। स्त्रियों के विशेष गहनों में करधनी, कान की बालियाँ, कड़े और पायल मुख्य थे। मनोरंजन के कई एक साधन उपलब्ध थे। पर्व और उत्सवों के समय लोग गाना-बजाना करते थे। जूआ और चौपड़ खेलने की प्रथा उस समय प्रचलित थी। संगीत में गाना और बजाना तथा नाच तीनों ही विकसित थे। सार्वजनिक मकानों के खंडहर से यह मालूम होता है कि धार्मिक और सामाजिक अवसरों पर लोग इकट्ठे होकर आनन्द मनाते थे।

(ई) कला—सिन्धु घाटी के खंडहरों से यह मालूम होता है कि मकान बनाने में मज़बूती पर अधिक ध्यान था और सजावट पर कम। परन्तु भवन-

निर्माण और दूसरी कलाओं में यहाँ के निवासियों ने काफी उन्नति की थी। मूर्ति-कला के सबसे पुराने नमूने यहाँ पाये गये हैं। मानव और पशु-मूर्त्तियाँ बहुत बड़ी संख्या में यहाँ पायी गयी हैं। इनमें से कुछ शरीर की गठन और सुन्दरता के अच्छे नमूने हैं। चित्र-कला के नमूने केवल मिट्टी के बर्तन पर बनी हुई चित्रकारियों में पाये जाते हैं। धातु की बनी नर्तकी की एक मूर्त्ति मिली है, जो नाचने और गाने के लिये तैयार-सी जान पड़ती है। संगीत-कला के विकास की यह द्योतक है। अन्त में इन कलाओं के साथ लेखन-कला का भी आविष्कार सिन्ध के निवासियों ने किया था। छोटे-जोटे लेखों के नमूने मुद्रा, मुहर, ताबीज, तख्ती, चूड़ी और बर्तनों पर पाये गये हैं। लेखन-कला चित्र-लिपि से ही धीरे-धीरे विचार-लिपि और वर्ण-माला की ओर चलती हुई दिखाई देती है। यह कहना कठिन है, कि यह लिपि बायें से दायें या दायें से बायें लिखी जाती थी। सिन्धु की लेखन-कला, सुमेर, एलम और मिश्र की लिपियों से मिलती-जुलती है।

(उ) धार्मिक जीवन—धार्मिक जीवन पर प्रकाश डालनेवाली कोई लिखित सामग्री सिन्धु घाटी में नहीं पायी गयी है। फिर भी मिट्टी और पत्थर पर बनी हुई छोटी मूर्त्तियों और मुद्रा, मुहर और तख्तियों पर बने हुए चित्र के सहारे प्राचीन समय के धार्मिक जीवन का कुछ ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। मूर्त्तियों में, स्त्रियों की मूर्तियाँ अधिक संख्या में मिली हैं। इससे यह अनुमान किया जाता है कि मातृ-शक्ति अथवा देवी की पूजा सिन्धु-घाटी के निवासियों में प्रचलित थी। शिव की कल्पना मूर्त्ति और प्रतीक दोनों रूपों में की गयी थी। मूर्त्त रूप में पशुपति और योगी शिव की मूर्त्तियाँ पायी गयी हैं। अमूर्त रूप में लिंग और योनि की पूजा होती थी। देवी और शिव के अतिरिक्त वृक्षपूजा, पशु-पूजा, सर्प-पूजा आदि भी लोगों में प्रचलित थी। जल की पवित्रता में यहाँ के निवासियों का विश्वास था और सम्भवतः अग्निपूजा और यज्ञ आदि भी ये लोग करते थे। मृतक-संस्कार उत्तर पाषाण-काल से अपेक्षाकृत अधिक विकसित हो चुका था। शव का संस्कार दो प्रकार से होता था—(१) मृतक के पूरे शरीर को धरती में गाड़ना और (२) शरीर को जलाना और जलाने के बाद हड्डियों के अवशेष को बर्तन में रखकर उसको समाधि देना। सिन्धु घाटी में दोनों प्रकार के नमूने पाये गये हैं।

—०—

३ अध्याय

आर्यों का उदय : वैदिक सभ्यता

१. आर्यों की आदि भूमि और उनका विस्तार

(१) आदि भूमि—इस बात पर इतिहासकारों में बड़ा मतभेद है कि आर्यों की आदि भूमि कौन थी। भाषा-विज्ञान के आधार पर कुछ विद्वानों ने मध्य एशिया और कुछ ने युरोप के विभिन्न भागों को आर्यों की आदि भूमि माना है। बाल-गंगाधर तिलक ने ध्रुव-प्रदेश में जार्यों का मूल स्थान सिद्ध करने की चेष्टा की। कई विद्वान् सुमेरिया को आर्यों की जन्मभूमि मानते हैं। भारतीय साहित्य और इतिहास में एक भी ऐसा प्रमाण नहीं मिलता जिससे यह कहा जा सके कि आर्य बाहर से इस देश में आये थे। भारत की परम्परा और साहित्य में तो यही बतलाया गया है कि आर्यावर्त्त अथवा उत्तर भारत ही आर्यों की आदि भूमि है। यहीं पर आर्यों का उदय और यहीं से उनका सारे देश और बाहर के कुछ भूभागों पर विस्तार हुआ था। इस परम्परा के विरोध में कोई भी अकाट्य प्रमाण नहीं मिलता।

(२) विस्तार—पुराणों के ऐतिहासिक खण्डों में आर्यों के उदय और उनके विस्तार का क्रमशः इतिहास पाया जाता है। आज से लगभग ६ हजार वर्ष पहले उत्तर भारत के मध्य में आर्यों की शक्ति और सभ्यता का उदय हुआ। उनके तीन मुख्य केन्द्र थे—(१) अयोध्या, (२) प्रतिष्ठान, (प्रयाग के पास झूँसी) और (३) गया। भारतीय परम्परा के अनुसार मनु इस देश के प्रथम राजा थे, जो सूर्यवंश में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने ही पहले-पहल राज्य की स्थापना की और राज्य चलाने और समाज-व्यवस्था के नियम बनाये। मनु के बाद उनके पुत्रों और वंशजों ने मनु की राजधानी अयोध्या से निकल कर पास और दूर के कई राज्यों पर अधिकार किया। मनु के सबसे बड़े पुत्र इक्ष्वाकु अयोध्या की गद्दी पर बैठे और उनसे ही मुख्य मानव अथवा सूर्यवंश चला। मनु के दूसरे पुत्र नाभानेदिष्ट ने विशाला (मुजफ्फर-पुर जिले में बसाढ़) में एक राज्य की स्थापना की। उनके दूसरे पुत्र कारूष ने बिहार के दक्षिणी-पश्चिमी भाग पर अधिकार जमाया, धृष्ट ने पंजाब पर, नाभाग ने यमुना के दक्षिणी तट पर, शर्याति ने आनर्त्त (उत्तरी गुजरात) और इक्ष्वाकु के पुत्र निमि ने विदेह (पूर्वोत्तर बिहार) में अपने राज्य

स्थापित किये। मनु के कुछ वंशज पश्चिमोत्तर दर्रों को पार करके मध्य एशिया के देशों तक पहुँचे और कुछ दक्षिण में दण्डकारण्य, उत्तरापथ और मेरु की तरफ चले गये।

आर्यों का दूसरा प्रसिद्ध वंश ऐल अथवा चन्द्रवंश था। मनु की पुत्री इला से उत्पन्न पुरूरवा ने प्रतिष्ठान में ऐल वंश की स्थापना की। इस वंश को चन्द्रवंश भी कहते हैं क्योंकि पुरूरवा के पिता बुध सोम (चन्द्र) के पुत्र थे। उसके वंश का विस्तार मानव-वंश से भी बहुत अधिक हुआ। पुरूरवा का बड़ा लड़का आयु उसके बाद प्रतिष्ठान के सिंहासन पर बैठा। उसके शेष पुत्रों में से अमावसु ने कान्यकुब्ज (कन्नौज) में एक नया राज्य स्थापित किया। उसके पौत्र क्षत्रवृद्ध ने काशी में अपना राज्य बसाया। ऐल वंश में नहुष का पुत्र ययाति बहुत बड़ा विजेता और भारतीय इतिहास का पहला चक्रवर्ती राजा था। अपने विजय के बाद अपने साम्राज्य को उसने अपने पाँच पुत्रों में बाँट दिया। ययाति का सबसे छोटा पुत्र पुरु प्रतिष्ठान की गद्दी पर बैठा। ययाति के पुत्र यदु ने चम्बल, बेतवा और केन की घाटियों में, तुर्वसु ने दक्षिण पूर्व में, द्रुह्यु ने पश्चिम में और अनु ने गंगा-यमुना के दो-आब में अपना राज्य स्थापित किया। ययाति के इन वंशजों की चर्चा ऋग्वेद में कई बार आयी है। आर्यों का तीसरा वंश सौद्युम्न वंश था, जो मानवों और ऐलों के मिश्रण से उत्पन्न हुआ था। इसकी राजधानी दक्षिण विहार (गया में) थी। यहाँ गय नाम का प्रथम राजा हुआ। गय के भाई उत्कल ने उड़ीसा में एक नया राज्य बसाया। गय के दूसरे भाई हरिताश्व के बारे में कोई विशेष बात मालूम नहीं है।

आगे चलकर आर्यों ने बहुत से विजय किये और उपनिवेश बसाये। सूर्यवंश में इक्ष्वाकु से बीसवीं पीढ़ी में मान्धाता नाम के राजा हुए। वे बहुत बड़े विजयी थे। कहा जाता है कि 'सूर्य जहाँ से उदय होता है, और जहाँ वह अस्त होता है, वह मान्धाता का क्षेत्र था।' मान्धाता ने गंगा-यमुना के दोआब को जीता, और मध्य भारत को जीत कर वहाँ मान्धाता नाम की नगरी बसायी। मान्धाता न केवल बड़ा भारी विजेता था, किन्तु बहुत बड़ा विद्वान् भी था। वह ऋग्वेद की कई ऋचाओं का ऋषि अथवा रचयिता भी था। पंजाब, सीमान्त, काबुल के आसपास के प्रदेश तथा मध्य एशिया में ययाति के वंशजों की शाखाएँ और उपशाखाएँ फैलती गयीं। भारत के दक्षिणी भाग में यदुवंश की शाखा हैहय-वंश ने मध्य भारत और दक्षिण में अपने राज्य का विस्तार किया और सुदूर दक्षिण के राक्षसों को हराया। उसका युद्ध

उत्तर के सूर्यवंश से भी हुआ और उसी सिलसिले में परशुराम और हैहयों का संघर्ष भी। हैहयों के उत्थान के कुछ दिनों बाद मानव वंश में सगर नाम के प्रसिद्ध राजा हुए। इन्होंने भी आर्यों की शक्ति और राज्य का बड़ा विस्तार किया। इनके समय में ऐल वंश की शक्ति कुछ दब गयी थी, लेकिन आगे चल कर ऐल वंश की शाखा पौरव-वंश में, जिसका राज्य पाञ्चाल में था, दुष्यन्त का पुत्र भरत चक्रवर्ती हुआ। एक परम्परा के अनुसार यह भरत इतना बड़ा सम्राट् था कि इसी के नाम पर सारे देश का नाम भारतवर्ष पड़ा।

भारतीय इतिहास में सबसे प्रसिद्ध राजा मानव वंश में दशरथ के पुत्र राम हुए। राम के पहले इस वंश में रघु और दशरथ ने सूर्यवंश की शक्ति का विस्तार काफी किया था। दशरथ के पुत्र राम आदर्श रजा हुए। ये भारतवर्ष में विष्णु के अवतार और मर्यादा-पुरुषोत्तम माने जाते हैं। वाल्मीकि रामायण, महाभारत और पुराणों के अनुसार इन्हीं के समय में उत्तर भारतवर्ष का दक्षिण के साथ पूरा सम्पर्क हुआ। कहा जाता है कि अपनी विमाता कैकेयी के षड्यन्त्र से इनका अपने राज्य से देश-निकाला हुआ। राम अपने भाई लक्ष्मण और सीता के साथ गंगा को पार कर दक्षिण में जंगल की ओर चले गये। उनकी निषाद, शबर और दूसरी दक्षिण की जातियों से मैत्री हुई। घूमते हुए वे नासिक के पास पञ्चवटी में पहुँचे। राम के पहले ही उत्तर भारत से अगस्त्य, भृगु आदि ऋषि आर्य सभ्यता के प्रचारक होकर दक्षिण और सुदूर दक्षिण में पहुँच चुके थे। जान पड़ता है कि दक्षिण के लोग आर्य सभ्यता का स्वागत करते थे, परन्तु राक्षस इसके विरोध में थे। राम ने दक्षिण की बहुत-सी जातियों—वानर, ऋक्ष आदि-से मैत्री की और राक्षसों को हराकर आर्य-संस्कृति का प्रचार लंका तक किया। राम के लंका से लौटने के बाद भरत ने अपने नाना केकय के राजा की सहायता से सिन्धु, सौवीर आदि और पश्चिमोत्तर के गान्धार पर भी अधिकार जमाया। भरत के बेटे तक्ष के नाम से तक्षशिला और पुष्कर के नाम से पुष्करावती नगरी बसायी गयी। शत्रुघ्न के लड़के शूरसेन ने मथुरा के आसपास के प्रदेश को जीता जिसके कारण वह स्थान शूरसेन कहलाया। लक्ष्मण के पुत्र अंगद

धनुर्धर राम

ने आजकल के बस्ती जिले में अंगदीया और चन्द्रकेतु ने गोरखपुर-देवरिया में भारत के मल्ल राष्ट्र की स्थापना करके चन्द्रकान्ता नगरी बसायी। राम के पुत्र कुश ने कुशावती (कुशीनगर) और लव ने थोड़ा और पूर्व में शरावती नाम की नगरी स्थापित की।

राम के बाद मानव वंश की शक्ति मन्द पड़ने लगी। उनके पीछे कई सौ वर्षों तक भारतीय इतिहास में यादवों और पौरवों की सत्ता प्रबल बनी रही।
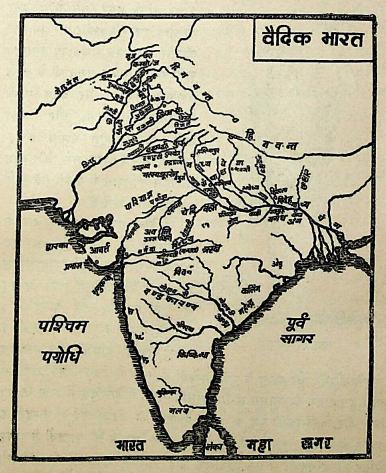
यादवों में अन्धक, वृष्णि, भोज, कुकुर आदि शाखाएँ मथुरा से लेकर द्वारका तक फैली हुई थीं। विदर्भ और दक्षिण में उनके राज्य स्थापित थे। पौरवों में पाञ्चाल का राज्य सबसे शक्तिशाली हुआ। उत्तर पाञ्चाल में दिवोदास, मित्रायु, च्यवन और सुदास आदि प्रसिद्ध राजा हुए। सुदास के विजय और राज्य-विस्तार का वर्णन वैदिक साहित्य में भी मिलता है। सुदास ने पञ्जाब

और पश्चिमोत्तर के प्रदेशों पर वहाँ की बहुत-सी आर्य और आर्येतर जातियों को हरा कर अपना आधिपत्य फैलाया। सुदास के कुछ ही दिनों पश्चात् हस्तिनापुर, कुरुक्षेत्र और दिल्ली के आसपास में कौरव वंश की प्रधानता हुई। कुरु की ५ वीं पीढ़ी में वसु नामक एक राजा हुआ। उसने विजय करके मत्स्य (अलवर-भरतपुर) से लेकर मगध तक अपने राज्य का विस्तार किया और वह चक्रवर्ती सम्राट् भी कहलाया। इसी समय यादव राज्यों में अन्धक, वृष्णि, भोज, कुकुर आदि ने राजतन्त्र को छोड़ कर गणतन्त्रों की स्थापना की और अपना एक संघ-राज्य बनाया। वृष्णिवंश में कृष्ण गणतन्त्रों के बहुत बड़े गण-मुख्य हुए और अपने समय की राजनीति, समाज और धर्म के ऊपर उन्होंने बहुत प्रभाव डाले। इसलिये मानव-वंशी राम की तरह भारतीय इतिहास में ये भी विष्णु के अवतार माने जाते हैं।

चक्रधर कृष्ण

वैदिक काल के प्रायः अन्त में हस्तिनापुर के कौरव वंश में एक महान् घटना हुई जिसे **महाभारत** युद्ध कहते हैं। प्रसिद्ध राजा शन्तनु के पोते धृतराष्ट्र और पाण्डु थे। धृतराष्ट्र जन्म से अन्धे थे, इसलिये पाण्डु राज्य के अधिकारी हुए। धृतराष्ट्र के लड़के कौरवों और पाण्डु के पुत्रों पाण्डवों में राज्य के लिये बड़ा घोर युद्ध हुआ। इस समय के लगभग सभी भारतीय राज्यों ने इस युद्ध में भाग लिया। भीषण और विध्वंसकारी युद्ध के बाद पाण्डवों की विजय हुई। पाण्डवों के सहायक कृष्ण थे। उन्हीं की सहायता और सलाह से पाण्डवों में ज्येष्ठ युधिष्ठिर की अध्यक्षता में एक मांडलिक और सांघिक साम्राज्य की स्थापना हुई। महाभारत युद्ध लगभग १४०० ई० पू० में हुआ था। इसका कारण आर्य सत्ता और संस्कृति का फैलाव नहीं, किन्तु आर्यों का आपसी द्वेष और संघर्ष था। महाभारत भारतीय इतिहास में एक युगान्तर पैदा करनेवाली घटना थी, इसके बाद एक नये युग का आरम्भ हुआ।

(३) आर्येतर जातियों से सम्बन्ध—उत्तर भारत अथवा आर्यावर्त

में आर्यों की शक्ति का विस्तार बड़ी सरलता से हुआ, परन्तु इसके बाहर आर्यों का सम्पर्क और संघर्ष कई जातियों से हुआ, जिनमें असुर, दानव, दैत्य, निषाद, शवर, किरात, वानर, ऋत्त, राक्षस आदि मुख्य थे। असुर दानव और दैत्य पश्चिमोत्तर भारत की जातियाँ थीं, जो बहुत दिनों तक आर्यों के बढ़ाव को रोकती रहीं, परन्तु धीरे-धीरे उनसे दब कर ईरान और पश्चिमी एशिया में जा बसीं। दक्षिण और सुदूर दक्षिण से भी आर्यों का सम्पर्क हुआ। कुछ जातियों ने अपनी इच्छा से तथा कुछ ने दबाव से आर्य संस्कृति, भाषा और साहित्य को ग्रहण किया। प्रायः यह देखा जाता है कि इतिहास में विजयी जातियाँ अपने से हारी हुई जातियों के साथ तीन प्रकार की नीतियों का व्यवहार करती हैं—(१)—हारी हुई जाति को बिल्कुल नष्ट करना, (२)—हारी हुई जाति को दास बनाना और (३)—हारी हुई जाति को अपने से कुछ अलग रख कर और कुछ अयोग्यताओं के साथ अपने समाज में मिला लेना। आधुनिक समय में युरोप की गोरी जातियों ने अमेरिका, अफ्रिका, आस्ट्रेलिया आदि देशों में पहले दो प्रकार की नीतियों का व्यवहार किया है। भारत के प्राचीन आर्यों ने तीसरी नीति का व्यवहार किया। इसका फल यह हुआ कि भारतवर्ष में आर्यों की प्रधानता होते हुए भी यहाँ की राजनीति, समाज और संस्कृति के ऊपर भारत की सभी प्रकार की जातियों का प्रभाव रहा और यहाँ के जीवन में उनकी देन है।

२. वैदिक सभ्यता और संस्कृति

आर्यों का पुराना राजनीतिक इतिहास बहुत कुछ पुराणों में पाया जाता है। परन्तु उनके सम्पूर्ण जीवन, सभ्यता और संस्कृति का चित्र हमको प्रारम्भिक वैदिक साहित्य में मिलता है। वैदिक काल एक बहुत लम्बा काल था। इसलिये इसमें भारतीय जीवन के विकास की कई सीढ़ियाँ पायी जाती हैं।

(अ) आर्यों का राजनीतिक जीवन—आर्यों के राजनीतिक जीवन की सबसे पुरानी और छोटी इकाई परिवार या कुल था। इसके बाद गोत्र, जन, विश आदि संगठनों से होते हुए राजनीतिक जीवन ने राष्ट्र का स्वरूप ग्रहण किया। वैदिक काल के राज्य कई प्रकार के होते थे। उनमें से कोई-कोई राज्य बहुत बड़े थे और उन्हें साम्राज्य कहा जा सकता है। छोटे राज्यों के अधिपति को राजा और बड़े राज्यों के अधिपति को सम्राट्, चक्रवर्त्ती अथवा सार्वभौम कहा जाता था। अधिकांश राज्य एकतान्त्रिक और कुछ अराष्ट्रक अथवा गणतन्त्री हुआ करते थे।

वैदिक काल की राजसंस्था का विकास युद्ध के वातावरण में हुआ। पहले एक जन या विश् के लोग इकट्ठे होकर राजा का चुनाव करते थे, आगे चल कर धीरे-धीरे राजा का पद पैतृक हो गया। राजा के काम तीन तरह के होते थे। वह शान्ति के समय सेना का संगठन और युद्ध के समय सेना का नेतृत्व करता था। दूसरे, शासन का संगठन और देखरेख उसी को करना पड़ता था। तीसरे, राजा अपने राष्ट्र का सबसे बड़ा न्यायाधीश था और सभी आवश्यक अभियोगों का निर्णय करता था। राजा की सहायता के लिये **समिति** और **सभा** नाम की दो सार्वजनिक संस्थायें होती थीं। समिति में प्रजा के सभी योग्य व्यक्ति इकट्ठे होते थे और राज्य के आवश्यक प्रश्नों पर विचार प्रकट करते थे; इसी में राजा का चुनाव भी होता था। सभा समिति से छोटी संस्था थी, जिसमें थोड़े से चुने हुए राजा के सलाहकार बैठते थे। उनकी ही सहायता से राजा अपना प्रतिदिन का काम और अभियोगों का फैसला करता था। राज्य के कुछ कर्मचारियों का विकास भी इस युग में हो चुका था। सबसे पहले कर्मचारियों में **पुरोहित** का नाम आता है। सभी तरह के धार्मिक कार्यों का वह निरीक्षण करता था और शान्ति और युद्ध के समय राजा को उचित सलाह देता था। दूसरा प्रधान कर्मचारी **सेनानी** कहलाता था, जो सेना का संचालन करता था। तीसरा कर्मचारी **ग्रामणी** था, इसका काम सेना की टुकड़ियों का संगठन और देहात से भूमि-कर और दूसरे प्रकार के करों को इकट्ठा करना था।

(आ) सामाजिक जीवन—इस काल के समाज में आर्य और आर्येतर कई जातियों के लोग शामिल थे। मोटे तौर पर चार वर्गों में समाज बँटा हुआ था, जिनको **वर्ण** कहते थे। उस समय की राजनीतिक और सैनिक परिस्थितियों ने इन वर्णों के विकास में योग दिया। समाज का जो अंग धार्मिक, बौद्धिक और शिक्षा सम्बन्धी काम करता था, उसको **ब्राह्मण** वर्ण का कहा जाता था। जो वर्ग युद्ध और शासन का काम करता था वह **राजन्य** **(क्षत्रिय)** कहलाता था। जीवन के आर्थिक साधनों से जिस वर्ग का सम्बन्ध था, उसको **विश् या वैश्य** कहते थे। जो लोग केवल शारीरिक श्रम और दूसरों की सेवा करते थे, उनको **शूद्र** कहते थे। इन चारों वर्णों के अतिरिक्त और भी बहुत से समाज में व्यावसायिक और स्थानीय दल थे। सभी वर्णों में परिवर्त्तन सम्भव था और एक ही परिवार में कई वर्णों के लोग साथ रहते थे।

समाज-संगठन की मूल इकाई **परिवार** था। वैदिक काल का परिवार पितृ-सत्तात्मक था, उसमें पति-पत्नी, उनके बच्चे, अविवाहित भाई और बहन,

पति के जीवित माता-पिता आदि सभी सम्मिलित होते थे। परिवार का नेता पिता होता था और परिवार के सभी सदस्य उसके अनुशासन में प्रेम के साथ रहते थे। इस समय विवाह-संस्था का पूरा विकास हो चुका था। वैदिक काल में विवाह के ऊपर वर्ण, जाति और गोत्र का कोई विशेष प्रतिबन्ध नहीं मिलता है। पिण्ड का बन्धन अवश्य था। मातृ-पक्ष अथवा पितृ-पक्ष के निकट सम्बन्ध में विवाह करना मना था। विवाह के समय कन्या और वर दोनों ही वयस्क होते थे और एक दूसरे के चुनाव में अपनी राय दे सकते थे। वर-कन्या का चुनाव उनके गुणों को देख कर किया जाता था। शारीरिक दोष के कारण युवक और युवतियों को कभी-कभी आजीवन अविवाहित ही रह जाना पड़ता था। विवाह की विधि वैदिक कर्मकाण्ड के अनुसार होती थी। दहेज की प्रथा बहुत प्रचलित नहीं मालूम होती है, किन्तु कन्या को पुरस्कार और कभी-कभी उसके साथ दहेज भी मिलता था।

समाज में स्त्रियों का स्थान काफी ऊँचा था। कन्या के रूप में उसका आदर होता था और उसकी शिक्षा का ध्यान रखा जाता था, यद्यपि उसके विवाह के दायित्व को समझ कर उसके जन्म के समय पिता गम्भीर अवश्य हो जाता था। स्त्री गृहिणी के रूप में घर की स्वामिनी होती थी और घर के सभी सदस्यों, नौकरों, पशुओं आदि पर उसका पूरा आधिपत्य था। माता के रूप में स्त्री का काफी आदर होता था। यह बात ऋग्वेद में अदिति, पृथ्वी, वाक् और सरस्वती की कल्पना से स्पष्ट हो जाती है। स्त्री को सामाजिक और राजनीतिक अधिकार प्राप्त थे। वह सभा, समिति आदि में भाग लेती थी और कभी-कभी युद्ध में रथ का संचालन भी करती थी। वेदों में कहीं-कहीं स्त्रियों के प्रति व्यङ्ग और निन्दा भी है, किन्तु ये प्रायः निराश प्रेमियों और अवधूतों के उद्गार हैं।

वैदिक काल की वेष-भूषा सीधी-सादी थी। अक्सर तीन तरह के कपड़े पहने जाते थे। एक अधोवस्त्र, जो आजकल की धोती की तरह होता था और कमर से लटकता था। दूसरा उत्तरीय था, जो कि चादर की तरह ऊपर कन्धे से ओढ़ा जाता था। स्त्रियाँ कञ्चुकी (चोली) पहनती थीं और पुरुष भी कभी-कभी बंडी की तरह का वस्त्र पहनते थे। कपड़े कपास और ऊन दोनों के बनते थे। किन्हीं-किन्हीं अवस्थाओं में हरिण और दूसरे जानवरों की खाल का उपयोग भी होता था। स्त्री और पुरुष दोनों ही आभूषणों के शौकीन होते थे। इस समय के गहनों में कर्णशोभन (कर्णफूल), निष्कग्रीव (हार), खादि (कंगन या कड़े), रुक्मवक्ष (छाती पर लटकने वाला गहना),

मणिग्रीव (मोती का हार) आदि के नाम पाये जाते हैं। बालों के शृङ्गार की प्रथा भी स्त्री-पुरुष दोनों में प्रचलित थी।

भोजन के पदार्थों में खेती, पशुपालन और शिकार आदि से मिले हुए पदार्थ शामिल थे। अन्न में यव, गोधूम, तिल, मसूर आदि के उल्लेख मिलते हैं। इसके अतिरिक्त शाक, फल, मूल भी लोग खाते थे। पशुओं से दूध, दही, घी और मांस मनुष्य ग्रहण करते थे। इन सामग्रियों से बहुत प्रकार के पकवान और भोजन बनते थे। पेय में पानी के अतिरिक्त दूध, सोमरस और सुरा का उपयोग भी होता था। सोमरस एक प्रकार की लता के रस से तैयार होता था, जो प्रायः हिमालय में मिलती थी। इसको देवता, ऋषि और कवि प्रेरणा के लिये पान करते थे। सुरा का उपयोग सीमित था।

वैदिक काल के लोग जीवन में पूरा रस लेते थे और विनोद के पूरे प्रेमी थे। उनके विनोद के साधनों में घुड़दौड़, रथदौड़ बहुत पुराने थे। वेदों में जुआ की निन्दा की गई है, जिससे मालूम होता है कि लोग जुआ खेलने के शौकीन थे। इस समय संगीत का भी विकास हो चुका था। नाच, गान और बाजों के संकेत वैदिक साहित्य में प्रायः मिलते हैं। मेलों और त्योहारों के अवसर पर लोगों के लिये मन-बहलाव की बहुत सामग्री इकट्ठी होती थी।

(इ) धार्मिक जीवन—यह कहा जा चुका है, कि उत्तर पाषाण काल में धार्मिक चेतना का उदय हो चुका था, परन्तु उस समय लोग भूतवाद में विश्वास करते थे। वैदिक काल में आर्यों की धार्मिक चेतना और अधिक जागृत हुई। उसने प्रकृति की शक्तियों को सजग होकर और पूरी आँख खोल कर देखा। उन शक्तियों में से उसने अपनी उपकारी शक्तियों को देवता के रूप में और अहितकारी शक्तियों को राक्षसों और पिशाचों के रूप में कल्पित किया। इस तरह सारा विश्व बहुत-सी दैवी और आसुरी शक्तियों में बँट गया। परन्तु उस समय के चिन्तकों ने अनुभव किया कि वास्तव में ये बहुत-सी शक्तियाँ एक ही शक्ति के अनेक रूप हैं। ईश्वर की कल्पना का उदय हुआ, जो कि सारे संसार का रचनेवाला और संचालन करनेवाला माना गया। वैदिक काल का चिन्तन एक ईश्वरवाद से भी आगे गया। उसने पुरुष-सूक्त में सर्वेश्वरवाद और आगे बढ़ कर अद्वैतवाद की कल्पना की। वास्तविक तत्त्व 'सत्' की खोज वैदिक ऋषियों ने की और घोषणा की, 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (एक ही वास्तविक सत्ता है, जिसे विद्वान् कई नामों से पुकारते हैं)।

यद्यपि वैदिक काल में एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद की कल्पना हो चुकी थी, फिर भी सामान्य जनता व्यवहार में प्राकृतिक देवी-देवताओं की पूजा करती थी। वैदिक देव-मण्डल बहुत बड़ा था, इसमें तीन धरातल के देवता

सम्मिलित थे—(१) पृथ्वी पर के देवता, जिनमें पृथ्वी, अग्नि, सोम आदि थे, (२) अन्तरिक्ष के देवता, जिनमें इन्द्र, आदित्य, रुद्र आदि सम्मिलित थे और (३) व्योम (आकाश) के देवता, जिसमें वरुण, उषा आदि की गणना होती थी। इनके अतिरिक्त कई एक भावात्मक देवता थे, जैसे हिरण्यगर्भ, प्रजापति, विश्वकर्मा, विराट्पुरुष, श्रद्धा, वाक् , मन्यु (क्रोध) आदि।

वैदिक देवताओं और उनके उपासकों के बीच घना सम्बन्ध था। उपासक देवताओं को प्रसन्न करने की चेष्टा करते थे और उसके बदले में उनसे जीवन के सुखों को पाने की आशा रखते थे। देवताओं को प्रसन्न करने का पहला साधन प्रार्थना अथवा मंत्रों का उच्चारण था। दूसरा साधन, भोजन की सामग्रियों तथा बलि का अर्पण करना था, जिसे यज्ञ कहते थे। लोगों का विश्वास था कि प्रार्थना और यज्ञ से देवता तृप्त होते हैं और सुखों की वर्षा करते हैं। इस समय न तो देवताओं की मूर्तियाँ थीं, और न मूर्तियों को स्थापित करने के लिये मन्दिर। मनुष्य और प्रकृति का सम्बन्ध इतना सीधा और ताजा था कि मूर्तियों की कोई आवश्यकता न थी। ऐसा जान पड़ता है, कि कुछ आर्येतर जातियों मे लिङ्गपूजा प्रचलित थी, जिसको घृणा की दृष्टि से आर्य देखते थे। पितरों को विशेष अवसरों पर निमन्त्रित और उनको श्राद्ध अर्पित किया जाता था। आर्यों में मृतक-क्रिया विधि के साथ की जाती थी, विशेषकर शव की दाह-क्रिया होती थी और उसके बाद हड्डियों के अवशेष चुनकर उस पर छोटी समाधि बनाई जाती थी। आर्य मरने के बाद जीवात्मा के पितृलोक जाने की कल्पना में विश्वास करते थे, जिसका वर्णन ऋग्वेद में पाया जाता है। स्वर्ग और नरक की कल्पना का उदय भी इस समय हो चुका था। जीवन के प्रति लोगों का दृष्टिकोण आशावादी था और धार्मिक जीवन के लिये पार्थिव सुखों का त्याग करना आवश्यक नहीं माना जाता था।

वैदिक धर्म में कुछ भक्ति के तत्व भी पाये जाते हैं। वैदिक आर्यों की एक शाखा यादवों में भक्ति-मार्ग का विकास हुआ, जो हिंसा प्रधान यज्ञ का विरोधी और अहिंसा तथा भक्ति का समर्थक था।

(ई) आर्थिक जीवन—आर्यों के आर्थिक जीवन के आधार पशुपालन, खेती और कई प्रकार के उद्योग-धन्धे थे। गोधन की बड़ी महत्ता थी और गाय आर्थिक जीवन की इकाई मानी जाती थी। गाय के अतिरिक्त बैल, घोड़े, खच्चर, गधे आदि जानवरों का आर्य उपयोग करते थे और बोझ ढोने के लिये काम में भी उनको लगाते थे। वैदिक काल में खेती का विकास भी काफी हो चुका था। खेती करने योग्य भूमि को उर्वरा या क्षेत्र कहते थे। छोटे-बड़े कई प्रकार के हल होते थे, जिनको दो या दो से अधिक बैलों की

जोड़ियाँ खींचती थीं। जुताई, बुवाई, सिंचाई, कटाई, दँवाई आदि खेती की सभी प्रक्रियाएँ आर्यों को मालूम थीं। उपज बढ़ाने के लिये खेतों में खाद डाली जाती थी और कुओं, नहरों से सिंचाई होती थी। अनाजों में गेहूँ, जौ, उड़द, मसूर, तिल, धान, आदि की खेती होती थी। पशुपालन और खेती के साथ दूसरे और उद्योग-धन्धों का विकास भी हुआ था। बढ़ई, लुहार, सुनार, चमार, तन्तुवाय (जुलाहा), वैद्य, पत्थरकट आदि कई प्रकार के पेशेवालों के नाम वेदों में पाये जाते हैं। स्थल और जल दोनों रास्तों से व्यापार होता था। सिक्के का प्रचार बहुत अधिक नहीं था, फिर भी निष्क नाम का सोने का सिक्का चलता था, जिसका उपयोग आभूषण के रूप में भी होता था। विनिमय में सामग्री का आदान-प्रदान होता था। ब्याज पर ऋण देने की प्रथा चालू थी। ऋण चुकाना लोग अपना धर्म और कर्त्तव्य समझते थे। ऋग्वेद में पार्थिव जीवन के सम्बन्ध में उद्गार पाये जाते हैं, उससे मालूम पड़ता है कि लोग आर्थिक दृष्टि से सुखी थे। इसका मुख्य कारण भारतीय भूमि का उपजाऊपन, आर्यों का परिश्रम और जनसंख्या के भार का अभाव ही मालूम पड़ता है।

४ अध्याय

उत्तर वैदिक सभ्यता

उत्तर वैदिक काल में आर्यों के जीवन और सभ्यता के सम्बन्ध में जानकारी पिछले वैदिक साहित्य से मिलती है, जिसमें ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद्, सूत्रग्रन्थ आदि शामिल हैं। इन ग्रन्थों के देखने से मालूम होता है कि इस काल में आर्यों के जीवन-काल में प्रारम्भिक वैदिक काल से बहुत अधिक परिवर्त्तन हो चुका था और उनका जीवन धीरे-धीरे पेचीदा और बोझिल हो रहा था। इस जीवन का वर्णन संक्षेप में नीचे किया जाता है।

१. राजनीतिक जीवन में परिवर्त्तन

इस समय आर्य प्रायः सारे भारतवर्ष में फैल गये थे और उनके राज्य स्थापित हो चुके थे। इस युग में छोटे-छोटे राज्यों के बदले बड़े-बड़े राज्यों का निर्माण शुरू हो चुका था और साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति साफ दिखायी पड़ती है। बहुत से चक्रवर्त्ती राजाओं का वर्णन इस काल के साहित्य से मिलता है। चक्रवर्त्ती राजा दिग्विजय करने के बाद अपना आधिपत्य जमाने के लिये अश्वमेध आदि यज्ञ करते थे। यह भी मालूम होता है, कि राजा धीरे-धीरे अपने हाथ में सैनिक सत्ता और राज्य के अधिकार लेता जा रहा था और पहले की समिति और सभा आदि सार्वजनिक संस्थाएँ अपनी शक्ति खो रही थीं। फिर भी राजा को राज्याभिषेक के समय सिद्धान्तरूप में अपने मन्त्रियों और प्रजा से राज्य का अधिकार प्राप्त करना होता था।

इस समय शासन-व्यवस्था का काफी विकास हुआ, और राज्य के मन्त्रियों में नीचे लिखे अधिकारियों का उल्लेख मिलता है।

(अ) **पुरोहित**—राज्य के धार्मिक कार्यों में राजा की सहायता करता था और शासन के सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर उसे सलाह देता था। यह आजकल के प्रधान-मन्त्री से मिलता-जुलता है।

(आ) **राजन्य**—राजवंश और अधिकारी-वर्ग का यह प्रतिनिधि था।

(इ) **महिषी अथवा पटरानी**—यह भी शासन में राजा का हाथ बँटाती थी और महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थी।

(ई) **वावाता**—राजा की प्रिय रानी।

(उ) **परिवृक्ति**—राजा की परित्यक्ता रानी।

(ऊ) **सूत**—पौराणिक पण्डित, जो धर्मशास्त्र का पूरा ज्ञान रखता था।

(ए) **सेनानी**—यह सेना का मुख्य अधिकारी तथा संचालक होता था।

(ऐ) **ग्रामणी**—यह सैनिक और कर वसूल करनेवाला अधिकारी था।

(ओ) **क्षत्रि**—राजप्रासादों का प्रबन्ध और रक्षा इसके हाथों में रहती थी।

(औ) **संगृहितृ**—यह राज्य का कोषाध्यक्ष था।

(अं) **भागदुह**—सम्पूर्ण राज्य से कर वसूल करने का प्रबन्ध इसके हाथ में था।

(अः) **अक्षावाप**—यह जुआ-विभाग का अध्यक्ष था।

(क) **गोनिकर्तन**—आखेट अथवा शिकार का विभाग इसके संरक्षण में था।

(ख) **पालागल**—यह राज्य का दूत अथवा संदेश-वाहक प्रतिनिधि था।

(ग) **रथकार**—रथ बनानेवाले विभाग का मुख्य अधिकारी रथकार कहलाता था। उस समय के सैनिक जीवन में रथ का बहुत अधिक महत्व होने से इसको शासन में भी ऊँचा स्थान मिला हुआ था।

इस विकसित शासन से प्रजा में शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित हो गयी थी और लोगों में अपराध और पाप कर्म बहुत कम होते थे। केकय देश के राजा अश्वपति बड़े गर्व के साथ एक उपनिषद् में कहते हैं 'मेरे राज्य में कोई चोर, ठग, शराबी, कर्महीन और मूर्ख नहीं है; और न कोई व्यभिचार करने-वाला पुरुष, फिर व्यभिचारिणी स्त्रियाँ कहाँ ?'

२. सामाजिक जीवन

आर्यों के जीवन में स्थिरता, समृद्धि और विलास के कारण समाज में भी स्थिरता और जड़ता के लक्षण दिखाई पड़ने लगे और जीवन में प्रवाह तथा स्वाभाविकता कम होने लगी। पहले-पहल वर्ण-व्यवस्था गुण और कर्म के ऊपर आधारित थी; अब धीरे-धीरे पैतृक व्यवसाय की तरफ आकर्षण और वर्ग-स्वार्थ के कारण वर्ण का आधार जन्म होने लगा। इसलिये वर्ण और व्यवसाय का परिवर्त्तन भी असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य होने लगा। सभी वर्णों के कामों का विस्तार और विभाजन शुरू हो गया। ब्राह्मण, पुरोहित, आचार्य, ऋषि, शिक्षक और राजमंत्री हुआ करते थे। क्षत्रियों में राजवंश, शासकवर्ग और सैनिकों की प्रधानता थी। वैश्यों में खेती, गोपालन और वाणिज्य का काम होता था। शूद्र अब भी शारीरिक श्रम और पारिवारिक सेवा का काम करते थे, किन्तु धीरे-धीरे उनमें से अधिकांश आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र होने लगे थे और अपना अलग उद्योग-धन्धा करते थे।

उत्तर वैदिक काल में **आश्रम-व्यवस्था** का पूरा विकास हुआ जो भारतीय सामाजिक व्यवस्था का एक मुख्य अंग माना जाता है। सारा जीवन चार आश्रमों में बँटा था। पहला आश्रम ब्रह्मचर्य था, जिसमें रह कर मनुष्य अपना

शारीरिक और मानसिक विकास और जीवन-यात्रा की पूरी तैयारी करता था। दूसरे आश्रम गार्हस्थ्य में प्रवेश करके मनुष्य विवाह करता था और आर्थिक, साजिक और धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन करता हुआ जीवन के उचित भोगों को भोगता था। तीसरे आश्रम वानप्रस्थ में, जो प्रायः पचास वर्ष बाद आरम्भ होता था, मनुष्य गृहस्थ जीवन से अलग होकर ज्ञान और साधन की तरफ अधिक झुकता था। चौथा आश्रम परिव्राजकों अथवा संन्यासियों का था। जीवन के सभी कर्त्तव्यों को पूरा करने के बाद अपने सांसारिक कार्य, सम्बन्ध और ममता को छोड़ कर पूरे वैराग्य का जीवन इस आश्रम में विताया जाता था और मोक्ष की ओर धीरे-धीरे मनुष्य आगे बढ़ता था।

३. धार्मिक जीवन

आरम्भिक वैदिक काल का जीवन बड़ा सरल था। मनुष्य प्रकृति के देवताओं के सामने खड़ा होकर भक्तिभाव से उसकी प्रार्थना करता, उसकी प्रसन्नता और तृप्ति के लिये भोजन के पदार्थ या तो खुले आकाश के नीचे या अपने घर के आँगन में अपने जलाये हुए अग्नि में अर्पित करता था। ऐसा करते हुए वह विश्वास करता था कि देवताओं की कृपा से उसको लौकिक जीवन के सब सुख प्राप्त होंगे। उत्तर वैदिक काल में मनुष्य ने अपने इस परावलम्बन का अनुभव किया। अब उसने देवताओं को विवश करके जीवन के भोगों को प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इस समय वैदिक मंत्रों का महत्त्व बढ़ा और यज्ञों का बहुत बड़ा विस्तार हुआ। कई प्रकार के बहुत लम्बे खर्चीले और हिंसा-प्रधान यज्ञ होने लगे। अश्वमेध, राजसूय, वाजपेय आदि राजनीतिक यज्ञों का भी विकास हुआ। समाज में विशेषज्ञ पुरोहित वर्ग का भी उदय हुआ और उसकी इतनी महिमा बढ़ी कि वह 'भूदेव' (पृथ्वी पर का देवता) माना जाने लगा। धर्म एक प्रकार का व्यापार हो गया और अपने क्रिया-कलाप के भार से दबने लगा।

एक तरफ जब वैदिक कर्मकाण्ड का इतना विस्तार हो रहा था, दूसरी तरफ उसकी प्रतिक्रिया भी शुरू हो गई। आरण्यकों और उपनिषदों के देखने से ज्ञात होता है, कि मनुष्य बहिर्मुख धर्म और जीवन से ऊब कर अन्तर्मुख हो रहा था। बाहरी संसार और उसके पदार्थों के भीतर वह एक स्थायी और सर्वव्यापी सत्ता ढूँढने की कोशिश करने लगा। उसके इसी प्रयत्न में आत्मा, ब्रह्म और मोक्ष की कल्पनाओं का उदय हुआ। उपनिषदों के अनुसार आत्मा मनुष्य के स्थूल जीवन के अन्तस्तल में एक सूक्ष्म सत्ता है, जिसमें अस्तित्व, ज्ञान और आनन्द स्थित हैं। सम्पूर्ण विश्व के मूल में

रहनेवाली और सारे विश्व में व्याप्त सत्ता का नाम ब्रह्म था। उसी से विश्व का उदय, उसी में विश्व की स्थिति और उसी में विश्व का लय होता है। मनुष्य का आत्मा स्वभावतः शुद्ध, बुद्ध और स्वतन्त्र होता है। परन्तु अज्ञान के कारण वह अपने स्वरूप को भूलकर सांसारिक बन्धन में दुःख झेलता है। अपने नैतिक आचरण और आध्यात्मिक साधन से अपने स्वरूप को पहचानना और सांसारिक बन्धनों से मुक्ति अथवा मोक्ष प्राप्त करना उपनिषदों के अनुसार मनुष्य का परम पुरुषार्थ है।

४. साहित्य, विद्या और शिक्षा

उत्तर वैदिक काल तक वैदिक साहित्य का बड़ा विस्तार हो चुका था। छन्दों के रूप में वेदों की रचना तो पहले ही हो चुकी थी, किन्तु इस समय उनका संकलन और संपादन हुआ और उन्हें संहिता का रूप मिला। ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद की कई संहिताएँ बनीं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक वेद के कई ब्राह्मण ग्रन्थ रचे गये, जिनमें ऐतरेय, शतपथ, गोपथ आदि ब्राह्मण प्रसिद्ध हैं। इसी तरह प्रत्येक वेद के आरण्यक और उपनिषद् भी विकसित हुए। उपनिषदों में ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर आदि प्रसिद्ध हैं। वैदिक साहित्य प्रायः उपनिषदों के साथ समाप्त हो जाता है। किन्तु वैदिक साहित्य से ही सम्बद्ध वेदाङ्ग और सूत्रग्रन्थ हैं। वेदाङ्गों में शिक्षा (शुद्ध-उच्चारण-शास्त्र), कल्प (कर्मकाण्ड), निरुक्त (शब्दों की उत्पत्ति का शास्त्र), व्याकरण (शुद्ध बोलने, लिखने और पढ़ने का शास्त्र), छन्द (पद्य-रचना), ज्योतिष शास्त्र (नक्षत्रों और ग्रहों की चाल और गणना का शास्त्र)। छान्दोग्य उपनिषद् में कई विद्याओं का नाम आता है, जिनमें चारों वेद, इतिहास, पुराण, व्याकरण, पित्र्य, राशि, दैव, निधि, वाक्योवाक्य, एकायन, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या और देवजनविद्या का उल्लेख किया गया है।

इतने बड़े साहित्य और विस्तृत विद्या के संरक्षण, विकास और संक्रमण के लिये इस काल के लोगों ने शिक्षा की भी व्यवस्था की थी। शिक्षा के लिये व्यक्तिगत गुरुओं के मकान, गुरुकुल और बस्ती से दूर आश्रम बने हुए थे। विद्यार्थियों को ब्रह्मचर्य-काल में इन्हीं केन्द्रों में रहकर विद्याध्ययन करना पड़ता था। ब्रह्मचर्य-जीवन में संयम, नियम तथा शारीरिक और मानसिक शक्ति और पवित्रता पर अधिक जोर दिया जाता था। शिक्षा का आदर्श सांसारिक उन्नति और परमार्थ की प्राप्ति था। गुरु और शिष्य का सम्बन्ध बहुत ही पवित्र और स्नेहपूर्ण था।

५ अध्याय

धार्मिक आन्दोलन : महावीर और बुद्ध

यह पहले लिखा जा चुका है कि उत्तर वैदिक काल में धर्म का स्वरूप कर्मकांड-प्रधान था और वह अपने बाहरी विस्तार से बहुत ही बोझिल, जटिल, खर्चीला और दुरूह हो चुका था। इस प्रकार के धर्म से लोगों का मन ऊबता जा रहा था और बहुत से चिन्तनशील लोगों ने उसका विरोध करना प्रारम्भ किया। वैदिक कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया में कई एक धार्मिक और दार्शनिक सम्प्रदायों का उदय हुआ, जिन्होंने वैदिक धर्म के निम्नलिखित अंगों का विरोध किया:—

(१) वेदों का प्रमाण—पुराने वैदिक धर्म में सभी धार्मिक मामलों में वेद प्रमाण माना जाता था। मीमांसकों के अनुसार वेद में लिखा या उससे निर्दिष्ट आदेश ही धर्म का आधार था। वेद के ऊपर इस अधिक विश्वास ने मनुष्य के बौद्धिक विकास को रोक दिया। सुधारक धर्मों ने वेद के इस प्रमाण का विरोध किया और उसके बदले बुद्धि और मानवी अनुभव को अधिक महत्त्व दिया।

(२) ईश्वर तथा देवता में विश्वास—पुराने विश्वास के अनुसार ईश्वर संसार का कर्त्ता और देवता के रूप में उसकी विभिन्न शक्तियाँ मनुष्य के भाग्य का निबटारा करने वाली थीं। इस परावलम्बन से मनुष्य का व्यक्तित्व दब गया था। सुधारवादी धर्मों ने इस परावलम्बन का विरोध किया और मानव को सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त करने की चेष्टा की।

(३) बाहरी क्रिया-कलाप—उत्तर वैदिक-काल में यज्ञों का बहुत बड़ा विस्तार हुआ, और मनुष्य विविध प्रकार के यज्ञों को करके जीवन के साधनों और आदर्शों को प्राप्त करने की आशा करता था। नये धर्मों ने इस बात पर जोर दिया कि वैदिक कर्म-काण्ड विश्वासमूलक और अनावश्यक था। इसके बदले इन्होंने जीवन का ध्येय प्राप्त करने के लिये नैतिक आचरण पर विशेष बल दिया।

१. महावीर और जैनधर्म

(१) महावीर का जीवन-चरित्र—वैसे तो बहुत प्राचीन काल में जैन-धर्म का उदय हो चुका था और उसमें २३ जैन तीर्थंकर भी उत्पन्न हो चुके थे,

परन्तु जिस व्यक्ति ने जैनधर्म को एक संगठित धर्म का रूप दिया वे भगवान् महावीर थे। वे २४ वें एवं अन्तिम तीर्थंकर माने जाते हैं। इनका जन्म ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व वैशाली के पास कुण्ड ग्राम में ज्ञातृ-वंश में हुआ। ज्ञातृयों की एक क्षत्रिय जाति थी और इनका एक छोटा सा गणराज्य (पञ्चायती राज्य) था। भगवान् महावीर के पिता सिद्धार्थ ज्ञातृयों के गणमुख्य थे। उनकी माता त्रिशला वैशाली के लिच्छवियों के गणमुख्य चेटक की लड़की थी। महावीर के लड़कपन का नाम वर्द्धमान था। जब ये वयस्क हुए तब उनका विवाह कुण्डिन्य गोत्रीय राजकुमारी यशोदा से हुआ था। यशोदा से अजोज्जा नामक एक कन्या भी उत्पन्न हुई। अपने पिता के मरने के बाद लगभग तीस वर्ष की अवस्था में अपने भाई नन्दिवर्द्धन से आज्ञा लेकर इन्होंने सांसारिक जीवन का त्याग किया। जृम्भिका नामक ग्राम के पास एक शाल के पेड़ के नीचे घोर तपस्या की और इन्हें वहाँ निर्मल ज्ञान की प्राप्ति हुई। इस ज्ञान के फलस्वरूप इन्हें अर्हत् (योग्य), जिन (विजयी) और केवलिन् (सर्वज्ञ) की उपाधियाँ मिलीं।

ज्ञान प्राप्त होने के बाद भगवान् महावीर पैदल घूमकर और शारीरिक कष्ट सहन करते हुए उत्तर भारतवर्ष के जनपदों में ज्ञान और सदाचार का उपदेश करते रहे। इस सिलसिले में बौद्ध और अन्य मतावलम्बियों से उनका शास्त्रार्थ होता था और बड़ी युक्तियों से वे अपने मत का प्रतिपादन करते थे। भगवान् महावीर के धर्म को मानने वाले निर्ग्रन्थ अथवा मुक्त कहलाते थे। लगभग ७२ वर्ष की अवस्था में मल्लों की दूसरी राजधानी पावा (देवरिया जिले में कुशीनगर से १२ मील की दूरी पर) में भगवान् महावीर का परिनिर्वाण हुआ।

भगवान् महावीर

(२) महावीर के सिद्धान्त और उपदेश—भगवान् महावीर के पहले भगवान् पार्श्वनाथ ने चार महाव्रतों का उपदेश किया था। इनमें अहिंसा (मन, वचन और कर्म से किसी को कष्ट न पहुँचाना), सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) और अपरिग्रह (आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह न

करना) शामिल थे। भगवान् महावीर ने पाँचवाँ व्रत ब्रह्मचर्य को भी महाव्रतों में सम्मिलित किया और शारीरिक और मानसिक पवित्रता को बहुत महत्त्व दिया। जैनधर्म में अहिंसा पर सबसे अधिक जोर दिया गया। आत्मा में कर्मों के प्रवाह को रोकने के लिए इन पाँच महाव्रतों का पालन करना आवश्यक बतलाया गया। भगवान् महावीर की साधना में तपस्या का बहुत ऊँचा स्थान था। उन्होंने दो प्रकार की तपस्या का उपदेश किया—बाह्य और आभ्यन्तर। पहले प्रकार में अनशन, भिक्षाचर्या, रसका त्याग, काय-क्लेश, संलीनता (शरीर सेवा) आदि शामिल हैं। आभ्यन्तर में प्रायश्चित्त, विनय, सेवा, स्वाध्याय, ध्यान और उत्सर्ग (शरीर-त्याग) की गिनती है। भगवान् महावीर ने सभी वर्ग के लोगों में अपने धर्म का प्रचार किया। उनके सहायकों और अनुयायियों में मगध के राजा बिम्बसार और अजातशत्रु जैसे प्रसिद्ध शासक तथा लिच्छिवि और मल्ल जैसी गणजातियाँ भी शामिल थीं। भगवान् महावीर का धर्म उस तेजी के साथ नहीं फैला जिस तेजी से उनके समकालीन भगवान् बुद्ध का धर्म। इसका कारण यह था कि जैनधर्म कठोर आचारमार्गी था और समाज के बहुत से लोग उसके पालन करने में असमर्थ थे। सामूहिक रूप से ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र वर्ग को एकान्त अहिंसा का पालन करना असम्भव था, इसलिये जैनधर्म के माननेवालों में अधिकांश वैश्य वर्ग के लोग सम्मिलित हुए, जिनका व्यवसाय व्यापार और वाणिज्य था, जिसमें शारीरिक हिंसा की कम से कम सम्भावना थी। परन्तु इसी कठोर आचरण और पवित्रता के आग्रह के कारण जैनधर्म इस देश में जीता रहा, जब कि बौद्धधर्म सम्प्रदाय रूप से अपनी जन्मभूमि से लुप्तप्राय हो गया।

२. बुद्ध और बौद्धधर्म

(१) भगवान् बुद्ध का जीवन-चरित—ईसा से लगभग ५६२ वर्ष पूर्व शाक्य गण की राजधानी कपिलवस्तु से थोड़ी दूर पर लुम्बिनी वन (गोरखपुर जिले की उत्तरी सीमा के पास नेपाल की तराई में) में भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था। शाक्य लोग सूर्यवंशी क्षत्रिय और गौतम गोत्र के थे। इसीलिए भगवान् बुद्ध को गौतम बुद्ध भी कहते हैं। उनके कुमारावस्था का नाम सिद्धार्थ था। उनके पिता का नाम शुद्धोदन था, जो शाक्यों के गणमुख्य थे। भगवान् बुद्ध की माता का नाम माया था। जब प्रसव करने के लिये माया कपिलवस्तु से अपने मायके देवदह (गोरखपुर जिले में निचलौल) के पास, जा रही थीं तो रास्ते में लुम्बिनी-

वन (रुम्मिनदेई) में भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ। जन्म के थोड़े ही दिन बाद उनकी माता का देहान्त हो गया और उनका लालन-पालन उनकी विमाता और मौसी प्रजापती ने किया था। भगवान् बुद्ध के लड़कपन का नाम सिद्धार्थ था। सिद्धार्थ बचपन से ही कोमल स्वभाव के तथा चिन्तनशील थे। संसार के दुःखों को देखकर दया से उनका हृदय भर जाता और वे सोचते थे कि संसार को दुःखों से कैसे छुड़ाया जाय। सिद्धार्थ के पिता उनके इस चिन्तनशील स्वभाव से घबराते थे कि कहीं उसका पुत्र संसार से विरक्त होकर संन्यास न ग्रहण कर ले। शुद्धोदन ने १६ वर्ष की अवस्था में सिद्धार्थ का विवाह रामग्राम (गोरखपुर) के कोलिय-गण की अत्यन्त सुन्दरी राज-

भगवान् बुद्ध
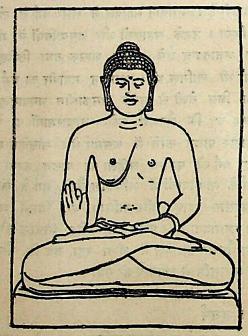
कुमारी यशोधरा से कर दिया। सिद्धार्थ की आँखों से संसार के दुःख अब भी ओझल नहीं हुए थे, परन्तु पिता के सन्तोष के लिये लगभग १२ वर्ष तक उन्होंने गार्हस्थ्य-जीवन विताया। संसार के सभी सुख उनको आसानी से प्राप्त थे, फिर भी जन्म, मरण और बुढ़ापा और रोग के दृश्य उनको विकल कर देते थे। अन्त में उन्हें यह निश्चय करना पड़ा कि वे सांसारिक जीवन से निकल कर संसार को दुःख से मुक्त करने का उपाय ढूँढ़ निकालें। एक दिन रात को अपनी स्त्री यशोधरा और पुत्र राहुल को सोते हुए छोड़ कर कपिलवस्तु से बाहर निकल गये। इस घटना को **महाभिनिष्क्रमण** कहते हैं।

सिद्धार्थ के साथ उनका घोड़ा कन्थक और सारथी छन्दक था। सिद्धार्थ ने रातोंरात शाक्य राज्य की सीमा पार की। उसके बाद सबेरा होते ही उन्होंने गोरखपुर जिले में अनोमा (आमी) नदी को पार किया और अपने घोड़े और सारथी को वापस भेज दिया। इसके पश्चात् सिद्धार्थ नें अपनी तलवार से अपने राजसी बाल काट डाले और अपने कपड़े और आभूषण एक भिखारी को देकर स्वयं तपस्वी का भेष धारण किया। इसके बाद सिद्धार्थ ज्ञान और सत्य की खोज में घूमने लगे। बहुत से पण्डितों, विद्वानों, साधु और संन्यासियों से उन्होंने भेंट की। परन्तु केवल शास्त्र-ज्ञान और दार्शनिक वाद-विवाद से उनको शान्ति नहीं मिली। इसलिये उन्होंने कठोर तपस्या करने का निश्चय किया। गया के पास निरञ्जना (फल्गु) नदी के किनारे उरुवेल नामक जंगल में इन्होंने तपस्या प्रारम्भ की। उनके साथ पाँच और व्यक्तियों ने भी तपश्चर्या शुरू की जो आगे चल कर भगवान् बुद्ध के पंञ्चवर्गीय शिष्य कहलाये। सिद्धार्थ समझते थे कि तपस्या के द्वारा शरीर के रक्त-मांस को सुखा देनें पर उनकी बुद्धि शुद्ध हो जायगी और सच्चा ज्ञान मिल जायगा। परन्तु ऐसा न हुआ। उन्होंने अनुभव किया कि शरीर के दुर्बल हो जाने से उनकी बुद्धि भी दुर्बल हो रही थी। इसलिये उन्होंने शरीर को कष्ट देनेवाली तपस्या के मार्ग को छोड़ दिया। उनके साथियों ने व्यङ्ग से कहा, "गौतम-भोगवादी है, शरीर के आराम के लिये पथ से भ्रष्ट हो गया है।" सिद्धार्थ ने इसकी चिन्ता न की और मध्यम-मार्ग का अवलम्बन लिया। एक दिन जब वे पीपल के पेड़ के नीचे ध्यान में लीन थे, विचार करते-करते उन्हें सच्चे ज्ञान का प्रकाश मिला। उन्हें ऐसा भासित हुआ कि वे संसार की घोर निद्रा से जग उठे हैं। इस घटना को 'सम्बोधि' कहते हैं। इस समय सिद्धार्थ 'बुद्ध' (जागृत) पद को प्राप्त हुए।

पूर्ण ज्ञान मिल जाने के बाद बुद्ध के मन में यह संघर्ष चला कि उन्हें किसी पहाड़ की गुफा में बैठकर मिले हुए ज्ञान और शान्ति का उपभोग करना चाहिये। अथवा दुःख से पीड़ित संसार को मुक्ति का मार्ग दिखाना चाहिये। अन्त में उन्होंने निश्चय किया कि "मैं स्वयं-बुद्ध और मुक्त हो गया हूँ, अब सारे संसार को जगाऊँगा और निर्वाण का मार्ग दिखाऊँगा।" गया से चलकर भगवान् बुद्ध वाराणसी के पास सारनाथ में आये, जिसका नाम उस समय ऋषिपत्तन या मृगदाव था। यहाँ पर भगवान् बुद्ध के पाँचों साथी पहिले से आये हुए थे। इन पाँचों ने भगवान् बुद्ध को आते देखकर कहा, "यह वही भोगवादी गौतम है; हम इसका आदर नहीं करेंगे।" परन्तु ऐसा कहा जाता है, कि भगवान् बुद्ध के निकट पहुँचने पर उनके तेज और प्रताप

को वे सहन नहीं कर सके। उन्होंने उठकर अभिवादन किया और भगवान् बुद्ध के ये प्रथम पाँच शिष्य बने, जो पञ्चवर्गीय कहलाये। भगवान् बुद्ध ने सारनाथ में सबसे पहले इन्हीं को उपदेश किया। इस घटना को 'धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन' कहते हैं। भगवान् बुद्ध की कीर्त्ति बड़ी शीघ्रता से चारों तरफ फैलने लगी। काशी के सेठ का पुत्र यश अपने परिवार के साथ भगवान् बुद्ध का शिष्य हो गया। कुछ ही दिनों में इनके शिष्यों की संख्या साठ तक पहुँच गयी। भगवान् बुद्ध ने इनका एक संघ बनाया जो संसार के इतिहास का सर्वप्रथम प्रचारक संघ हुआ। उन्होंने इस संघ को सम्बोधित करते हुए कहा, "भिक्षुओ! अब तुम लोग जाओ, घूमो, लोगों के हित के लिये, लोगों के कल्याण के लिये, देवों और मानवों के कल्याण के लिये, घूमो। तुम लोगों में से कोई एक साथ दो न जावे। उस धर्म का प्रचार करो, जो आदिमंगल, मध्यमंगल, और अन्त मंगल है।" भगवान् बुद्ध ने अपने जीवन के शेष पैंतालीस वर्षों में उत्तर-भारतवर्ष में अंग, मगध से लेकर पश्चिम में अवन्ति तक अपने धर्म का प्रचार किया। अस्सी वर्ष की अवस्था में राजगृह से चलकर भ्रमण करते हुए मल्लों की दूसरी राजधानी पावा में आये। यहाँ पर उन्होंने चुन्द कर्मार (स्वर्णकार) का भोज स्वीकार किया। यहीं पर उन्हें अतिसार का रोग हुआ। पावा से पैदल चलकर एक दिन में मल्लों की मुख्य राजधानी कुशीनगर पहुँचे। कुशीनगर के पास शालवन उपवन में भगवान् बुद्ध का शरीर छूटा। इस घटना को महापरिनिर्वाण कहते हैं। अपने शिष्यों आनन्द आदि को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा, "संसार की सभी वस्तुएँ नाशवान हैं, सावधान होकर उनका सम्पादन करना चाहिये। यही तथागत की अन्तिम वाणी है।"

(२) बुद्ध के उपदेश और सिद्धान्त—भगवान् बुद्ध ने सबसे पहले धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन के समय चार आर्य सत्यों (चत्वादि आर्य सत्यानि) का उपदेश किया। उनके अनुसार पहला आर्य सत्य दुःख है। उन्होंने कहा "सर्वं दुःखं दुखं" अर्थात् संसार में सभी दुःख ही दुःख है। जन्म, मरण, जरा और व्याधि से कोई भी प्राणी नहीं बच सकता। प्रिय का वियोग दुःख है, अप्रिय का संयोग दुःख है, आदि। भगवान् बुद्ध ने यह भी बतलाया कि इस दुःख का समुदय अथवा कारण भी है। दुःख का कारण तृष्णा अथवा वासना है। इस कारण का नाश किया जा सकता है, जिसको निरोध कहते हैं। इसी निरोध का दूसरा नाम निर्वाण भी है। निर्वाण प्राप्त करने का मार्ग भी है, जिसे 'निरोध-गामिनी-प्रतिपद' कहते हैं। इस मार्ग को अष्टांग मार्ग कहा गया है। इसके आठ अंग इस प्रकार हैं:—

(१) सम्यग्दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वाक्, (४) सम्यक् कर्मान्त, (५) सम्यक् आजीव, (६) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति और (८) सम्यक् समाधि। अष्टाङ्ग-मार्ग को मध्यम मार्ग भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें भोग और शरीर को कष्ट देनेवाली तपस्या का परित्याग करके युक्त आहार-विहार पर जोर दिया गया है। भगवान् ने भिक्षुओं और अपने अन्य अनुयायियों को दश-शील का भी उपदेश किया, जिसमें (१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय (चोरी न करना), (४) अपरिग्रह, (५) ब्रह्मचर्य, (६) नृत्यगान का त्याग, (७) सुगन्ध, माला आदि का त्याग, (८) असमय में भोजन का त्याग, (९) कोमल शय्या का त्याग और (१०) कामिनी-काञ्चन के त्याग की गणना है। इसमें से प्रथम पाँच सभी के लिये और अन्तिम पाँच केवल भिक्षुओं के लिये थे।

भगवान् बुद्ध ने विशेष कर नैतिक आचरण का उपदेश किया। उन्होंने आध्यात्मिक और दार्शनिक प्रश्नों को महत्त्व नहीं दिया, क्योंकि उनके विचार में इनका जीवन से सीधा सम्बन्ध नहीं था। फिर भी इनके वचनों के आधार पर बौद्ध धर्म के दार्शनिक विचारों का पता लगता है। भगवान् बुद्ध वेदों के प्रमाण में विश्वास नहीं करते थे; उनके अनुसार बुद्धि ही ज्ञान का अन्तिम साधन है। वे ईश्वर के अस्तित्व में आस्था नहीं रखते थे और न तो उसे संसार का कर्त्ता धर्त्ता ही मानते थे। भगवान् बुद्ध अनात्मवादी थे। इनका कहना था कि आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं; मनुष्य अपने अहंकार को ही आत्मा मानता है, जो कई संस्कारों से बना हुआ है। किन्तु ईश्वर और आत्मा में विश्वास न करते हुए भी वे पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धान्त को मानते थे। उनके अनुसार जीवन का अन्तिम लक्ष्य निर्वाण है जो सम्पूर्ण वासनाओं के क्षय से प्राप्त होता है।

(३) बौद्ध धर्म का प्रचार—भगवान् बुद्ध द्वारा प्रचारित धर्म बड़ी शीघ्रता से फैला। इसके कई कारण थे। मूल में बौद्ध धर्म बड़ा ही सरल, नैतिक और व्यावहारिक था। इसलिये जनता ने कर्मकाण्ड से ऊबकर इसका सहर्ष स्वागत किया। शीघ्र प्रचार का दूसरा कारण यह था कि बौद्ध धर्म का द्वार मानव मात्र के लिये खुला था, उसमें नीच-ऊँच का ख्याल नहीं था। तीसरा कारण उनका निष्कलंक, पवित्र और उच्च चरित्र था। भगवान् बुद्ध का ऊँचा शरीर, गौरवर्ण, उन्नत मुखमण्डल, प्रशान्त मुद्रा और दया और करुणा से भींगी हुई उनकी मधुर वाणी लोगों पर जादू-सा प्रभाव डालती थी। भगवान् बुद्ध ने अपने उद्देश्य का माध्यम अपनी जनता की बोली को बनाया और दृष्टान्त, उपमा तथा रूपक, कथा-कहानी के रूप में

अपने धर्म को लोगों के बीच तक पहुँचाया। भगवान् बुद्ध की संगठन-शक्ति और उस समय के शासकों के साथ उनकी मैत्री के सम्बन्ध से भी बौद्ध धर्म के प्रचार में बहुत सहायता थी।

३. जैन, बौद्ध और वैदिक धर्म का परस्पर सम्बन्ध

जैन और बौद्ध धर्म दोनों ही सुधारवादी थे, उन्होंने वैदिक कर्मकाण्ड और वैदिक धर्म-विज्ञान का विरोध किया। यज्ञों और विशेषकर पशु-याग के स्थान में इन दो सम्प्रदायों ने अहिंसा और सदाचार पर काफी जोर दिया। वेदों के प्रमाण को अस्वीकार करते हुए इन धर्मों ने बुद्धि, न्याय और तर्क की उपयोगिता स्वीकार की। किन्तु ये सब होते हुए भी भारतवर्ष के बहुत से सामान्य सिद्धान्तों का इन धर्मों ने परित्याग नहीं किया। जैन और बौद्ध धर्म दोनों ही पुनर्जन्म, कर्म और मोक्ष अथवा निर्वाण के सिद्धान्त को मानते थे। उपनिषदों में प्रतिपादित भिक्षु या यति-धर्म के आचार को मानते हुए दोनों ने उसका विस्तार किया। इन सामान्य सिद्धान्तों के अतिरिक्त जैन और बौद्ध धर्म में और भी समतायें थीं। जैन धर्म के त्रिरत्न थे—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चरित्र। बौद्धधर्म के त्रिरत्न थे—बुद्ध, संघ और धर्म। किन्तु इन समानताओं के होते हुए भी दोनों सम्प्रदायों में भी कुछ मौलिक अन्तर थे। इसलिये अलग-अलग धर्म के रूप में इनका संगठन भी हुआ। जैन धर्म ने सृष्टि-क्रम को समझाते हुए ईश्वर की आवश्यकता नहीं समझी, किन्तु उसने आत्मा के अस्तित्वका विरोध नहीं किया। वैदिक दृष्टिकोण से जैन धर्म नास्तिक होते हुए भी आत्मवादी था। इसके विपरीत बौद्ध धर्म ने न केवल ईश्वर के अस्तित्व का निराकरण किया, अपितु आत्मा का अस्तित्व भी उसने न माना। इसलिये वह अनीश्वरवादी एवं अनात्मवादी दोनों ही था। जैन और बौद्ध धर्म में दूसरा अन्तर आचारसम्बन्धी था। जैन धर्म कठिन तपस्या, उपवास, व्रत, केश-लुञ्चन, अनशन से प्राणत्याग आदि को ज्ञान और मोक्ष के लिये आवश्यक मानता है। इसके बदले बौद्ध धर्म एकान्त तपस्या और एकान्त अहिंसा को अनावश्यक समझता है। बौद्ध धर्म मध्यममार्गी है और उचित आहार-विहार को साधना में सहायक मानता है। जैन धर्म सामाजिक मामलों में वैदिक धर्म के बहुत निकट था। उसने वर्ण, जाति आदि के आचार, प्रथा, धर्म आदि पर कोई आघात नहीं किया। इसलिये जैनियों और वैदिक धर्म में सामाजिक भेदभाव कम था। बौद्ध धर्म में भी मूल में कोई सामाजिक आन्दोलन नहीं था, किन्तु इसके विचार काफी क्रान्तिकारी थे और इसका प्रभाव सामाजिक जीवन पर भी पड़ता था। अतः बौद्ध धर्म जैनियों

की अपेक्षा वैदिक धर्म से कुछ अधिक दूर पड़ता था। आचार में तो आगे चलकर जैन और वैष्णव प्रायः समान हो गये।

यह ठीक है कि जैन और बौद्ध दोनों ही सुधारवादी थे, किन्तु वैदिक धर्म से मतभेद रखते हुए भी भारतीय संस्कृति की मूल परम्परा के ये सजातीय थे। वेद और कर्मकाण्ड का विरोध भी इनका नया नहीं था। स्वयं उपनिषदों ने भी वेदों के प्रमाण और कर्मकाण्डों की आलोचना की है। सर्वप्रथम ऋग्वेद में देवताओं की शक्ति में अविश्वास भी किया गया है। इन परम्परा-विरोधी तत्त्वों को जैन और बौद्ध धर्मों ने आगे बढ़ाया। यह कहते हुए भी जैन धर्म ने वैदिक आत्मवाद का आधा अंश स्वीकार किया है। बौद्ध धर्म अनात्मवादी होते हुए भी भौतिकवादी (जड़वादी) नहीं था। वह आत्मवाद के अधिक निकट था। उपनिषदों में आत्मज्ञान और मोक्ष के लिये नैतिक आचरण आवश्यक बतलाया गया। जेन और बौद्ध धर्मों ने कर्मकाण्ड का विरोध करके नैतिक आचरण पर विशेष जोर दिया। पुनर्जन्म, कर्म, मोक्ष, जगत् की क्षण-भंगुरता आदि बातों का उदय उपनिषदों में हो चुका था। जैन और बौद्ध धर्मों ने इन सिद्धान्तों का स्वागत किया। यति, भिक्षु और श्रवण आचार भी उपनिषदों में पाया जाता है। ये आचार जैन और बौद्ध दोनों को मान्य थे। इसलिये भारतीय परम्परा का अध्ययन करने से यह मालूम होता है कि एक ही भारतीय धर्म और संस्कृति की सरिता की तीन धाराएँ वैदिक, जैन और बौद्ध सम्प्रदायों के रूप में प्रवाहित हुईं।

—oo※oo—

६ अध्याय

बुद्धकालीन राजनीति और समाज

१. राजनीति

(१) सोलह महाजनपद—भगवान् बुद्ध के पहले भारतवर्षका उत्तरी भाग और दक्षिणापथ का कुछ प्रदेश सोलह छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था, जिनको 'जनपद' कहते थे। प्राचीन राज्यों में 'जन' अथवा 'जाति' की प्रधानता
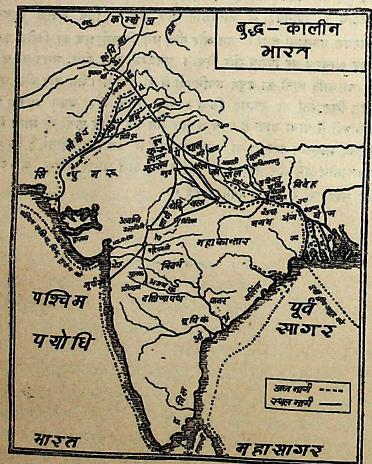
होती थी, इसलिये उन्हें जनीय अथवा जातीय कहा जा सकता है। जनपदों के समय में जातियों के रहने का स्थान महत्त्वपूर्ण हो गया। इसलिये जाति

के बदले भूमि का महत्त्व बढ़ा। महाभारत युद्ध के पीछे कुछ दिनों तक पांडवों का साम्राज्य बना रहा और और उनके अधीन राज्य भी जीवित रहे। परन्तु भीतर से विकेन्द्रीकरण की शक्ति जारी रही और कुछ ही शताब्दियों के बाद देश छोटे-छोटे जनपदों में बँट गया। जैन और बौद्ध ग्रन्थों में इन जनपदों के नाम इस प्रकार हैं :—

(१) अंग, (२) मगध, (३) काशी, (४) कोसल, (५) वज्जि (पश्चिम-उत्तर बिहार), (६) मल्ल (आधुनिक देवरिया-गोरखपुर), (७) वत्स (प्रयाग के आसपास), (८) चेदि (आधुनिक बुन्देलखण्ड), (९) कुरु (यमुना के तट पर दिल्ली के आसपास), (१०) पाञ्चाल (गंगा-यमुना का दो-आब), (११) मत्स्य (जयपुर, भरतपुर, अलवर आदि), (१२) शूरसेन (मथुरा के आसपास का प्रदेश), (१३) अवन्ति (आधुनिक पश्चिमी मालवा), (१४) गन्धार (अफगानिस्तान का पूर्वी भाग, सीमान्त प्रदेश तथा पञ्जाब का पश्चिमोत्तर), (१५) कम्बोज (काश्मीर के पश्चिमोत्तर में), (१६) अश्मक (गोदावरी का निचला तटवर्ती प्रदेश)।

(२) गणराज्य—इस समय के जनपदों में दो तरह के राज्य थे— (१) गणराज्य अथवा पंचायती राज्य और (२) एकतांत्रिक राज्य। बौद्ध-साहित्य के अनुसार गणराज्य निम्नलिखित थे :—

१. शाक्य—इस राज्य के संस्थापक अयोध्या के सूर्यवंश की शाखा में थे। इनकी राजधानी कपिलवस्तु थी, जिसके स्थान पर आजकल बस्ती जिले के उत्तर नेपाल की तराई में तिलौराकोट नामक स्थान है। इसी के पास लुम्बिनी वन में भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था। भगवान् बुद्ध के पिता शुद्धोदन शाक्यों के गणमुख्य थे। उनके बाद उनके भाई भद्दिय (भद्रिक) गणमुख्य हुए।

२. कोलिय अथवा राम-जनपद—काशी के नागवंशी राजा राम और शाक्य-राजकुमारी के साथ उनके विवाह-सम्बन्ध से इस राज्य की स्थापना शाक्य जनपद के दक्षिण-पूर्व में हुई। इसकी राजधानी रामग्राम थी, जिसके स्थान पर आजकल रामगढ़ताल और उसके पास ही गोरखपुर का नगर है।

३. मौर्य्य—कोलियों की राजधानी रामग्राम के पूर्वोत्तर में उत्तर-पूर्व रेलवे पर कुसुम्ही नामक स्टेशन के पास, जहाँ आजकल राजधानी नामक गाँव के धूस हैं, वहीं मौर्य्यों की राजधानी मयूरनगर अथवा पिप्पलीवन था। मौर्य्य शाक्यों की ही एक शाखा में थे।

४. **कुशीनगर के मल्ल**—प्राचीन काल में मल्लों के पूर्वज भी अयोध्या के इक्ष्वाकु वंश की शाखा में थे। आजकल देवरिया जिले में कसया के पास अनुरुधवा नामक गाँव जहाँ है, वहीं मल्लों की राजधानी कुशीनगर स्थित था।

५. **पावा के मल्ल**—कुशीनगर से लगभग १२ मील दक्षिण-पूर्व जहाँ, आजकल फाजिलनगर-सठियाँव है, वहीं मल्लों की दूसरी राजधानी पावापुरी बसी थी।

६. **बुलि**—बुलियों का गणराज्य आधुनिक आरा और मुजफ्फपुर जिलों के बीच में था। उनकी राजधानी अलकप्प बेतिया के पूर्व में थी।

७. **लिच्छवि**—लिच्छवि लोग अपने को सूर्यवंशी मानते थे। इनका राज्य मल्लों के पूर्व और गंगा के उत्तर में था। इनकी राजधानी वैशाली मुजफ्फपुर जिले में बसाढ़ नामक स्थान पर स्थित थी।

८. **विदेह**—ये लोग भी प्राचीन सूर्यवंश में थे। इनका राज्य भागलपुर-दरभंगा के प्रदेश के ऊपर था। इनकी राजधानी मिथिला या जनकपुर थी।

९. **भग्ग**—आधुनिक मिर्जापुर जिले में इनका गणराज्य था। शायद ये भी कौशाम्बी के वत्स राजवंश के समान पौरवों की शाखा में थे। इनकी राजधानी सुँसुमार (चुनार) थी।

१०. **कालाम**—इनकी पहिचान कुछ कठिन है। इनका सम्बन्ध पाञ्चालों से था। सम्भवतः इनका राज्य कोशल के पश्चिम में था। इनकी राजधानी केसपुत्त थी।

(३) गणों का संविधान और शासन-पद्धति—जैसा कि कहा गया है, गणराज्य पंचायती थे। इसका अर्थ यह है कि राज्य का अधिकार एक व्यक्ति के हाथ में न रहकर गण अथवा समूह के हाथ में होता था। गण के सभी व्यक्ति या उनके चुने हुए प्रतिनिधि गणों की महासभा या परिषद् का निर्माण करते थे। परिषद् के सभापति का भी चुनाव होता था, जिसको राजा कहते थे। इस राजा के अतिरिक्त **उपराजा, सेनापति** और **भाण्डागारिक** आदि राज्य के बड़े अधिकारी भी चुने जाते थे। परिषद् के सदस्यों का पुरानी प्रथा के अनुसार **राज्याभिषेक** होता था और इनको भी राजा कहा जाता था। सभी सदस्यों का पद परिषद् में समान होता था। कभी-कभी कई गणराज्य मिलकर एक **संघराज्य** भी बनाते थे, जिनका निर्माण प्रायः बाहरी आक्रमणों के समय हुआ करता था।

गण-परिषद् की कार्यवाही आजकल की लोकसभा और संसदों की कार्यवाही से मिलती-जुलती थी। परिषद् की बैठक के लिये एक भवन होता

था जिसको **संस्थागार** कहते थे। संस्थागार में सदस्यों के बैठने का स्थान निश्चित होता था, जिसको **आसन** कहा जाता था। आसन बतानेवाले का नाम **आसन-प्रज्ञापक** था। परिषद् की कार्यवाही शुरू करने के लिये कम से कम संख्या निश्चित थी, जिसको **गण-पूर्ति** कहते थे। जो व्यक्ति अपने दल के सदस्यों को बुलाकर गण-पूर्ति करता था, उसको **गणपूरक** कहा जाता था। परिषद् में प्रस्ताव करने को **प्रतिज्ञा,** उसको नियमपूर्वक रखने को **स्थापन** और उसके पढ़ने को **ज्ञप्ति** कहते थे। प्रतिज्ञा के ऊपर **वादविवाद** भी होता था। इसके बाद **मत** लिया जाता था, जिसको **छन्द** (स्वतन्त्र विचार) कहते थे। अपना मत प्रकट करने के लिये प्रत्येक सदस्य को एक **शलाका** (तख्ती) दी जाती थी। मतों को इकट्ठा करने वाले को **शलाका-ग्राहक** कहा जाता था। परिषद् में निश्चय प्रायः सर्वसम्मति से और कभी-कभी बहुमत से होता था। प्रतिज्ञा स्वीकृत हो जाने पर **संघकर्म** अथवा **कर्म** (एक्ट) कहलाती थी। संस्थागार में विनय का पालन करना आवश्यक होता था। परिषद् का अपना कार्यालय और उसमें लेखक हुआ करते थे, जो कार्यवाही को लिखते और उसको सुरक्षित रखते थे।

(४) एकतान्त्रिक राज्य—इस समय उत्तर भारत में चार प्रसिद्ध एकतान्त्रिक राज्य थे, जिनका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है :—

१. कोसल—यह उत्तर भारत का सबसे पुराना और प्रसिद्ध राज्य था। इस समय इसकी राजधानी अयोध्या न होकर और उत्तर में राप्ती नदी के किनारे **श्रावस्ती** थी। इसका विस्तार दक्षिण में दूर तक था और उसने काशी को अपने अधीन कर लिया था। भगवान् बुद्ध का समकालीन राजा **प्रसेनजित** था, जिसकी बहन **महाकोसला** मगध के राजा **बिम्बिसार** से और उसकी लड़की **वाजिरा** बिम्बिसार के पुत्र **अजातशत्रु** से ब्याही गई। कोसल का मगध के साथ बराबर संघर्ष चलता रहा, जिससे इसकी शक्ति क्षीण होती गई।

२. मगध—भगवान् बुद्ध के थोड़े ही दिन पहले **हर्यङ्क** अथवा **नागवंश** की स्थापना हुई। उनका समकालीन राजा **बिम्बिसार** था। यह बड़ा ही महत्त्वाकांक्षी एवं विजेता था। इसने युद्ध करके अंग राज्य को अपने राज्य में मिला लिया। वैशाली के लिच्छवियों और कोसल राज्य से विवाह-सम्बन्ध करके इसने अपने प्रभाव को और बढ़ाया। इसका पुत्र **अजातशत्रु** इससे भी बड़ा विजेता हुआ। उसने गंगा के उत्तर वज्जिसंघ को युद्ध करके अपने अधीन कर लिया और काशी को स्थायी रूप से कोसल से ले लिया। मगध-साम्राज्य के भावी विकास की नींव उसी ने डाली।

३. **वत्स**—वत्स की राजधानी **कौशाम्बी** थी, जहाँ आजकल इलाहाबाद से ४५ मील दूर पश्चिमोत्तर में कोसम के खंडहर हैं। भगवान् बुद्ध का समकालीन राजा **उदयन** था, जो प्राचीन पौरव वंश की शाखा में था। इसका युद्ध अवन्ति के प्रद्योतवंशी राज्य **चण्डप्रद्योत** से चलता था।

४. **अवन्ति**—पश्चिमी मालवा में इस समय अवन्ति नाम का राज्य था। वहाँ का राजा **चण्डप्रद्योत** था। उसने मथुरा के आसपास के शूरसेन प्रान्त को जीत लिया, पश्चिमोत्तर भारत पर आक्रमण किया और वत्स से लड़ता रहा।

उपर्युक्त चार राज्यों में मगध और अवन्ति अधिक शक्तिशाली थे। पहले पूर्व में मगध ने अपने आसपास के राज्यों को आत्मसात् करके एक बड़ा राज्य बनाया और पश्चिम में अवन्ति ने यही काम किया। अन्त में मगध और अवन्ति का मुकाबला हुआ। इस संघर्ष में मगध विजयी तथा साम्राज्य स्थापित करने में सफल हुआ।

२. सामाजिक अवस्था

(१) सामाजिक संस्थाएँ—इस समय का भारतीय समाज सिद्धान्त में वर्ण और जाति के ऊपर अवलम्बित था। जैन और बौद्ध आदि सुधारक सम्प्रदायों नें सिर्फ वर्ण और जाति की बुराइयों की निन्दा की, परन्तु उनको कभी निर्मूल करने की चेष्टा न की। फिर भी उनकी आलोचना से समाज किसी अंश में प्रभावित अवश्य हुआ। किन्तु यह मानना पड़ेगा कि इन सम्प्रदायों में भी सामूहिक रूप से निम्न स्तर के लोगों के सामाजिक और आर्थिक उत्थान का कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया। इस समय भी **हीनजाति** और **हीनशिल्प** (निम्न स्तर के व्यवसाय) समाज के छोर पर पड़े हुए थे, जिनमें चाण्डाल, पुक्कस, निषाद, श्वपच आदि शामिल थे। परन्तु उच्च वर्गों में वर्ण और जाति का परिवर्तन अब भी सम्भव था। बहुत से लोग अपना पैतृक उद्योग-धन्धा छोड़कर दूसरा व्यवसाय कर लेते थे।

जहाँ तक **विवाह-संस्था** का सम्बन्ध है, बौद्ध साहित्य में ब्राह्म, गान्धर्व और स्वयंवर के ढंग के विवाहों का वर्णन मिलता है। अन्तर्वर्ण अथवा अन्तर्जातीय विवाहों के उल्लेख भी पाये जाते हैं। शाक्य आदि किन्हीं-किन्हीं जातियों में **सगोत्रीय** विवाह भी होता था, यद्यपि दूसरी जातियाँ इसकी निन्दा करती थीं। कई जातियों में भगिनी-विवाह की कथाएँ भी हैं, जो आदिम काल की धुँधली यादगार जान पड़ती हैं। **बहु-विवाह** के उल्लेख भी पाये जाते हैं, किन्तु इनकी संख्या कम थी। पति के मरने पर स्त्रियों का **पुनर्विवाह** सम्भव था। समाज में स्त्रियों का स्थान अब भी ऊँचा था। लड़कों की

तरह ही लड़कियों के पालन-पोषण और शिक्षा का भी प्रबन्ध किया जाता था। अपने साथी के चुनाव में कन्या और वर को स्वतन्त्रता थी और लड़कियाँ स्वयंवर में अपने पति का चुनाव कर सकती थीं। आजकल के समान पर्दाप्रथा न थी। स्त्रियाँ घूम-फिर सकती थीं और भिक्षुणी अथवा परिव्राजिका होने का उनको अधिकार था। कुछ स्त्रियाँ गणिका अथवा वेश्या का काम भी करती थीं।

(२) **आर्थिक जीवन**—इस समय आर्थिक जीवन का मुख्य आधार खेती थी। खेती की सुविधा के लिये देश के बहुसंख्यक लोग गाँवों में बसते थे। जहाँ बहुत से लोग इकट्ठे बस जाते थे, उनकी बस्ती को गाँव कहा जाता था। अक्सर गाँव से लगे हुये आम के बगीचे हुआ करते थे, जिनकी छाया में मनुष्य और जानवर आराम करते और सामाजिक या धार्मिक सभा, मेले और तमाशे आदि होते थे। गाँव के चारों ओर खेत फैले होते थे। उनके बीच में सिंचाई के लिये नालियाँ बनी होती थीं। खेतों के पार गाँव की सीमा पर शाल, बाँस, आम, महुआ और कई प्रकार के झाड़ों के उपवन या जंगल होते थे, जिनसे लकड़ी लेने और पशु चराने का अधिकार गाँव-वालों को था।

खेतों के ऊपर किसानों का पूरा अधिकार था। किसानों से राज्य को केवल भूमि-कर मिलता था, जो उपज का केवल छठवाँ भाग होता था। इस समय जमींदारी की प्रथा न थी, इसलिये छोटे-छोटे किसानों की संख्या अधिक थी। धनी और गरीब के बीच कोई बड़ा भारी अन्तर नहीं था। गाँव का प्रबन्ध ग्राम-सभाएँ करती थीं, ग्राम-सभा का प्रमुख ग्रामभोजक कहलाता था, जिसका चुनाव सभा द्वारा होता था। ग्राम की सुरक्षा और न्याय का भार सभा के हाथ में था। सिंचाई, रास्ते, धर्मशाला और सभाघर बनाने आदि बहुत से सार्वजनिक काम सभा के हाथ में होते थे। गाँव स्वावलम्बी होता था और अपने आप एक छोटा सा प्रजातन्त्र था।

खेती और पशुपालन के साथ-साथ और बहुत से उद्योग-धन्धे प्रचलित थे और उनका काफी विकास हो चुका था। बौद्ध ग्रन्थों में अक्सर अठारह शिल्पों का उल्लेख मिलता है, जिनमें बढ़ई, लुहार, सुनार, रथकार, चमार, कुम्हार, माली, चित्रकार, तेली, तन्तुवाय, (जुलाहा), रंगरेज, जौहरी, हाथीदाँत-शिल्पी, हलवाई, सूपकार (रसोइया) आदि के व्यवसाय शामिल थे। इन व्यवसायों में से अधिकांश समूहों अथवा श्रेणियों में विभाजित थे, जिनके अपने नियम और उपनियम बने थे। उद्योग-धन्धों के साथ व्यापार भी होता था। भारतवर्ष के भीतर आने-जाने के मार्ग काफी चालू थे और

विदेशों से भी व्यापारिक सम्बन्ध स्थल और जल के द्वारा था। पश्चिमी एशिया, पूर्वी यूरोप, अफ्रीका, बरमा और लंका के साथ भारत का व्यापार चलता था। देश से बाहर जानेवाली वस्तुओं में मलमल, रेशम, किमखाब, सुईकारी का सामान, औषध, सुगन्धियाँ, हाथीदाँत के काम, रत्न-आभूषण, वर्त्तन आदि सम्मिलित थे। व्यापारिक सामानों का दाम सिक्कों में चुकाया जाता था, परन्तु दूर के क्रय-विक्रय में हुण्डियों का उपयोग भी होता था। सिक्कों में निष्क, सुवर्ण और शतमान नाम के सिक्के तो पहले से चले आते थे, किन्तु इस समय का सबसे चालू सिक्का **कार्षापण** था, जो चाँदी और ताँबें दोनों धातुओं का बनता था। ग्रामीण आर्थिक जीवन में क्रय-विक्रय सामानों की अदला-बदली (विनिमय) से होता था। बहुत छोटी-छोटी खरीदों में सिक्कों के सिवाय कौड़ियाँ भी चलती थीं।

७ अध्याय

मगध साम्राज्य का उदय और विदेशी आक्रमण

१. मगध साम्राज्य का उदय और विकास

जनपदों का उल्लेख करते हुये यह कहा गया है कि छठवीं शती ईसा पूर्व में मगध-राज्य अपना विस्तार कर रहा था। इस राज्य के विस्तार में दो तीन राजवंशों ने विशेष योग दिया। पहला राजवंश **हर्यंक-वंश** था, जिसका संस्थापन **बिम्बिसार** ने किया था। बिम्बिसार के समय में मगध-राज्य में अंग का राज्य मिला लिया गया और उसने अपने विवाह-सम्बन्ध और राजनैतिक सम्पर्क से अपनी शक्ति का काफी विस्तार किया। उसके बाद उसका पुत्र **अजातशत्रु** उससे भी अधिक महत्त्वाकांक्षी और महान् विजयी था। उसने उत्तर विहार में **बज्जि-गणसंघ** को हराकर अपना राज्य हिमालय तक फैलाया, कोसल राज्य से काशी स्थायी रूप से प्राप्त किया और अपना आतंक उत्तर भारत के पूर्वी भाग तक अच्छी तरह स्थापित कर दिया। इसी के समय में **पाटलिपुत्र** नामक नगर को सैनिक और राजनैतिक महत्त्व मिला, जो आगे चलकर मगध की राजधानी बना। अजातशत्रु भगवान् बुद्ध का समकालीन था। भगवान् बुद्ध के निर्वाण के बाद उसके समय में बौद्धधर्म की पहली सभा हुई। हर्यंक-वंश में अजातशत्रु के बाद **उदायी, अनुरुद्ध, मुण्ड, नागदशक,** आदि कई राजा हुये। घरेलू षड्यंत्र और राजाओं की दुर्बलताओं के कारण यह वंश क्षीण होता गया और **शिशुनाग** नामक काशी के शासक ने हर्यंक-वंश के अन्तिम राजा को हटाकर मगध में **शिशुनाग-वंश** की स्थापना की। शिशुनाग ने अपने विजयों से कोसल, वत्स और अवन्ति को अपने राज्य में मिला लिया और इस समय लगभग सारे उत्तर भारतवर्ष में मगध राज्य की सत्ता जम गई। शिशुनाग के बाद उसका पुत्र **अशोक (कालाशोक)** राजा हुआ। उसने राजगृह को छोड़कर पाटलिपुत्र को अपनी राजधानी बनायी। उसी के समय में बौद्ध-धर्म की दूसरी सभा हुई, जिसमें **थेरवाद** और **महासांघिक** दो सम्प्रदायों का जन्म हुआ। कालाशोक के पीछे भद्रसेन कोरण्डवर्ण, मंगुर, सर्वंज्ञ, जालिक, उभस, सञ्जय, कोरव्य, नन्दिवर्धन और पञ्चमक राजा हुये। इनमें से नन्दिवर्धन सबसे योग्य था, किन्तु साथ ही साथ

वह विलासी भी था। उसकी शूद्रा स्त्री से उत्पन्न महापद्मनंद ने शिशुनाग वंश का अन्त किया और मगध में नन्दवंश की स्थापना की।

महापद्म नन्द वास्तव में मगध-साम्राज्य के निर्माताओं में से था, जिसने मौर्यों के पहले मगध-साम्राज्य का विस्तार और उसको दृढ़ किया। वह बहुत बड़ा सैनिक नेता, विजयी और अर्थसंचयी था, परन्तु वह जनप्रिय नहीं था। इसके कई कारण थे, एक तो शूद्रा से उसका जन्म उच्च वर्ग के लोगों को पसन्द न था। दूसरे वह असुर विजयी था और बड़ी कठोरता के साथ उसने क्षत्रिय-वंशों का नाश किया था। तीसरे, वह बहुत बड़ा लोभी था तथा प्रजा से कई प्रकार से धन का शोषण करता था। इस वंश में सब मिलाकर नव राजा हुये, जिनमें महापद्म नन्द और उसके आठ लड़के शामिल थे। महापद्म नन्द का सबसे छोटा पुत्र धन नन्द इस वंश का अन्तिम राजा था। इसको मारकर मौर्यवंश का राजकुमार चन्द्रगुप्त मगध का सम्राट् हुआ।

२. ईरानी आक्रमण

यद्यपि उत्तर-भारत के पूर्वी भाग में मगध साम्राज्य का उदय हो रहा था और मगध की शक्ति बड़ी विशाल और उसकी सेना बड़ी प्रबल थी, परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि मगध ने पश्चिमोत्तर भारत को अपने साम्राज्य में मिलाने की कभी पूरी कोशिश न की। इसका फल यह हुआ कि उत्तरापथ अथवा भारत का पश्चिमोत्तर भाग कई छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था। इसमें से कुछ राज्य गणतान्त्रिक और कुछ एकतान्त्रिक थे। ये राज्य आपस में प्रायः लड़ते रहते थे। इससे उत्तरापथ राजनैतिक और सैनिक दृष्टि से कमजोर हो गया था और विदेशी आक्रमण को निमन्त्रण दे रहा था।

जिस समय भारत में मगध साम्राज्य का उदय हो रहा था, उसी समय फारस में छठी शती ईसा पूर्व में एक बड़े साम्राज्य की स्थापना हुई थी। यह साम्राज्य पश्चिम और पूर्व दोनों ओर अपना विस्तार कर रहा था। फारस के राजा कुरुष ने लगभग ५५० ई० पू० में मकरान के रास्ते से भारत पर आक्रमण किया। पहले आक्रमण में भारतीयों से वह बुरी तरह हारा और केवल अपने सात साथियों के साथ जान बचाकर भागा। दूसरे आक्रमण में उसे अधिक सफलता मिली और उसने काबुल घाटी पर अपना अधिकार जमा लिया। ईरान के दूसरे राजा दारा ने ५२१ ई० पू० के लगभग भारत पर आक्रमण किया। उसने गान्धार, कम्बोज पश्चिमी पंजाब और सिन्ध पर अपना साम्राज्य स्थापित किया। किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि ईरानी राजाओं ने भारत पर कभी सीधे राज्य नहीं किया, वे वार्षिक कर और सैनिक

सहायता से ही सन्तुष्ट थे। ईरान के साथ राजनीतिक सम्पर्क का फल यह हुआ कि पश्चिमोत्तर भारत में कुछ ईरानी तत्त्व आ मिला। यहाँ की भाषा, लिपि और वेशभूषा के ऊपर भी ईरानी प्रभाव पड़ा।

३. यूनानी आक्रमण

जिस तरह सातवीं और आठवीं शताब्दी ईसा पूर्व उत्तर-भारत में कई एक गण-राज्य हुए, जिन्होंने धर्म, राजनीति और कला में अपनी देन छोड़ी, उसी तरह सातवीं और छठवीं शती ईसा पूर्व में यूनान में भी कई गण-राज्य थे, जिन्होंने यूनानी सभ्यता और संस्कृति को जन्म दिया और उनको उच्चतम शिखर पर पहुँचाया। चौथी शताब्दी ईसा पूर्व में विलासिता, परस्पर युद्ध और स्थानीयता के कारण गण-राज्यों का ह्रास प्रारम्भ हुआ। इसी समय मेसिडोनिया में एक नयी राजनैतिक शक्ति का उदय हुआ। वहाँ के राजा फिलिप ने यूनान के गणतन्त्रों का विनाश करके सारे यूनान पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। फिलिप का पुत्र सिकन्दर महान् उससे भी अधिक महत्त्वाकांक्षी था। संसार के विजेताओं में उसका प्रमुख स्थान है। उसने यूनान के तंग समुद्र और खाड़ियों को पार कर पश्चिमी एशिया पर आक्रमण किया। सबसे पहले उसने अपने ही भार से बोझिल ईरानी साम्राज्य का विनाश किया और विजय के ऊपर विजय करता हुआ मध्य एशिया पहुँचा, जहाँ बैक्ट्रिया नामक यूनानी उपनिवेश की स्थापना हुई। यहीं सिकन्दर ने अपने भारतीय आक्रमण की योजना बनायी।

सिकन्दर

३२७ ई० पू० में एक विशाल यवन-शक सेना के साथ सिकन्दर ने भारत की ओर प्रस्थान किया। पहले उसने हिन्दुकुश और खैबर दर्रे के बीच के राज्यों को अपने अधीन किया। इसके बाद काबुल की घाटी से होकर उसने भारत पर आक्रमण किया। काबुल घाटी के कई भारतीय राज्यों ने बड़ी वीरता से सिकन्दर का विरोध किया, किन्तु परस्पर विद्वेष के कारण तक्षशिला के राजा आम्भि ने देश के साथ विश्वासघात किया और भारत का द्वार विदेशी आक्रमणकारी के लिये खोल कर उसका स्वागत किया। तक्षशिला में आम्भि ने सिकन्दर की बहुत आवभगत की। आम्भि की सहायता से

सिकन्दर ने पूर्व में झेलम की ओर प्रस्थान किया। झेलम के पूर्व में पुरु नामक राजा राज्य करता था। इसका राज्य बड़ा और समृद्ध था तथा इसके पास एक विशाल सेना थी। तक्षशिला के राजा से इसकी शत्रुता थी। यही कारण था, कि आम्भि ने सिकन्दर का स्वागत किया, और उसको पुरु के विरोध में चढ़ा लाया। झेलम के पूर्व में पुरु की सेना डटी हुई थी और यूनानी सेनाओं को झेलम पार करने से रोके हुए थी। यूनानी वर्णनों से मालूम होता है कि सिकन्दर ने एक रात को आँधी-पानी के समय झेलम नदी को ऊपर जाकर पार किया। झेलम के पूर्वी किनारे पर यूनानी और पुरु की सेना का मुकाबला हुआ। बड़ी घमासान लड़ाई हुई और दिन के पूर्वार्द्ध में भारतीय सेना प्रबल जान पड़ती थी। किन्तु दुर्दैव से उस समय वर्षा हो गयी थी, जिससे पुरु के धनुर्धारी सैनिक अपने धनुष को जमीन पर जमा नहीं पाते थे। दूसरे, बल्लमधारी यूनानी घुड़सवार भारतीय हाथियों पर जोरों से प्रहार कर रहे थे। घायल होकर बहुत से हाथी अपने ही दल को रौंदने लगे। दिन के तीसरे पहर भारतीय सेनाओं के पैर उखड़ गये। पुरु घायल हुआ। उसका महावत उसको हाथी पर चढ़ाकर बाहर ले जाने की कोशिश कर रहा था। वह पकड़कर सिकन्दर के सामने लाया गया। सिकन्दर ने पूछा 'तुम्हारे साथ कैसा बर्त्ताव किया जावे? पुरु ने गर्व के साथ उत्तर दिया, 'जैसा एक राजा दूसरे राजा के साथ करता है'। सिकन्दर भारत में जीते हुए प्रान्तों पर स्वयं ही शासन नहीं कर सकता था। इसलिये उसने पुरु को उसका राज्य लौटा दिया और उसे पश्चिमी पंजाब का क्षत्रप (प्रान्तीय शासक) बनाया। अब सिकन्दर के दो भारतीय सहायक मिल गये—आम्भी और पुरु। इनको साथ लेकर सिकन्दर और आगे पूर्व की तरफ बढ़ा। कठ आदि कई गणतन्त्रीय जातियों से उसका घोर युद्ध हुआ, परन्तु पूर्वी पंजाब के छोटे-छोटे राज्य उसके सामने धराशायी होते गये। सिकन्दर व्यास के पश्चिमी किनारे पहुँचा और वहाँ अपना डेरा डाल दिया। यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते यूनानी सैनिकों का साहस बैठ गया और उन्होंने सिकन्दर के बहुत समझाने के बाद भी आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। इससे सिकन्दर को विवश होकर वापस लौटना पड़ा और सारे भारत को जीतने का उसका स्वप्न पूरा न हो सका।

सिकन्दर के वापस लौट जाने के कई कारण थे। एक तो उसके सैनिक कई वर्षों से विदेश में युद्ध कर रहे थे और उनके कई साथी पंजाब की भयंकर लड़ाइयों में काम आ चुके थे। दूसरे, यूनानी सेना ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती जाती थी, उसे रसद कम पहुँचती थी और उसके पीछे का रास्ता अरक्षित

और खतरनाक होता जाता था। पंजाब की कड़ी गर्मी, आँधी और बरसात ने सैनिकों को अस्वस्थ और विकल बना दिया था। किन्तु इन कारणों के साथ-साथ एक और प्रबल कारण था, जिससे सिकन्दर को व्यास नदी के पूर्व बढ़ने का साहस न हुआ। सतलज के उस पार मगध का विशाल साम्राज्य था, जिसके पास बहुत बड़ी सेना और अपार आर्थिक साधन था। मगध की सैनिक तैयारी का समाचार यूनानियों को पंजाब में मिल चुका था। इतने बड़े साम्राज्य का मुकाबला करने के लिये और अपनी जान खतरे में डालने के लिये यूनानी तैयार न थे।

सिकन्दर व्यास नदी के पश्चिम से सीधे झेलम के किनारे पहुँचा और वहाँ से यूनान लौट जाने के लिये नदी के रास्ते प्रस्थान किया। इस रास्ते में भी उसको कई एकतान्त्रिक और गणतान्त्रिक राज्यों का सामना करना पड़ा था। सिकन्दर का सबसे घोर सामना मालव और क्षुद्रक गणों ने किया। युद्ध में सिकन्दर घायल होकर मरते-मरते बचा। मालव और क्षुद्रक वीर होते हुए भी एक न हो सके, इसलिये वे यूनानी सेनाओं से पराजित हुये। दक्षिण-पश्चिम पंजाब और सिन्ध के राज्यों को हराता और पार करता हुआ सिकन्दर सिन्ध के मुहाने तक पहुँचा। यहाँ पर उसने अपनी सेना के दो टुकड़े किये। एक टुकड़ा जहाज द्वारा पश्चिम सागर होता हुआ पश्चिम की ओर चला। दूसरा टुकड़ा सिकन्दर के साथ सिस्तान होता हुआ बेबिलॉन की तरफ बढ़ा। बेबिलॉन पहुँचकर सिकन्दर ने विश्राम करने की सोची। यहीं पर अधिक श्रम और असंयम के कारण उसे ज्वर हो गया। अधिक मदिरा पीने से उसका ज्वर बढ़ता गया और ईसा से ३२३ ई० पू० में उसका देहान्त हो गया।

सिकन्दर के आक्रमण का परिणाम यह हुआ कि कुछ समय के लिये सीमान्त और पंजाब के अधिकांश पर यूनानी आधिपत्य स्थापित हो गया। इसके साथ यूनानियों की छावनियाँ और एक दो नगर भी बस गये। यूनानी ढंग की प्रान्तीय शासन-प्रणाली भी क्षत्रपों के अधीन चली गयी। परन्तु सिकन्दर के मरने के बाद कोई ऐसी यूनानी सत्ता नहीं थी, जो भारत में यूनानी राज्य को सम्हालती। चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने पश्चिमोत्तर भारत में यूनानियों के विरुद्ध एक विराट् संगठन के अन्तर्गत विद्रोह का झण्डा खड़ा किया और पूर्ण रूप से यूनानियों को भारत के बाहर खदेड़ दिया।

सिकन्दर के आक्रमण के फलस्वरूप भारत पर कोई सांस्कृतिक प्रभाव नहीं पड़ा। एक तो सिकन्दर के १९ महीने भारत में केवल युद्ध में बीते और यूनानी सैनिक भारतीयों के साथ कोई सामाजिक सम्पर्क स्थापित न कर सके।

दूसरे भारतीय सभ्यता चौथी शताब्दी ईसा पूर्व से पहले ही प्रौढ़ हो चुकी थी, और उसे यूनान के सैनिकों से, और यूनानी छावनियों से कुछ सीखना न था। भारत में साम्राज्यवाद का आदर्श भी यूनानियों के यहाँ आने से पहले प्रचलित था। शिशुनाग और महापद्मनन्द इसके ताजे उदाहरण थे। परन्तु ऐसा जान पड़ता है, कि यूनानी आक्रमण ने यह स्पष्ट कर दिया कि पश्चिमोत्तर भारत का कई छोटे-छोटे राज्यों में बँटा रहना एक बड़ा भारी सैनिक और राजनीतिक संकट था। यह पाठ चन्द्रगुप्त और चाणक्य के मन पर अंकित हो गया था, इससे चन्द्रगुप्त के समय सारा उत्तरापथ मगध साम्राज्य में मिला लिया गया।

८ अध्याय

मौर्य साम्राज्य

१. चन्द्रगुप्त

(१) स्थापना और विस्तार—सिकन्दर के आक्रमण से मगध साम्राज्य को कोई हानि नहीं पहुँची, परन्तु मगध-साम्राज्य के भीतर दूसरे प्रकार की उथल-पुथल चल रही थी। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है,
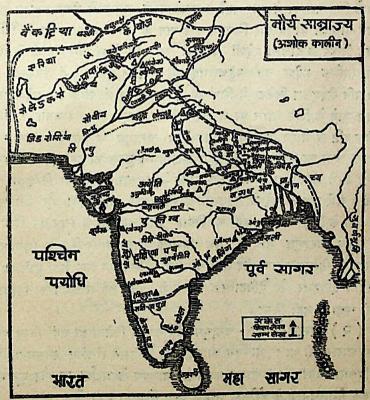
नन्दों का शासन लोकप्रिय नहीं था, नन्दों का सबसे बड़ा विरोधी तक्षशिला का आचार्य चाणक्य और मौर्यगण का राजकुमार चन्द्रगुप्त था। इन दोनों ने मिल कर नन्दों के राज्य की नींव भीतर से हिला दी। बौद्ध साहित्य के अनुसार चाणक्य ने विन्ध्य पर्वत के आस-पास एक बड़ी सेना इकट्ठी की और चन्द्रगुप्त को लेकर मगध पर आक्रमण किया। पहले आक्रमण में चाणक्य

और चन्द्रगुप्त को हार खानी पड़ी और वे उत्तरापथ की ओर चले गये, जहाँ सिकन्दर पश्चिमोत्तर भारत पर आक्रमण कर रहा था। चन्द्रगुप्त ने इस बात की कोशिश की, कि सिकन्दर को वह नन्दों के विरोध में मगध पर चढ़ा लावे। परन्तु चन्द्रगुप्त और सिकन्दर की बनी नहीं, इसके बाद चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने पश्चिमोत्तर भारत में यूनानी सत्ता के विरोध में आन्दोलन खड़ा किया और सिकन्दर की मृत्यु के बाद थोड़े ही दिनों के भीतर पश्चिमोत्तर भारत पर अपना सिक्का जमा लिया। पञ्जाब में संगठित विशाल सेना के साथ चन्द्रगुप्त ने चाणक्य की मन्त्रणा से मगध साम्राज्य पर आक्रमण किया। बड़े भयंकर युद्ध के बाद नन्दवंश का नाश हुआ और चन्द्रगुप्त मौर्य पाटलिपुत्र के सिंहासन पर बैठा। यहाँ से उसने पहले सुराष्ट्र से लेकर आसाम तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया। इस बात के भी प्रमाण पाये जाते हैं कि उसने विन्ध्य के दक्षिणी प्रदेशों पर भी आक्रमण किया और उसकी विजयी सेना तामिल प्रदेश तक पहुँच गई थी। ३०५ ई० पू० में सिकन्दर के सेनापति सेल्यूकस निकेटर ने सिकन्दर द्वारा भारत में जीते हुये प्रदेशों को वापस लाने के किये भारत पर आक्रमण किया। इस समय राजनीतिक और सैनिक दृष्टि से भारत की स्थिति प्रबल थी। चन्द्रगुप्त ने सिन्धु के उस पार यूनानी सेना का मुकाबला किया और युद्ध में सेल्यूकस को हराया। सेल्यूकस सन्धि करने को विवश हुआ। इस सन्धि के अनुसार सिन्धु और हिन्दुकुश के बीच के सारे यूनानी प्रदेशों को उसने चन्द्रगुप्त को सौंप दिया और मैत्री को दृढ़ करने के लिये अपनी लड़की का विवाह भी चन्द्रगुप्त के साथ कर दिया। इस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य ने एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया जो आसाम से हिन्दुकुश तक और तामिल प्रदेश से हिमालय तक फैला हुआ था। भारतीय इतिहास के ऐतिहासिक काल में इतने बड़े साम्राज्य का विस्तार किसी सत्ता ने नहीं किया।

(२) **शासन-प्रबन्ध**—चन्द्रगुप्त मौर्य केवल विजेता ही नहीं किन्तु एक योग्य शासक भी था। चाणक्य की सहायता से उसने संगठित शासन-पद्धति का विकास किया। इस शासन का वर्णन चाणक्य के अर्थशास्त्र और यूनानी राजदूत मेगास्थनीज के इंडिका नामक ग्रन्थ में पाया जाता है।

मौर्य-साम्राज्य एकतान्त्रिक था और उसका सारा अधिकार नियमतः राजा के हाथ में केन्द्रित था, फिर भी राजशक्ति के ऊपर कई वैधानिक, सामाजिक और धार्मिक प्रतिबन्ध लगे हुए थे। राजा को मन्त्रि-परिषद् रखनी पड़ती थी, और उसकी सलाह और सहायता से राज्य का संचालन करना होता था। राजा स्वयं कानून नहीं बना सकता था, जो

कानून समाज में प्रचलित थे, उन्हीं का प्रयोग वह करता था, यद्यपि चन्द्रगुप्त ने अपनी आज्ञाओं से भी कभी-कभी शासन में काम लिया। सामाजिक व्यवस्था के अनुसार जो क्षत्रिय के कर्तव्य थे उनका पालन राजा को करना पड़ता था। धर्म और नीति का उसके ऊपर प्रभाव था और प्रजा के हित में वह अपना हित और प्रजा के सुख में अपना सुख मानता था। सारा केन्द्रीय शासन अठारह विभागों में बँटा हुआ था। प्रत्येक विभाग एक मंत्री के अधीन होता था। नीचे लिखे मंत्रियों का उल्लेख अर्थशास्त्र में पाया जाता है :

(१) प्रधान मंत्री अथवा पुरोहित
(२) समाहर्त्ता (माल-मंत्री)
(३) सन्निधाता (कोषाध्यक्ष)
(४) सेनापति
(५) युवराज
(६) प्रदेष्टा (शासन-सम्बन्धी न्याय-मंत्री)
(७) व्यावहारिक (स्वाम्य, उत्तराधिकार आदि सम्बन्धी न्याय-मंत्री)
(८) नायक (सेनानायक)
(९) कर्मान्तिक (उद्योग-मंत्री)
(१०) मंत्रि-परिषद् का अध्यक्ष
(११) दण्डपाल (सेना के लिये रसद-मंत्री)
(१२) अन्तपाल (सीमा की रक्षा करने वाला)
(१३) दुर्गपाल (गृह-रक्षा-मंत्री)
(१४) पौर (राजधानी के शासन का अध्यक्ष)
(१५) प्रशास्ता (राजकीय कागज-पत्र का अध्यक्ष)
(१६) दौवारिक (राजप्रासाद की रक्षा करने वाला)
(१७) आन्तर्वंशिक (राजपरिवार की रक्षा करनेवाला)
(१८) आटविक (जंगल-विभाग का मंत्री)

शासन की सुविधा के लिये चन्द्रगुप्त का विशाल साम्राज्य कई भागों अथवा प्रान्तों में बँटा हुआ था। उसका पहला भाग गृह-राज्य था, जिसमें मगध और उसके आसपास के प्रदेश शामिल थे।

दूसरा प्रान्त उत्तरापथ था, जिसमें पंजाब सीमान्त सिन्ध और सिन्धु के उस पार के प्रदेश सम्मिलित थे। तीसरा प्रान्त सुराष्ट्र का था, जिसकी राजधानी गिरिनगर अथवा गिरनार थी। पाँचवाँ प्रान्त अवन्तिराष्ट्र था जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी। दक्षिणापथ के सारे प्रदेश एक प्रान्त के अन्तर्गत

थे, जिसकी राजधानी सुवर्णगिरि थी। इन प्रान्तों के अतिरिक्त और भी प्रान्त अवश्य रहे होंगे, लेकिन उनका पता नहीं मिलता। शासन की और अधिक सुविधा के लिये प्रान्तों के और भी उप-विभाग थे, जैसे जनपद, स्थानीय, (८०० गाँवों की इकाई), द्रोणमुख (४०० गाँव), खार्वटिक (२०० गाँव), संग्रहण (१० गाँव) और ग्राम (सबसे छोटी इकाई)। ये विभाग माल के मुहकमे की सुविधा के लिये बनाये गये थे।

चन्द्रगुप्त के समय में स्थानीय शासन दो प्रकार का था—(१) ग्राम-शासन और (२) नगर-शासन। गाँव का शासन ग्राम-सभा के द्वारा होता था, जिसका प्रमुख ग्रामिक अथवा ग्राम-भोजक होता था और जिसका चुनाव सरकार की अनुमति से गाँव वाले करते थे। ग्राम सभा को काफी अधिकार मिले हुए थे। गाँव के साधारण झगड़े उसी के द्वारा तय होते थे। सभा का अपना कोष भी होता था, जिसमें अर्थदण्ड और गाँव के दूसरे साधनों से आमदनी होती थी। सड़क, पुल पोखरे आदि सार्वजनिक कार्य ग्राम-सभा के अधीन थे। गाँव वालों के मनोरञ्जन का प्रबन्ध भी ग्राम सभा ही करती थी।

नगर-शासन का उल्लेख अर्थशास्त्र में भी मिलता है, परन्तु मेगास्थनीज़ ने अपनी इण्डिका में विस्तार के साथ इसका विवरण दिया है। उसके अनुसार पाटलिपुत्र का शासन करने के लिये तीस सदस्यों की नगर-सभा होती थी। यह नगर-सभा भिन्न-भिन्न कार्य करने के लिये निम्नलिखित छः समितियों में बँटी थी—(१) शिल्प कला-समिति, जो नगर के उद्योग धन्धों का निरीक्षण और प्रबन्ध करती थी, (२) विदेशी-यात्री-समिति, जो विदेशियों की गतिविधि को देखती और उनके ठहरने और सुविधा का ध्यान रखती, (३) जन-गणना-समिति, जो नगर में जन्म, मरण का लेखा रखती थी, जिसका उपयोग कर, शिक्षा, न्याय आदि में होता था, (४) वाणिज्य-समिति, इस समिति का अधिकार क्रय-विक्रय, माप और तौल आदि के ऊपर था, (५) उद्योग समिति जो वस्तु-निर्माण, वस्तु-शुद्धि और वस्तु-वितरण का प्रबन्ध करती थी और (६) कर-समिति, जिसका काम बिक्री के ऊपर कर और चुङ्गी वसूल करना था। चाणक्य के अनुसार नगर-शासन में सार्वजनिक भोजनालय, रक्षा अथवा पुलिस विभाग, जेल, मनोरञ्जन, स्वास्थ्य तथा सफाई, भवन-निर्माण, शिक्षा और सार्वजनिक नीति और आचरण के निरीक्षण आदि शामिल थे।

शासन के मुख्य विभागों में पहला प्रमुख विभाग राजस्व अथवा माल का था। सरकारी आय के सात साधन थे—(१) दुर्ग (राजधानी और नगरों से आमदनी), (२) राष्ट्र (भूमि-कर), (३) खनि (खान), (४) सेतु

(फल-शाक ओषधि आदि), (५) वन (जंगल), (६) व्रज (गोचर भूमि) और (७) वणिक्पथ (व्यापार)। इन साधनों के सिवाय सरकारी आय के और भी साधन थे। टकसाल, शस्त्र-निर्माण, आबकारी, जुआ आदि पर राज्य का एकाधिकार होता था। न्यायालयों से शुल्क राजकोष में आता था। विशेष अवस्थाओं में राजा युद्ध, अकाल आदि के समय भी नये कर प्रजा पर लगा सकता था। राजस्व विभाग का शासन **समाहर्त्ता** के हाथ में था। उसके अधीन बहुत से अध्यक्ष और **निरीक्षक** भी हुआ करते थे।

शासन का दूसरा मुख्य विभाग **न्याय-विभाग** था। चन्द्रगुप्त के समय में दो प्रकार के न्यायालय थे—(१) कण्टक-शोधन, जिसमें फौजदारी के मुकदमों का फैसला होता था और (२) धर्मस्थीय, जिनमें दीवानी के अभियोगों का निर्णय होता था। हरेक अभियोग में नियमित आवेदन-पत्र देना पड़ता था, जिसमें वादी, प्रतिवादी आदि के सम्बन्ध में पूरा विवरण लिखा जाता था। फिर प्रमाण, साक्षी और सरकारी जाँच-भाल के पश्चात् न्यायाधीश मुकद्दमे का निर्णय करते थे। फौजदारी के मुकद्दमों में दण्ड बहुत कड़े दिये जाते थे। हल्के अथवा बड़े अपराधों के अनुसार दण्ड में धिक्कार, अर्थ-दण्ड, बन्धन (जेल) अंग-भंग, देश निकाला और मृत्यु-दण्ड आदि सम्मिलित थे।

शासन का तीसरा बड़ा विभाग **सेना और पुलिस** का था। चन्द्रगुप्त के पास एक विशाल सेना थी। सेना का प्रबन्ध तीन बड़े उप-विभागों में बँटा हुआ था—(१) दुर्ग (स्थल दुर्ग, जल दुर्ग, पर्वत दुर्ग तथा मरुदुर्ग), (२) हथियारों का निर्माण विभाग) और (३) सैनिक संगठन। चन्द्रगुप्त की सेना चतुरङ्गिणी थी जिसमें पैदल ६ लाख, घुड़सवार ३० हजार, हाथी ३६ हजार और रथ २४ हजार थे। सेना के इन चार अंगों के अतिरिक्त जहाजी बेड़ा, रसद-विभाग, गुप्तचर, देशिक (स्काउट), औषध तथा उपचार, बन्दी, चारण आदि भी सम्मिलित थे। इस विभाग का मुख्याधिकारी सेनापति था। उसके अधीन बहुत से अध्यक्ष थे, जो सेना के विभिन्न अंगों का प्रबन्ध करते थे। रक्षा अथवा पुलिस में दो उपविभाग थे-(१) प्रकट पुलिस जिसके ऊपर समाज की रक्षा का भार था और (२) गुप्तचर विभाग जो विशेष करके सामाजिक और घूमने वाले, कई प्रकार के काम करने वाले होते थे, जिनमें विद्यार्थी, परिव्राजक, परिव्राजिकायें, दुकानदार और कुछ गृहस्थ भी शामिल होते थे। चन्द्रगुप्त के समय में गुप्तचर विभाग का बड़ा ही उपयोग था।

चन्द्रगुप्त के शासन में लोकोपकारी कार्यों पर भी विशेष ध्यान दिया जाता था। कृषि और सिंचाई के ऊपर राज्य का बहुत ही अधिक ध्यान था। सिंचाई के लिये कूएँ, तालाव, नहर और नदी से पानी निकालने का विशेष प्रबन्ध

राज्य की ओर से होता था। यातायात की व्यवस्था थी। नदियों और सड़कों के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान में जाना सुरक्षित था। जनता के स्वास्थ्य और सफाई का भी प्रवन्ध था। राज्य में अनेक प्रकार के रोगों की चिकित्सा करने के लिये चिकित्सालय बने हुए थे। शिक्षा में सरकार पूरी सहायता करती थी। आकस्मिक रोग—महामारी, विसूचिका आदि; सूखा, बाढ़, अग्नि, दुर्भिक्ष आदि से प्रजा की रक्षा करने का भार सरकार के ऊपर था।

चन्द्रगुप्त के शासन का जो वर्णन मिलता है, उससे यह कहा जा सकता है, कि वह बहुत ही सुव्यवस्थित और सुसंगठित था। इस शासन की तुलना किसी भी सभ्य देश के शासन से की जा सकती है। प्रसिद्ध इतिहासकार वी० ए० स्मिथ ने लिखा है, कि चन्द्रगुप्त का शासन अकबर के शासन से कहीं उच्च कोटि का था।

२. बिन्दुसार

जैन परम्परा के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य अपने जीवन के अन्तिम काल में जैनधर्म का उपासक हो गया था और जैनाचार्य भद्रबाहु के साथ मैसूर में श्रवण-वेलगोला नामक स्थान पर तपस्या करने के लिये चला गया। वहीं ई० पू० २९७ में अनशन करके उसने अपने शरीर का त्याग किया। उसके बाद उसका लड़का बिन्दुसार मगध के सिंहासन पर बैठा। उसने अपने पिता की दिग्विजयी नीति का अवलम्बन किया। बौद्ध साहित्य में लिखा है कि चाणक्य बिन्दुसार के समय में भी मगध साम्राज्य का मंत्री था। उसकी प्रेरणा से बिन्दुसार ने भारत के बचे हुये सोलह राज्यों को अपने साम्राज्य में मिला लिया और मौर्य साम्राज्य का विस्तार किया। इस बात की पुष्टि यूनानी लेखकों द्वारा भी होती है। बिन्दुसार ने चन्द्रगुप्त की विदेशी नीति को भी जारी रखा। वह भारत के भीतर आक्रमण की नीति और पश्चिमोत्तर में पड़ोस के यूनानी राज्यों के साथ मित्रता का सम्बन्ध रखता था। बिन्दुसार बड़ा ही विजेता और योग्य शासक था, परन्तु चन्द्रगुप्त और अशोक के बीच में आने से उसका व्यक्तित्व धूमिल हो गया।

३. अशोक

(१) राज्य-प्राप्ति और विजय

बिन्दुसार के कई पुत्रों में अशोक सबसे योग्य और प्रतिभाशाली था। बौद्ध साहित्य से ऐसा ज्ञात होता है, कि बिन्दुसार की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार के लिये उसके पुत्रों में युद्ध हुआ। उस युद्ध में बहुत से भाई मारे गये

और अन्त में अशोक पाटलिपुत्र के सिंहासन पर २७२ ई० पू० के लगभग बैठा। प्रारम्भ में उसने भी बिन्दुसार की तरह चन्द्रगुप्त की नीति का अनुसरण किया। उसने काश्मीर और कलिंग को जीतकर अपने राज्य में मिलाया। कलिंग का युद्ध उसके शासनकाल के आठवें वर्ष में हुआ। यह बड़ा भयानक युद्ध था, जिसमें बहुत बड़ा विध्वंस हुआ। इसको देखकर अशोक बहुत ही दुःखी और प्रभावित हुआ और बौद्ध-धर्म के प्रभाव के कारण उसने सैनिक और राजनीतिक विजयों को छोड़कर धर्म-विजय और लोकसेवा की नीति का अवलम्बन किया।

(२) शासन-प्रबन्ध : सुधार

अशोक को उत्तराधिकारी में एक बहुत बड़ा साम्राज्य और सुसंगठित शासन मिला था, परन्तु उसने अपने धार्मिक विश्वासों और नैतिक विचारों के अनुसार शासन की नीति और कार्यक्रम में बहुत सा परिवर्त्तन किया। उसने घोषणा की कि 'मेरे राज्य में सभी मनुष्य मेरी सन्तान हैं, जैसा कि मैं चाहता हूँ, कि मेरी सन्तान को लोक में सुख और परलोक में परमार्थ की प्राप्ति हो, उसी प्रकार मैं अपनी प्रजा के लिये भी मंगल-कामना करता हूँ।' इसमें सन्देह नहीं कि अशोक ने अपने शासन में आदर्शवादिता और लोकहित को उच्च स्थान दिया। अशोक ने अपने शासन में निम्नलिखित सुधार कियेः

(१) उसने धर्म-विभाग की स्थापना की, जिसमें धर्म-महामात्य आदि धर्माधिकारियों की नियुक्ति की, जो प्रजा के धार्मिक और नैतिक कल्याण की व्यवस्था करते थे।

(२) उसने प्रतिवेदकों (सूचना देने वाले) और दौरा करने वाले अधिकारियों की नियुक्ति की जो जनता की स्थिति का निरीक्षण कर सम्राट् को उसकी सूचना देते थे।

(३) राजधानी के सामाजिक जीवन में भी बहुत से परिवर्त्तन हुए। ऐसे समाज और उत्सव जिनमें मांस, शराब, नाच, गान, का दौर हुआ करता था, बन्द कर दिये गये और उनके स्थान पर सत्संग और धर्म-यात्रा की व्यवस्था की गयी।

(४) प्राणि-मात्र के सुख को ध्यान में रख कर बहुत से अवसरों पर पशुवध बन्द कर दिया गया और कई प्रकार के जीवधारी अवध्य घोषित किये गये।

(५) पशुओं और मनुष्यों के स्वास्थ्य और कल्याण के लिये बहुत से चिकित्सालय खोले गये और ओषधियों को उत्पन्न करने के लिये उद्यान लगाये गये।

(६) कई शुभ अवसरों पर कैदखानों से कैदी छोड़े जाते थे।

(७) अशोक ने सीमान्त की अर्द्धसभ्य और लड़ाकू जातियों के साथ कठोर नीति का त्याग करके उनके साथ उदारता और सहयोगी नीति का अवलम्बन किया।

(३) अशोक का धर्म

अशोक अपनी राजनीति के लिये संसार में उतना प्रसिद्ध नहीं है, जितना अपनी धर्म-नीति और उसके प्रकाश में राजनीतिक व्यवस्था के लिये। संसार में अशोक से भी बड़े दिग्विजयी और बड़े योग्य शासक हुए, किन्तु जो धर्म की भावना और नैतिक विचार अशोक में उसके राजनीतिक कर्त्तव्यों के साथ पाये जाते हैं, उसकी तुलना संसार के इतिहास में नहीं मिलती। जिस धर्म भावना से वह प्रभावित था, उसका सन्देश वह जनता तक पहुँचाना चाहता था। उसका वह धर्म क्या था? इसमें बिल्कुल सन्देह नहीं कि अशोक बौद्ध हो गया था, किन्तु जिस धर्म का उसने प्रचार किया, वह साम्प्रदायिक बौद्ध-धर्म नहीं था। अशोक के धर्म में सभी धर्मों से सम्मानित नैतिक सिद्धान्तों और आचरणों का संग्रह पाया जाता है। उसने धर्म के विषय को बताते हुये निम्नलिखित भावों का उल्लेख किया है—(१) साधुता, (२) दया, (३) दान, (४) सत्य, (५) शौच और (६) माधुर्य। इन भावों को व्यवहार में लाने के लिये उसने निम्नलिखित आचरणों पर जोर दिया: (१) पशुवध का त्याग, (२) अहिंसा (३) माता पिता की सेवा, (४) बड़ों और वृद्धों की सेवा, (५) गुरुओं के प्रति आदर, (६) मित्र, परिचित, जाति-भाई, ब्राह्मण और श्रमणों के साथ उचित व्यवहार, (७) नौकरों और मजदूरों के साथ उचित व्यवहार और (८) थोड़ा व्यय और संग्रह। मन को शुद्ध करने के लिये और पाप के प्रवाह को रोकने के लिये नीचे लिखी दुर्भावनाओं को छोड़ने का अशोक ने उपदेश किया—(१) चण्डता, (२) निठुरता, (३) क्रोध, (४) अभिमान और (५) ईर्ष्या। अशोक ने यह भी बतलाया कि मनुष्य की धार्मिक उन्नति के लिये आत्म-निरीक्षण बहुत ही आवश्यक है।

अशोक के धर्म की कई विशेषताएँ थीं। उसका धर्म सार्वभौम धर्म था, इसमें वे ही उपदेश रखे गये हैं, जो सभी धर्मों को समान रूप से मान्य थे। अशोक के धर्म की दूसरी विशेषता यह है, कि उसने धर्म के सार भाग पर जोर दिया और दार्शनिक सिद्धान्तों और बाहरी कर्मकाण्ड पर नहीं। अशोक का धर्म शुद्ध नैतिक धर्म था। इसका सम्बन्ध मनुष्य के आचरण से था। इस धर्म की चौथी विशेषता यह थी, कि यह बहुत ही उदार था। अशोक सभी धर्मों और सम्प्रदायों को समान रूप से और आदर की दृष्टि से देखता

था। उसके साम्राज्य में सभी सम्प्रदायों को बसने की स्वतन्त्रता थी। किन्तु इस स्वतन्त्रता का एक मूल्य था; सभी सम्प्रदाय वालों को अपने वचन पर संयम रखना होता था और दूसरे धर्म के सिद्धान्तों और आचरणों को समझने की चेष्टा करनी पड़ती थी।

(४) अशोक का धर्म-विजय

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अशोक ने शस्त्र के द्वारा दिग्विजय की नीति को छोड़कर धर्म विजय की नीति को अपनाया। वास्तव में यहाँ विजय शब्द का प्रयोग आलंकारिक है। धर्म-विजय का अर्थ था, लोकहित और संसार की सेवा। इन्हीं के द्वारा अशोक ने संसार पर अपना प्रभाव फैलाने की चेष्टा की। इसके लिये उसने नीचे लिखित साधन अपनाये—(१) धर्म-विभाग की स्थापना, (२) धार्मिक प्रदर्शन, (३) धर्म यात्रा, (४) धर्म श्रावण, (धार्मिक कथा-वार्त्ता की व्यवस्था) (५) दान, (६) कर्म-लिपि (पर्वत की शिलाओं और पत्थर के स्तम्भों पर धार्मिक लेख) की स्थापना, (७) लोकोपकारी कार्य, जैसे सड़कें बनाना, वृक्ष लगाना, कुआँ खोदना, पन्थशाला का निर्माण, मनुष्यों और पशुओं के लिये चिकित्सालय आदि (८) धर्म के प्रचारकों का संगठन और उनको भारत के भिन्न-भिन्न भागों में तथा भारत के बाहर भेजना और (९) बौद्ध धर्म की तीसरी सभा का पाटलिपुत्र में आयोजन, जिसमें बौद्ध साहित्य के परिष्कार और बौद्ध धर्म के प्रचार की व्यवस्था की गयी। इस धर्म-विजय का यह फल हुआ कि बौद्ध-धर्म एशिया के बहुत से देशों में फैल गया और संसार की सभ्यता में एक बड़ी शक्ति के रूप में विकसित हुआ। धर्म-विजय ने अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भारत का स्थान ऊँचा कर दिया।

(५) अशोक का व्यक्तित्व और इतिहास में उसका स्थान

अशोक अपने जीवन के प्रारम्भ में बड़ा योग्य किन्तु कठोर शासक था। बौद्ध-धर्म में दीक्षित होने के बाद उसके जीवन में एक भारी क्रान्ति हुई। उसने अदम्य उत्साह, अथक पराक्रम, अध्यवसाय और कार्यक्षमता का परिचय, लोकहित और विश्व-सेवा में दिया। एक बड़े पैमाने पर धर्म-विजय की योजना अशोक का एक नया प्रयोग था। प्रसिद्ध इतिहासकार वेल्स अशोक का मूल्यांकन करते हुये लिखता है, 'संसार के इतिहास के पन्नों को भरने वाले राजाओं, सम्राटों, धर्माधिकारियों में सन्त महात्माओं के बीच अशोक का नाम प्रकाशमान् है और वह आकाश में प्रायः एकाकी तारा की तरह चमकता

है।' सिकन्दर, सीज़र, कान्स्टेण्टाइन, नेपोलियन और अकबर आदि की तुलना में अपने नैतिक आदर्श के कारण अशोक बहुत ऊँचा ठहरता है।

४. अशोक के उत्तराधिकारी और मौर्य साम्राज्य का पतन

अशोक के बाद मौर्य साम्राज्य के पतन के साफ लक्षण दिखाई पड़ने लगे। एक-दो को छोड़कर उसके उत्तराधिकारी विलासी और दुर्बल थे। मौर्य वंश के अन्तिम दिनों में, मध्य-एशिया से भारत पर आक्रमण होने शुरू हो गये। ऐसा जान पड़ता है, कि मध्य और पश्चिमी एशिया की लड़ाकू जातियों पर अशोक की धर्मनीति का 'कम से कम राजनीतिक मामलों में' स्थायी प्रभाव न पड़ा और उन्होंने अवसर पाते ही भारत पर आक्रमण करने शुरू कर दिये। मौर्य वंश का अन्तिम शासक बृहद्रथ था, जो विलासी और अपने कर्त्तव्यों के पालन करने में असमर्थ था। इस परिस्थिति में उसके सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने १८५ ई० पू० के लगभग उसका वध करके शुंग-वंश की स्थापना की।

मौर्य-साम्राज्य के पतन के कई कारण थे। पहले कारण का उल्लेख किया जा चुका है। वह था अशोक के उत्तराधिकारियों का दुर्बल और विलासी होना। दूसरा कारण था मध्य एशिया से विदेशी जातियों का आक्रमण। तीसरा कारण था विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति और फलस्वरूप मगध साम्राज्य के दूरस्थ प्रान्तों का स्वतन्त्र होने की चेष्टा करना और एक-एक करके मगध साम्राज्य से निकल कर अलग हो जाना। इन कारणों के अतिरिक्त एक और भी कारण था। बौद्ध और जैन धार्मिक सम्प्रदाय प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुये थे और बौद्ध-धर्म का चरमोत्कर्ष अशोक के समय में हुआ जान पड़ता है। अशोक ने अपनी धार्मिक और राजनीतिक व्यवस्था में बहुत से ऐसे काम किये, जो उस समय के परम्परावादी पुराने विचार के लोगों को असह्य थे। इसलिये समाज के एक बहुत बड़े भाग में अशोक की नीति के विरोध में प्रतिक्रिया होती रही। लड़खड़ाते हुये मौर्य साम्राज्य के पतन में यह धार्मिक और सामाजिक प्रतिक्रिया भी सहायक हुई।

५. मौर्यकालीन समाज और संस्कृति

(१) समाज

मौर्यों का समय भारत में समाज और संस्कृति की क्या अवस्था थी, इसका पता चाणक्य के अर्थशास्त्र, अशोक के धर्मलेख और मेगस्थनीज के विवरण से लगता है। चाणक्य के अनुसार इस समय का समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्णों में बँटा हुआ था। अशोक अपने लेख में

कहीं भी वर्णों का उल्लेख नहीं करता, किन्तु उसके धर्म-लेखों में कई एक ऐसे शब्द पाये जाते हैं, जिनसे मालूम होता है, कि चारों वर्ण उस समय स्थित थे, यद्यपि बौद्ध धर्म से प्रभावित लोग वर्णव्यवस्था को विशेष महत्त्व नहीं देते थे। मेगस्थनीज़ ने भारत की सात जातियों का उल्लेख किया है, जिनमें (१) दार्शनिक, (२) किसान, (३) ग्वाले, (४) कारीगर, (५) सैनिक, (६) निरीक्षक और (७) अमात्य (सरकारी कर्मचारी) सम्मिलित हैं। ऐसा जान पड़ता है, कि मेगस्थनीज़ ने वर्णों, जातियों और सरकारी वर्गों के बीच घपला कर दिया है। समाज में ऊँच-नीच का भाव वर्त्तमान था, इसलिये अशोक बार-बार नौकरों और मजदूरों के साथ उचित वर्त्ताव करने का उल्लेख करता है। स्त्रियों को समाज में स्वतन्त्रता थी, फिर भी उनकी रूढिवादिता, रीति-रिवाज से प्रेम और अनावश्यक कर्मकाण्ड में आसक्ति की ओर अशोक व्यंग करता है। राजघरानों और धनी-मानी परिवारों में स्त्रियों के अवरोधन (बन्द अन्तःपुर) होते थे। इससे मालूम पड़ता है कि ऐसे परिवारों में स्त्रियों के ऊपर प्रतिबन्ध था और कम से कम अर्द्ध पर्दा-प्रथा उस समय भी विद्यमान थी।

अर्थशास्त्र में आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख मिलता है—(१) ब्राह्म, (२) प्राजापत्य, (३) आर्ष, (४) दैव, (५) आसुर, (६) गान्धर्व, (७) राक्षस, और (८) पैशाच। ब्राह्मण और बौद्ध साहित्य दोनों में ही अन्तर्जातीय और कहीं-कहीं सगोत्र और सपिण्ड विवाह के उदाहरण भी पाये जाते हैं। समृद्ध परिवारों में बहुविवाह की प्रथा थी। अर्थशास्त्र में चाणक्य लिखता है, 'बहुत सी स्त्रियों को ब्याहना चाहिये; स्त्रियाँ पुत्र उत्पन्न करने के लिये हैं।' पुरुष और स्त्री दोनों को पुनर्विवाह करने का अधिकार अर्थशास्त्र में दिया गया है। किन्हीं-किन्हीं परिस्थितियों में विवाह-विच्छेद भी सम्भव था।

(२) भोजन और पेय

मौर्य शासन-काल में समाज समृद्ध और सुखी था, इसलिये उस समय के लोग खाने पीने में शौकीन थे और कई प्रकार के भोजन तैयार किये जाते थे। खाने के पदार्थों में अन्न, फल, दूध और मांस शामिल थे। समाज का बहुत बड़ा भाग मांस खाता था। नगरों में तैयार भोजन बेचने वाली दूकानों में पका हुआ मांस, चावल, दाल-रोटी आदि की दूकानों का उल्लेख मिलता है। पीने की चीजों में कई प्रकार की मदिरा का वर्णन मिलता है, जो पानी और दूध के सिवाय मुख्य पेय थी। भोजन करने के ढंग पर मेगास्थनीज़ लिखता है, 'जब भारतीय खाने बैठते हैं, तो हरेक आदमी के सामने एक

छोटी सी मेज रखी जाती है, इसके ऊपर सोने का प्याला रखा जाता है, जिसमें सबसे पहले चावल डाला जाता है, जो जौ की तरह उबले हुए होते हैं। इसके बाद दूसरे उबले पकवान रखे जाते हैं, जो भारतीय विधि से बने होते हैं।' उसने यह भी लिखा है, कि भारतीय अकेले खाते हैं और सामूहिक भोजन के लिये कोई निश्चित समय नहीं है।

(३) मनोविनोद

समाज में मनो-विनोद के लिये बहुत से साधन थे। कुछ लोगों का मनोरंजन करना व्यवसाय ही था, जैसे नट, नर्त्तक, गायक, वादक, वाग्जीवी, कुशीलव (नाटक करने वाले), सौभिक (मदारी) और चारण (प्रशंसा करनेवाले)। मेगास्थनीज़ के विवरण में रथदौड़, घुड़दौड़, सांड़युद्ध, हस्तियुद्ध आदि का भी उल्लेख मिलता है। अशोक के लेखों के अनुसार मृगया और सामाजिक उत्सव भी आमोद-प्रमोद के साधन थे।

(४) धर्म

मौर्य-काल में तीन मुख्य धार्मिक सम्प्रदाय थे—(२) वैदिक (२) जैन और (३) बौद्ध। कई सुधारवादी आन्दोलनों के होते हुए भी समाज में वैदिक धर्म को मानने वालों की संख्या काफी थी। न केवल ब्राह्मण-साहित्य में किन्तु जैन और बौद्ध-साहित्य से भी उस समय के वैदिक दर्शन, यज्ञ, बलिदान, श्राद्ध आदि का पता चलता है। वैदिक धर्म के साथ-साथ शैव और वैष्णव धर्म का भी उदय हो रहा था और शिव, वासुदेव, संकर्षण, विनायक, विशाख आदि देवताओं की भी पूजा होती थी। जैन-धर्म धीरे-धीरे अपना विस्तार कर रहा था और मौर्य-सम्राट सम्प्रति इस धर्म के बहुत बड़े समर्थक और प्रचारक थे। जैन-धर्म में अभी श्वेताम्बर और दिगम्बर जैसे सम्प्रदायों का भेद नहीं हुआ था, फिर भी सम्प्रदायों के बीज बो दिये गये थे। मौर्यों के समय विशेषकर अशोक के शासन-काल में बौद्ध-धर्म को बड़ा प्रश्रय मिला। इस समय तक बौद्ध-धर्म में स्थविरवाद और महासांघिक दो सम्प्रदायों का उदय हो चुका था। इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त और भी बहुत से धार्मिक सम्प्रदाय थे, जो उस समय की भाषा में अशोक के धर्म लेखों में 'पाषण्ड' कहे गये हैं। चन्द्रगुप्त के समय में कई धार्मिक सम्प्रदायों पर प्रतिबन्ध था, परन्तु अशोक के समय में, विश्वास और पूजा-पद्धति की पूरी स्वतन्त्रता मिली हुई थी। लोग मन्दिर और धर्मस्थानों को आदर की दृष्टि से देखते थे और तीर्थयात्रा करने जाते थे। स्वर्ग और नरक में भी लोगों का विश्वास था। बहुत से अन्धविश्वास और रूढ़ियाँ भी प्रचलित थीं, जिनकी ओर अशोक

अपने लेखों में अक्सर संकेत करता है। अपने धर्म-विजय की योजना से अशोक ने जनता को परम्परागत रूढ़ियों से उठाकर उसकी नैतिक उन्नति करने का प्रयत्न किया।

(५) भाषा और लिपि

इस समय दो भाषाएँ प्रचलित थीं। पहली संस्कृत, जिसमें पूरा का पूरा वैदिक साहित्य, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और सूत्रग्रन्थ आदि लिखे गये थे। संस्कृत साहित्यिकों और पण्डितों की भाषा थी, जिसका स्वरूप व्याकरण के नियमों से बँधा हुआ था। जैन और बौद्ध सम्प्रदाय जैसे सुधारवादी आन्दोलनों के कारण जनता की सामान्य बोल-चाल की भाषा को प्रोत्साहन मिला, जो उस समय पालि अथवा प्राकृत कहलाती थी। इसी भाषा में भगवान् महावीर और बुद्ध के उपदेश दिये गये और बाद में संगृहीत हुये। इस समय दो लिपियाँ भी चलती थीं—(१) ब्राह्मी और (२) खरोष्ट्री। दूसरी का प्रचार केवल पश्चिमोत्तर सीमान्त में था। पहली सारे देश में प्रचलित थी। ब्राह्मी बायें से दायें ओर लिखी जाती थी, और इसी से आगे चलकर भारत की प्रान्तीय लिपियों का जन्म हुआ। खरोष्ट्री लिपि दायें से बायें ओर लिखी जाती थी और ऐसा समझा जाता है, कि इसके ऊपर सामी लिपि आरमीनियन का प्रभाव था।

(६) साहित्य

इस काल का साहित्य भी ब्राह्मण, जैन और बौद्ध तीन मुख्य धाराओं में बँटा हुआ था। वैदिक साहित्य में सूत्रग्रन्थों की रचना हुई, जिसमें गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और वेदांगों की गणना की जा सकती है। शुद्ध साहित्य में भास के नाटक, रामायण और महाभारत के कुछ भाग लिखे गये। राजनीति का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ कौटिल्य का अर्थशास्त्र और व्याकरण का ग्रन्थ, पातञ्जल-महाभाष्य भी इसी काल की रचनायें हैं। बौद्ध साहित्य में अभी प्रारम्भिक पालि साहित्य का युग चल रहा था और इसमें त्रिपिटक-सूत्रपिटक, अभिधर्मपिटक, विनय-पिटक तथा और बहुत से फुटकर ग्रन्थों की रचना हुई। जैन धर्म के प्रसिद्ध लेखक जम्बू स्वामी, प्रभव और स्वयंभू सम्भवतः इसी युग में हुए। जैनाचार्य भद्रबाहु ने भी इसी काल में जैन ग्रन्थों पर भाष्य लिखा। जैनों के प्राचीन ग्रन्थ, आचारांगसूत्र, समवायांगसूत्र, भगवतीसूत्र, उपासक दशांग, प्रश्न-व्याकरण सूत्र आदि ग्रन्थ मौर्यों के समय में ही निर्मित हुए। वाराणसी,

तक्षशिला, राजगृह, पाटलिपुत्र आदि कई एक शिक्षा के केन्द्र देश में विद्यमान थे, जहाँ विभिन्न शास्त्रों की उन्नति और पढ़ाई होती थी।

(७) कला

कला की दृष्टि से भी मौर्यकाल बहुत प्रसिद्ध है। देश में शान्ति और सुव्यवस्था के कारण कला को बहुत ही प्रोत्साहन मिला। भवन-निर्माण कला के ऊपर अर्थशास्त्र और मेगस्थनीज़ के विवरण से काफी प्रकाश पड़ता है।

सारनाथ का अशोक स्तभ
(सिंह-शीर्ष)
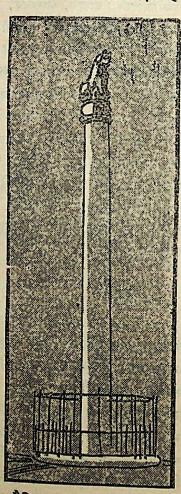
लौरियानन्दन गढ़ का अशोक
सिंहस्तम्भ

मेगस्थनीज़ के अनुसार पाटलिपुत्र में एक बहुत बड़ा राजप्रासाद और सभा-मण्डप था और सभामण्डप के स्तम्भों पर सुन्दर मूर्तियाँ बनी हुई थीं। मेगस्थनीज़

के विचार में मौर्य राजप्रासाद ईरान की राजधानी सूसा के राजमहलों से अधिक भव्य था। अशोक ने भी बहुत से राजप्रासाद, चैत्य, स्तूप, स्तम्भ और गुफा-मन्दिरों का निर्माण कराया। भारत के पुराने गृह-निर्माण में लकड़ी का अधिक प्रयोग होता था। मौर्यों के समय में ईंट और पत्थर का भी प्रयोग होने लगा। मूर्त्तिकला में यक्षों और देवताओं की मूर्त्तियाँ लकड़ी की और कभी-कभी पत्थरों की बनती थीं, किन्तु इस काल की मूर्त्तिकला में अशोक के स्तम्भों का बहुत ऊँचा स्थान है। उसके सभी स्तम्भ चुनार के बलुआ पत्थर और एक शिलाखण्ड के बने हैं, जिनकी औसत ऊँचाई लगभग ४० फीट है। इन स्तम्भों की चमकती हुई पालिश दर्शकों को आज भी आश्चर्य में डाल देती है। स्तम्भों के शीर्ष में कई धार्मिक चिह्न बने हुए हैं, जैसे चक्र, पशु, पक्षी, लता, पुष्प आदि। इन मूर्त्तियों में प्राकृतिक अनुरूपता और उनकी सजीवता प्रशंसनीय है। सारनाथ का अशोकस्तम्भ इस काल की मूर्त्तिकला का सबसे बड़ा उदाहरण है। नाटकों के अभिनय के लिये इस युग में प्रेक्षागृह और रंगशालाएँ बनी हुई थीं। अर्थशास्त्र में इनके बहुत से उल्लेख पाये जाते हैं। भास के नाटकों से भी इस बात का पता लगता है, कि इस समय रंग-शाला का काफी विकास हो गया था। इस काल के प्रेक्षागृह का एक नमूना सरगुजा राज्य की रामगढ़-पहाड़ियों के एक गुहाभवन में पाया जाता है।

९ अध्याय

वैदिक प्रतिसुधारणा

ईसा पूर्व छठी शती में जैन और बौद्ध दो सुधारवादी सम्प्रदायों का जन्म हुआ। इन सम्प्रदायों के प्रभाव से साधारण प्रजा का एक बहुत बड़ा अंश और बहुत से राजवंश भी वैदिक धर्म और उसके कर्मकाण्ड, आचार और नीति से उदासीन हो गये। कुछ लोगों ने तो परम्परागत वैदिक धर्म का उपहास और विरोध भी किया। संयोग से मौर्य शासन के अन्तिम काल में वाख्त्री-यूनानियों ने भारत के ऊपर आक्रमण किया और पश्चिमोत्तर भारत के कुछ भाग पर अपना अधिकार भी जमा लिया। इन विदेशी आक्रमण-कारियों के ऊपर जैन और बौद्ध शान्तिवादी नीति का कोई प्रभाव नहीं था। मौर्य-वंश के दुर्बल और विलासी अन्तिम शासक देश की रक्षा करने में असमर्थ थे। ऐसी परिस्थिति में राष्ट्रीय और परम्परावादी राजवंशों का उदय होना स्वाभाविक था, जिनमें शुंग, काण्व और आन्ध्र मुख्य थे। इन राजवंशों ने वैदिक धर्म के पुनरुत्थान, समाज के पुनर्सङ्गठन और विदेशियों से देश की राजनीति और संस्कृति को बचाने की पूरी चेष्टा की।

१. शुङ्ग-वंश

इस वंश का प्रवर्त्तक पुष्यमित्र शुंग था, जो भारद्वाज गोत्र के प्राचीन ब्राह्मणवंश में उत्पन्न हुआ था। ऐसा जान पड़ता है, कि शुंग-वंशीय ब्राह्मण मौर्यों के पुरोहित थे, जो अशोक के बाद अपना शास्त्र छोड़कर शस्त्र ग्रहण कर लिये थे। पुष्यमित्र योग्य सेनानी था। उसने मौर्य-वंश के अन्तिम राजा बृहद्रथ को जो प्रतिज्ञा दुर्बल (प्रजा-पालन में असमर्थ) था, सिंहासन से उतारकर शुंग वंश की स्थापना की। इसने यवनों की बढ़ती हुई शक्ति को पश्चिमी पंजाब में रोका। साथ ही साथ लड़खड़ाते हुये मगध साम्राज्य के बड़े भाग पर अपना अधिकार जमाकर उसको नष्ट होने से बचा लिया। इस राजनीतिक सफलता के उपलक्ष्य में पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया, जिसको जैन और बौद्ध धर्मावलम्बी राजवंशों ने छोड़ दिया था। पुष्यमित्र वैदिक धर्म का भी बहुत बड़ा समर्थक था। उसने वैदिक यज्ञों का फिर से अनुष्ठान कराया और वैदिक कर्मकाण्डों को फिर से जीवित किया। संस्कृत भाषा और साहित्य को जो छठी शती ईसा पूर्व से लेकर दूसरी शती ईसा पूर्व के प्रारम्भ

तक राज्याश्रय से वंचित थे, प्रश्रय दिया। इसी काल में मनुस्मृति जैसा धर्मशास्त्र, पातञ्जल महाभाष्य, भास के नाटक और महाभारत तथा रामायण के कई एक अंश लिखे गये। पुष्यमित्र शुंग ने सामाजिक संगठन पर भी जोर दिया। सुधारवादी धर्मों के प्रचार से वर्ण और आश्रम की व्यवस्थायें ढीली पड़ गयी थीं। समाज में अपरिपक्व संन्यास और उसके फलस्वरूप भ्रष्टाचार भी फैल रहे थे। इसलिये मनु आदि स्मृतिकारों ने इस बात का बहुत आग्रह किया कि मनुष्य को क्रमशः एक आश्रम से दूसरे आश्रम में प्रवेश करना चाहिये।

बौद्ध साहित्य के ग्रन्थ दिव्यावदान में पुष्यमित्र के बारे में यह कहा गया है कि वह बौद्ध-धर्म का बहुत बड़ा द्वेषी था, और उसने इस बात की घोषणा की कि जो कोई एक श्रमण अथवा भिक्षु का सिर उसको काट कर देगा उसके बदले में एक सौ दीनार (सोने का सिक्का) वह पुरस्कार में देगा। किन्तु संदर्भ से यह मालूम पड़ता है, कि पुष्यमित्र ने केवल पंजाब के बौद्ध-मठों का ही दमन किया। उत्तर-पूर्व मध्यभारत में बौद्ध-धर्म उसके समय में सुरक्षित रहा। इससे साफ प्रकट है कि पुष्यमित्र ने पंजाब के उन्हीं मठों का विनाश किया जिन्होंने यूनानी आक्रमणकारियों का साथ दिया था।

पुष्यमित्र के उत्तराधिकारियों में अग्निमित्र, वसुमित्र, भागवत अथवा भागभद्र आदि का उल्लेख किया जा सकता है। भागभद्र के समय तक शुंगवंश शक्तिशाली था और उसकी राजसभा में तक्षशिला के यूनानी राजा अन्तलिकित का राजदूत हेलियदोर विदिशा में आया था और यहीं पर उसने वैष्णव धर्म से प्रभावित होकर गरुडध्वज की स्थापना की थी। यह गरुडध्वज बेसनगर (विदिशा) में आज भी खड़ा है। शुंगवंश का अन्तिम राजा देवभूति, मौर्यवंश के अन्तिम राजा बृहद्रथ के समान ही दुर्बल और विलासी था। इसलिये उसके अमात्य वासुदेव काण्व ने एक दासी की लड़की के द्वारा उसका वध करा दिया। इस तरह शुंग-वंश का अन्त भी दुःखान्त ही रहा।

२. काण्व वंश

वासुदेव, जिसने देवभूति का वध कराया था, काण्व वंश का था। लगभग ७३ ई० पू० में इसने अपने राजवंश की स्थापना की। इस वंश में राजनीतिक शक्ति प्रबल नहीं थी। किन्तु जिस वैदिक प्रतिसुधारणा को शुंगों ने प्रारम्भ किया था, उसको काण्वों ने भी जारी रखा। इनके समय की और कोई विशेष

घटना मालूम नहीं। वासुदेव के वाद भूमिमित्र, नारायण और सुशर्मा नाम के राजा हुये। सुशर्मा की भी वही गति हुई, जो देवभूति की हुई थी। उसके मंत्री आन्ध्र शिमुक अथवा सिन्धुक ने उसका वध करके लगभग २९ ई० पू० में आन्ध्र-वंश की स्थापना की।

३. आन्ध्र वंश

आन्ध्र वंश महान् शक्तिशाली हुआ और इस वंश के राजाओं ने भारत के बहुत बड़े भाग पर बहुत दिनों तक शासन किया। शुंगों और काण्वों के समान यह वंश भी ब्राह्मण था, यद्यपि इसमें नाग और द्रविड रक्त का काफी मिश्रण हो चुका था। आन्ध्रों की राजधानी प्रतिष्ठान, गोदावरी के किनारे, दक्षिण में थी। इस तरह आन्ध्रों के समय में भारत की साम्राज्यवादी शक्ति का केन्द्र दक्षिण में चला गया।

आन्ध्र वंश के संस्थापक शिमुक अथवा सिन्धुक का उल्लेख किया जा चुका है। उसके वाद उसका भाई कृष्ण गद्दी पर बैठा, जिसका अभिलेख पश्चिमी घाट की गुफा में मिला है। कृष्ण के पीछे उसका भतीजा और शिमुक का पुत्र शातकर्णी राजा हुआ। वास्तव में यह वहुत शक्तिशाली और विजयी था और उसने दक्षिण, मध्य भारत और उत्तर-भारत के कुछ भाग पर अपना अधिकार स्थापि तकिया। कलिङ्ग का राजा खारवेल इसका समकालीन था। वह अति प्रतापी होते हुए भी आन्ध्रों की शक्ति को क्षीण न कर सका। शात-कर्णी के बाद शकों के आक्रमणों से आन्ध्रों का वलकुछ समय के लिये मन्द पड़ गया, परन्तु हाल शालिवाहन और गौतमीपुत्र शातकर्णी आदि आन्ध्र राजाओं ने शकोंकी सत्ता उखाड़ फेंकी और आन्ध्र साम्राज्य का विस्तार किया। इनमें गौतमीपुत्र दिग्विजयी था। "उसके वाहनों (हाथियों तथा घोड़ों) ने तीन समुद्रों का जल पिया। उसका राज्य गोदावरी के निचले काठे से लेकर सुराष्ट्र, अपरान्त (बम्बई का उत्तरी भाग), अनूप (नीमाड़ जिला), विदर्भ (बरार), आकर (पूर्वी मालवा), अवन्ति (पश्चिमी मालवा) के ऊपर फैला हुआ था।" वह नासिक के शिलालेख में शकों का उच्छेद करने वाला और क्षत्रियों के दर्प का मर्दन करने वाला कहा गया है। उसकी उपमा 'अपर परशुराम' से दी गयी है।

गौतमी पुत्र शातकर्णी के वाद उज्जयिनी के शक क्षत्रपों ने आन्ध्र साम्राज्य पर चढ़ाई करके उसको दुर्बल बना दिया। फिर भी वासिष्ठी पुत्र पुलुमावी और यज्ञश्री शातकर्णी आदि इस वंश के राजाओं ने दक्षिणापथ में अपना साम्राज्य सुरक्षित रखा। किन्तु धीरे धीरे आन्ध्र वंश दुर्बल ही होता गया। इस वंश के

अंतिम राजा विजय, चन्द्र श्री और चतुर्थ पुलुमावी थे। ये नाम मात्र के राजा थे। शकों से बराबर युद्ध और सुराष्ट्र में आभीरों की नयी शक्ति के उदय से आन्ध्र वंश क्षीण होता गया। सुदूर दक्षिण में इक्ष्वाकु वंशीय तथा पल्लव राजा आन्ध्र साम्राज्य से बाहर निकाले गये। पुराणों के अनुसार आन्ध्र वंश का अन्त गुप्त-वंशियों ने लगभग २२५ ईस्वी में किया।

४. गणतंत्री राज्य और जातियाँ

जिस समय मौर्य वंश का अन्त हुआ और उसके स्थान में मगध साम्राज्य के ऊपर शुंग, काण्व और आन्ध्र राज्य कर रहे थे, उसी समय पूर्वी पंजाब, राजस्थान और मध्यभारत में कई गणराज्यों और जातियों ने, जो यूनानियों के आक्रमण और मौर्य साम्राज्य की सैनिक शक्ति से दब गयी थीं, अपनी सत्ता पुनः स्थापित की। इनमें मालव, यौधेय, मद्र, शिवि, आर्जुनायन, उत्सवसंकेत शूद्र, वृष्णि, महाराज जनपद औदुम्बर आदि का उल्लेख किया जा सकता है। गणराज्यों में यौधेय और मालव सर्वप्रमुख थे। शकों के प्रथम आक्रमण (७०-५७ ई० पू०) के समय इन गणतंत्री राज्यों ने उनका घोर विरोध किया। मालवों की गर्दभिल्ल शाखा में मालवगण मुख्य विक्रमादित्य उत्पन्न हुए थे, जिन्होंने ५७ ई० पू० में शकों को परास्त करके सम्वत् का प्रवर्त्तन किया। यह घटना भारतीय इतिहास में क्रान्तिकारी थी, और उसकी यादगार आज भी अमर है। परम्परा के अनुसार महाकवि कालिदास विक्रमादित्य के समकालीन थे, जिन्होंने बहुत ही उच्चकोटि के काव्यों और नाटकों की रचना की।

५. कलिंग का चेदि-वंश

जिस समय आन्ध्रवंशीय राजा मगध साम्राज्य के खंडहर पर दक्षिण में एक नये साम्राज्य का निर्माण कर रहे थे, उसी समय कलिंग में एक दूसरी शक्ति का उदय हुआ। कलिंग के चेदिवंश में महामेघवाहन खारवेल नामक राजा उत्पन्न हुआ जो आन्ध्रवंशी शातकर्णी प्रथम का समकालीन था। खारवेल जैन धर्म का मानने वाला था, परन्तु उस समय के युगधर्म ने राजनीति में परम्परागत शस्त्रविजय की नीति ग्रहण करने के लिये उसको विवश किया। अपने शासन के तेरह वर्षों में पूर्व-दक्षिण भारत पर उसने अपना राज्य स्थापित किया और दक्षिणापथ तथा उत्तर भारत के बड़े भाग पर उसने अपना आधिपत्य जमा लिया। किन्तु उसका यह आधिपत्य स्थायी न था। वह प्रचंड उल्का की तरह भारत के राजनैतिक आकाश में आया और फिर विलीन हो गया। उसके उत्तराधिकारियों के बारे में हमारी कुछ भी जानकारी नहीं है।

१० अध्याय

विदेशी आक्रमण

भारतवर्ष, मध्य एशिया और पश्चिमी एशिया की राजनैतिक परिस्थितियों का उनके पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रभाव पड़ता रहा है। छठवीं शती ई० पू० से लेकर दूसरी शती ई० पू० के प्रारम्भ तक जब कि भारत में नाग-वंश, नन्दवंश और मौर्यवंश के प्रतापी और बलशाली राजा शासन कर रहे थे, पश्चिमोत्तर से कोई स्थायी आक्रमण भारत पर नहीं हुआ। ईरानी और यूनानी आक्रमणकारियों ने केवल पश्चिमोत्तर भारत के छोर को स्पर्श किया। वे बहुत शीघ्र ही देश के बाहर निकाल दिये गये। परन्तु मौर्य-वंश के अन्तिम राजाओं के समय में भारत की राजनैतिक अवस्था डाँवाडोल थी। देश में विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति फैल रही थी, मगध साम्राज्य के दूर-दूर के प्रान्त उससे अलग हो रहे थे और मौर्यवंश के अन्तिम शासक बिखरते हुए साम्राज्य को सम्हालने में असमर्थ थे। साथ ही साथ जैन और बौद्धधर्म आदि सुधारवादी आन्दोलनों ने जहाँ देश में शान्ति, त्याग और तपस्या का उपदेश किया, वहाँ सैनिक और राजनैतिक जीवन से उदासीनता भी उत्पन्न कर दी। इस दशा में साधारण प्रजा में राजनीति और संगठन की ओर से मानसिक उदासीनता और दुर्बलता थी। जब देश की ऐसी अवस्था हो रही थी तब मध्य एशिया से कई विदेशी जातियों ने इस पर चढ़ाई की। इन जातियों का शुंग, काण्व, आन्ध्र, चेदि आदि राजवंश तथा राजस्थान और मध्यभारत की गणतंत्री जातियों ने विरोध भी किया; किन्तु आन्तरिक दुर्बलता के कारण ये विदेशी पूर्ण रूप से नहीं रोके जा सके और यद्यपि उनको घोर भारतीय प्रतिरोध का सामना करना पड़ा, फिर भी देश के कुछ भाग पर उनका अधिकार हो गया।

१. बाख्त्री-यवन

बेबिलॉन में ३२३ ई० पू० के लगभग सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य कई भागों में बँट गया। उसका एशियायी साम्राज्य सेल्यूकस निकेटर के हाथ में आया। २५० ई० पू० के लगभग पार्थिया और बैक्ट्रिया (बाख्त्र) दोनों सेल्यूकस के वंशजों के हाथ से निकल गये और यहाँ पर एक स्वतन्त्र यूनानी राज्य की स्थापना हुई। फिर यहाँ से बाख्त्री यवनों ने

फिर भारतवर्ष पर चढ़ाई की योजना बनायी और सिकन्दर द्वारा जीते हुये प्रदेशों को अपने अधीन करने का पुनः प्रयास किया। वाख्त्री यवनों के आक्रमण सिकन्दर के आक्रमणों से अधिक व्यापक और प्रभावशाली थे।

लगभग २०० ई० पू० वैक्ट्रिया में **यूथिडेमॅस** नाम का राजा था। उसका पुत्र **डिमिट्रियस** बड़ा महत्त्वाकांक्षी और कुशल सैनिक नेता था। पूरे मौर्य साम्राज्य को जीत लेने की योजना उसने तैयार की और १८३ ई० पू० के लगभग अपने दो प्रधान सेनानायकों **मिनांडर** (मिलिन्द) और अपॉलोडोटॅस के साथ उसने भारत पर चढ़ाई की। यूनानी सेना बहुत ही शीघ्र उत्तर भारत में मिनाँडर के नेतृत्व में स्यालकोट, मथुरा, पाञ्चाल, साकेत (अयोध्या) होते हुए पाटलिपुत्र तक पहुँच गयी। दूसरी ओर अपालोडोटॅस के नेतृत्व में यूनानी सेना सिन्धु के किनारे-किनारे सिन्धु और अवन्ति होकर मध्यमिका (मेवाड़ में) तक पहुँची। परन्तु भारतीयों के सौभाग्य से यवनों में घोर युद्ध हुआ और शुंगों के विरोध से वे उत्तर और मध्य भारत में ठहर न सके। फिर भी पश्चिमोत्तर भारत में उनके पाँव जमे रहे और वहाँ पर उन्होंने शासन किया।

पश्चिमोत्तर भारत में मिले यूनानी सिक्कों से बहुत से यूनानी राजाओं के नाम पाये जाते हैं। किन्तु भारतीय दृष्टि से दो राजाओं का उल्लेख किया जा सकता है। यूथिडेमॅस के वंशजों और सम्बन्धियों में केवल **मिनांडर** भारतीय साहित्य में स्थान पा सका। उसकी राजधानी शाकल (स्यालकोट) थी। वह योग्य सेनानायक और शासक था, किन्तु भारत में उसकी प्रसिद्धि उसके बौद्ध धर्म के अपनाने के कारण हुई। बौद्ध ग्रन्थ **मिलिन्दपञ्हो** (मिलिन्द-प्रश्न) के अनुसार मिनांडर ने बौद्ध सन्त **नागसेन** के प्रभाव से बौद्ध धर्म को स्वीकार किया और स्यामी परम्परा के अनुसार उसने अर्हत्-पद भी प्राप्त किया। मिनांडर के सिक्कों पर धर्मचक्र और ध्रमिक (धार्मिक) उपाधि भी पायी जाती है। दूसरा यूनानी राजा यूक्रेटाइडीज के वंश का **अन्तलिकित** (एण्टियालकिडस) था। इसकी राजधानी तक्षशिला थी। शुंगवंशीय राजाओं से इसका मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध था। शुंग राजा भागवत (भागभद्र) के समय में अन्तलिकित का राजदूत हेलियोदोर शुङ्गों की पश्चिमी राजधानी विदिशा में आया था। वह वैष्णव धर्म का अनुयायी था। उसने विदिशा में विष्णु की पूजा के लिये गरुडध्वज की स्थापना की। यूनानियों में अन्तिम राजा हर्मियस हुआ, जिसके समय में उनकी शक्ति बहुत क्षीण हो गयी थी। उसकी सत्ता का अन्त करके कुषणों ने भारत में अपने राज्य की स्थापना की।

२. शक

इस युग में उत्तरी और मध्य एशिया में बहुत सी बर्बर जातियों का परस्पर संघर्ष और आवागमन हो रहा था। इस प्रक्रिया ने भारतीय इतिहास को भी प्रभावित किया। लगभग १६५ ई० पू० चीन की पश्चिमोत्तर सीमा पर यूह्-ची नाम की एक बर्बर जाति रहती थी। चीन के राजाओं से दबकर हूणों की एक दूसरी जाति ने यूह्-ची पर आक्रमण किया। हूणों से हारकर यूह्-ची जाति ने दक्षिण-पश्चिम की ओर प्रस्थान किया और वह सरदरिया के उत्तर में बसनेवाली शक जाति से जाकर टकरा गयी। शकों को विवश होकर दक्षिण खिसकना पड़ा। शकों की संख्या और वेग के सामने बैक्ट्रिया का क्षीणकाय यूनानी राज्य न ठहर सका और वह सदा के लिये नष्ट हो गया, परन्तु पार्थिया के राजाओं ने कुछ समय के लिये शकों को हिन्दुकुश के दक्षिण बढ़ने से रोक दिया। यह बाँध भी ई० पू० पहली शती में टूट गया।

पहली शती ई० पू० में शक हिन्दुकुश को पार कर दक्षिण में आ गये थे, लेकिन इसी बीच में पार्थिया के राजा द्वितीय मिथ्रदात ने अपनी शक्ति सम्हाली और शकों पर भी अपना आधिपत्य स्थापित किया। उसी के आधिपत्य से दबकर सिस्तान (शकस्थान बलूचिस्तान का दक्षिणी भाग) से शकों ने बोलन दर्रे के रास्ते से भारत पर आक्रमण किया। शकों के इस प्रथम आक्रमण की कहानी जैनों के ग्रन्थ कालकाचार्य-कथा में दी हुई है। यह आक्रमण लगभग ७० ई० पू० में हुआ। शकों ने उज्जयिनी के मालव गर्दभिल्लों को भगाकर वहाँ अपनी सत्ता स्थापित की, परन्तु शकों को स्थायी सफलता नहीं मिली। ५७ ई० पू० में मालव गणमुख्य विक्रमादित्य ने गणतन्त्रों की सहायता से शकों को अवन्ति, सुराष्ट्र और सिन्धु से बाहर निकाल दिया, पर ऐसा मालूम होता है कि शकों की एक शाखा सिन्धु के किनारे-किनारे पश्चिमोत्तर भारत में पहुँच गयी, जिसका संघर्ष यूनानी और पार्थियन (पह्लव) राजाओं से हुआ।

७८ ई० के लगभग शकों ने दुबारा भारत पर आक्रमण किया और इस समय अवन्ति के मालवों के पाँव उनके सामने सदा के लिये उखड़ गये। इसके फलस्वरूप शकों ने लगभग ३०० वर्ष तक अवन्ति और उसके आसपास के प्रदेशों पर राज्य किया। भारत में शक सत्ता के चार केन्द्र थे—(१) मध्यभारत में उज्जयिनी, (२) महाराष्ट्र, (३) तक्षशिला और (४) मथुरा। इनमें उज्जयिनी के शक महाक्षत्रप सबसे प्रसिद्ध हुये। इनमें रुद्रदामन सबसे प्रसिद्ध और विजयी था। शकों का राजस्थान और मध्य-भारत की जातियों तथा आन्ध्रों से बराबर संघर्ष होता रहा। मथुरा और

तक्षशिला के शकवंश कुषणों के आक्रमण से और महाराष्ट्र का शकवंश आन्ध्रों के विस्तार से नष्ट हो गया। परन्तु उज्जयिनी का शकवंश चौथी शतब्दी के अन्त तक बना रहा और उस समय गुप्त साम्राज्य के फैलाव से नष्ट हुआ।

३. पह्लव

शकों और पह्लवों का इतिहास भारतवर्ष में उलझा हुआ है। शक जाति स्वयं पह्लव देश से होकर शकस्थान और भारतवर्ष में आयी, इसलिये उसकी भाषा और राजनीति पर पह्लवों की छाप थी। यूनानी और शक जाति की दुर्बलता से पह्लवों ने लाभ उठाया और दक्षिणी अफगानिस्तान (कन्धार के आसपास) और पश्चिमोत्तर भारत पर उन्होंने कुछ समय के लिये अपना अधिकार जमा लिया। पह्लव शासकों में दो उल्लेखनीय हैं। पहला शासक वनान (वोनोनीज) था, जिसने कन्धार के आसपास के प्रदेशों पर अपना आधिपत्य जमाया। यहाँ से धीरे-धीरे पह्लवों का राज्य उत्तर में तक्षशिला तक पहुँच गया। पहली शताब्दी के प्रारम्भ में तक्षशिला के पह्लव वंश में गुदफर्न नाम का राजा हुआ। ईसाई परम्परा के अनुसार गुदफर्न सम्पूर्ण भारत का राजा था और उसके समय में ईसाई संत टामस भारत में आये थे। इस परम्परा का पूर्वार्द्ध विश्वास के योग्य नहीं। यह सम्भव है, कि कुछ ईसाई प्रचारक उसके समय में भारत में आये हों। पह्लव राजाओं के सिक्कों पर 'ध्रमिय' (धार्मिक) उपाधि और प्राकृत भाषा मिलती है। सम्भवतः इन राजाओं ने भारतीय धर्म और भाषा को स्वीकार किया था।

४. कुषण

यूह्-ची जाति का उल्लेख शकों के सम्बन्ध में किया जा चुका है। यह जाति चीन की पश्चिमोत्तर सीमा से चलकर मध्य एशिया पहुँची और वहाँ से बढ़कर बैक्ट्रिया में शक सत्ता और यूनानियों के अवशेष का अन्त किया। यहाँ आने के पहले यूह्-ची जाति बिल्कुल बर्बर थी। बैक्ट्रिया और पार्थिया से उसने सभ्यता का पाठ पढ़ा। बैक्ट्रिया में कुछ समय रहकर उसने अपनी शक्ति का संगठन और मध्य एशिया में अपने राज्य का विस्तार किया। इस जाति की पाँच शाखायें थीं, जिनमें से एक का नाम कुषण था।

पहली शती के प्रारम्भ में बढ़ती हुई जन-संख्या, चीन और पार्थिया के दबाव और सैनिक महत्त्वाकांक्षा के कारण कुषणों के नेता कुजुल कदफिस ने हिन्दुकुश को पार किया और काबुल की घाटी में शासन करनेवाले अन्तिम

यूनानी राजा हर्मियस को दबाकर अपनी सत्ता काबुल और उसके आसपास के प्रान्तों पर स्थापित की। हर्मियस और कुजुल कदफिस के संयुक्त सिक्के काबुल घाटी में पाये गये हैं। इन सिक्कों के एक ओर यूनानी अक्षरों में उपाधि सहित यवन राजा का नाम है और दूसरी ओर प्राकृत भाषा और खरोष्ठी अक्षरों में कुषण राजा का नाम दिया हुआ है। कुजुल कदफिस के बाद उसका उत्तराधिकारी **विमकद्फिस** हुआ। इसने पूर्व की ओर बढ़कर भारत के पश्चिमोत्तर भाग को जीता और क्षत्रपों के द्वारा शासन किया। विमकद्फिस ने उत्तर में मध्य एशिया, पश्चिम में रोमन साम्राज्य और दक्षिण में शातवाहन साम्राज्य की सीमा तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया। पूर्वोत्तर में अपने राज्यविस्तार के लिये उसने चीन पर भी आक्रमण किया, किन्तु इसमें उसको हार खानी पड़ी। विमकद्फिस के सिक्कों पर शिव, नन्दी और त्रिशूल आदि शैव धर्म के चिह्न अंकित हैं। इससे जान पड़ता है, कि उसने शैव धर्म को स्वीकार किया था।

कुषण वंश का सबसे प्रसिद्ध प्रतापी और विजयी राजा **कनिष्क** हुआ। विमकद्फिस से इसका क्या सम्बन्ध था यह कहा नहीं जा सकता। १२० ई० के लगभग वह गद्दी पर बैठा था। इसकी राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) थी। वह सफल सैनिक और विजेता था। बौद्ध-साहित्य के अनुसार पंजाब और उत्तर भारत को जीतता हुआ वह पाटलिपुत्र तक पहुँच गया। यहाँ पर उसने पाटलिपुत्र के कोटकुल से बहुत बड़ा हर्जाना लिया और प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् अश्वघोष और भगवान् बुद्ध के जलपात्र को लेकर अपनी राजधानी वापस चला गया। प्रसिद्ध ग्रन्थ राजतरंगिणी के अनुसार कनिष्क ने काश्मीर पर भी आक्रमण किया। यहाँ पर उसने कई नगर और स्मारक बनवाये और उसीके आयोजन से बौद्ध धर्म की चौथी महासभा काश्मीर में हुई। भारत में अपनी सत्ता दृढ़ करने के बाद पामीर के रास्ते से उसने चीन पर आक्रमण किया और चीनी सेनापति पैन-यांग को हराकर काशगर, खोतान और यारकंद को अपने अधिकार में कर लिया। पार्थिया के राजाओं को भी उसने पश्चिम की ओर दबा रखा। इस तरह कनिष्क
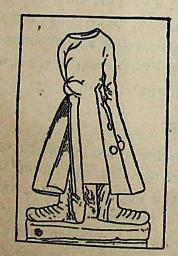
कनिष्क

ने एक अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्य की स्थापना की, जो एशिया के कई देशों पर फैला हुआ था।

कनिष्क केवल विजेता ही नहीं एक योग्य शासक भी था; परन्तु उसका राज्य सैनिक बल और क्षत्रप शासन-प्रणाली पर अवलम्बित था। सारनाथ के एक उत्कीर्ण लेख से मालूम होता है, कि कनिष्क के समय में मथुरा में उसका महाक्षत्रप खरपल्लान और वाराणसी में उसका क्षत्रप वनस्पर शासन करता था।

कनिष्क बौद्ध धर्म का अनुयायी था यद्यपि और धर्मों और सम्प्रदायों के साथ वह उदारता का व्यवहार करता था। अशोक के बाद भारतीय इतिहास में कनिष्क बौद्ध धर्म का बहुत बड़ा समर्थक था। उसीके समय में काश्मीर के कुण्डल वन में बौद्ध धर्म की चौथी सभा अश्वघोष के गुरु वसुमित्र की अध्यक्षता में हुई। इसी सभा में त्रिपिटिकों के प्रमाणिक पाठ तैयार किये गये और उनके ऊपर विभाषा नाम का महाभाष्य भी लिखा गया। कनिष्क की सहायता से उसके विस्तृत साम्राज्य में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ और अशोक की तरह उसने भी स्तूप, चैत्य, विहार आदि का निर्माण कराया। कनिष्क ने साहित्य और कला को भी प्रोत्साहन दिया। उसके आश्रय में अश्वघोष, नागार्जुन, पार्श्व और वसुमित्र आदि विद्वान् रहते थे। आयुर्वेद के प्रसिद्ध विद्वान् चरक को भी कनिष्क की सहायता प्राप्त थी। मूर्त्तिकला और भवन-निर्माण कार्य भी कनिष्क के समय में फले-फूले, जिनके बहुत से अवशेष पश्चिमोत्तर भारत में पाये गये हैं।

लगभग २३ वर्ष राज्य करने के बाद बौद्ध परम्परा के अनुसार युद्ध करने की तैयारी में अपने मंत्रियों के षड्यंत्र से कनिष्क मारा गया। कनिष्क के दो पुत्र वाशिष्क और हुविष्क थे। वाशिष्क उसके जीते जी मर गया, इसलिये हुविष्क उसका उत्तराधिकारी हुआ। उसके समय तक कुषण साम्राज्य सुरक्षित था, परन्तु उसके बाद धीरे-धीरे वह क्षीण होने लगा। तीसरी शती के अन्त में वासुदेव कुषण वंश का अन्तिम प्रसिद्ध राजा हुआ। उसके समय में कुषणसाम्राज्य का बहुत बड़ा भाग हाथ से निकल गया और उसके सिक्के केवल मथुरा के आसपास पाये जाते हैं। उसके सिक्कों पर शिव और नंदी की मूर्त्तियाँ अंकित हैं, इससे मालूम होता है, कि वह शैव धर्म का माननेवाला था। उसके बाद धीरे-धीरे कई कारणों से भारत में कुषण-साम्राज्य नष्ट हो गया।

कुषण-साम्राज्य के पतन के कई कारण थे। उनमें मुख्य कारण आन्तरिक

था। विशाल कुषण साम्राज्य का संगठन ठोस और स्थायी न था; वह शासक की व्यक्तिगत योग्यता और सैनिक बल पर अवलम्बित था। कनिष्क के उत्तराधिकारी विलासिता के कारण दुर्बल होते गये जो इतने बड़े साम्राज्य को सम्हालने में असमर्थ थे। इसी समय पार्थिया में ससानी शक्ति का उदय हुआ, जिसने कई बार आक्रमण करके कुषणों की शक्ति को क्षीण कर दिया। इस परिस्थिति से भारत की राष्ट्रीय शक्तियों ने भी लाभ उठाया, पंजाब और राजस्थान की यौधेय, कुणिन्द आदि जातियों ने, तथा मथुरा और मध्यभारत के नागवंशी राजघरानों ने उत्तर भारत में कुषण-साम्राज्य का अन्त किया।

११ अध्याय

सामाजिक तथा सांस्कृतिक संघर्ष और समन्वय

[२०० ई० पू०—२५० ई० प०]

भारत में जैन और बौद्ध आदि सुधारवादी सम्प्रदायों के उदय तथा यवन, शक, पह्लव, कुषण आदि बाहरी जातियों के आ जाने से कई प्रकार की समाजिक और सांस्कृतिक समस्यायें उठ खड़ी हुई। इन समस्याओं के हल करने में दो प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं—(१) संघर्ष और (२) समन्वय। पहले पहल दो विचारधाराओं और जातियों के मिलने से संघर्ष स्वाभाविक था। परन्तु साथ रहते रहते एक दूसरे को समझने, परस्पर समझौता करने, आदान-प्रदान और समन्वय की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। कहीं तो यह समन्वय पूरा हुआ, किन्तु बहुत से स्थलों पर यह अधूरा और दूषित भी था।

१. समाज

वैदिक सामाजिक व्यवस्था के अनुसार समाज वर्ण और आश्रम के ऊपर अवलम्बित था। धीरे-धीरे वर्ण जन्मगत हो गया था और उसके साथ बहुत से दलगत स्वार्थ जुट गये थे। जैन और बौद्ध सम्प्रदायों ने इस स्थिति को चुनौती दी, साथ ही साथ उन्होंने आश्रम व्यवस्था की कड़ाई को भी ढीला किया। परन्तु जहाँ सामाजिक गति के लिये यह चुनौती आवश्यक थी, वहाँ एक दूसरे छोर पर पहुँच कर इसने सामाजिक अव्यवस्था भी उत्पन्न कर दी। इसी का फल था कि शुङ्ग, काण्व और आन्ध्रों के समय में वर्ण और आश्रम की दुबारा परिभाषा और संगठन करने की आवश्यकता हुई। मनु और याज्ञवल्क्य स्मृतियों में यह प्रयत्न साफ दिखाई पड़ता है। परम्परा विरोधी गणजातियों तथा समूहों को समाज से अलग करना असम्भव था। इसी प्रकार बाहर से आनेवाली जातियों को भी, जो राजनैतिक दृष्टि से सबल और प्रभावशाली थीं, समाज से अलग नहीं रखा जा सकता था। इसलिए धर्मशास्त्रकारों ने गण जातियों और विदेशी आक्रमणकारियों को क्षत्रिय माना परन्तु उनको व्रात्य (पतित) शब्द से लाञ्छित किया। इसी तरह बहुत सी हीन और नीच जातियाँ जैन और बौद्ध प्रभाव से समाज के भीतर आ गयीं। वर्ण व्यवस्था के अनुसार चार ही वर्ण हो सकते थे। इन जातियों को समाज में कुछ असुविधाओं के साथ रखने के लिये वर्णसंकर का सिद्धान्त

निकाला गया। यद्यपि इस प्रकार के प्रयत्न से पूरा सामाजिक समन्वय नहीं हुआ, फिर भी एक संयुक्त समाज की रचना अवश्य हो गयी और विशाल हिन्दू समाज के अन्तर्गत सभी सम्प्रदाय और जातियाँ सम्मिलित हुईं।

२. धर्म

धार्मिक समन्वय का भी इस समय प्रयास किया गया। वैदिक कर्मकाण्ड और सामान्य धार्मिक विश्वास में देवताओं की प्रधानता थी, जिनकी उपासना और पूजा कई प्रकार से की जाती थी। उनका स्थान आकाश अथवा दिव्य-लोक था, यद्यपि भक्तों और पुजारियों के शब्द उन तक पहुँच सकते थे। सुधारवादी जैन बौद्ध सम्प्रदायों ने देवताओं के स्थानों में मानव की प्रधानता स्थापित की, यद्यपि देवताओं से उनका विश्वास नहीं हटा; देवता भी मानव की अधीनता में पृथ्वी पर उतार दिये गये। जहाँ पुराने वैदिक विश्वासों के अनुसार देवताओं ने मनुष्य के व्यक्तित्व को दवा रखा था, वहाँ सुधारवादी मानववाद ने मनुष्य को बिल्कुल पार्थिव बनाकर छोड़ दिया। इस नये विश्वास के अनुसार मनुष्य की भावना, उड़ान, दिव्यत्व और परलोक और परमार्थ के लिये पूरा अवकाश नहीं मिलता था। दूसरी शती ईस्वी पूर्व से इस परिस्थिति को सम्हालने के लिये एक नया प्रयत्न दिखाई पड़ता है। दिव्य और मानव दोनों का निराकरण नहीं किया जा सकता था, इसलिए पृथ्वी पर मानव के बीच दिव्य को उतारने अथवा मानव के दैवीकरण का प्रयत्न किया गया। वैदिक-मार्गियों ने ईश्वर और देवताओं के धरती पर अवतार के सिद्धान्त को अपनाया। बुद्ध और तीर्थंकरों के ऐश्वर्य और दिव्यत्व को जैन और बौद्धों ने स्वीकार किया। इसी प्रयत्न के फलस्वरूप वैदिक सम्प्रदाय में वैष्णव और भागवत भक्तिमार्गों का विस्तार हुआ और जैन तथा बौद्ध सम्प्रदाय में महायान और दूसरे भक्ति मार्गी सम्प्रदायों का जन्म। पूजा-पद्धति में वैदिक यज्ञ और शुद्ध बुद्धिवादी चिन्तन शिथिल पड़ने लगे। क्रमशः उनके स्थान में मन्दिर, चैत्य, मूर्ति, अर्चन, समर्पण आदि प्रथायें प्रचलित होने लगीं।

३. कला

नयी धार्मिक धाराओं ने कलाओं को भी प्रभावित किया। पूजा पद्धति के सम्बन्ध में मन्दिर, चैत्य और मूर्त्ति का उल्लेख किया गया है। वास्तव में यही कला की अभिव्यक्ति के मुख्य आधार थे। इस काल के बहुत से स्थापत्य

के नमूने पश्चिमी घाट के गुहा-चैत्यों और साँची तथा भरहुत के स्तूपों में पाये जाते हैं। इन चैत्यों में अनेक प्रकार के पशु-पक्षी तथा मानव मूर्त्तियाँ अंकित
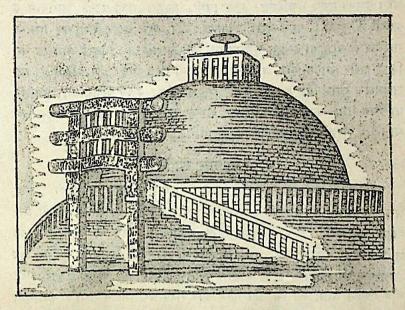
साँची का स्तूप
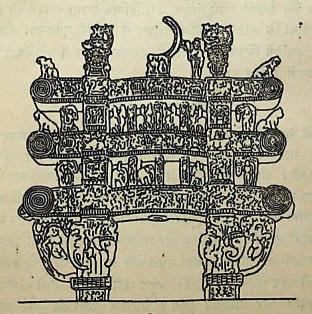
तोरण

हैं। पश्चिमोत्तर भारत में भी भारतीय और यूनानी शैली के स्थापत्य के खंडहर मिले हैं। इस युग की सबसे प्रधान कला की शैली गान्धार-शैली थी। इसका उदय तक्षशिला, पुष्करावती, काबुल तथा उसके आसपास के प्रदेशों में हुआ। पहले पहल स्वतन्त्र और पूर्ण बुद्ध-प्रतिमा का निर्माण गान्धार में ही हुआ। इस बुद्ध-प्रतिमा का सैद्धान्तिक आधार भारतीय था, किन्तु शरीर-संगठन और तक्षण-कला यूनानी थी। पूर्व और पश्चिम का यह सम्मिश्रण स्वाभाविक था। गान्धार में भारतीय, मध्य एशियायी, यूनानी, पार्थियन तथा रूमी सभ्यताओं का संगम हुआ। यह बिल्कुल स्वाभाविक था कि ये संस्कृतियाँ एक दूसरे को न्यूनाधिक मात्रा में प्रभावित करतीं।

४. भाषा और साहित्य

छठी शती ई० पू० तक साहित्य का माध्यम संस्कृत भाषा थी, परन्तु जैन और बौद्ध आन्दोलनों के कारण जनता में प्रचार का माध्यम पाली और प्राकृत बन गयीं, जो पीछे साहित्यिक रचनाओं के लिये भी काम में लायी जाने लगीं। अशोक और बहुत से विदेशी राजवंशों के द्वारा प्राकृत को राज्याश्रय भी मिला। शुङ्गों के समय से इस स्थिति में परिवर्तन शुरू हुआ और संस्कृत भाषा को फिर प्रोत्साहन और राज्याश्रय मिलने लगा। उज्जयिनी के शक राजाओं आदि ने भी संस्कृत को अपनाया। यहाँ तक कि बहुत से बौद्ध और जैन लेखकों ने भी संस्कृत में साहित्यिक रचना आरम्भ की। इसका कारण यह था कि प्राकृत की अपेक्षा संस्कृत में अधिक एकरूपता और व्यापकता थी, इसलिये विचार और प्रचार के माध्यम के रूप में बड़े पैमाने पर यह अधिक उपयोगी सिद्ध हुई।

५. यूनानी प्रभाव की समस्या

पहले बहुत से युरोपीय इतिहासकारों का मत था, कि सिकन्दर के बाद की सारी भारतीय सभ्यता और संस्कृति यूनानी सभ्यता और संस्कृति से प्रभावित थी। पीछे के अनुसन्धानों ने इस मत को असिद्ध कर दिया है, यद्यपि यह स्वीकार किया गया है, कि भारतीय जीवन के कुछ अंगों पर थोड़ा बहुत यूनानी प्रभाव पड़ा। यूनानी संख्या में थोड़े और पश्चिमोत्तर भारत में अपनी फौजी छावनियों में सीमित और भारतीयों से अलग रहना पसन्द करते थे। भरतीयों का दृष्टि-कोण भी उनके प्रति अच्छा न था। वे उनको बर्बर विजेता और दुष्ट सैनिक मानते थे। बहुत आगे चलकर दोनों में थोड़ा बहुत आदान-प्रदान और समन्वय हुआ। भारतीय राजनीति और सामाजिक व्यवस्था पर यूनानियों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। इसके बदले भारतीयों ने

उनको पहले व्रात्य क्षत्रिय और आगे चलकर क्षत्रिय मानकर समाज में मिला लिया। धर्म और दर्शन में भी यूनानियों की कोई देन नहीं दिखायी पड़ती। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् वेबर का यह मत कि रामायण और महाभारत होमर के इलियड और ओडेसी के अनुकरण पर लिखे गये थे, बिल्कुल गलत है। पात्रों के चुनाव, साहित्यिक आदर्श और कला के सिद्धान्तों में रामायण और महाभारत दोनों ही अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। यद्यपि यूनानी भाषा, यूनानी छावनियों में प्रचलित और यूनानी सिक्कों के ऊपर लिखी जाती थी, परन्तु भारतीय भाषाओं पर उसका प्रभाव नगण्य था। भारत में लिखी हुई कोई यूनानी पुस्तक या अभिलेख नहीं मिला है। यूनानियों के शासन-काल से काफी आगे चलकर अप्रत्यक्ष रूप से यूनानी प्रभाव भारतीय सिक्कों, मूर्त्तिकला और गणित तथा ज्योतिष पर न्यूनाधिक मात्रा में दिखायी पड़ता है। भारत पर यूनानी प्रभाव इतना कम पड़ा, इसका एक कारण है। यूनानियों ने एशिया और यूरोप की बर्बर जातियों को, जिनकी अपनी कोई संस्कृत और सामाजिक व्यवस्था नहीं थी, पूर्ण रूप से प्रभावित किया। इसके विपरीत भारतीय राजनीति, सामाजिक व्यवस्था, धार्मिक विश्वास और संस्थायें, साहित्य, दर्शन, कला आदि काफी विकसित हो चुकी थीं, इसलिये यूनान से भारत को बहुत कम सीखना था। इसके अतिरिक्त भारतीयों ने जो यूनानी तत्त्व ग्रहण किया, उसको इतना आत्मसात् कर लिया कि उनको आज पहचानना भी कठिन है।

१२ अध्याय

राष्ट्रीय पुनरुत्थान : गुप्त-साम्राज्य

लगभग २०० ई० पू० से लेकर २५० ई० पू० तक पश्चिमोत्तर भारत, सिन्ध और पश्चिमी मालवा पर विदेशी आक्रमण होते रहे और विदेशियों ने अपना आधिपत्य कई स्थानों पर जमा रखा। यद्यपि शुङ्ग, काण्व, आन्ध्र और गणतन्त्रीय जातियों ने उनका घोर विरोध किया और लड़ते-लड़ते उनकी शक्ति को क्षीण कर दिया, फिर भी विदेशी सत्ता सम्पूर्ण नष्ट नहीं हुई। २५० ई० के लगभग जब पश्चिम से ससानी दवाव के कारण और आन्तरिक दुर्वलता के कारण कुषण-साम्राज्य दुर्वल हो गया, तव भारतीय राष्ट्रीय शक्तियों को भी उत्थान का अच्छा सुयोग मिला। राजनैतिक उत्थान के साथ-साथ सांस्कृतिक उत्थान भी इस समय से प्रारम्भ हुआ और सामाजिक और धार्मिक जीवन में एक नवीन समन्वय का प्रयास भी किया गया।

१. गण जायिताँ, नागवंश और वाकाटक

जिन शक्तियों ने भारतीय राष्ट्र के पुनरुत्थान में पहला कदम वढ़ाया वे थीं—पूर्वी पंजाव, मध्यभारत और राजस्थान की गणजातियाँ; मध्यभारत और विन्ध्यप्रदेश के नागवंश तथा चेदि और विदर्भ (वरार) के वाकाटक। यौधेय, कुणिन्द, मालव, मद्रक, आर्जुनायन आदि गणजातियों ने पूर्वी पंजाव और राजस्थान से कुषण सत्ता को नष्ट किया। नागवंश की तीन शाखाएँ थीं, जिन्होंने मथुरा, पद्मावती, (मध्यभारत में) और कान्तिपुरी (मिरजापुर जिले में) अधिकार जमाया और कुषण-साम्राज्य के पूर्वी भाग को आत्मसात् कर लिया। इस तरह प्रायः सारे उत्तर भारत से विदेशी सत्ता नष्ट हो गयी। जो काम नागवंशियों ने प्रारम्भ किया था, उसको वाकाटकों ने और आगे वढ़ाया। उन्होंने उज्जयिनी के क्षत्रपों पर कई वार आक्रमण किया और उनकी सत्ता को कमजोर कर दिया। इसके अतिरिक्त वाकाटकों ने दक्षिणी भारत में एक वड़ा साम्राज्य स्थापित किया और सांस्कृतिक पुनरुत्थान में भी काफी योग दिया।

२. गुप्त-वंश

राष्ट्रीय प्रयत्नों को पूरी सफलता गुप्तों के समय में मिली, जिनके वंश की स्थापना चौथी शताब्दी के प्रारम्भ हुई। गुप्त लोग मूलतः कहाँ के रहने वाले

और किस वर्ण के थे, इस सम्बन्ध में इतिहासकारों में काफी मतभेद है। दक्षिण और मध्यभारत में आन्ध्रों के समकालीन लेखों में गुप्त नामान्त कई व्यक्तियों के उल्लेख पाये जाते हैं और पुराणों के अनुसार आन्ध्रों की सेवा में गुप्त-वंश था और इसी ने आन्ध्रों का अन्त किया। डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल इनको मूलतः पंजाब के जाट मानते थे, जो वहाँ से चलकर उत्तर भारत में काफी शक्तिशाली और सुसंस्कृत हो गये। गुप्त राजाओं ने अपने वर्ण के सम्बन्ध में कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। बहुत पीछे के मध्यप्रदेश के कुछ गुप्तवंशी शासक अपने को चन्द्रवंशी कहते थे। इसमें संदेह नहीं, कि गुप्त सम्राटों का विवाह सम्बन्ध ब्राह्मण तथा क्षत्रिय राजवंशों के साथ था और अपने समय में वे क्षत्रिय ही माने जाते थे।

(१) गुप्त-राज्य की स्थापना और विकास

गुप्तवंश का संस्थापक **श्रीगुप्त** था, जिसका राज्य प्रयाग और अयोध्या के बीच में था। ऐसा मालूम होता है कि आन्ध्रों तथा कुषणों के अधीन वह सामन्त राजा था। यह बात उसकी 'महाराज' उपाधि से प्रकट होती है। श्रीगुप्त के पुत्र **घटोत्कच** के सम्बन्ध में कुछ भी मालूम नहीं है। सम्भवतः उसके समय में कोई महत्त्व की घटना नहीं हुई। इस वंश का तीसरा राजा **चन्द्रगुप्त प्रथम** काफी प्रभावशाली और प्रसिद्ध हुआ और वास्तव में उसीने स्वतंत्र गुप्त राजवंश की स्थापना की। **'कौमुदी महोत्सव'** नामक नाटक के अनुसार पाटलिपुत्र के कोटकुल के राजा **सुन्दरवर्मन्** ने चन्द्रगुप्त को गोद लिया था, किन्तु गोद लेने के बाद उसको स्वयं **कल्याणवर्मन** नाम का पुत्र हुआ। इस कारण से चन्द्रगुप्त और सुन्दरवर्मन में राज्य के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में वैमनस्य उत्पन्न हुआ। चन्द्रगुप्त बड़ा नीतिज्ञ था। उसने कोटकुल के पड़ोसी और शत्रु लिच्छवियों की राजकुमारी कुमारदेवी से विवाह किया और उनकी सहायता से पाटलिपुत्र के सिंहासन पर अधिकार जमा लिया। इस घटना का परिणाम यह हुआ कि कोसल, वत्स और मगध गुप्तों के आधिपत्य में आ गये। सम्भवतः इसी घटना के उपलक्ष्य में चन्द्रगुप्त ने गुप्त सम्वत् का प्रवर्त्तन किया। किन्तु कुछ समय के लिये चन्द्रगुप्त की स्थिति फिर डाँवाडोल हो गयी। स्थानीय विरोध और षडयन्त्र के कारण पाटलिपुत्र छोड़कर उसे फिर प्रयाग वापस आना पड़ा।

(२) समुद्रगुप्त

यदि चन्द्रगुप्त ने गुप्त-राज्य की स्थापना और प्रारम्भिक विकास किया, तो **समुद्रगुप्त** ने विशाल गुप्त-साम्राज्य का निर्माण किया। वह चन्द्रगुप्त का

पुत्र लिच्छवि राजकुमारी कुमारदेवी से उत्पन्न हुआ था। समुद्रगुप्त ने फिर पाटलिपुत्र वापस लेने और दिग्विजय करने का निश्चय किया। इस प्रयास में लिच्छवियों का सहयोग उसको प्राप्त था। समुद्रगुप्त के सामने प्राचीन चक्रवर्त्ती राजाओं का आदर्श था। उसने विशाल सेना का संगठन करके भारत के बहुत बड़े भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित किया।

(क) दिग्विजय

समुद्रगुप्त के दिग्विजय को कई भागों में बाँटा जा सकता है। पहले उसने पाटलिपुत्र को जीतकर मगध पर अपना आधिपत्य जमाया। पाटलिपुत्र के **कोटकुल** का सम्बन्ध मथुरा और पद्मावती के नागवंशों से भी था, इसलिये समुद्रगुप्त को नागवंशियों से भी युद्ध करना पड़ा और कोशाम्बी के पश्चिम युद्ध में उनको हराया। यह **आर्यावर्त का प्रथम युद्ध** था। इसके बाद समुद्रगुप्त ने **दक्षिणापथ** पर आक्रमण किया। उत्कल होते हुये दक्षिण-कोसल, पूर्वी तट के राज्य और पल्लववंश को जीतते हुए वह दक्षिणी समुद्र तट तक पहुँचा। यहाँ से पश्चिमोत्तर मुड़कर मलाबार, महाराष्ट्र, सुराष्ट्र होते हुए वह फिर पाटलिपुत्र वापस आया। इस दक्षिणापथ के विजय में उसने राजवंशों और राज्यों का उच्छेद नहीं किया, परन्तु उनसे अपनी अधीनता स्वीकार कराके तथा उनसे उपहार आदि लेकर सन्तुष्ट हुआ। इस बीच में उत्तर भारत में नागवंशियों ने वाकाटकों की सहायता से फिर विप्लव किया। इसलिये समुद्रगुप्त को आर्यावर्त में द्वितीय युद्ध भी करना पड़ा। उसने उत्तर भारत के सभी राज्यों का विच्छेद करके उन्हें अपने साम्राज्य में मिला लिया। इसके उपरान्त उसने विन्ध्यपर्वत और झारखण्ड के अटवी (जंगली) राज्यों से अपना आधिपत्य स्वीकार कराया। फिर उसने पूर्व, उत्तर और पश्चिमोत्तर के सीमान्त राज्यों की ओर ध्यान दिया। पूर्व में समतट, डवाक, कामरूप आदि राज्य, उत्तर में नेपाल कर्तृपुर और पश्चिम में मालव, मद्र, अर्जुनायन, यौधेय, आभीर, सनकानीक, काक, खरपरिक आदि गणजातियों ने चन्द्रगुप्त के आधिपत्य को स्वीकार किया। परन्तु समुद्रगुप्त इतने विजय से ही सन्तुष्ट न था। उसने सिंहल और भारत महासागर के अन्य द्वीप-समूहों और पश्चिमोत्तर भारत के शक, कुषण आदि से भी अपना आधिपत्य स्वीकार कराया। इस महान् विजय के उपलक्ष्य में समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ किया और वितरण के लिये अश्वमेध शैली के सिक्के चलवाये।

(ख) व्यक्तिगत गुण

समुद्रगुप्त केवल सैनिक और राजनीतिक विजेता ही नहीं, किन्तु स्वयं विद्वान्, कवि और संगीतज्ञ भी था और दूसरे विद्वानों और कलाकारों का आदर

करता था। उसकी प्रयाग प्रशस्ति में यह लिखा हुआ है कि उसने सभी शास्त्रों का अध्ययन तथा कई सुन्दर काव्यों की रचना की थी। वाद्य और संगीत में नारद और तुम्बरु आदि को भी लज्जित करता था। उसके एक प्रकार के सिक्कों पर अपनी गोद में वीणा लिये हुये समुद्रगुप्त की मूर्त्ति अंकित है। सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में वह परम्परागत मर्यादा की रक्षा करनेवाला स्वयं शास्त्रीय मार्ग से चलनेवाला, कृपण, दीन, अनाथ और आतुर जनों का उद्धार करनेवाला था। उसके जीवन का परम कर्त्तव्य लोक-संग्रह था। गरुड़ की मूर्त्ति से अंकित उसकी मुद्रा से मालूम होता है कि समुद्रगुप्त विष्णु का भक्त था। किन्तु बौद्ध आदि दूसरे सम्प्रदायों को भी वह बहुत आदर की दृष्टि से देखता था। लगभग ३७५ ई० में एक लम्बे और यशस्वी जीवन के बाद समुद्रगुप्त का देहान्त हुआ।

(३) रामगुप्त

(क) शक-आक्रमण और उसकी कायरता

गुप्तवंशी अभिलेखों से रामगुप्त का पता नहीं लगा था, परन्तु जैन लेखक रामचन्द्र और गुणचन्द्र के नाट्य-दर्पण से विशाखदत्तलिखित देवीचन्द्रगुप्तम् नामक एक नाटक का पता लगा। इससे मालूम होता है कि समुद्रगुप्त का जेठा पुत्र रामगुप्त था। इसके समय में पश्चिमोत्तर के शकों ने गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण किया। रामगुप्त स्वभाव से कायर था, इसलिये शकों के नेता की माँग पर अपने राज्य की रक्षा करने के लिये अपनी रानी ध्रुवदेवी को देना उसने स्वीकार किया। यह बात उसके छोटे भाई चन्द्रगुप्त द्वितीय को सह्य नहीं हुई और उसने छद्मवेश में जाकर शक राजा को मारा और गुप्त-साम्राज्य की रक्षा की। नाटक में आगे कहा गया है कि धीरे-धीरे चन्द्रगुप्त और ध्रुवदेवी में प्रेम-सम्बन्ध हो गया और रामगुप्त चन्द्रगुप्त के षडयंत्र से मारा गया। रामगुप्त के कोई पुत्र न था, इसलिये चन्द्रगुप्त सिंहासन पर बैठा। रामगुप्त का शासन-काल बहुत ही छोटा था।

(४) द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य

(क) दिग्विजय

चन्द्रगुप्त लड़कपन से ही साहसी और पराक्रमी था। यद्यपि समुद्रगुप्त ने भारत के बहुत बड़े भाग पर अपना आधिपत्य जमा लिया था फिर भी सारा भारत उसके अधीन था। गुप्त-साम्राज्य के परम शत्रु शक अभी उज्जयिनी और पश्चिमोत्तर भारत में बने हुये थे। चन्द्रगुप्त गुप्त-साम्राज्य

की इस कमजोरी को भलीभाँति समझता था। इसलिये जिस काम को समुद्रगुप्त ने शुरू किया था, उसको पूरा करने का दृढ़ निश्चय करके उसने दिग्विजय के लिये प्रयाण किया। इस दिग्विजय की कहानी दिल्ली के पास मिहरौली में स्थित लौह स्तम्भ पर अंकित है।

सबसे पहिले चन्द्रगुप्त ने गुप्त-साम्राज्य के पश्चिम-दक्षिण छोर पर स्थित गण-जातियों और राज्यों का, जिनको समुद्रगुप्त ने आधीन करके छोड़ दिया था, अन्त किया और उनके राज्यों को अपने साम्राज्य में मिला लिया। इस घटना से भारतीय इतिहास में गण-राज्य एक लम्बे काल के लिये विलीन हो गया; परन्तु उस समय देश की राजनीतिक एकता के लिये यह नीति आवश्यक थी। इसके बाद चन्द्रगुप्त ने उज्जयिनी के क्षत्रपों पर आक्रमण करके उनका विनाश किया और अपने राज्य की सीमा सुराष्ट्र और अपरान्त (उत्तरी गुजरात) तक बढ़ायी। मिहरौली के लौह-स्तम्भ से ही मालूम होता है कि पूर्वी भारत में भी गुप्त-साम्राज्य के विरुद्ध विप्लव हुआ और अपने विरोधियों को उसने बंगाल के युद्ध में हराया। इसके अनन्तर उसने पश्चिमोत्तर भारत की ओर प्रस्थान किया और शकों और कुषणों के अवशेष नष्ट करती हुई उसकी विजयिनी सेना वल्ख तक पहुँची। दक्षिणापथ में भी अपने साम्राज्य की स्थिति के लिए चन्द्रगुप्त को अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना पड़ा।

(ख) नीतिज्ञता

सैनिक योग्यता के अतिरिक्त चन्द्रगुप्त में राजनीतिज्ञता भी काफी थी। बहुत से राजवंशों से विवाह-सम्बन्ध करके उनको उसने मित्र बना लिया और अपने साम्राज्य को सुरक्षित किया। उसकी एक रानी कुबेरनागा नागवंश की कन्या थी। अपनी पुत्री प्रभावती गुप्त का विवाह उसने वाकाटक वंश के राजा द्वितीय रुद्रसेन से किया और वाकाटकों को केवल अपना मित्र ही नहीं बनाया, किन्तु उनके द्वारा दक्षिण पर अपना प्रभाव भी दृढ़ कर लिया। उसका वैवाहिक सम्बन्ध कुन्तल के कदम्बवंशी राजाओं के साथ भी था।

(ग) शासन की क्षमता और व्यक्तिगत गुण

चन्द्रगुप्त में उच्चकोटि की शासन करने की क्षमता थी। वास्तव में गुप्त शासन-प्रणाली का संगठन करनेवाला चन्द्रगुप्त ही था। उसके समय में आनेवाला चीनी यात्री फाह्यान उसकी शासन व्यवस्था से बहुत ही प्रभावित हुआ था। वह समुद्रगुप्त के समान ही विविध विद्या और काल

का ज्ञाता और विद्वानों का आदर करने वाला था। वह अपने लेखों और सिक्कों में परम भागवत (विष्णु का भक्त) कहा गया है। सभी धर्माव-लम्बियों का सामान रूप से वह आदर करता था।

(५) पिछले गुप्त सम्राट और गुप्त-साम्राज्य का ह्रास

चन्द्रगुप्त द्वितीय के बाद उसका पुत्र प्रथम **कुमारगुप्त** महेन्द्रादित्य सिंहासन पर बैठा। इसके शासन के अधिकांश में गुप्त-साम्राज्य बड़ा उन्नत, समृद्ध और सुरक्षित था। यह बात शिलालेखों और उसके सिक्कों से प्रकट होती है। उसने अश्वमेध यज्ञ भी किया था और अश्वमेध यज्ञ शैली के सिक्के भी चलाये; परन्तु उसके शासन का अन्तिम काल भीतरी झगड़ों और बाहिरी आक्रमणों से अशान्त हो गया। दक्षिण-पश्चिम से पुष्यमित्रों और पश्चिमोत्तर से हूणों ने भारत के ऊपर आक्रमण किया। सौभाग्य से कुमारगुप्त का पुत्र **स्कन्दगुप्त** बड़ा वीर और योग्य सेनानी था, उसने लड़खड़ाती हुई अपनी कुल-लक्ष्मी को सम्हाल लिया और हूणों को देश के बाहर खदेड़ दिया। स्कन्दगुप्त का अधिकांश समय पश्चिमोत्तर भारत, सुराष्ट्र, अपरान्त, अवन्ति, मध्यभारत में प्रान्तों के पुनर्संगठन और सैनिक बल के इकट्ठा करने में बीता। जीवन के अन्तिम काल में उसको फिर हूणों का सामना करना पड़ा। इससे गुप्त-साम्राज्य को बहुत धक्का लगा, फिर भी स्कन्दगुप्त ने हूणों के पैर भारत की भूमि पर न जमने दिये। स्कन्दगुप्त के बाद देश की आन्तरिक दुर्बलता और बाहिरी आक्रमण के कारण गुप्तों की शक्ति दुर्बल होने लगी। **पुरुगुप्त** प्रकाशादित्य, **नरसिंहगुप्त** बालादित्य, द्वितीय **कुमारगुप्त**, **बुधगुप्त**, **भानुगुप्त** बालादित्य आदि गुप्तवंशी राजाओं ने शासन किया। इनमें अन्तिम राजा विशेष उल्लेखनीय है। लगभग ५०० ई० में हूणों ने भारत पर फिर आक्रमण किया और पंजाब, राजस्थान और मध्यभारत पर उनका आधिपत्य हो गया। बालादित्य ने मालवा के राजा यशोधर्मन् की सहायता से ५१० ई० में हूणों को मध्य-भारत और राजस्थान से खदेड़कर हिमालय की ऊपरी घाटियों में ढकेल दिया। परन्तु गुप्त-साम्राज्य भीतर से खोखला हो चला था और बहुत दिनों तक स्थायी न रह सका। धीरे-धीरे उसके प्रान्त साम्राज्य से अलग होते गये और गुप्तों के वंशज कई स्थानों में तितर-बितर हो गये।

(६) गुप्त शासन-प्रणाली

गुप्त सम्राटों ने अपने साम्राज्य के विस्तार के साथ-साथ एक अच्छी तरह संगठित शासन-प्रणाली का भी निर्माण किया। उनके पहिले विदेशियों के

आधिपत्य से भारतीय शासन की प्रतिभा कुछ मन्द पड़ गयी थी, इसलिये राष्ट्रीय उत्थान के साथ प्राचीन शासन-प्रणाली का भी उत्थान गुप्तों ने किया। साथ ही साथ शासन के विकास में उनकी अपनी देन भी थी।

(क) साम्राज्य का स्वरूप

गुप्तों का साम्राज्य बहुत बड़ा था, किन्तु वह उतना केन्द्रित और गठित नहीं था, जितना मौर्य-साम्राज्य। मगध और उसके आसपास के प्रदेशों पर गुप्त सीधे शासन करते थे, किन्तु साम्राज्य के और भागों में बहुत से मांडलिक राजा थे, जो गुप्त-सम्राटों का आधिपत्य मानते और उनको वार्षिक कर और उपहार आदि भेजते थे। इस तरह साम्राज्य का स्वरूप बहुत कुछ माण्डलिक अथवा सांघिक था।

(ख) केन्द्रिय शासन

गुप्तों की शासन-प्रणाली एकतान्त्रिक थी। राजा राज्य का सबसे बड़ा अधिकारी था और उसके हाथ में राज्य की अन्तिम सत्ता होती थी। राज्य का अधिकार पिता से पुत्र को मिलता था किन्तु ज्येष्ठाधिकार की प्रथा अटल न थी; प्रायः योग्यता के आधार पर उत्तराधिकारी का चुनाव होता था। गुप्त सम्राट् परमेश्वर, महाराजाधिराज, परमभट्टारक, सम्राट्, एकाधिराज, चक्रवर्ती, परम दैवत आदि राजनैतिक उपाधियाँ धारण करते थे और साथ ही साथ पराक्रमांक, विक्रमादित्य, महेन्द्रादित्य, प्रकाशादित्य, वालादित्य आदि उनके विरुद थे। शासन की सुविधा के लिये राजा की एक मंत्रिपरिषद् होती थी। मंत्रियों में सान्धि-विग्रहिक (परराष्ट्र मंत्री), अक्षपटलाधिकृत (राजकीय कागज-पत्र के अध्यक्ष), सेनापति, महावलाधिकृत आदि के उल्लेख पाये जाते हैं। मंत्रियों का पद भी राजा के समान प्रायः पैतृक होता था। केन्द्रीय शासन कई विभागों में बँटा था। प्रत्येक विभाग का एक अध्यक्ष होता था, जो अमात्य, कुमारामात्य, युवराज कुमारामात्य आदि कहलाता था।

(ग) प्रान्तीय तथा स्थानीय शासन

विशाल गुप्त-साम्राज्य कई प्रान्तों अथवा प्रदेशों में बँटा हुआ था, जिनको देश अथवा भुक्ति कहते थे। प्रान्तों के शासक भोगिक, भोगपति, गोप्ता, उपरिक महाराज अथवा स्थानिक कहलाते थे। प्रान्तों से छोटी इकाइयाँ प्रदेश और विषय कहलाती थीं। विषय प्रायः जिले के बराबर होता था। विषय के अधिकारी को विषयपति कहते थे। शासन की सबसे

छोटी इकाई ग्राम था। इसके अधिकारी को **ग्रामिक, महत्तर** अथवा **भोजक** कहा जाता था। नगर-शासन भी सरकारी अध्यक्षता में संगठित था। उसका प्रबन्ध करने के लिये एक परिषद् होती थी जिसके निम्नलिखित सदस्य होते थे—(१) नगर श्रेष्ठिन (नगर का सबसे बड़ा श्रेष्ठ) (२) सार्थवाह (व्यापारियों का प्रमुख), (३) प्रथम कुलिक (प्रमुख कारीगर), (४) प्रथम कायस्थ (मुख्य लेखक), (५) पुस्तपाल (भूमि सम्बन्धी कागज-पत्र का संरक्षक)। इसी प्रकार गाँव का प्रबन्ध करने के लिए भी एक ग्राम-परिषद् होती थी, जो स्थानीय शासन की व्यवस्था करती थी।

(घ) मुख्य विभाग

शासन के कई विभाग थे। इनमें से राजस्व अथवा माल का विभाग प्रमुख विभागों में से था। गुप्त-साम्राज्य में भूमि का नियमित माप होता था, उपजाऊपन के आधार पर उनका वर्गीकरण किया जाता था और खेतों की सीमा, स्वामी आदि का पूरा विवरण रखा जाता था। भूमिकर को **उद्रंग** कहते थे, जो उपज का लगभग १।६ भाग होता था। इसके अतिरिक्त दूसरे भी कर थे, जिनको उपरिकर (अतिरिक्त कर), हिरण्य (सोने आदि खनिज पदार्थों पर), चाटभट-प्रवेश (सैनिक और पुलिस सम्बन्धी) आदि कहते थे। सरकार को न्यायालयों से शुल्क, अर्थदण्ड, माण्डलिक राजाओं से कर और उपहार आदि मिलते थे। सरकारी लेन-देन और व्यापार में सुवर्ण दीनार आदि सिक्कों का व्यवहार होता था। चीनी यात्री फाह्यान के अनुसार साधारण क्रय-विक्रय में कौड़ियाँ भी काम में आती थीं। दूसरा शासन का विभाग न्याय-विभाग था। गुप्त-काल में लिखी हुई स्मृतियों से मालूम होता है, कि इस समय चार प्रकार के न्यायालय होते थे—(१) कुल, (२) श्रेणि, (३) गण और (४) राजकीय न्यायालय। तीन प्रकार के न्यायालय खानगी और जनता के थे। केवल चौथे प्रकार का न्यायालय सरकारी होता था। खानगी न्यायालयों की अपील सरकारी न्यायालय में होती थी और अन्तिम न्याय राजा के हाथों में होता था। फाह्यान के यात्राविवरण से मालूम होता है किगुप्त-काल में अपराध कम होते थे और दण्ड साधारण दिया जाता था। प्राणदण्ड और शारीरिक दण्ड की प्रथा नहीं के बराबर थी। अपराध की गम्भीरता और लघुता के आधार पर प्रायः अर्थदण्ड अधिक या कम दिया जाता था। राज्य के विरुद्ध षड्यंत्र करने पर दाहिना हाथ काट लिया जाता था। गुप्तों के समय में न्याय-व्यवस्था अच्छी थी और जनता नियमों का पालन करती थी। गुप्त-शासन में कई लोकोपकारी विभाग भी शामिल थे। उन्होंने

देश के एक भाग से दूसरे भाग में आने-जाने के लिए सड़कें बनवायीं। सिंचाई की व्यवस्था भी सरकार आवश्यकतानुसार करती थी। स्थान-स्थान पर चिकित्सालय और औषधालय बने हुए थे। विद्या और शिक्षा के प्रचार के लिए अध्यापकों को वृत्तियाँ और भूमिदान मिलते थे। बहुत सी धर्मशालयें और पान्थशालायें बनी हुई थीं। सार्वजनिक दान की व्यवस्था भी सरकार की ओर से थी।

विशाल गुप्त-साम्राज्य की स्थिति और रक्षा के लिए सेना का समुचित संगठन था। गुप्त सम्राटों के लेखों में दुर्ग, स्कन्धावार, शस्त्रागार तथा चतुरंगिणी सेना के बहुत से उल्लेख पाये जाते हैं। गुप्तों के पास एक विशाल सेना थी, जो परम्परागत शैली से संगठित थी। सेना का मुख्य अधिकारी सान्धि-विग्रहिक था। उसके अधीन महासेनापति, महादण्डनायक, बलाधिकृत, रणमाण्डागारिक, भटाश्वपति आदि दूसरे अधिकारी भी थे। सेना के मुख्य कार्यालय को बलाधिकरण कहा जाता था। देश की भीतरी रक्षा के लिए रक्षा-विभाग अथवा पुलिस-विभाग की भी व्यवस्था थी। इस विभाग के मुख्य अधिकारी को दण्ड-पाशाधिकारी कहते थे। उसके अधीन चौरोद्धरणिक (चोर पकड़ने वाला) दाण्डिक (लाठी धारण करनेवाला), दण्डपाशिक (लाठी और रस्सी धारण करनेवाला) होता था। अपराधियों का पता लगाने वाले गुप्तचर भी होते थे। चीनी यात्री फाह्यान ने लिखा है कि देश में काफ़ी शान्ति और सुव्यवस्था थी और चोर डाकुओं का जरा भी भय नहीं था।

(७) समाज और संस्कृति

गुप्त-काल का सबसे बड़ा महत्त्व तात्कालीन समाज के विकास और संगठन तथा सांस्कृतिक उन्नति के कारण है। विशाल साम्राज्य, सुव्यवस्थित शासनव्यवस्था, शासकों की जानकारी और उदारता आदि के कारण भारतीयों को इस काल में अपनी अभिव्यक्ति का पूरा-पूरा अवसर मिला और जीवन के सभी क्षेत्रों में एक नये जीवन की झलक इस समय दिखाई पड़ती है।

(क) सामाजिक अवस्था

गुप्त-काल के पहले जैन और बौद्ध आदि सुधारवादी आन्दोलनों के विरुद्ध वैदिक प्रतिक्रिया हो चुकी थी। इस बीच में यूनानी, शक, पह्लव, कुषण आदि कई नई जातियां भारतवर्ष में बाहर से आयीं और उनका अधिकांश भाग यहीं बस गया। इसलिये एक नये सामाजिक संगठन की

आवश्यकता हुई। इस काल तक जैनियों और बौद्धों द्वारा वर्णाश्रम व्यवस्था की उपेक्षा और विरोध ढीले पड़ गये थे और विदेशी जातियाँ धीरे-धीरे भारतीय होती जा रही थीं। इस परिस्थिति में गुप्त-काल के धर्मशास्त्रकारों ने एक बार फिर वर्ण और आश्रम की उदार व्याख्या की और सभी प्रकार के लोग कर्म के आधार पर अपने वर्ण का चुनाव कर सकते थे। जन्मगत जाति और उसके विशेषाधिकारों का कहीं उल्लेख नहीं पाया जाता। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों के कर्त्तव्यों का इस काल की स्मृतियों में पूरा वर्णन मिलता है। आश्रम व्यवस्था का भी उल्लेख पाया जाता है। वर्णों में परस्पर परिवर्तन और सम्पर्क सम्भव था, किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि चाण्डाल, श्वपच और नीच वृत्तिवाली, कुछ घुमक्कड़ और जंगली जातियाँ अब भी सभ्य समाज की सीमा के बाहर थीं, और उनका सामाजीकरण नहीं हुआ था। फाह्यान के अनुसार चाण्डाल, नगर या गाँव के बाहर रहते थे और जब वे नगर या शहर में आते थे, तो लकड़ी बजाकर उनको अपने आने की घोषणा करनी पड़ती थी, जिससे दूसरे लोग उनसे अलग हट जायँ।

गुप्तकालीन अभिलेखों और साहित्य में प्रायः राजवंश के विवाह-सम्बन्ध के वर्णन मिलते हैं। उनसे मालूम होता है कि कम से कम ऊपर के वर्णों का आपस में अन्तर्जातीय विवाह होता था। उदाहरण के लिये गुप्तों का विवाह-सम्बन्ध नागवंशी क्षत्रियों और ब्राह्मण वाकाटकों से हुआ था। राजवंशों और धनी वर्गों में बहु-विवाह की प्रथा भी प्रचलित थी। उच्च वर्णों में भी विधवा-विवाह सम्भव था; गुप्त साम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने स्वयं अपनी विधवा भावज ध्रुवदेवी से विवाह किया था। समाज में स्त्रियों का स्थान ऊँचा था। गुप्तों की वंशावलियों में पिता के साथ माता का उल्लेख अक्सर पाया जाता है। प्रभावतीगुप्ता जैसी योग्य रानियाँ बड़े-बड़े राज्यों का संचालन करती थीं। इन दृष्टान्तों से यह कहा जा सकता है, कि साधारण प्रजा में भी ये प्रथायें जारी थीं।

वस्त्र और आभूषण के सम्बन्ध में बहुत से उल्लेख इस काल के साहित्य और अभिलेखों में पाये जाते हैं। मूर्त्तियों और सिक्कों के ऊपर भी वस्त्र और आभूषण बने हुए मिलते हैं। वस्त्रों में शिरोवेष्टन, अंगरखा और कञ्चुकी, धोती और पाजामे आदि मिलते हैं। आभूषणों में कुण्डल, कर्णफूल, कण्ठहार, करधनी, बिजायठ, कंकण, आदि अनेक प्रकार के और बहुत सुन्दर बने हुये मूर्तियों पर अंकित हैं। सिक्कों पर बनी हुई आकृतियों से मालूम होता है, कि भारतीय वेश के ऊपर बाहर से आनेवाली जातियों का प्रभाव पड़ा था। भोजन तथा खानपान में सानान्य जनता के ऊपर जैन और बौद्ध धर्म

के प्रभाव स्पष्ट थे। फाह्यान के अनुसार चाण्डालों के अतिरिक्त और लोग मांस, मछली, लहसुन, प्याज आदि नहीं खाते थे। शराब आदि मादक वस्तुओं का सेवन भी वर्जित था। सामान्य जनता में शिष्टाचार, दान, अतिथि-सत्कार सेवा आदि के भाव काफी मात्रा में पाये जाते थे।

(ख) धार्मिक जीवन

गुप्त-काल के धार्मिक जीवन में मुख्य तीन प्रवृत्तियाँ दिखायी देती हैं। पहली प्रवृत्ति पुनरुत्थान की थी। राष्ट्रीय भावना से प्रेरणा पाकर भारशिव नागों, वाकाटकों और गुप्त सम्राटों ने वैदिक धर्म और कर्मकाण्ड का पुनरुत्थान किया। परन्तु धीरे-धीरे यह अनुभव होने लगा था, कि वैदिक धर्म अपने पुराने रूप में पुनरुज्जीवित नहीं किया जा सकता था; इसलिये वैदिक देवताओं में से स्रष्टा, विष्णु, सविता आदि ने ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य आदि मानव रूप धारी देवताओं का वाना स्वीकार किया और यज्ञ-याग आदि के स्थानों पर भक्ति मार्ग का उदय हुआ। इसके फलस्वरूप वैष्णव, शैव, शाक्त, ब्राह्म, सौर आदि कई एक भक्तिमार्गी सम्प्रदाय उत्पन्न हुये। उपर्युक्त देवताओं के साथ उनकी देवियों की भी कल्पना की गयी। मन्दिरों और मूर्तियों की स्थापना हुई। तीर्थयात्रा, शान्तिक और स्वस्तिक पूजापाठ, लोकोपकारी दान-पुण्य आदि लोगों में अधिक प्रचलित हुये। इससे यह मालूम होता है कि आधुनिक हिन्दू धर्म की आधार-शिला गुप्त-काल में अच्छी तरह से रख दी गयी थी। इस नये संस्कार और विकास ने दूसरे धार्मिक सम्प्रदायों के साथ समन्वय करने का रास्ता सरल बना दिया।

बौद्ध-धर्म के माननेवालों की संख्या समाज में अब भी काफी थी, किन्तु अपने नये विकासों के कारण वह नव संस्कृत वैदिक धर्म के निकट धीरे-धीरे आ रहा था। गुप्त-काल के पहले ही इसमें महायान का उदय हो गया था। बुद्ध के ऊपर ईश्वरत्व का आरोप बोधिसत्त्व और अवलोकितेश्वरों की कल्पना और बौद्धों की नयी पूजा-पद्धति ब्राह्मण-धर्म से इस समय बहुत दूर न थी। भक्ति-मार्ग ने तो दोनों सम्प्रदायों को आपस में बहुत मिलाया। इस समन्वय में ब्राह्मण-धर्म बौद्ध-धर्म से धीरे-धीरे ऊपर आ रहा था। उत्कीर्ण लेखों और फाह्यान के यात्रा-विवरण से यह साफ मालूम होता है, कि नया वैदिक धर्म अपने पुराने रूप में परिवर्त्तन कर, बहुत से बौद्ध प्रभावों को अपनाकर तथा समन्वय और समझौते की नीति से बहुसंख्यक जनता को अपने दायरे के भीतर ला रहा था। जो प्रवृत्तियाँ बौद्ध-धर्म में काम कर रही थीं, प्रायः उन्हीं का प्रभाव जैन-धर्म के ऊपर था। जैन-धर्म भी तपोनिष्ठ आचार के स्थान में साधारण

जनता की माँगों को पूरा करने के लिये भक्तिमार्गी होता जा रहा था और मन्दिर, मूर्त्ति-पूजा, अर्चा, वन्दना आदि की उसमें भी प्रधानता हो रही थी। इससे भक्तिमार्गी ब्राह्मण-धर्म और भक्ति-मार्गी जैन-धर्म में बहुत कम अन्तर होता गया। जैन-धर्म एक ओर तो अपने कठोर आचार के कारण अधिकांश जनता को अपनी ओर खींच नहीं सकता था, दूसरी ओर बहुत सी आचारहीन विदेशी जातियों के आक्रमण से अपने को बचाने के लिये उत्तर भारत से दक्षिण की ओर खिसक रहा था। यही कारण है कि गुप्त-काल में उत्तर भारत में जैन-धर्म के माननेवालों की संख्या बहुत कम हो रही थी।

गुप्त सम्राटों में अन्तिम कुछ को छोड़कर शेष सभी वैष्णव अथवा शैव सम्प्रदाय के मानने वाले थे, परन्तु धार्मिक मामलों में वे बहुय उदार थे और दूसरे धर्मों को आदर की दृष्टि से देखते थे। प्रजा में सभी को धार्मिक विश्वास और पूजा-पद्धति की स्वतन्त्रता थी। सरकारी प्रश्रय और दान सबके लिये मुक्त था। परम भागवत चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का सेनापति अमरकार्द्दव बौद्ध था। इस काल के उत्कीर्ण लेखों में परस्पर सहिष्णुता, उदारता और सहयोग के बहुत से उल्लेख मिलते हैं। फाह्यान के अनुसार भारत में किसी प्रकार का धार्मिक अत्याचार नहीं था और राजवंश की उदार धार्मिक नीति का प्रजा भी पालन करती थी।

(ग) भाषा और साहित्य

इस काल में संस्कृत भाषा और साहित्य को, जो इसके पहले सुधारवादी आन्दोलनों और विदेशी शासन के कारण राजाश्रय से वंचित था, विशेष प्रोत्साहन मिला। इस समय के उत्कीर्ण लेख बहुत ही सुन्दर और काव्यमय भाषा में लिखे हुये हैं। सिक्कों तक के ऊपर भी छन्दोबद्ध लेख मिलते हैं। जैन और बौद्ध-धर्म के माननेवालों ने भी संस्कृत के लालित्य और प्रभाव को देखकर उसको अपने धर्म और साहित्त का माध्यम बनाया था। संस्कृत साहित्य की इस काल में बहुमुखी उन्नति हुई। बहुत से लेखक महाकवि कालिदास को इसी काल में रखते हैं, जो सन्दिग्ध है; परन्तु कालिदास के बिना भी इस काल में कई कविरत्नों और लेखकों की गणना की जा सकती है। इनमें मातृगुप्त (काश्मीर का राजा और कवि), भर्तृमेण्ठ (हयग्रीववध का रचयिता) शूद्रक (मृच्छकटिक नाटक का लेखक), विशाखदत्त (मुद्राराक्षस और देवी चन्द्रगुप्तम् नाटक का लेखक), सुबन्धु (वासवदत्ता का लेखक) आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। काव्यालंकार के लेखक भामह भी इसी समय हुए थे। दर्शन शास्त्र के लेखकों में ईश्वरकृष्ण, दिङ्नाग, वात्सायन, प्रशस्त-

पाद, शबर स्वामी आदि भी इसी युग में उत्पन्न हुए थे। गणित और ज्योतिष के क्षेत्र में आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त, विष्णुशर्मा आदि प्रसिद्ध विद्वान् थे। राजनीति में कामन्दक नीतिसार, स्मृतियों में नारद स्मृति, पाराशर स्मृति आदि इसी समय लिखी गयी थीं। पुराणों और महाकाव्यों के अन्तिम संस्करण इसी समय में तैयार हुये थे। बौद्ध लेखकों में आचार्य मैत्रेय, असंग, वसुबन्धु, कुमारजीव, परमार्थ चन्द्रकीर्त्ति, चन्द्रगोमिन्, धर्मपाल आदि प्रसिद्ध थे। जैन विद्वानों और लेखकों में जिन चन्द्रमणि, सिद्धसेन, देवनन्दिन् आदि उल्लेखनीय हैं। इस तरह शुद्ध साहित्य, धर्म, दर्शन, राजनीति आदि साहित्य के सभी क्षेत्रों में इस काल की प्रसिद्ध कृतियाँ हैं।

(घ) कला

गुप्त-काल में कला का पूरा भारतीकरण हुआ और गान्धार और मथुरा शैली पर जो विदेशी प्रभाव थे, वे पूरे आत्मसात् कर लिये गये। सौन्दर्य और भावाभिव्यक्ति में भी भारतीय कला इस समय अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची। इस काल में जो कला का आदर्श निश्चित हुआ उसने सारे भारतवर्ष और बृहत्तर भारतवर्ष को प्रभावित किया। दुर्भाग्य से विदेशी आक्रमणों के कारण इस काल के कला के बहुत कम नमूने उत्तर भारत में पाये जाते हैं; किन्तु कला की जो सामग्री इस समय उपलब्ध है, वह अपनी कल्पना, आकार, अलंकार और रचना में बहुत ही उच्च कोटि की है। सारनाथ में धामेख स्तूप, अजन्ता, इलोरा और बाघ के कतिपय गुहा-विहार इस काल में बनाये गये थे। चैत्यों में इलोरा का विश्वकर्मा चैत्य अपने ढंग की एक अद्भुत रचना है। इस काल के मन्दिरों में ऐहोल के दुर्गा व लाल खाँ मन्दिर, देवगढ़ का दशावतार मंदिर, भीटार गाँव (कानपुर के पास) का मन्दिर, बोधगया का महाबोधि मन्दिर तथा कुशीनगर के महापरिनिर्वाण स्तूप और चैत्य गुप्त-काल की सुन्दर कृतियाँ हैं। इस समय के स्तम्भों में दिल्ली के पास मिहरौली का लौह-स्तम्भ एक अद्भुत स्मारक है। यह शताब्दियों से खुले स्थान में रहने पर भी धूप और वर्षा से प्रभावित नहीं हुआ है। स्थापत्य-कला की तरह मूर्ति-कला भी गुप्त-काल में उन्नत और विकसित हुई। इस समय की मूर्त्तियों में कल्पना, भाव-व्यञ्जना और शारीरिक गठन विशुद्ध भारतीय ढंग की और बहुत ही सुन्दर है। उनमें अलंकृत प्रभामंडल झीने वस्त्र, केशों का प्रसाधन, हाथों की मुद्रा, आसन आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। ब्राह्मण देवताओं में विष्णु, शिव, पार्वती ब्रह्मा आदि और बौद्धों में बुद्ध, बोधिसत्त्व, अवलोकितेश्वर आदि की मूर्त्तियाँ पायी जाती हैं। जैनियों में तीर्थ-

करों—विशेषतः पाँच प्रमुख तीर्थंकरों (आदिनाथ, श्रेयांसनाथ, शान्तिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर) की मूर्त्तियाँ मिलती हैं। इस काल की मूर्त्तियों में सबसे उत्तम नमूना है सारनाथ में मिली हुई धर्मचक्र-प्रवर्त्तन-मुद्रा में भगवान् बुद्ध की मूर्त्ति का, जो अपने सौन्दर्य, गाम्भीर्य और भाव व्यञ्जना के लिये संसार में प्रसिद्ध है। चित्र-कला के नमूने बहुत कम मिले हैं। अजन्ता और
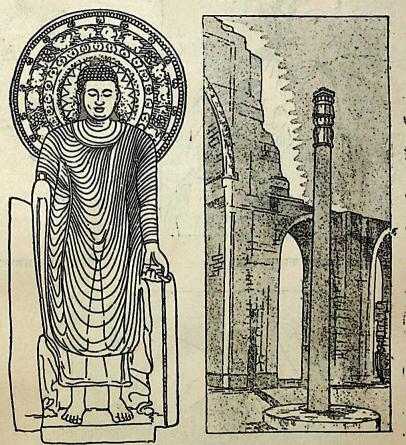
गुप्तकालीन बुद्ध की मूर्ति   मिहरौली लौह स्तम्भ

इलोरा में कुछ उदाहरण मिले हैं, जो गुहाचैत्यों की दीवारों और छतों पर रंग-बिरंग के रेखाचित्रों से सुशोभित हैं। इनमें लता, फूल, जानवरों और मनुष्यों की आकृतियाँ बहुत ही वास्तविक, सजीव और प्रभाव उत्पन्न करने वाली हैं। संगीत-कला को भी इस युग में प्रश्रय मिला। सम्राट् समुद्रगुप्त स्वयं संगीत-कला में निपुण था, वह अपने वीणा शैली के सिक्कों पर वीणा बजाता हुआ अंकित किया गया है। इस काल के साहित्य में संगीत के बहुत

से उल्लेख पाये जाते हैं। बहुसंख्य नाटकों की रचना से यह भी ज्ञात होता है, कि इस समय का रंगमंच भी विकसित था। सिक्का बनाने की कला

अजन्ता का एक चित्र

यशोधरा और राहुल (अजन्ता)
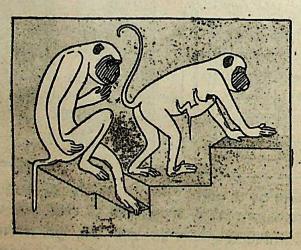
अजन्ता का एक चित्र

भी इस समय उन्नति पर थी। गुप्तों के सिक्के इस बात के सजीव प्रमाण हैं। दीनार, सुवर्ण और कार्षापण नाम के सिक्के ढाले जाते थे। इन सिक्कों पर बहुत सुन्दर आकृतियाँ और छन्दोबद्ध संस्कृत के लेख हैं।

चन्द्रगुप्त का सिक्का

अश्वमेध सिक्का (गुप्तकालीन)

चन्द्रगुप्त का गरुड़ध्वज सिक्का

समुद्रगुप्त का सिक्का

कुमारगुप्त का सिक्का

(ङ) आर्थिक जीवन

गुप्तकालीन सुन्दर शासन-व्यवस्था में जीवन के आर्थिक साधनों का भी विकास हुआ। कृषि, उद्योग-धन्धे और व्यापार सभी उन्नत और समृद्ध थे। इस काल के व्यवसायी और व्यापारी अपनी अपनी श्रेणियों, निगमों और गणों में संगठित थे। वे बैंक का भी काम करते थे। अपने पास

सार्वजनिक निधियाँ भी रखते थे और व्याज पर ऋण भी देते थे। मन्दसौर से मिले हुए एक स्तम्भ लेख से मालूम होता है कि वहाँ पर तन्तुवायों (जुलाहों) की एक श्रेणी थी, जिसने एक भव्य सूर्य-मन्दिर की स्थापना की थी। इस लेख से तत्कालीन आर्थिक जीवन पर काफी प्रकाश पड़ता है। गुप्त-साम्राज्य पूर्व और पश्चिम दोनों समुद्रों को स्पर्श करता था, इसलिए स्थल और जल व्यापार दोनों ही अच्छी तरह चलते थे। रोम के सोने के सिक्के दीनार इस समय काफी संख्या में भारत में आ रहे थे। चीन से रेशमी वस्त्र आता था। भारत के बने हुये कपड़े, मसाले, बहुमूल्य रत्न, जवाहर, आभूषण आदि बाहर विदेशों में जाते थे। विनिमय के लिए कई तरह के सिक्के चालू थे। सोने के सिक्कों में सुवर्ण तथा दीनार और चाँदी के सिक्कों में कार्षापण चलता था। साधारण व्यवहार में ताँबे का सिक्का तथा कौड़ियाँ भी काम में आती थीं।

(च) भारतीय उपनिवेश

वैसे तो भारत का सम्बन्ध अपने पड़ोसी देशों से पहिले से ही था और अशोक और कनिष्क के समय में मध्य एशिया में बहुत से भारतीय व्यापारिक और सांस्कृतिक उपनिवेश स्थापित किये गये थे, किन्तु गुप्त-काल में इस प्रवृत्ति को और भी प्रोत्साहन मिला। ३५१ और ५७१ ई० के भीतर कम से कम दश प्रचारक जत्थे भारत से चीन भेजे गये। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् कुमारजीव इन्हीं जत्थों में से एक जत्थे का नेता था। हिन्दचीन, सुमात्रा, जावा, बाली, बोर्नियो आदि पूर्वी द्वीप समूहों में भी भारतीय व्यापारी और संस्कृति के प्रचारक पहुँचते थे। एशिया के पश्चिमी देशों से भी भारत का व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध था। राजनीति, धर्म और व्यापार के सिलसिले में विशेषकर हिन्द-चीन और पूर्वी द्वीप समूहों के प्रदेशों में बहुत से भारतीय राजवंश, व्यापारी और प्रवासी स्थायी रूप से बस गये। वे भारतीय संस्कृति और व्यापार के प्रसार में सहायक सिद्ध हुये।

१३ अध्याय

पुष्यभूति-वंश : कान्यकुब्ज साम्राज्य

लगभग ५०० ई० से गुप्त-साम्राज्य का ह्रास प्रारम्भ हुआ। इसके बाद भारतवर्ष के कई राजनीतिक टुकड़े हो गये। विभिन्न प्रान्तों में जो राजवंश स्थापित हुये उनमें (उत्तर और दक्षिण दोनों भागों में) आधिपत्य स्थापित करने के लिये काफी होड़ थी। अन्त में उत्तर भारत में पुष्यभूति-वंश और दक्षिण में चालुक्य-वंश आधिपत्य स्थापित करने में सफल हुये। इसका फल यह हुआ कि कई शताब्दियों के लिये उत्तर और दक्षिण दो स्वतंत्र राजनीतिक केन्द्रों में बँट गये।

१. हूणों का आक्रमण

५०० ई० के लगभग हूणों ने दुबारा भारत पर आक्रमण किया। भारत पर आक्रमण करनेवाले हूण श्वेत हूण कहलाते हैं। ये मूल में चीन के पश्चिमोत्तर भाग में रहते थे। चीनी साम्राज्य के दबाव से धीरे-धीरे ये मध्यएशिया में पहुँचे। यहाँ पर जनसंख्या की वृद्धि और राजनीतिक महत्वाकांक्षा के कारण इनका विस्तार प्रारम्भ हुआ। इनकी दो मुख्य शाखायें थीं। इनमें से एक शाखा ने पश्चिम की ओर यूराल पर्वत को पार कर आँधी-पानी की तरह लगभग आधे युरोप पर अपना अधिकार जमा लिया; परन्तु संगठन का अभाव होने के कारण हूण युरोप में स्थायी रूप से शासन न कर सके। १८-२० वर्ष के भीतर ही उनकी राजनीतिक सत्ता समाप्त हो गयी। दूसरी शाखा पहले सासानियों के दबाव से मध्य एशिया में रुकी रही। किन्तु सासानी शक्ति के ह्रास के बाद हिन्दुकुश को पार कर वह भारत की ओर मुड़ी। उसके पहले आक्रमणों को कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य के समय में उसके पुत्र स्कन्दगुप्त ने विफल कर दिया था, किन्तु ५०० ई० के लगभग अपने सेनापति तोरमाण की अध्यक्षता में हूणों ने फिर भारत पर बड़े वेग से आक्रमण किया। इस समय भारत की राजनीतिक स्थिति कमजोर हो गयी थी, इसलिये तोरमाण सीमान्त, पंजाब तथा राजस्थान के ऊपरी भाग को जीतता हुआ मध्यभारत तक पहुँच गया। हूण मध्यभारत में बहुत दिनों तक न ठहर सके। ५१० ई० में भानुगुप्त बालादित्य ने मालवा के राजा यशोधर्मन् की सहायता से हूणों को मध्यभारत से निकाल दिया। इसके बाद तोरमाण का पुत्र मिहिरकुल पंजाब, काश्मीर और सीमान्त में कुछ समय तक शासन करता रहा। वह शैव धर्म का माननेवाला और

बौद्धों का कट्टर शत्रु था। बड़ी कठोरता के साथ उसने शासन किया। ५२८ ई० के लगभग यशोधर्मन् ने उसको हराकर काश्मीर और पंजाब से भी बाहर निकाल दिया। वास्तव में हूणों की शक्ति उनकी संख्या, कठोरता और आक्रमण के वेग में थी। जैसा कि ऊपर कहा गया है, उनमें राजनीतिक संगठन शक्ति का अभाव था; इसीलिए वे भारत में भी नहीं ठहर सके।

२. प्रान्तीय शक्तियाँ

हूण गुप्त-साम्राज्य के स्थान पर अपना स्थायी राज्य स्थापित न कर सके; परन्तु उनके धक्के से गुप्त साम्राज्य तितर-बितर हो गया और उसके स्थान पर कई छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये। **मालवा में औलिकर** (सूर्य या चन्द्र) वंश का राजा **यशोधर्मन्** थोड़े समय के लिये बड़ा प्रतापी हुआ और उसकी सेनायें राजस्थान से लेकर ब्रह्मपुत्र तक और हिमालय से लेकर उड़ीसा में महेन्द्र पर्वत तक पहुँच गयीं। हूणों की शक्ति को नष्ट करने में उसका बहुत बड़ा हाथ था। **गुजरात में वलभी-राज्य** की स्थापना हुई। **सिन्धु में एक शूद्र-वंश** की स्थापना हुई जो लगभग अरब आक्रमण तक बना रहा। पूर्वोत्तर भारत में **गौड** का राज्य था, जिसमें पुण्ड्रवर्धन, कर्णसुवर्ण, समतट और ताम्रलिप्ति शामिल थे। मगध में गुप्तों के वंशजों ने एक **परवर्ती गुप्तवंश** की स्थापना की, जिसमें कुमारगुप्त, दामोदरगुप्त, महासेनगुप्त, माधवगुप्त, आदि प्रसिद्ध राजा हुये। दक्षिणापथ में भी कई राज्य स्थापित हुये। आन्ध्र देश में विष्णु कुण्डिन और धनकटक के राज्य बने, जो धीरे-धीरे पल्लवों के अधीन हो गये। सुदूर दक्षिण में पल्लव, चोल और कदम्ब आदि अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे। महाराष्ट्र और कर्नाटक में पुलकेशिन् प्रथम ने **चालुक्य-वंश** की नींव डाली।

इन सभी प्रान्तीय राज्यों में कान्यकुब्ज का **मौखरि-वंश** और स्थाण्वीश्वर (थानेसर) का **पुष्यभूति-वंश** सबसे प्रसिद्ध वंश हुये। मौखरि-वंश की राजधानी कन्नौज (कान्यकुब्ज) थी और इस वंश के राजा ईशानवर्मन् ने आन्ध्रों को जीता, चालुक्यों को परास्त किया और गौड़ों को उनकी सीमा के भीतर घेर रखा। इस वंश का पहले पुष्यभूति-वंश से विरोध था। पीछे विवाह-सम्बन्ध हुआ और दोनों वंश एक में मिल गये।

३. पुष्यभूति वंश

(१) उदय और विकास

छठी शती के शुरू में जब कि हूण आक्रमण के कारण गुप्त-साम्राज्य टूट रहा था, पूर्वी पंजाब में पुष्यभूति वंश की स्थापना हुई। इसकी राजधानी

स्थाण्वीश्वर अथवा थानेसर थी। इसके संस्थापक पुष्यभूति के बारे में बहुत कम मालूम है। हर्षचरित से केवल यही मालूम होता है कि वह शिव का अनन्य भक्त था। उसके बाद नरवर्धन, राज्यवर्धन प्रथम और आदित्यवर्धन इस वंश के राजा हुये, जिन्होंने अपनी शक्ति का थोड़ा-बहुत विस्तार किया; परन्तु वास्तव में पुष्यभूति-वंश की स्वतंत्र और व्यापक शक्ति की स्थापना करनेवाला आदित्यवर्धन का पुत्र प्रभाकरवर्धन था। बाण ने उसकी दिग्विजय का वर्णन हर्षचरित में इस प्रकार किया है :—'प्रभाकरवर्धन हूणरूपी हरिण के लिये सिंह, सिन्धुराज के लिए ज्वर, गान्धार-राज रूपी हाथी के लिये घातक महामारी, गुर्जर देश की निद्रा को भंग करनेवाला, लाटों की पटुता को रोकने वाला और मालवदेशरूपी लता की शोभा को नष्ट करनेवाला परशु था।' प्रभाकरवर्धन ने दिग्विजय के बाद महाराजाधिराज, परमभट्टारक और प्रतापशील की उपाधि धारण की। उसके अनन्तर उसका बड़ा पुत्र राज्यवर्धन द्वितीय सिंहासन पर बैठा। वह बौद्धधर्म का माननेवाला और स्वभाव का सीधा और कोमल था। प्रभाकरवर्धन के मरने के बाद ही गौड़ के राजा शशांक ने उसके दामाद कान्यकुब्ज के राजा ग्रहवर्मन् पर आक्रमण करके उसे मार डाला। राज्यवर्धन ने कान्यकुब्ज की रक्षा तो की किन्तु शशांक के षड्यंत्र से वह मार डाला गया।

(२) हर्षवर्धन : साम्राज्य-स्थापना

(क) राज्यारोहण

राज्यवर्धन के बाद उसका छोटा भाई हर्षवर्धन थानेश्वर के सिंहासन पर बैठा। उसके सामने कई कठिन समस्यायें थीं। वह प्रतिभावान् और शक्तिशाली शासक था। समस्याओं के हल करने में वह सफल हुआ और एक बड़े साम्राज्य की स्थापना उसने की।

हर्षवर्धन

उसके सामने पहली समस्या अपनी बहन राज्यश्री को ढूँढ़ना था, जिसने कान्यकुब्ज पर शशांक के आक्रमण के समय भागकर विन्ध्यपर्वत के जंगलों में शरण ली थी। हर्षवर्धन राज्यश्री को लेकर कन्नौज वापस आया। अब समस्या यह थी कि कान्यकुब्ज के सिंहासन पर कौन बैठे? हर्षवर्धन ने बुद्धिमानी से काम लिया और कान्यकुब्ज के मंत्रियों की राय से थानेश्वर और कान्यकुब्ज

के राज्यों को मिलाकर राज्यश्री के साथ संयुक्त शासन स्थापित किया और कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया। इस घटना ने उसकी शक्ति को तुरन्त कई गुना बढ़ा दिया और उसने दिग्विजय करने का निश्चय किया।

(ख) दिग्विजय

हर्ष ने सबसे पहले अपने वंश के शत्रु गौड के राजा शशांक पर आक्रमण किया। उसने प्रतिज्ञा की : "मैं पिता के चरण-रज का स्पर्श करके शपथ खाता हूँ कि यदि मैं कुछ दिनों के भीतर ही पृथ्वी को गौड़ों से रहित न कर दूँ और समस्त उद्धत राजाओं के पैरों की बेड़ियों की झनकार से पृथ्वी को प्रतिध्वनित न कर दूँ, तो मैं जलती हुई अग्नि में अपने को पतंग की भाँति भस्म कर लूँगा।' इस दिग्विजय के प्रयाण का समाचार पाते ही प्राग्ज्योतिष (आसाम) के राजा भास्करवर्मा ने, जो शशांक का पड़ोसी और शत्रु था, हर्षवर्धन का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। शशांक को पूरी तरह से हर्ष हरा न सका, परन्तु उसने उत्तर बंगाल पर अपना राज्य स्थापित कर उसको दक्षिणी-पूर्वी बंगाल में सीमित कर दिया। इसके बाद हर्ष ने मालवा को अच्छी तरह से जीता। लगभग ६ वर्ष तक हर्ष की विजयी सेना उत्तर भारतवर्ष में घूमती रही और चीनी यात्री हुएन-संग के अनुसार उसने पाँच गौड़ों (उत्तर भारत) पर अधिकार कर लिया। सारे उत्तर भारत को अपने अधिकार में करने के बाद हर्ष ने दक्षिण भारत पर अधिकार करना चाहा। इस समय दक्षिण में चालुक्य-वंशी राजा पुलकेशिन् द्वितीय शासन कर रहा था। दोनों की सेनायें नर्मदा के किनारे मिलीं। बड़ा घोर युद्ध हुआ। हर्ष की सेना ध्वस्त और पराजित हुई और उसे हताश होकर वापस लौटना पड़ा। युद्ध के फलस्वरूप उत्तर और दक्षिण की शक्तियों के बीच नर्मदा एक स्थायी सीमा बन गयी। कुछ लेखकों के अनुसार सम्भवतः इस घटना के बाद हर्ष ने फिर दक्षिणापथ पर आक्रमण किया और उसकी सेना कुन्तल (उत्तर कर्नाटक) और काञ्ची तक पहुँच गयी थी। अपने दिग्विजय के द्वारा हर्ष ने एक बड़े साम्राज्य की स्थापना की, जो मोटे तौर पर उत्तर में काश्मीर और नेपाल से लेकर दक्षिण में नर्मदा और महेन्द्र पर्वत (उड़ीसा) तक और पश्चिम में सुराष्ट्र से लेकर पूर्व में प्राग्ज्योतिष (आसाम) तक फैला था। सारा आर्यावर्त्त उसके अधीन था और वह सकलोत्तरापथनाथ (सारे उत्तर भारतवर्ष का स्वामी) कहलाता था।

(ग) शासन-प्रबन्ध

हर्ष की शासन-पद्धति गुप्तों की शासन-पद्धति से मिलती-जुलती थी। हर्ष ने उसमें आवश्यकतानुसार थोड़ा-बहुत परिवर्तन किया। उसके अन्तर्गत भी राज्य एकतान्त्रिक था और उसकी पूरी सत्ता राजा के हाथ में थी; परन्तु जिस तरह अशोक ने धर्म से प्रेरित होकर अपने शासन को आदर्शवादी बनाने का प्रयत्न किया उसी प्रकार हर्ष भी परममाहेश्वर (शिव का भक्त) होने के कारण 'सब जीवों पर अनुकम्पा करने वाला', और पीछे बौद्ध प्रभाव में आने से बुद्ध के समान 'सर्वभूतों के हित में रत' रहता था। वह दिन-रात शासन के कार्य में लगा रहता था। उसकी राजनीतिक उपाधियाँ भी

स्वहस्तो मम महाराजाधिराजश्रीहर्षस्य
महाराज हर्षवर्धन का हस्ताक्षर

परमभट्टारक, महाराजाधिराज, एकाधिराज, चक्रवर्त्ती, सार्वभौम, परमेश्वर, परमदैवत आदि थीं। वह शासन के सैनिक, न्याय और व्यवस्था-सम्बन्धी सभी विभागों की देखरेख स्वयं करता था। बरसात के मौसम को छोड़कर वह अपने राज्य में प्रजा की स्थिति समझने के लिये दौरे पर भी जाया करता था। हर्ष का केन्द्रीय शासन कई विभागों में बँटा हुआ था जिनका संचालन अध्यक्षों या मंत्रियों द्वारा होता था। राजा के व्यक्तिगत अधिकारियों में प्रतिहार, विनयासुर, स्थपति, प्रतिनर्त्तक, दूतक, और लेखक आदि शामिल थे। मंत्रि-परिषद् भी राजा के कार्य में उसकी सहायता करती थी। मंत्रियों में पुरोहित, प्रधानमंत्री, सान्धिविग्रहिक, अक्षपटलाधिकृत और सेनापति आदि का उल्लेख मिलता है।

हर्ष का साम्राज्य भी गुप्त-साम्राज्य की तरह कई इकाइयों में बँटा हुआ था। सारे राज्य को राष्ट्र, देश वा मण्डल कहते थे। राष्ट्र कई प्रान्तों में बँटा था जो भुक्ति कहलाते थे। भुक्ति विषयों में, विषय पठकों में और पठक गाँवों में विभक्त थे। प्रान्तों के अधिकारी उपरिक महाराज, गोप्ता भोगपति, राजस्थानीय, राष्ट्रीय अथवा राष्ट्रपति कहलाते थे। विषय के अधिकारी को विषयपति कहते थे। इन अधिकारियों की नियुक्ति सम्राट् स्वयं ही करता था। हर्ष के समय में नगर-शासन के सम्बन्ध में कोई जानकारी

नहीं है, किन्तु ग्राम के अधिकारियों की लम्बी सूची मिलती है, जो देहाती क्षेत्रों का शासन करते थे।

शासन का एक महत्त्वपूर्ण विभाग राजस्व अथवा माल था। सरकारी आय के साधन उद्रंग (भूमि-कर), उपरिकर (अतिरिक्त-कर), धान्य, हिरण्य आदि थे। कर नगद और सामान दोनों रूपों में चुकाया जाता था। जो लोग यह नहीं कर सकते थे, वे शारीरिक श्रम करके सरकारी कर चुकाते थे। सरकारी न्यायालयों से भी आमदनी होती थी। कर सम्बन्धी सरकार की नीति उदार थी। हलके कर प्रजा पर लगाये जाते थे। कर की दर भूमि की उपज का १।६ के लगभग थी। सरकार खेती योग्य सारी भूमि का माप कराती थी और उपज के अनुसार कर निश्चित करती थी। खेतों की सीमा और उनके स्वामियों का नाम सरकारी कागज-पत्र पर लिखे जाते थे। सरकार की ओर से सिंचाई का भी प्रबन्ध था। राज्य का आय और व्यय किस प्रकार निश्चित होता था, इसका अनुमान ह्वेन-संग के वर्णन से लग सकता है : 'राज्य की भूमि के चार भाग थे। एक भाग धार्मिक कामों और सरकारी कार्यों में खर्च होता था, दूसरा भाग सार्वजनिक अधिकारियों के ऊपर, तीसरा भाग विद्वानों को पुरस्कार और वृत्तियाँ देने में और चौथा दान-पुण्य आदि में।' हर्ष के समय में शासन-प्रबन्ध अच्छा होने के कारण न्याय की व्यवस्था भी अच्छी थी। ह्वेनसंग लिखता है : 'शासन सचाई से होने के कारण प्रजा का आपसी सम्बन्ध अच्छा और अपराधी-वर्ग बहुत छोटा है।' किन्तु फिर भी अपराध होते थे और उनके लिये दण्ड भी दिये जाते थे। राज्य के प्रति द्रोह करने के लिये आजीवन कारावास का दण्ड मिलता था। सामाजिक नीति के विरुद्ध अपराधों के लिये अंग-भंग, देशनिकाला अथवा वनवास का दण्ड दिया जाता था। सामान्य अपराधों में अर्थदण्ड पर्याप्त समझा जाता था। फौजदारी के अपराधों के लिये दण्ड कठोर था और कारावास में कैदियों के साथ कड़ाई की जाती थी। न्यायालय में न्याय मीमांसा-शास्त्र के आधार पर होता था। अभियोगों में सच और झूठ का निर्णय करने के लिये अग्नि, जल, तुला और विष आदि का प्रयोग भी होता था। हर्ष लोकोपकारी कार्यों पर भी पूरा ध्यान देता था। उसने बहुत से मन्दिरों, चैत्यों, विहारों और स्तूपों का निर्माण कराया। सड़कों के बनाने और उनकी सुरक्षा का अच्छा प्रबन्ध था। शिक्षा के ऊपर भी सरकारी आय का एक बहुत बड़ा भाग खर्च होता था। सरकार की ओर से दान-पुण्य आदि का भी प्रबन्ध था। हर्ष विपुल धनराशि धार्मिक और सामाजिक हित में खर्च करता था।

हर्ष के पास एक विशाल सेना थी, जिसमें ६ लाख सैनिक थे। इसके अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर अस्थायी सैनिक भी बुला लिये जाते थे। हर्ष की सेना में पैदल, अश्वारोही और हाथी मुख्य थे। नौ-सेना भी नदियों में और समुद्री तट पर काम करती थी। ऐसा जान पड़ता है कि हर्ष के समय से युद्ध में रथ का प्रयोग उठ गया था। साहित्यिक ग्रन्थों में स्कन्धावार (फौजी छावनी) और शस्त्रागारों का वर्णन भी मिलता है। सेना का मुख्य अधिकारी महासन्धि-विग्रहाधिकृत था। उसके अधीन महाबलाधिकृत, बलाधिकृत, सेनापति, बृहदश्वार, भटाश्वपति, कटुक, पाति आदि अधिकारी थे। आरक्षा अथवा पुलिस-विभाग भी अच्छी तरह संगठित था, जिसमें प्रायः वही अधिकारी थे, जो गुप्तकाल में पाये जाते हैं। रात्रि में पहरा देने वाली स्त्री, यामचेटियों का उल्लेख मिलता है; किन्तु ये सब होते हुये भी जितनी शान्ति और सुव्यवस्था गुप्तों के समय में थी उतनी हर्ष के समय में नहीं। चीनी यात्री हुयेन-संग का सामान कई बार रास्ते में लुट गया था, जब कि फाह्यान निर्विघ्न गुप्त काल में देश के एक भाग से दूसरे भाग में घूम चुका था।

४. समाज और संस्कृति

(१) सामाजिक अवस्था

गुप्तों के समय में वर्ण और आश्रम के आधार पर जो सामाजिक व्यवस्था की गयी थी, वह इस समय में भी चल रही थी। बाणलिखित हर्षचरित में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण के बहुत से उल्लेख पाये जाते हैं। हुयेन-संग लिखता है : 'परम्परागत जातिभेद से समाज में चार वर्ग हैं। चारों जातियों में धर्मानुष्ठान करने से पवित्रता है।' समाज में ब्राह्मणों का सबसे अधिक आदर था और हुयेन-संग के अनुसार यह देश ब्राह्मण-देश कहलाता था। ब्राह्मणों की उपाधियाँ 'शर्मा' और 'भट्ट' थीं। हुयेन-संग क्षत्रियों की भी प्रशंसा करता है; क्षत्रिय, वर्मा, सेन, भट्ट आदि कहलाते थे। समाज में वैश्यों का वर्ग भी प्रभाव-शाली और धनी-वर्ग था। शूद्रों की कई जातियाँ थीं। अन्त्यज जातियों में चाण्डाल, श्वपच, कसाई, मछुवा, जल्लाद आदि शामिल थे, जो अब भी समाज के छोर पर रहते थे। वैवाहिक-सम्बन्ध अक्सर अपने अपने वर्ण और जाति में होते थे, परन्तु अन्तर्जातीय विवाह अब भी सम्भव थे। विवाह गोत्र और पिण्ड से बाहर होता था। समाज में बहुविवाह की प्रथा भी थी। हुयेन-संग लिखता है कि स्त्रियाँ कभी भी अपना पुनर्विवाह नहीं करती थीं, किन्तु यह बात ऊँचे वर्णों पर ही लागू थी। सती की प्रथा समाज में जारी थी। हर्ष की माता स्वयं ही सती हुई थीं और उसकी बहिन सती होने

से उसके द्वारा बाल-बाल बचायी गयी। लड़कों की तरह लड़कियों की शिक्षा का प्रबन्ध माता-पिता करते थे। साहित्य, संगीत और कला की शिक्षा उन्हें दी जाती थी। आजकल की जैसी पर्दे की प्रथा उस समय नहीं थी। राज्यश्री दरबार में बैठकर शासन में भाग लेती थी। समाज में अब भी स्त्रियों का स्थान ऊँचा था। सामान्य जनता का जीवन सादा होता था, परन्तु राज-सभाओं और नगरों में काफी विलासिता थी।

(२) धार्मिक जीवन

यह लिखा जा चुका है कि गुप्त-काल में नवसंस्कृत वैदिक, बौद्ध और जैन सम्प्रदाय वर्त्तमान थे। इनमें एक नयी प्रवृत्ति उत्पन्न हो रही थी और धीरे-धीरे ये सम्प्रदायों और उप-सम्प्रदायों में बँटते जा रहे थे। इन सम्प्रदायों की पूजा-पद्धति भी धीरे-धीरे जटिल होती जा रही थी। धार्मिक विश्वासों के नाम पर अन्धविश्वास भी बढ़ रहा था और बहुत से अश्लील और गुप्त व्यवहार धर्म के भीतर घुस गये थे। धार्मिक सम्प्रदायों में परस्पर उदारता थी, किन्तु कहीं कहीं कटुता के उदाहरण भी पाये जाते हैं। हर्ष के समय का सबसे व्यापक धर्म वैदिक अथवा ब्राह्मण-धर्म था, जो धीरे-धीरे अपनी समन्वय और उदारता की नीति से और सम्प्रदायों को अपने में मिलाता जा रहा था। इस धर्म के भी कई एक सम्प्रदाय थे, जिनमें वैष्णव, शाक्त, शैव, और सौर आदि प्रधान थे। बाण ने कई एक विचित्र उप-सम्प्रदायों का वर्णन हर्षचरित में किया है। मन्दिरों में अनेक देवताओं की पूजा होती थी। ब्राह्मण-धर्म का पौराणिक स्वरूप साफ होता जा रहा था और उसमें तान्त्रिक और वाममार्गी तत्त्व घुसते जा रहे थे; किन्तु इस समय भी भारतीय जनता वैदिक धर्म को बिल्कुल नहीं भूल गयी थी। समाज में मीमांसक थे और हवन, यज्ञ, संस्कार, पंच महायज्ञ आदि कर्मकाण्ड भी लोग करते थे। ब्राह्मण-धर्म के समान बौद्ध-धर्म भी हीनयान और महायान दो मुख्य सम्प्रदायों और अठारह उप-सम्प्रदायों में बँटा हुआ था। जिस प्रकार वैदिक धर्म में भक्ति मार्ग और पौराणिक धर्म धीरे-धीरे बढ़ रहा था, उसी तरह बौद्ध-धर्म में भी महायान का रूप निखरता जा रहा था और उसमें मन्त्रयान अथवा वज्रयान घुस रहा था। ऐसा मालूम होता है कि बौद्ध धर्म का धीरे-धीरे ह्रास हो रहा था। हुयेन-संग ने उत्तर भारत में बहुत से स्तूपों और बिहारों को टूटी-फूटी अवस्था में देखा। बौद्ध-धर्म के केन्द्र धीरे-धीरे पूर्व की ओर खिसकते जा रहे थे। जैन-धर्म भी जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, दक्षिण की ओर प्रयाण कर रहा था और उत्तर भारत में उसके मानने वालों की संख्या कम थी। फिर

भी जैन-धर्म अभी सजीव था। चीनी यात्री हुयेन-संग श्वेताम्बर सम्प्रदाय का वर्णन करता है। हर्षचरित में बाण ने क्षपणकों तथा दिवाकरमित्र के आश्रम में जैन भिक्षुओं का वर्णन किया है। दक्षिण भारत में जैन-धर्म को काफी प्रतिष्ठा प्राप्त थी और हुयेन-संग ने काञ्ची में बहुत से जैन मन्दिर देखे थे। यह धर्म भी दिगम्बर और श्वेताम्बर दो सम्प्रदायों के अतिरिक्त कई उप-सम्प्रदायों में बँटा था। मुख्य दोनों सम्प्रदायों में कोई क्रान्तिकारी अन्तर नहीं था। दिगम्बर यह मानते थे कि स्त्रियाँ मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकतीं, क्योंकि उनके जीवन में सम्पूर्ण त्याग सम्भव नहीं। दोनों की पूजा-पद्धति में यह भेद था कि दिगम्बर श्वेताम्बरों की भाँति पूजा में वस्त्र, गन्ध और पुष्प का प्रयोग नहीं करते थे।

(३) विद्या, कला और शिक्षा

सातवीं शती के प्रारम्भ में जब कि हर्ष भारत में शासन कर रहा था, भारतवर्ष अपने ज्ञान, विद्या और कला के लिये अब भी संसार में प्रसिद्ध था। बाहर से बहुत से लोग अपनी ज्ञान की प्यास बुझाने के लिये भारतीय विद्यालयों और महाविहारों में आते थे। ब्राह्मण, आचार्य, उपाध्याय और गुरु प्राचीन प्रथा के अनुसार अपने घरों, गुरुकुलों, आश्रमों और मठों में अनेक विद्याओं की निःशुल्क शिक्षा देते थे। हुयेन-संग ने पश्चिम में गान्धार से लेकर पूर्व में बंगाल और सुदूर दक्षिण तक बहुत से बौद्ध विहारों और संघारामों को देखा जो विद्या और शिक्षा के बहुत बड़े केन्द्र थे। इस काल के पाठ्य-क्रम में प्राचीन साहित्य और शास्त्रों के साथ साथ काव्य, नाटक, आख्या-यिका कथा, दर्शन, धर्म-विज्ञान, गणित, ज्योतिष आदि भी सम्मिलित थे। ऐसा जान पड़ता है कि शुद्ध विज्ञान और आयुर्वेद आदि के अध्ययन पर उस समय ध्यान कम हो गया था। इस काल में कई एक अच्छे लेखक, नाटककार और विद्वान् हुये। हर्ष स्वयं एक सफल लेखक और विद्वानों का आश्रयदाता था। उसके लिखे ग्रन्थों में रत्नावली, प्रियदर्शिका, नागानन्द नामक नाटक प्रसिद्ध हैं। उसकी राजसभा में बाण, मयूर, हरिदत्त, जयसेन, मातङ्ग दिवाकर आदि प्रसिद्ध कवि और लेखक सम्मानित थे। बाण के ग्रन्थों में हर्षचरित और कादम्बरी अमर रचनायें हैं। हर्ष के आसपास के युग में भारवि, कुमारदास, दण्डी, वसुबन्धु, रविकीर्त्ति, भूषण, महेन्द्र वर्मा, कुमारिल, उद्योतकर, वामन, ब्रह्मगुप्त आदि प्रसिद्ध लेखक और विद्वान् उत्पन्न हुये।

इस काल की कला में भी गुप्त-काल की प्रवृत्तियाँ काम कर रही थीं। भवननिर्माण-कला और मूर्तिकला के बहुत सुन्दर नमूने इस काल में मिलते

हैं। मध्यप्रदेश के रायपुर जिले में सिरपुर का लक्ष्मण-मन्दिर और शाहाबाद में भभुआ के पास मुण्डेश्वरी का मन्दिर हर्ष के समय के बने हुये हैं। हिन्दू-बौद्ध और जैन सभी सम्प्रदाय की मूर्त्तियाँ अधिक संख्या में पायी जाती हैं। अजन्ता के कुछ चित्र इसी समय के बने हुये हैं। बाण और हर्ष के ग्रन्थों में संगीत, शिल्प, वस्त्र, श्रृंगार, आभूषण, प्रसाधन आदि के बहुत से उल्लेख पाये जाते हैं।

नालन्दा महाविहार

इस काल के शिक्षा-केन्द्रों में नालन्दा का महाविहार सबसे बड़ा और प्रसिद्ध था। पटना जिले में राजगृह से ८ मील की दूरी पर आजकल के बड़गाँव नामक गाँव के पास यह स्थित था। यहाँ पर ६ विद्यालयों के विशाल ऊँचे भवन बने हुये थे। इस महाविहार के एक भाग में रत्नसागर, रत्नदधि, रत्नरञ्जक नामक पुस्तकालय के तीन भवन बने हुये थे। विद्यार्थियों के भोजन के लिये निःशुल्क भोजनालय चलते थे। पत्थर के बने हुये रास्ते, कुयें, और जल घड़ियाँ विहार में पायी जाती थीं। विहार के चारों ओर ईंट की पक्की दीवार तथा उसमें कई दरवाजे बने हुये थे। महाविहार का खर्च चलाने के लिये दो सौ गाँवों की आमदनी इसमें लगी हुई थी। महाविहार में दस हजार विद्यार्थी और लगभग एक हजार अध्यापक थे। यहाँ के पाठ्य-क्रम में शब्द-विद्या (व्याकरण), हेतु-विद्या (न्याय अथवा तर्क), अध्यात्म, योग, तन्त्र, चिकित्सा, शिल्प, रसायन आदि शामिल थे। महाविहार के मुख्य कर्मचारियों में द्वार-पण्डित (प्रवेश करनेवाले अधिकारी), धर्मकोष (आधुनिक चांसलर), कर्मदान (प्रो-चांसलर), स्थविर (कुलपति, वाइस चांसलर) मुख्य थे। हुयेन-संग ने इस महाविहार में काफी दिनों तक अध्ययन किया, और उसकी काफी प्रशंसा की है।

हर्ष का अन्त

एक लम्बे और सफल शासन के बाद ६४८ ई० में हर्ष का देहान्त हुआ। हर्ष का कोई पुत्र न था, इसलिये कान्यकुब्ज का उत्तराधिकार बड़ा पेचीदा हो गया। ऐसा जान पड़ता है कि अधिक धार्मिक आयोजन और दान की बहुलता के कारण हर्ष का शासन अपने अन्तिम काल में दुर्बल पड़ गया था। उसके मरने के बाद उसके मन्त्री अरुणाश्व अथवा अर्जुन ने कान्यकुब्ज के सिंहासन पर अपना अधिकार जमा लिया। कान्यकुब्ज की प्रजा इस बात को नहीं चाहती थी। अरुणाश्व ने चीनी दूत-मण्डल को बहुत तंग किया।

इस कारण से चीनी दूत-मण्डल के नेता वैङ्ग-हुयेन-से ने नेपाल और तिब्बत की सहायता से अरुणाश्व को कैद करके चीन सम्राट् के पास भेज दिया। लगभग ५० वर्ष तक कान्यकुब्ज का भाग्य अनिश्चय और अन्धकार में था। इसके बाद मौखरिवंश का यशोवर्मन् यहाँ का शासक हुआ। हर्ष के साथ ही भारतीय इतिहास का गौरवमय युग समाप्त हो गया। देश की एकता शताब्दियों के लिये नष्ट हो गयी। विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियाँ जाग उठीं और सारा देश छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया।

१४ अध्याय

पूर्व मध्यकालीन प्रान्तीय राज्य : देश का विभाजन

यह बात पहले लिखी जा चुकी है कि हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद भारतीय इतिहास में बड़े पैमाने पर साम्राज्यवाद का युग समाप्त हो गया। प्राचीन भारत में एक निश्चित राजनीतिक आदर्श था कि सम्पूर्ण देश को अथवा कम से कम इसके बहुत बड़े भाग को एकच्छत्र के नीचे शान्ति और सुव्यवस्था के लिये लाना चाहिये। जिस काल में यह आदर्श पूरा होता था उसमें भारत की सर्वतोमुखी उन्नति होती थी। हर्ष के बाद यह राजनीतिक आदर्श ढीला हो गया। भारत के प्रत्येक प्रान्त में छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना हुई। उनमें सार्वदेशिक होने की शक्ति नहीं थी। स्थानीयता और वंश की उनमें प्रधानता थी। वे अक्सर आपस में लड़ा करते थे। देश की यह सबसे बड़ी दुर्बलता थी और जब इस काल के उत्तरार्द्ध में विदेशियों के आक्रमण हुये तो प्रान्तीय राज्य उनके सामने देश की रक्षा करने में असफल सिद्ध हुये।

१. उत्तर भारत के राज्य

(१) पश्चिमोत्तर

(क) सिन्ध

उत्तर भारत के पश्चिमोत्तर में कई छोटे छोटे राज्य थे। सिन्ध में एक शूद्र-वंश का राज्य था जिसकी राजधानी एलोर थी। हर्ष के बाद चार पीढ़ियों तक इस वंश का शासन रहा। उस वंश का अन्तिम राजा साहसी था। उसके मंत्री चच नामक ब्राह्मण ने शूद्र-वंश का नाश कर राज्य अपने हाथ में कर लिया। उसी चच का पुत्र दाहिर था, जिसके समय में सिन्ध पर अरबों का आक्रमण ७१२ ई० में हुआ और सिन्ध अरबों के हाथ में चला गया।

(ख) पंजाब और काबुल

सिन्ध के ऊपर पंजाब और काबुल में शाही-वंश के राज्य थे। शाही सम्भवतः कुषणों के वंशज थे जो पूर्णतः भारतीय हो गये थे और जो क्षत्रिय वर्ण में गिने जाते थे। इनका उत्तराधिकारी ब्राह्मण शाहीवंश हुआ। इनकी दो राजधानियाँ थीं, एक काबुल और दूसरी पंजाब में भटिण्डा। उस वंश के राजाओं ने अरबों को उत्तर भारत में बढ़ने से रोका। परन्तु जब गजनी के तुर्कों ने पश्चिमोत्तर भारत पर आक्रमण किया, तो ये न ठहर सके। शाही वंश के अन्तिम राजा जयपाल और आनन्दपाल

ने हिन्दू राज्यों का एक संघ भी तुर्कों का सामना करने के लिये बनाया, परन्तु यह संघ स्थायी न बन सका और शाही वंश का अन्त हो गया।

(ग) काश्मीर

पंजाब के उत्तर में **काश्मीर** का राज्य था। अपने भौगोलिक कारणों से यह राज्य भारतवर्ष की प्रमुख राजनीतिक धाराओं से अलग रहा। प्राचीन काल में यहाँ **गोनन्द-वंश** का राज्य था।' सातवीं शती के बाद यहाँ **कर्कोटक** अथवा **नागवंश** की स्थापना हुई। इस वंश में **ललितादित्य मुक्तापीड** (७२४ से ७६० ई०) नाम का बड़ा प्रतापी और विजयी राजा हुआ। इसके दिग्विजयों का वर्णन राजतरंगिणी में दिया हुआ है। वह कन्नौज के राजा यशोवर्मन् का समकालीन था और उसको युद्ध में हराया था। इस वंश के राजा साहित्य और कला के बहुत बड़े आश्रयदाता थे। कर्कोटक वंश के बाद काश्मीर में **उत्पल-वंश** की स्थापना हुई। इस वंश के समय में काश्मीर का अधिकार उत्तरी पंजाब, कांगड़ा आदि के प्रान्तों पर हो गया। ९३९ ई० में उत्पल-वंश का अन्त हुआ। और वहाँ के ब्राह्मणों ने प्रभाकर-देव के पुत्र **यशस्कर** को राजा बनाया। इस समय से काश्मीर की शक्ति क्षीण होती गई। फिर **पर्वगुप्त** नामक मंत्री ने काश्मीर पर अधिकार कर लिया। इसी के वंश में **दिद्दा** नाम की प्रसिद्ध रानी हुई, जिसका लम्बा शासन काल ९५३ से १००० ई० तक अत्याचार और भ्रष्टाचार से पूर्ण था। उसके भतीजे **संग्राम** के समय में महमूद गजनवी ने काश्मीर पर आक्रमण किया, किन्तु विफल होकर उसे वापस लौटना पड़ा। ग्यारहवीं शती के बाद का इतिहास विलासिता, अत्याचार, शोषण आदि का इतिहास है। १३३९ ई० में **शमसुद्दीन** नामक एक नवमुस्लिम ने संग्राम के वंश का अन्त किया और काश्मीर में मुस्लिम राज्य की स्थापना हुई।

(घ) नेपाल

काश्मीर के पूर्व में **नेपाल** का राज्य, उत्तर प्रदेश और बिहार के उत्तर में हिमालय के अञ्चल में लगभग ५०० मील लम्बा फैला था। यद्यपि यहां की प्रजा में किरात रक्त का काफी मिश्रण है, जो नवीं और दशवीं शती के बाद यहाँ आया, नेपाल का भारत के साथ भौगोलिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध बहुत बना रहा है। मौर्य अशोक के समय नेपाल मगध साम्राज्य में सम्मिलित था। गुप्तों और पुष्यभूतियों के समय में भी नेपाल भारतीय साम्राज्य में ही शामिल था। हर्षवर्धन के बाद नेपाल में लिच्छवी वंश की पुनः स्थापना हुई, जो पहले भी नेपाल में शासन कर चुका था।

८७९-८० में नेपाल में एक नये सम्वत् का प्रवर्त्तन हुआ। बारहवीं शती के मध्य में तिरहुत के कर्णाट वंश के राजा नान्यदेव ने नेपाल पर अपना आधिपत्य जमाया। मुस्लिम आक्रमणकारी नेपाल पर अपना आधिपत्य नहीं स्थापित कर सके। १७६८ ई० के लगभग वर्तमान राजवंश की स्थापना नेपाल में हुई।

(२) मध्यदेश

(क) मौखरि-वंश

उत्तर भारत के मध्य में हर्षवर्धन के बाद मौखरि वंश का कान्यकुब्ज में पुनरावर्तन हुआ। यद्यपि सातवीं शताब्दी में इस वंश के इतिहास में कोई बड़ी घटना नहीं हुई किन्तु आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में यशोवर्मन् नाम का इस वंश में एक बड़ा विजयी और प्रतापी राजा हुआ। गौडवहो नामक प्राकृत काव्य से मालूम होता है कि उसने मगध, वंग, मलय, महाराष्ट्र, सुराष्ट्र, मरु, पंजाब और हिमालय प्रदेश के ऊपर दिग्विजय की थी। किन्तु उसकी विजय स्थायी न थी। यशोवर्मन् के समय साहित्य और कला को प्रश्रय मिला। उसकी राजसभा में उत्तर रामचरित, महावीरचरित और मालतीमाधव के लेखक भवभूति तथा गौडवहो के रचयिता वाक्पतिराज आदि महाकवि रहते थे। यशोवर्मन् को काश्मीर के राजा ललितादित्य मुक्तापीड़ ने हराया। इसके बाद मौखरि-वंश का इतिहास अन्धकार में विलीन हो गया।

(ख) आयुध-वंश

यशोवर्मन् के कुछ ही दिनों बाद आयुध-नामान्त तीन राजा—वज्रायुध, इन्द्रायुध और चक्रायुध—हुये। इस समय उत्तर भारत पर आधिपत्य जमाने के लिये अवन्ति के प्रतिहारों, बंगाल के पालों और महाराष्ट्र के राष्ट्रकूटों में युद्ध हुआ। अन्त में ८१६ ई० के लगभग प्रतिहार राजा द्वितीय नागभट्ट ने चक्रायुध को परास्त कर कान्यकुब्ज पर अपना अधिकार जमा लिया। इस समय से लेकर बारहवीं शताब्दी के अन्त तक कान्यकुब्ज अथवा कन्नौज उत्तर भारतवर्ष की प्रमुख राजधानी बना रहा।

(ग) प्रतिहार-वंश

प्रतिहार-वंश का उदय पहले पहल गुर्जरत्रा अथवा दक्षिण-पश्चिम राजपूताना में छठी शती के मध्य में हुआ। धीरे-धीरे इस वंश ने अवन्ति और उत्तरी गुजरात के ऊपर भी अपना अधिकार कर लिया। भारतीय इतिहास में इस वंश की सबसे बड़ी देन यह थी कि इसने अरबों को पूर्व में बढ़ने

से रोका और उनको सिन्ध के भीतर सीमित रखा। अवन्ति से राष्ट्रकूटों और पालों से संघर्ष करते हुए इस वंश ने कान्यकुब्ज पर अपना आधिपत्य जमा लिया। कान्यकुब्ज के प्रतिहार-साम्राज्य का संस्थापक द्वितीय **नागभट्ट** बड़ा विजयी था। आन्ध्र, सिन्धु, विदर्भ और कलिंग आदि प्रान्तों पर उसका आतंक छा गया। उसने आनर्त्त (उत्तरी काठियावाड़), मालवा, मत्स्य (पूर्वोत्तर राजस्थान), किरात (हिमालय प्रदेश) और वत्स (प्रयाग के पास कोशाम्बी) के ऊपर भी विजय प्राप्त की। इसका पुत्र **रामभद्र** दुर्बल राजा था, किन्तु रामभद्र का पुत्र **मिहिर-भोज** आदिवराह भारतीय इतिहास का एक बहुत ही प्रसिद्ध विजेता हुआ। उसका राज्य हिमालय से लेकर नर्मदा तक और सुराष्ट्र से लेकर पश्चिमी बिहार तक फैला हुआ था। उसने राष्ट्रकूटों और अरबों को दबा रखा। मिहिरभोज का पुत्र **महेन्द्रपाल** भी बड़ा ही शक्तिशाली और कवियों और लेखकों का आश्रयदाता था। उसकी राजसभा में प्रसिद्ध कवि, नाटककार और रीतिशास्त्र के लेखक श्री **राजशेखर** रहते थे, जिन्होंने काव्य-मीमांसा, कर्पूर-मञ्जरी, बाल-रामायण और बाल-भारत आदि ग्रन्थों की रचना की थी। महेन्द्रपाल का उत्तराधिकारी **महीपाल** भी सफल और शक्तिशाली शासक था। इसके बाद प्रतिहारों की शक्ति आन्तरिक और बाहरी कारणों से धीरे-धीरे क्षीण होने लगी और दूर-दूर के प्रान्त प्रतिहार-साम्राज्य के बाहर निकल गये। दशवीं शती के अन्त में प्रतिहार राजा **राज्यपाल** कान्यकुब्ज की गद्दी पर बैठा। गजनी के तुर्कों के विरुद्ध शाही राजाओं ने जो संघ बनाया था, उसमें राज्यपाल ने भी भाग लिया था, किन्तु संघ के साथ वह भी पराजित हुआ। १०१८ ई० में महमूद ग़ज़नवी ने पंजाब होते हुये कान्यकुब्ज पर आक्रमण किया। राज्यपाल निर्बल, आत्म-विश्वासहीन और असावधान शासक था। डरकर उसने महमूद की अधीनता स्वीकार कर ली। इससे अप्रसन्न होकर जेजाक-भुक्ति के चन्देल राजा गण्ड ने कन्नौज पर चढ़ाई की और उसके युवराज विद्याधर ने राज्यपाल को मारकर उसके पुत्र त्रिलोचन पाल को राजगद्दी पर बैठाया। यह समाचार पाकर महमूद गजनी ने दुबारा कन्नौज पर चढ़ाई की। त्रिलोचनपाल जान लेकर भागा और १०२७ ई० तक जीता रहा। इस वंश का अन्तिम राजा यशस्पाल १०३६ ई० तक वर्तमान था। इसके बाद प्रतिहारों के सम्बन्ध में विशेष कुछ मालूम नहीं।

(घ) गहडवाल-वंश

प्रतिहार-वंश का अन्त होने के बाद लगभग एक शती तक उत्तर भारतवर्ष में अराजकता बनी रही। इसी समय उत्तरप्रदेश के मिरजापुर जिले

में कान्तित के आसपास **गहडवाल** वंश का उदय हुआ। गहडवाल लोग प्राचीन चन्द्रवंशियों की सन्तान थे। इनकी पहली राजधानी वाराणसी थी। इस वंश के राजा **चन्द्रदेव** ने पश्चिम की ओर अपने राज्य का विस्तार करते हुये १०५० ई० में कन्नौज पर अधिकार कर लिया और तुर्कों के विरुद्ध काशी, कोशल, कान्यकुब्ज और इन्द्रप्रस्थ की रक्षा की। चन्द्रदेव के पुत्र **मदनपाल** का शासन-काल दुर्बल था। परन्तु उसका पुत्र **गोविन्दचन्द्र** बड़ा वीर और प्रतापी हुआ। उसकी रानी कुमारदेवी के सारनाथ में मिले हुये उत्कीर्ण लेख से मालूम होता है कि उसने अपने राज्य का विस्तार काफी किया। उसने भी उत्तर भारत की रक्षा तुर्कों के विरुद्ध की और उनको पश्चिमी पंजाब में घेर रखा। गोविन्दचन्द्र दानी, स्वयं विद्वान् और कवियों तथा लेखकों का आदर करने वाला था। उसका पुत्र **विजयचन्द्र** भी वीर और यशस्वी हुआ। **विजयचन्द्र** का पुत्र **जयचन्द्र** ११७० ई० में गद्दी पर बैठा। वह बड़ा विजयी, वैष्णव धर्म का मानने वाला और दानी था। उसके पास एक बहुत बड़ी सेना थी, जिसके सहारे दिग्विजय करके उसने राजसूय यज्ञ भी किया। जयचन्द्र भी कवियों और विद्वानों का आश्रयदाता था। उसकी राजसभा में श्रीहर्ष नामक महाकवि रहता था, जिसने नैषध-चरित और खण्डन-खण्ड-काव्य आदि प्रसिद्ध ग्रंथों को रचा। दुर्भाग्य से जब कि तुर्क पश्चिमोत्तर भारत पर आक्रमण कर रहे थे, गहडवालों और अजमेर के चौहानों में शत्रुता हो गयी। ११९३ में जब शहाबुद्दीन गोरी ने चौहानों पर आक्रमण किया, तब जयचन्द्र ने देश के साथ घात करके तुर्कों का साथ दिया। तुर्क इसके लिये कृतज्ञ न हुये। ११९४ में शहाबुद्दीन गोरी ने कन्नौज पर आक्रमण किया। जयचन्द्र युद्ध में हारा और तुर्कों ने कन्नौज और वाराणसी को लूटा और ध्वस्त किया। इसके बाद गहडवाल-वंश टिमटिमाता सा रहा, किन्तु १२२५ ई० में इल्तुतमिश ने फिर आक्रमण कर गहडवाल-वंश का अन्त कर दिया।

(ङ) चाहमान-वंश

हर्ष के साम्राज्य के विनाश पर राजस्थान में **शाकम्भरी** के आसपास **चाहमान (चौहान)** वंश का उदय हुआ। यह वंश सूर्यवंशी था जो आगे चलकर अग्निकुलीय भी कहलाया। चौहानों ने राजस्थान के अधिकांश, पूर्वी पंजाब और दिल्ली के आसपास के ऊपर अपना राज्य स्थापित कर लिया। ११५३ से ११६४ तक इस वंश का वीर और यशस्वी राजा **विग्रहराज (वीसलदेव)** हुआ, जिसने दिल्ली से आगे बढ़कर हिमालय की तलहटी तक अपना राज्य बढ़ाया। यह कवि और लेखक भी था। इसने हरकेलि-नाटक

और उसके राजकवि सोमदेव ने ललित-विग्रहराज नामक नाटक की रचना की जिनके अंश आज भी अजमेर में 'ढाई दिन का झोंपड़ा' नामक मसजिद में लगे हुये पत्थरों पर अंकित हैं। इस वंश का अन्तिम राजा और भारत का अन्तिम महान् हिन्दू राजा **पृथ्वीराज चौहान** था। वह बड़ा वीर तथा विजेता था। उसके सम्बन्ध में वीरता और प्रेम की बहुत सी रोमांचकारी कहानियाँ प्रचलित हैं। उसके राजकवि **चन्दवरदायी** ने **पृथ्वीराज-रासो** नामक अपभ्रंश महाकाव्य और **जयानक** ने **पृथ्वीराज-विजय** नामक संस्कृत काव्य की रचना की। ११९१ ई० में शहाबुद्दीन गोरी ने चौहानों के साम्राज्य पर चढ़ाई की। तुर्क और भारतीय सेनायें तलावड़ी के मैदान में एक दूसरे से मिलीं। शाही राजाओं की तरह पृथ्वीराज ने भी हिन्दू राजाओं का एक **विशाल संघ** बनाया और तुर्कों को इस लड़ाई में हरा दिया। परन्तु अपनी लड़ाइयों और राक्षस-विवाहों से पृथ्वीराज ने बहुत से राज्यों को विशेषकर कान्यकुब्ज के गहडवालों को अपना शत्रु बना लिया। तुर्कों ने इस परिस्थिति से लाभ उठाया। ११९२ ई० में शहाबुद्दीन गोरी ने फिर पृथ्वीराज पर आक्रमण किया। इस बार का हिन्दू-संघ दुर्बल था। पृथ्वीराज युद्ध में हारा और मारा गया। तुर्कों ने अजमेर और दिल्ली पर अपना आधिपत्य जमा लिया। कुछ दिनों तक तुर्कों के अधीन पृथ्वीराज के पुत्र **गोविन्दराज** ने अजमेर में शासन किया। परन्तु पृथ्वीराज के भाई **हरिराज** ने उसको हटाकर चौहानों की स्वतन्त्रता की घोषणा की। इसका समाचार पाकर शहाबुद्दीन के सेनापति कुतुबुद्दीन ने अजमेर पर चढ़ाई की और चौहानों की सत्ता नष्ट कर दी।

पृथ्वीराज चौहान

(च) चन्देल-वंश

गहडवालों के राज्य के दक्षिण में जहाँ आजकल बुन्देलखण्ड है, वहीं पर नवीं शती के शुरू में **चन्द्रवंशी चन्देलों** की शक्ति का उदय हुआ। पहले चन्देल राजा कान्यकुब्ज के प्रतिहारों के अधीन थे। परन्तु धीरे-धीरे

वे स्वतन्त्र हो गये। चन्देलों की राजधानी खर्जूरवाह (खजुराहो) थी। यहाँ के राजा **यशोवर्मन्** ने चेदि, मालवा, महाकोशल आदि प्रदेशों पर आक्रमण करके अपने राज्य का विस्तार किया। यशोवर्मन् का पुत्र **धंग** (९५०-१००२) बड़ा विजयी और प्रतापी था। उसने ग्वालियर और बनारस के आस-पास के प्रदेशों को अपने राज्य में मिला लिया। जब पंजाब के शाही राजाओं ने तुर्कों के विरुद्ध हिन्दू राजाओं का संघ बनाया तो उसमें धंग भी सम्मिलित था। धंग का पुत्र **गंड** भी शक्तिशाली राजा हुआ। १००८ ई० में उसने महमूद गजनी के अधीन जयपाल प्रतिहार पर आक्रमण कर उसको मरवा डाला। इसका फल यह हुआ कि महमूद ने चन्देलों पर भी आक्रमण किया, परन्तु उनको जीतने में असफल होकर वापस चला गया। इसके बाद चन्देलों में **कीर्तिवर्मा** नाम का यशस्वी और विजयी राजा हुआ जो विद्या और कला का आश्रयदाता भी था। उसके सभा-पण्डित कृष्णमित्र ने प्रबोधचन्द्रोदय नामक नाटक लिखा। १२०३ ई० में गहड़वालों की शक्ति के ध्वस्त हो जाने के बाद जब कुतुबुद्दीन ऐबक ने चन्देलों के गढ़ कालञ्जर पर आक्रमण किया तब चन्देल राजा **परमर्दि** ने उसका विरोध किया, परन्तु युद्ध में हार गया। इसके अनन्तर चन्देलों का छोटा-सा राज्य दक्षिणी बुन्देलखण्ड में अकबर के समय तक बचा रहा।

(छ) कलचुरि-वंश

बुन्देलखण्ड के दक्षिण में जबलपुर के आसपास **कलचुरि** अथवा **चेदि-वंश** का राज्य था, जिनकी राजधानी त्रिपुरी थी। इस वंश में **कोकल्ल देव** नवमी शती के अन्त में राजा हुआ जिसने अपनी विजयों और वैवाहिक सम्बन्धों से अपने राज्य का विस्तार किया। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा **गाङ्गेयदेव** था, जिसने दक्षिण-पश्चिम में कर्नाटक से लेकर उत्तर-पूर्व में तिरहुत तक दिग्विजय की और इसके उपलक्ष्य में **विक्रमादित्य** की उपाधि धारण की। इसके बाद परमारों, चन्देलों और **चालुक्यों** के दबावों से कलचुरियों की शक्ति क्षीण होती गई और बारहवीं शती में इस वंश का अन्त हो गया।

(ज) परमार-वंश

जब प्रतिहारों का आधिपत्य **मालवा** में समाप्त हो गया तब दशवीं शती के शुरू में वहाँ **परमारों** की शक्ति का उदय हुआ। आबू पर्वत के आसपास के प्रदेशों में जिन चार क्षत्रिय राजवंशों ने तुर्कों से अपने देश और धर्म की रक्षा करने की अग्नि के सम्मुख शपथ ली थी, उनमें एक परमार-वंश

भी था। परमारों की शक्ति और राज्य को बढ़ानेवाला इस वंश में वाक्पति मुञ्ज नाम का राजा हुआ। उसने चेदि, लाट (गुजरात) कर्नाटक, चोल, केरल आदि राज्यों पर आक्रमण किया और राष्ट्रकूट राजाओं के समान श्री-वल्लभ और अमोघवर्ष की उपाधियाँ धारण कीं। मेरुतुङ्ग के प्रसिद्ध काव्य प्रवन्ध-चिन्तामणि के अनुसार उसने कल्याणी के चालुक्यों को कई बार हराया। परन्तु अन्तिम वार उन्हीं के साथ युद्ध करते समय वन्दी हुआ और भागने का प्रयत्न करता हुआ मारा गया। मुञ्ज विजेता होने के अतिरिक्त स्वयं वड़ा विद्वान् और विद्वानों का आश्रयदाता था। मुञ्ज के वाद उसका छोटा भाई सिन्धुराज गद्दी पर वैठा, जिसका युद्ध राजस्थान के हूण राज्य, दक्षिण कोसल, लाट और दूसरे पड़ोसी राज्यों से चलता रहा। सिन्धुराज का पुत्र भोज (१०१८–१०६०) परमार-वंश का लोक-प्रसिद्ध राजा हुआ। गद्दी पर वैठते ही अपने चाचा मुञ्ज की मृत्यु का वदला लेने के लिये उसने कल्याणी के चालुक्यों को हराया। इसके पश्चात् चेदि के राजा गाङ्गेय देव को हराकर कान्यकुब्ज, वाराणसी और पश्चिमी विहार तक उसने विजय प्राप्त की। जव तुर्कों का आक्रमण सुराष्ट्र और गुजरात पर हो रहा था, तव भोज ने भारतीय शक्तियों की सहायता की और तुर्कों को वहाँ से भगाया। परन्तु उस समय की प्रथा के अनुसार भोज ने अपने युद्धों से पड़ोसी राजाओं को अपना शत्रु वना लिया। इसका फल यह हुआ कि गुजरात के चालुक्यों और चेदियों ने मिलकर भोज की राजधानी धारा पर अकस्मात् आक्रमण किया और भोज इस युद्ध में मारा गया। भोज भारतीय इतिहास और साहित्य में वहुत ही प्रसिद्ध है। उसकी शासन व्यवस्था, उसका आदर्श न्याय, उसका पाण्डित्य और विद्या और कला को उसका प्रोत्साहन देना सभी भारतीय साहित्य में वर्णित हैं। भोज की उपाधि कविराज थी। उसने साहित्य, व्याकरण, धर्म, दर्शन, गणित, वैद्यक, वास्तुकला, कोश, नाट्यशास्त्र, रीतिशास्त्र आदि सभी विषयों पर ग्रन्थ लिखे हैं। उसने वहुत से भवनों, राजप्रासादों और विद्यालयों का निर्माण कराया। उसका वनवाया हुआ भोज-सागर तालाव शतियों तक, मालवा की सिंचाई और सौन्दर्य का साधन वना रहा, जिसको पन्द्रहवीं शती में मांडू के शाह हुसेन ने मूर्खता से तुड़वाकर सुखा डाला। भोज के वाद परमारों की शक्ति क्षीण होने लगी। १३०५ ई० में अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति एनुलमुल्क ने परमारों के राज्य का अन्त कर दिया।

(झ) चालुक्य-सोलंकी

परमारों के राज्य के पश्चिम-दक्षिण में गुजरात के चालुक्य अथवा

सोलंकी वंश का राज्य था। इस वंश का पहला प्रसिद्ध राजा मूलराज था, जिसने अपने मामा चापोटक-वंशी राजा को लगभग ९४१ ई० में मारकर गुजरात को अपने अधीन कर लिया। उसका युद्ध राजस्थान के चौहानों और परमारों से होता रहा। मूलराज शैव धर्म का मानने वाला था। उसने बहुत से मन्दिरों का निर्माण कराया और विद्वानों को वृत्तियाँ दीं। इस वंश का दूसरा प्रसिद्ध राजा प्रथम भीम हुआ जिसके समय में महमूद गजनी ने सुराष्ट्र पर आक्रमण किया। भीम अपने राज्य की रक्षा करने में असमर्थ रहा, किन्तु महमूद के लौट जाने पर उसने अपनी शक्ति का पुनरुद्धार कर लिया। इस वंश में आगे चलकर कर्ण, जयसिंह और कुमारपाल आदि प्रसिद्ध राजा हुये। कुमारपाल (११४४–११७८) बड़ा महत्त्वाकांक्षी और विजयी था। वह विद्या और कला का भी आश्रयदाता था। उसकी राजसभा में प्रसिद्ध जैन विद्वान् हेमचन्द्रसूरि रहते थे, जिन्होंने धर्म, दर्शन, व्याकरण आदि विषयों पर अनेक ग्रन्थों की रचना की। उसने सोमनाथ के मन्दिर का जीर्णोद्धार भी कराया। उत्कीर्ण लेखों में वह शैव कहा गया है यद्यपि जैन लेखकों ने उसको जैन करके लिखा है। इसमें सन्देह नहीं कि उसके ऊपर जैनधर्म का गहरा प्रभाव था और उसने अपने राज्य में जीव-हिंसा करना निषिद्ध कर दिया था। कुमारपाल के बाद गुजरात के चालुक्यों का ह्रास फिर से प्रारम्भ हो गया। तेरहवीं शती के अन्त में अलाउद्दीन खिलजी के सेनानायक उलुग खां ने गुजरात पर आक्रमण कर चालुक्य वंश का अन्त कर दिया।

(३) पूर्वोत्तर

(क) बंगाल

भारतवर्ष के पूर्वोत्तर में पूर्व मध्यकाल में कई प्रान्तीय राज्य थे। बंगाल में आठवीं शती के प्रारम्भ में गोपाल नामक एक सफल सेनानी ने पालवंश की स्थापना की। उसका पुत्र धर्मपाल बड़ा विजयी और धार्मिक था। उसने मालवा के प्रतिहारों और महाराष्ट्र के राष्ट्रकूटों के विरुद्ध उत्तर-भारत में अपना आधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न किया और कान्यकुब्ज के राजा चक्रायुध को अपना आश्रित बनाकर रखा। वह बौद्धधर्म का माननेवाला था और उसने बंगाल और विहार में बहुत से चैत्यों और विहारों की स्थापना की। भागलपुर जिले में गंगा के किनारे विक्रमशिला नामक महाविहार का निर्माण उसीने कराया था। धर्मपाल के बाद देवपाल राजा हुआ। उसने प्रतिहारों की बढ़ती हुई शक्ति को पूर्व में बढ़ने से रोका। वह बड़ा विजयी था और उसने ब्रह्मा, सुमात्रा, जावा आदि पूर्वी देशों से अपना राजनीतिक

सम्बन्ध भी बनाये रखा। वह धर्मपाल के समान बौद्धधर्म का समर्थक था। उसने विद्या और कला को बड़ा प्रोत्साहन दिया। देवपाल का पुत्र नारायण-पाल शैव धर्म का अनुयायी था। बीच में प्रतिहारों के आक्रमण और किरात जाति के कम्बोजों के उपद्रव से पालों की शक्ति बंगाल में कमजोर होने लगी। पाल-वंश के अन्तिम राजाओं में रामपाल सबसे अधिक शक्तिशाली और प्रसिद्ध हुआ। इसके सभा-कवि सन्ध्याकर नन्दी ने अपने रामचरित नामक ग्रन्थ में इसका इतिहास लिखा है। इसने पालों की शक्ति को पुनरुज्जीवित किया, परन्तु पाल शक्ति स्थायी न हो सकी। पूर्व से सेनों और पश्चिम से गहडवालों के आक्रमणों से पालवंश दबता ही गया। तेरहवीं शती के अन्त में तुर्कों के आक्रमण से इस वंश का विनाश हुआ।

सेन-वंश

बंगाल के पूर्व में ग्यारहवीं शती के अन्त में कर्णाटदेशीय सेन-वंश की स्थापना हुई। इस वंश की स्थापना करनेवाला सामन्तदेव अथवा सामन्तसेन था। सामन्तसेन और उसका पुत्र हेमन्तसेन दोनों ही माण्ड-लिक राजा थे। हेमन्तसेन का पुत्र विजयसेन शक्तिशाली राजा हुआ, और उसने पालों को दबा कर बंगाल के बहुत बड़े भाग पर अपना अधिकार कर लिया। उसकी राजधानी पूर्वी बंगाल में विक्रमपुर थी। विजयसेन का पुत्र वल्लालसेन दूसरा प्रसिद्ध राजा हुआ। उसका शासन-काल ब्राह्मण-धर्म के प्रचार, जाति व्यवस्था के सुधार, ऊँची जातियों में कुलीनता और शैव सम्प्र-दाय के प्रचार के लिये प्रसिद्ध है। वल्लालसेन स्वयं विद्वान् था और उसने दानसागर और अद्भुतसागर नामक ग्रन्थों की रचना की थी। वल्लालसेन के पश्चात् उसका पुत्र लक्ष्मणसेन इस वंश का राजा हुआ। उसने अपने राज्य-काल के प्रारम्भ में आसाम और कलिंग पर आक्रमण किया और इसके उप-लक्ष्य में प्रयाग और काशी में जयस्तम्भों की स्थापना की। उसने विक्रमपुर के स्थान में लक्ष्मणावती (गौड़) को अपनी राजधानी बनाया। अपने पिता के समान वह भी विद्वान् था और कवियों और लेखकों का आदर करता था। उसकी राजसभा में गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव और पवन-दूत के लेखक धोयिक नामक कवि रहते थे। लक्ष्मणसेन के बाद सेन-वंश का ह्रास शीघ्रता से होने लगा। ११९९ ई० में कुतुबुद्दीन के सेनानायक मुहम्मद बिन बख्त्यार ने बंगाल पर आक्रमण किया और माधवसेन को हराकर बंगाल पर अपना अधिकार जमा लिया।

(ख) उड़ीसा

बंगाल के दक्षिण-पश्चिम में उड़ीसा और कलिंग के छोटे-छोटे राज्य थे। आठवीं शती के शुरू में कलिंग में **गंग-वंश** की स्थापना हुई, जिसकी राजधानी कलिंगपटम थी। इस वंश का संघर्ष आसाम, बंगाल और पूर्वी चालुक्यों से होता रहा। बंगाल के राजा विजयसेन के साथ गंग-वंशीय राजाओं का मित्रता का सम्बन्ध था। स्थानीय परम्परा के अनुसार गंग-वंशी राजा अवन्ति वर्मन् ने पुरी के प्रसिद्ध विष्णु मन्दिर का निर्माण कराया था। कलिंग के ऊपर तेरहवीं शती में तुर्कों के आक्रमण शुरू हो गये। परन्तु इसका पतन सोलहवीं शती में हुआ।

लगभग आठवीं शती के प्रारम्भ में ही उड़ीसा में **केसरी-वंश** की स्थापना हुई। इसकी राजधानी भुवनेश्वर थी। इस वंश के राजाओं का भी आसाम और बंगाल के साथ युद्ध होता रहा। धर्म और कला के क्षेत्र में इस वंश की काफी अच्छी देन है। इस वंश के राजाओं ने भुवनेश्वर में बहुत अच्छे मन्दिरों का निर्माण कराया जो अपनी कला और सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध हैं। प्रसिद्ध राजा **लिंगराज** ने ग्यारहवीं शती में एक विशाल मन्दिर बनवाया जो आज भी उसके नाम से प्रसिद्ध है। तेरहवीं शती में उड़ीसा, तुर्कों के अधिकार में चला गया।

(ग) आसाम

बंगाल के पूर्वोत्तर में प्राचीन कामरूप (आसाम) का राज्य था, जिसकी राजधानी गौहाटी के पास प्राग्ज्योतिषपुर थी। यहाँ का राजा **भास्करवर्मन्** हर्ष का समकालीन था। उसके बाद **शालस्तम्भ** नामक व्यक्ति ने एक नये राजवंश की स्थापना की जो नवीं शती तक चलता रहा। पड़ोसी बंगाल के पाल राजाओं से कामरूप का संघर्ष चलता रहा। बारहवीं शती के बीच में **कुमारपाल** ने अपने मन्त्री **वैद्यदेव** को आसाम का मन्त्री बनाया। बंगाल में तुर्कों की शक्ति स्थापित होने के बाद भी आसाम स्वतन्त्र बना रहा और तुर्कों को कई बार मुँह की खानी पड़ी। तेरहवीं शती के प्रारम्भ में **अहोम** नामक शानवंशी जाति का आधिपत्य आसाम में स्थापित हुआ, जो उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ तक बना रहा। अहोम जाति के नाम पर ही इस प्रान्त का नाम आसाम पड़ा।

२. दक्षिण भारत

जिस प्रकार उत्तर भारत में गुप्त और पुष्यभूति-साम्राज्य के पतन के बाद छोटे-छोटे प्रान्तीय राज्यों की स्थापना हुई उसी तरह दक्षिण भारत में भी

आन्ध्रों और वाकाटकों के साम्राज्य के अन्त होने पर छोटे-छोटे राज्य उत्पन्न हो गये। इनमें से कई एक शक्तिशाली राज्य थे, परन्तु वे भी स्थायी रूप से सम्पूर्ण दक्षिण को एक राजनीतिक सूत्र में न बाँध सके।

(१) वातापी के चालुक्य

महाराष्ट्र के दक्षिण और **कर्नाटक** में पाँचवीं शती के अन्त में **चालुक्य-वंश** की स्थापना हुई थी। चालुक्य उत्तर भारत के सूर्यवंशी साहसी क्षत्रिय थे, जो धीरे धीरे राजस्थान, मालवा और गुजराज होते हुए कर्नाटक पहुँचे थे। इस वंश का पहला राजा **जयसिंह** था, जिसने अपने पड़ोसी राष्ट्रकूटों और कदम्बों को दबाकर एक छोटे राज्य की स्थापना की। उसके बाद रणराग, प्रथम पुल-केशिन् और **कीर्ति-वर्मा** तथा कीर्त्तिवर्मा का भाई **मंगलेश** आदि कई राजा हुए जिन्होंने दक्षिण के बहुत बड़े भाग पर चालुक्यों की सत्ता फैलायी। प्रथम पुलकेशिन् ने वातापी को अपनी राजधानी बनाया। इस वंश का सबसे शक्तिमान और प्रतापी राजा द्वितीय पुलकेशिन् था। उसने ६०८ ई० में सिंहासन पर बैठकर पृथ्वीवल्लभ-सत्याश्रय की उपाधि धारण की। उसने लगातार अपने पड़ोसी राज्यों से युद्ध करके सम्पूर्ण दक्षिण के ऊपर अपना आधिपत्य जमा लिया। इसी समय उत्तर भारतवर्ष में **हर्षवर्धन** भी अपने साम्राज्य की स्थापना कर रहा था। इन दोनों महत्त्वाकांक्षी विजेताओं में संघर्ष होना स्वाभाविक था। दोनों की सेनायें नर्मदा के किनारे एक दूसरे से भिड़ीं। अन्त में विवश होकर हर्षवर्धन को हताश वापस जाना पड़ा। इसके बाद पुलकेशिन् ने **परमेश्वर** और **दक्षिणापथेश्वर** की उपाधियाँ धारण कीं। पुलकेशिन् का दौत्य-सम्बन्ध फारस आदि एशिया के पश्चिमी देशों से भी था। चीनी यात्री ह्वेन-संग पुलकेशिन् की राजसभा में गया था, जो पुलकेशिन् के प्रति प्रजाभक्ति और महाराष्ट्रियों के सीधे, स्वाभिमानी और कठोर स्वभाव का उल्लेख करता है। चालुक्य-वंश के प्रारम्भिक राजा वैदिक धर्म के माननेवाले थे। परन्तु पुलकेशिन् के ऊपर जैनधर्म का प्रभाव पड़ा था। वह विद्या और कला का आश्रयदाता था। उसकी राजसभा में प्रसिद्ध लेखक और कवि **रविकीर्ति** रहता था। उसके समय के बहुत से मन्दिर, चैत्य और चित्रकला के नमूने पाये जाते हैं। पुलकेशिन् के बाद इस वंश में कई राजा हुये, जिनके समय में चालुक्यों का राज्य दुर्बल होता गया।

(२) राष्ट्रकूट

वातापी के चालुक्य-साम्राज्य के स्थान पर दक्षिण में **राष्ट्रकूटों** के राज्य की स्थापना आठवीं शती के मध्य में हुई। इस राज्य का संस्थापक

दन्तिदुर्ग था। उसने चालुक्य राजा द्वितीय कीर्त्तिवर्मा से वातापी नगरी छीन ली और दक्षिण के कई राजाओं को हराकर बहुत बड़े भूभाग पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। उसके बाद उसका काका **प्रथम कृष्ण** राजा हुआ, जिसने चालुक्यों की बची हुई शक्ति को और सुदूर दक्षिण के कई राजाओं को हराया। उसने प्रसिद्ध ऐलोरा के प्रसिद्ध कैलास मन्दिर का निर्माण कराया, जो भारतीय स्थापत्य का एक अद्भुत उदाहरण है। कृष्ण के बाद **गोविन्द** और उसके बाद **ध्रुव धारावर्ष** राजा हुआ। ध्रुव बहुत बड़ा विजेता था। उसने काञ्ची के पल्लवों को हराया और इसके बाद उत्तर भारत को जीतने की योजना बनायी। मालवा के प्रतिहारों को हराती हुई इसकी सेना उत्तर में हिमालय तक पहुँच गयी। यद्यपि ध्रुव उत्तर भारत में अपना स्थायी राज्य नहीं स्थापित कर सका, फिर भी राष्ट्रकूटों का आतंक सारे भारतवर्ष पर छा गया। ध्रुव के बाद **तृतीय गोविन्द** और उसके बाद **प्रथम अमोघवर्ष** ८१४ ई० के लगभग सिंहासन पर बैठा। वह भी बड़ा विजेता था। उसने **मयूरखण्ड** को छोड़कर **मान्यखेट** (दक्षिण हैदराबाद में) को अपनी राजधानी बनाया। वह बड़ा दानी और जैनधर्म का अनुयायी था। आचार्य **जिनसेन** उसके गुरु थे। अरब यात्री सुलेमान ने संसार के चार बड़े[1] राजाओं में अमोघवर्ष की गणना की थी। अमोघवर्ष के पश्चात् कई एक राजा इस वंश में हुये, जिनमें **तृतीय इन्द्र** सबसे प्रसिद्ध था। उसने उत्तर के प्रतिहार साम्राज्य और सुदूर दक्षिण के कई राज्यों पर आक्रमण किया और ९४८ ई० में चोलों के साथ युद्ध करता हुआ मारा गया। वह शैव धर्म का माननेवाला था। उसके बाद राष्ट्रकूटों की शक्ति क्षीण होती गयी और दशवीं शती के अन्तिम पाद में उसका अन्त हो गया। **राष्ट्रकूटों की विदेशी नीति** उल्लेखनीय है। वह अपने पड़ोसी राज्यों से लगातार लड़ते रहे। उत्तर भारत के गुर्जरप्रतिहारों से उनकी विशेष शत्रुता थी और उनपर दबाव डालने के लिये उन्होंने सिन्ध के अरबों से मित्रता का सम्बन्ध बनाये रखा, जो राष्ट्रीय दृष्टि से घातक था। राष्ट्रकूटों ने अपने राज्य में अरबों को व्यापार करने, मसजिद बनाने और अपना कानून व्यवहार में लाने की स्वतन्त्रता दी थी। इसका मुसलमानों ने अनुचित लाभ उठाया। विदेशी नीति में राष्ट्रकूटों की अदूरदर्शिता स्पष्ट है।

(३) कल्याणी के चालुक्य

राष्ट्रकूटों के पतन के बाद फिर चालुक्य-शक्ति का पुनरुद्धार हुआ और

१. बगदाद का खलीफा, चीन का सम्राट और बल्हार (वल्लभराय राष्ट्रकूट)

दशवीं शती के अन्त में द्वितीय तैलप ने कल्याणी (हैदराबाद) में अपने राज्य की स्थापना की। गुजरात को छोड़कर लगभग सारे प्राचीन चालुक्य राज के ऊपर उसका आधिपत्य स्थापित हो गया। मालवा के परमारों से उसके कई युद्ध हुये, अन्तिम युद्ध में उसने मालवा के राजा मुञ्ज को बंदी बनाया और भागने का प्रयत्न करते समय उसको मरवा डाला। चालुक्यों का सुदूर दक्षिण और उत्तर भारत के और राज्यों से युद्ध होता रहा। इस वंश में सत्याश्रय, पंचम विक्रमादित्य, द्वितीय जयसिंह, जगदेवमल्ल, सोमेश्वर, आहवमल्ल, सोमेश्वर भुवनैकमल्ल तथा छठवाँ विक्रमादित्य, विक्रमांक त्रिभुवन मल्ल आदि कई राजा हुये। विक्रमादित्य १०७६ ई० में सिंहासन पर बैठा और चालुक्य विक्रम सम्वत् का प्रवर्त्तन किया। वह विद्या और कला को प्रोत्साहन देता था। उसकी राजसभा में विक्रमांक देव चरित का लिखने वाला काश्मीरी पण्डित विल्हण और याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका, मिताक्षरा के लेखक विज्ञानेश्वर रहते थे। उसके शासन काल में बहुत से भवनों और देवालयों का निर्माण भी हुआ। विक्रमादित्य के बाद चालुक्यों का फिर पतन प्रारम्भ हुआ और बारहवीं शती के अन्त में देवगिरि के यादवों ने उसको समाप्त कर दिया।

(४) यादव

चालुक्यों और राष्ट्रकूटों का राजनीतिक उत्तराधिकार देवगिरि के यादवों ने ग्रहण किया। यादव शक्ति की स्थापना करनेवाला चतुर्थ भिल्लम था। उसने चालुक्यों की शक्ति का नाश करके देवगिरि को अपनी राजधानी बनाया और महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। कृष्णा के दक्षिण में उसे सफलता नहीं मिली और वह होयसाल राजा प्रथम वीर बल्लाल के साथ युद्ध करता हुआ मारा गया। भिल्लम के पुत्र जैत्रपाल ने पूर्व में तैलंगाना के ऊपर यादवों की सत्ता स्थापित की। जैत्रपाल का पुत्र सिंहन (१२१०-१२४७) इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा हुआ। उसने शिलाहारों को हराया, होयसाल राज्य के उत्तरी भाग को अपने राज्य में मिलाया और उत्तर भारत के परमारों, चेदियों और गुजरात के बघेलों को कई बार परास्त किया। वह विद्या और कला का भी प्रेमी था। सिंहन का बेटा कृष्ण भी अपने पिता के समान विद्या और कला का प्रेमी और प्रसिद्ध विजेता था। कृष्ण का भाई महादेव उसके बाद गद्दी पर बैठा। उसने शिलाहारों से कोंकण छीन लिया और काकतीय रानी रुद्राम्बा को अपनी सेना भेजकर भयभीत किया। उसकी राजसभा में चतुर्वर्ग-चिन्तामणि के रचयिता हेमाद्रि, गीता के

प्रसिद्ध टीकाकार मराठी संत ज्ञानेश्वर और मुग्धबोध-व्याकरण के लिखने वाले वोपदेव रहते थे। महादेव ने मन्दिर-निर्माण की एक नयी शैली का प्रवर्तन और मोडी-लिपि का सुधार किया। इस वंश के राजा रामचन्द्र के समय (१२९४ ई०) में सबसे पहले दक्षिण भारत पर तुर्कों का आक्रमण हुआ। अलाउद्दीन खिलजी ने अपने चाचा जलालुद्दीन खिलजी के क्रोध से बचने का बहाना लेकर देवगिरि में शरण ली और उदार, निश्चिन्त और असावधान रामचन्द्र पर उसके दुर्ग के भीतर ही अकस्मात् आक्रमण कर दिया। उस समय यादव सेना रामचन्द्र के पुत्र शंकरदेव के साथ दक्षिण गयी हुई थी। रामचन्द्र को विवश होकर अलाउद्दीन से सन्धि करनी पड़ी और बहुत बड़ा उपहार उसको देना पड़ा। इसके बाद यादवों की शक्ति क्षीण पड़ने लगी। चौदहवीं शती के मध्य में तुर्कों ने यादव-शक्ति को पूरी तरह नष्ट कर दिया।

(५) होयसाल

यादवों के दक्षिण में उन्हीं की एक शाखा होयसाल-वंशने द्वारसमुद्रमें एक नये राज्य की स्थापना की। पहले यह वंश कांची के चोलों और कल्याणी के चालुक्यों के अधीन था। इस वंश के राजा विष्णुवर्धन ने अपनी शक्ति और सीमा का विस्तार किया और अपनी पुरानी राजधानी बेलापुर (बेलूर) को छोड़कर द्वारसमुद्र (हलेबिड) को अपनी राजधानी बनायी। विष्णुवर्धन पहले जैन-धर्म का मानने वाला था, पीछे अपने मंत्री और आचार्य रामानुज के प्रभाव से वैष्णव धर्मका अनुयायी हो गया। उसने कई सुन्दर राजभवनों और देवालयों का निर्माण कराया। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध और शक्तिमान राजा प्रथम वीरबल्लाल (११७२-१२१५) हुआ, जिसने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। उसने चालुक्यों और देवगिरि के यादवों से युद्ध करके अपनी शक्ति को बढ़ाया। उसके पीछे होयसालों की शक्ति पड़ोसी राज्यों के संघर्ष के कारण धीरे धीरे क्षीण होने लगी। १३२० ई० में अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति मलिक काफूर ने द्वारसमुद्र पर चढ़ाई की। इसके बाद कुछ समय तक होयसाल वंश स्थानीय सामन्तों के रूप में बना रहा।

होयसालों के पड़ोस में वनवासी का कदम्ब-वंश, तलकाट का गांग-वंश, कोंकण का शिलाहार-वंश और वारंगल का काकतीय-वंश स्थापित थे, जिनकी शक्ति स्थानीय थी और ये बराबर चालुक्यों, यादवों तथा होयसालों के आक्रमणों के शिकार बनते रहे। इनमें वारंगल का काकतीय-वंश पीछे तक बना रहा। इस वंश के शुरू के राजाओं में प्रोलराज, रुद्र, और

महादेव के नाम लिए जा सकते हैं। महादेव का पुत्र **गणपति** ११९९ में राजा हुआ और अपने बासठ वर्ष के राज्यकाल में उसने चोल, कलिंग, यादव, कर्णाट, लाट और बलनाड्डु पर सफल आक्रमण किया। उसके बाद उसकी पुत्री रुद्राम्बा सिंहासन पर बैठी और उसने बड़ी बुद्धिमानी और योग्यता से अपने राज्य का शासन किया। रुद्राम्बा के बाद उसका पोता **प्रतापरुद्र** शासक हुआ। मलिक काफूर ने उसको हराकर अपने अधीन किया। इस वंश का अन्त १४२४ ई० में बहमनी सुलतान अहमदशाह के द्वारा हुआ।

३. सुदूर दक्षिण के राज्य

बहुत प्राचीन काल से सुदूर दक्षिण में चोल, पाण्ड्य, केरलपुत्र, सत्यपुत्र और ताम्रपर्णि (लंका) आदि राज्य थे। आन्ध्रों, चालुक्यों और राष्ट्रकूटों के समय में ये राज्य प्रायः उनके अधीन और कभी-कभी स्वतंत्र रहे। चालुक्य साम्राज्य के पतन के बाद सुदूर दक्षिण में भी विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति प्रबल हो गयी और यहाँ भी छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना हुई।

(१) पल्लव

सुदूर दक्षिण का पहला प्रसिद्ध राजवंश पल्लवों का था। पल्लव लोग दक्षिण के वाकाटकों की एक शाखा थे। आन्ध्र साम्राज्य के पतन पर उत्तर के वाकाटकों के समान इन्होंने भी सुदूर दक्षिण में एक राज्य की स्थापना की। इनकी एक राजधानी **धान्यकट** और दूसरी **कांची** थी। इस वंश का संस्थापक **वप्पदेव** था। उसके पुत्र **शिवस्कन्दवर्मन्** धर्म महाराज ने उत्तर और दक्षिण दोनों तरफ अपने राज्य का विस्तार किया और उसके उपलक्ष्य में अश्वमेध, वाजपेय आदि यज्ञों का भी अनुष्ठान किया। इस वंश का दूसरा प्रसिद्ध राजा **विष्णुगोप** था जिसने समुद्रगुप्त का आधिपत्य स्वीकार किया था। छठवीं शती के बाद से इस वंश का विकास शीघ्रता से हुआ। इस वंश के राजा **सिंह-विष्णु** ने चोल, पाण्ड्य, कलभ्र, सिंहल और मलनाड्डु के राजाओं को परास्त किया। सिंहविष्णु के बाद **महेन्द्रवर्मन्**, पुलकेशिन् द्वितीय का समकालीन था। उसके साथ महेन्द्रवर्मन् का दक्षिणापथ में अधिपत्य के लिए युद्ध हुआ। यद्यपि युद्ध में पल्लवों के हाथ से वेंगीं का राज्य निकल गया फिर भी द्रविड प्रदेश में उनकी शक्ति बनी रही और चोल आदि राज्यों को उन्होंने दबा रखा। महेन्द्रवर्मन् पहले जैनधर्म का अनुयायी था पीछे तिरुज्ञान सम-बन्दर के प्रभाव से शैव-धर्म को मानने लगा। धार्मिक मामलों में वह उदार थ।। शैव-मन्दिरों के साथ उसने दूसरे सम्प्रदायों के देवताओं के मन्दिर भी

बनवाये। सुदूर दक्षिण में चट्टानों को काटकर मन्दिर-निर्माण की कला का वह जन्मदाता समझा जाता है। वह विद्या और कला का आश्रयदाता था। उसने मत्तविलास नामक एक प्रहसन लिखा जिसमें कापालिक, पाशुपत, बौद्ध

पल्लव मन्दिर (मामल्लपुर—मद्रास)
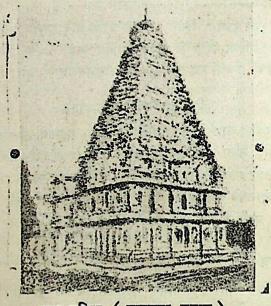
भिक्षु आदि के भ्रष्टाचार आदि का उपहास पाया जाता है। महेन्द्रवर्मन् का पुत्र नरसिंहवर्मन् बड़ा विजयी और यशस्वी हुआ। युद्ध में उसने पुलकेशिन् द्वितीय को हराया और उसकी सेनायें चालुक्यों की राजधानी वातापी (बादामी) तक पहुँच गयीं। नरसिंहवर्मन् का आधिपत्य पूरे सुदूर दक्षिण, लंका और उसके आसपास के द्वीपों पर स्थापित हो गया। इसने अपनी विजयों के उपलक्ष्य में वातापी-कोण्ड और महामल्ल की उपाधि धारण की। महामल्लपुरम् नामक नगर की स्थापना करके उसको बहुत से सुन्दर मन्दिरों से सुशोभित किया। नरसिंहवर्मन् के बाद कई एक राजा इस वंश में हुये। चालुक्यों, राष्ट्रकूटों, पाण्ड्यों और चोलों के संघर्ष के कारण यह वंश दुर्बल होता गया। चोल राजा प्रथम आदित्य ने अन्तिम पल्लव राजा अपराजितवर्मन् को हराया और नवमीं शती के अन्त में पल्लव शक्ति का अन्त किया।

(२) चोल

पल्लवों के बाद सुदूर दक्षिण में पूर्व मध्यकाल में चोल-वंश की शक्ति प्रबल हुई। चोलवंश सुदूर दक्षिण का एक बहुत प्राचीन राजवंश था। चोल-

वंश के राजा अपने को सूर्यवंशी क्षत्रिय मानते थे। नवीं शती के अन्त में चोल राजा प्रथम आदित्य ने पल्लवों की शक्ति का अन्त किया और उसने गांग-वंश की राजधानी तलकाड को भी जीता। वह शैव मत का अनुयायी और बहुत से मन्दिरों का निर्माता था। सुदूर दक्षिण में चोल आधिपत्य की स्थापना करने वाला प्रथम परान्तक हुआ, जिसने ९०७-९४६ ई० तक शासन किया। उसके समय चोलों की सेना पाण्ड्य राज्य में होती हुई लंका तक पहुँची। इसके बाद कुछ समय के लिए राष्ट्रकूटों के आक्रमण से चोलों की शक्ति मन्द पड़ गयी। परन्तु प्रथम राजराज (९८५-१०१४) ने चोलों की शक्ति का उद्धार किया। उसकी विशाल और विजयी सेना दक्षिण में लंका से लेकर उत्तर में कलिंग तक पहुँची। उसके पास एक बलशाली जहाजी बेड़ा भी था, जिसकी सहायता से उसने लकदिव, मालदिव और पूर्वी द्वीपसमूहों तक चढ़ाई की। राजराज की गणना भारत के प्रसिद्ध विजेताओं में की जा सकती है। वह योग्य शासक और साहित्य तथा कला को प्रश्रय देने वाला था। राजराज का पुत्र प्रथम राजेन्द्र अपने पिता से भी बढ़कर विजयी और योग्य शासक सिद्ध हुआ। सम्पूर्ण दक्षिणापथ को आक्रान्त करने के बाद उसकी सेना कलिंग, उड़ीसा, बंगाल और मगध होती हुई गंगा तक पहुँची। अपनी इस विजय के अवसर पर उसने गंगईकोण्ड की उपाधि धारण की और एक नगर बसाया जिसका नाम गंगईकोण्ड-चोलापुरम् रखा। उसका जहाजी बेड़ा अण्डमान, निकोबार, बर्मा, मलाया, सुमात्रा, जावा और दूसरे पूर्वी द्वीप समूह के द्वीपों तक पहुँचा। प्रथम राजेन्द्र के समय में भारतीय व्यापार, उपनिवेश और संस्कृति के प्रसार को बड़ा प्रोत्साहन मिला। राजेन्द्र के बाद राजाधिराज, वीरराजेन्द्र, अधिराजेन्द्र आदि कई राजा हुये। अधिराजेन्द्र कट्टर शैव था। कांची के वैष्णव आचार्य रामानुज का उसने बड़ा विरोध किया और उन्हें कांची से निकाल दिया। उसके बाद चोल राज्यों की शक्ति क्षीण होने लगी और चोल-साम्राज्य से दूर के प्रान्त अलग हो गये। १३१०-११ ई० में मलिक काफूर के आक्रमण के समय इसका अन्तिम पतन हुआ।

चोल-वंश अपने अच्छे शासन-प्रबन्ध, कला-प्रेम और धार्मिक कार्यों के लिए भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध है। चोलों का राज्य अच्छी तरह से संगठित था और उन्होंने एक ठोस शासन-व्यवस्था का विकास किया था। और राज्यों की तरह उनका राज्य भी एकतांत्रिक था। राजा राज्य का स्वामी था। उसके हाथ में राज्य की रक्षा, न्याय और शासन का पूरा अधिकार था। राजा की सहायता के लिये मंत्री और अमात्य भी नियुक्त थे। केन्द्रीय शासन कई विभागों में बँटा था। प्रत्येक विभाग की व्यवस्था एक अध्यक्ष द्वारा होती थी।

सम्पूर्ण चोल राज्य को "राज्यम्" अथवा "राष्ट्रम्" कहते थे, जो शासन की सुविधा के लिए कई प्रान्तों में बँटा था। प्रान्त को "मण्डलम्" और उसके उपविभागों को "कोट्टम्" (कमिश्नरी) और नाडु (जिला) कहते थे। एक नाडु के भीतर कुर्रम (ग्राम समूह) और एक कुर्रम के अन्तर्गत बहुत से ग्राम होते थे। मण्डल, नाडु, नगर और ग्राम अपना स्थानीय शासन स्वयं करते थे। उनकी अपनी-अपनी सभायें होती थीं। सभाओं के अतिरिक्त प्रत्येक उद्योग-धन्धे और व्यापार की श्रेणियाँ अथवा "पूग" होते थे, जो अपने शासन के लिए अपने नियम स्वयं बनाते थे, और उनसे चालित होते थे।

गाँव का स्थानीय शासन सुदूर दक्षिण में भारतवर्ष के सभी भागों से अधिक संगठित और विकसित था। ग्राम-सभा के सदस्यों का नियमित निर्वाचन होता था। ग्राम-सभा निम्नलिखित समितियों में बँटी हुई थी—(१) सामान्य प्रबन्ध-समिति, (२) उपवन-समिति, (३) सिंचाई-समिति, (४) कृषि-समिति, (५) लेखा-जोखा समिति, (६) शिक्षा-समिति, (७) भूमि-प्रबन्ध-समिति, (८) मार्ग-समिति, (९) न्याय-समिति, (१०) देवालय-समिति। ग्राम-सभा को गाँव के शासन का पूरा अधिकार प्राप्त था। भूमिकर वही वसूल करती थी और उसके पास निधियाँ और धरोहर रखी जाती थीं। स्थानीय न्याय, शिक्षा, यातायात, सिंचाई, मनोविनोद आदि का सारा प्रबन्ध समिति के हाथ में था। किन्तु ग्राम-सभा का निरीक्षण समय-समय पर सरकारी निरीक्षकों द्वारा होता था।

चोल राष्ट्र के आय के मुख्य साधन भूमि, उद्योग-धंधे और व्यापार थे। भूमि का नियमित माप होता था। सरकार को उपज का छठवाँ भाग मिलता था, जो नकद अथवा अनाज के रूप में वसूल होता था। सरकारी कोष को खान, सिंचाई, चुंगी और न्यायालयों से भी आय होती थी। अधीन और माण्डलिक राजाओं से वार्षिक कर और उपहार मिलते थे। चोल राज्य में कासु नामक सोने का सिक्का चलता था, जो १।६ औंस के बराबर था। चाँदी के सिक्के का प्रचार नहीं था। छोटे-छोटे क्रय-विक्रय के लिये कौड़ियों का व्यवहार होता था। चोल राजाओं ने स्थानीय कृषक और ग्वालों को सैनिक शिक्षा देकर और उत्तर भारत से क्षत्रिय सैनिकों को बुलाकर एक विशाल सैनिक संगठन किया। चोल राज्य में स्थल और जल-सेना दोनों ही प्रबल थीं। सेना कई छावनियों (कडगम कटक) में बँटी हुई थी। सेनापतियों को ब्रह्माधिराज कहा जाता था, जिनमें शायद अधिकांश ब्राह्मण थे। उनके अतिरिक्त भी सेना के अन्य अधिकारी होते थे।

चोल शासन-काल में साहित्य और कला को काफी प्रोत्साहन मिला। संस्कृत और तामिल दोनों भाषाओं में उत्तम कोटि के ग्रन्थ लिखे गये। यह काल विशाल और भव्य राजप्रासादों, देवालयों और धातु तथा पत्थर की बनी हुई अनेक सुन्दर मूर्त्तियों के लिये प्रसिद्ध है। देवालयों में पर्वत के समान ऊँचे
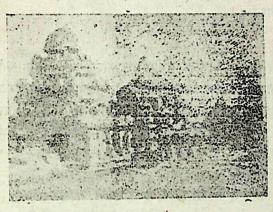
तंजौर मन्दिर

विमान और विस्तृत आँगन उनकी मुख्य विशेषतायें हैं। द्रविड़ शैली के मन्दिरों में गोपुरम् की प्रधानता भी चोलों के समय में ही हुई। चोल राजाओं ने सुन्दर और सिंचाई के लिये उपयोगी झीलों का निर्माण भी कराया। अधिकांश चोल राजा शैव धर्म के मानने वाले थे। कुछ को छोड़कर धार्मिक मामले में सभी उदार थे। चोल राज्य में वैष्णव, बौद्ध, जैन आदि दूसरे सम्प्रदायों को भी राज्य की ओर से सहायता प्राप्त होती थी। इस उदारता का अपवाद प्रथम कुलोत्तुंग था, जिसने वैष्णव आचार्य रामानुज को अपने यहाँ से निकाल दिया था। परन्तु उसके पुत्र विक्रम ने रामानुज को वापस बुलाकर अपने पिता के लिये प्रायश्चित कर लिया। इस समय सुदूर दक्षिण में वैदिक यज्ञ आदि का महत्त्व घटता जा रहा था। उसके स्थान में मूर्त्तिपूजा, तीर्थयात्रा, दान, व्रत, उपवास आदि का प्रचार जनता में बढ़ रहा था।

(३) पाण्ड्य

चोल राज्य के दक्षिण पश्चिम में मदुरा का पाण्ड्य-वंश था। यह वंश भी बहुत पुराना था। मध्ययुग में पल्लव, चोल और चेदि राज्यों से इसका बराबर संघर्ष चलता रहा। कभी-कभी इसका आधिपत्य सुदूर दक्षिण में बढ़ जाता था और लंका भी इसके अधीन हो जाता था, परन्तु इसको अक्सर चालुक्य, पल्लव और चोल राज्यों का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा। चोलों

के ह्रास के बाद पाण्ड्य-वंश की कुछ शक्ति बढ़ गयी थी, किन्तु तुर्कों के आक्रमणों के सामने वह ठहर न सका। अलाउद्दीन के सेनापति मलिक काफूर ने १३११ में पाण्ड्यों की राजधानी मदुरा को लूटा और उनको अपने अधीन बनाया। खुसरो खाँ ने मदुरा पर दुबारा आक्रमण कर पाण्ड्य-वंश का अन्त कर दिया।

(४) चेर

पाण्ड्य-राज्य के पश्चिम में प्राचीन चेर राज्य था। प्रायः सारे केरल पर इसका विस्तार था। यह राज्य अशोक के समय से चला आता था और क्रमशः आन्ध्र, चालुक्य, पल्लव, चोल और पाण्ड्यों का आधिपत्य इसको सहन करना पड़ा। चौदहवीं शती के प्रारम्भ में जब मलिक काफूर ने मदुरा पर चढ़ाई की, तब चेर राजा रविवर्मन् कुलशेखर ने चोल और पाण्ड्य के कुछ राज्यों के कुछ भागों को जीतकर अपनी सीमा का विस्तार किया, परन्तु वारंगल के काकतीयों के संघर्ष के कारण चेरों की शक्ति फिर मन्द पड़ गयी। रविवर्मन् के बाद धीरे-धीरे चेर वंश समाप्त हो गया।

(५) लंका

पाण्ड्य और चेर राजाओं के दक्षिण में लंका अथवा सिंहल का राज्य था। अत्यन्त प्राचीन काल से लंका और भारत का राजनीतिक, व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध रहा है। अशोक के समय में लंका उसका मित्र-देश था। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के समय में सिंहल के निवासियों ने उसका आधिपत्य स्वीकार किया था। पल्लवों, चोलों और पाण्ड्यों का तो प्रायः सिंहल के ऊपर आधिपत्य बना रहा। जब तुर्कों की सेना सुदूर दक्षिण में पहुँची तो क्रमशः लंका का भारत से राजनीतिक विच्छेद हो गया और वहाँ पहले अरबों का और पीछे पोर्त्तुगीजों का आधिपत्य स्थापित हुआ।

१५ अध्याय

पूर्व मध्यकालीन संस्कृति

१. राजनीतिक जीवन

जैसा कि पिछले अध्याय से प्रकट है, इस काल में सारा देश छोटे-छोटे प्रान्तीय राज्यों में वँटा हुआ था। इनमें से कुछ राज्यों ने सारे देश या उसके बहुत बड़े भाग को एक राजनीतिक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया, किन्तु उन्हें सफलता न मिली। इसका फल यह हुआ कि देश की एकता की भावना दुर्वल होती गयी। भारत के राजनीतिक इतिहास में दूसरा क्रान्तिकारी परिवर्तन यह हुआ कि प्रायः सभी राज्य निरंकुश होते गये। द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के पहले तक भारत में एकतांत्रिक राज्यों के साथ-साथ गणतंत्र भी थे, जो जनता में राजनीतिक चेतना को जागृत रखते थे। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के द्वारा गणों का अन्तिम विनाश हुआ और सातवीं आठवीं शती तक प्रजा की राजनीतिक चेतना बिल्कुल लुप्त हो गयी। ग्राम पंचायतें देश में अब भी वर्त्तमान थीं, किन्तु उनका सम्बन्ध स्थानीय व्यवस्था से था, देश की राजनीतिक चेतना से नहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि सामान्य जनता में स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता, देशभक्ति आदि भावनाओं के स्थान पर परावलम्बन, राजभक्ति, चाटुकारिता, दब्बूपन आदि भाव उत्पन्न हुये। इस काल की राजनीतिक कमजोरियों में प्रान्तीय राज्यों के परस्पर फूट और युद्ध, सांधिक शक्ति का अभाव और सीमान्त नीति और विदेशी नीत के प्रति उदासीनता का उल्लेख किया जा सकता है। जब तक भारत के राजा इन बातों में सावधान रहे तब तक वे भारत की रक्षा करने में समर्थ थे, किन्तु इस युग में प्रान्तीय राज्य इन कमजोरियों के कारण विदेशियों से देश की रक्षा न कर सके। इस समय न तो शासन-पद्धति में कोई सामयिक सुधार हुये और न नये प्रयोग। सेना पुराने ढंग की थी, इसलिये बहुसंख्यक होते हुए भी विदेशी सेनाओं के सामने हार जाती थी।

२. सामाजिक जीवन

जिस प्रकार राजनीतिक जीवन में विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति धीरे-धीरे बढ़ती जा रही थी, उसी प्रकार सामाजिक जीवन में भी। इस काल के पहले वर्णों और जातियों में परिवर्त्तन सम्भव थे। किन्तु इस समय वर्ण

बिल्कुल जन्ममूलक माने जाने लगे और जाति की भावना ने वर्ण के ऊपर विजय प्राप्त कर ली। वर्णों और जातियों के स्थानीय, साम्प्रदायिक, व्यावसायिक आदि कई भेद उपभेद बढ़ते गये। इस तरह सारा समाज छोटी-छोटी इकाइयों में बँट गया। भोजन, विवाह, रीतिरिवाज, पूजा-पद्धति आदि के भेद इन इकाइयों में बढ़ते जा रहे थे। यद्यपि इस युग में भी भारतीयों में विभिन्न जातियों के आचार और देशाचार के प्रति उदारता और आदर-भाव था, फिर भी सामाजिक संगठन की दृष्टि से भारतीय समाज की यह एक बहुत बड़ी दुर्बलता थी। इससे भारतीय समाज ढीला बना रहा और किसी भी संगठित समाज का सामना करने में वह असमर्थ था। इस प्रकार के सामाजिक संगठन का यह भी परिणाम हुआ कि समाज में संकीर्णता, वर्जनशीलता और ऊँच-नीच का भाव भी बढ़ने लगा। बहुत-सी जातियाँ और समूह जो धीरे-धीरे समाज में मिलते जा रहे थे, वे जातीय आचार और कठोरता के कारण समाज के बाहर चाण्डाल, श्वपच और अतिशूद्र के नाम से छोड़ दिये गये और उनका समाजीकरण रुक गया। परन्तु इन दोषों के होते हुये भी समाज में अभी तक लचीलापन बना हुआ था। समान वर्ण में विवाह अच्छा समझा जाता था, फिर भी अन्तर्वर्ण, अन्तर्जातीय और अन्तर्धार्मिक विवाह अभी सम्भव थे। ब्राह्मण कवि राजशेखर ने चौहान-वंश की क्षत्रिय राजकुमारी अवन्तिसुन्दरी से विवाह किया था। कान्यकुब्ज गहड़वाल राजा गोविन्दचन्द्र का विवाह बौद्ध राजकुमारी कुमारदेवी के साथ सम्पन्न हुआ था। क्षत्रियों में स्वयंवर की प्रथा अब भी प्रचलित थी। छोटी लड़कियों के विवाह के कुछ उदाहरण पाये जाते हैं, किन्तु अधिकांश विवाह वयस्क वर-कन्या के होते थे। खान-पान में भी जैन और वैष्णव आचारों के कारण छूतछात बढ़ती जा रही थी, किन्तु उच्च वर्ण और जातियों में सहभोज प्रचलित था। समाज में स्त्रियों का स्थान अब भी आदर का था। माता-पिता कन्या के पालन-पोषण और शिक्षा का उचित प्रबन्ध करते थे। उदाहरणार्थ मण्डन मिश्र की स्त्री भारती बड़ी विदुषी थी और उसने मण्डन मिश्र और शंकराचार्य के शास्त्रार्थ में मध्यस्थ का काम किया था। अवन्तिसुन्दरी अपने पति राजशेखर के समान ही सुन्दर कविता करती थी। भास्कराचार्य की पुत्री लीलावती ने गणित-शास्त्र में प्रवीणता प्राप्त की थी। पत्नी और माता के रूप में भी स्त्री सम्मान की पात्री थी। राजवंशों की स्त्रियाँ राज्य के शासन में भाग लेती थीं। काश्मीर की रानी दिद्दा और वारंगल के काकतीय वंश की रानी रुद्राम्बा का नाम इस संबंध में उल्लेखनीय है। स्त्रियों में अभी तक पर्दाप्रथा ने प्रवेश नहीं किया था।

ऊँची जातियों में विधवा-विवाह निषिद्ध था, यद्यपि छोटी जातियों में इसका चलन था। सतीप्रथा का काफी चलन था। कुछ स्त्रियाँ वेश्या का काम करती थीं। सुदूर दक्षिण में देवदासी-प्रथा का उदय भी इसी समय में हुआ।

३. धार्मिक जीवन

धार्मिक जीवन में गुप्त-काल में जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुई थीं, वे इस युग के प्रारम्भ तक बनी रहीं। ब्राह्मण-धर्म अपने नये सुधारों और संस्कारों के कारण अधिक व्यापक और लोकप्रिय बन रहा था और धीरे-धीरे दूसरे सम्प्रदायों को अपने में मिला रहा था। इस काल के शुरू में कुमारिल और शंकराचार्य जैसे सुधारक ब्राह्मण-धर्म में हुये। कुमारिल ने वैदिक कर्मकाण्ड के पुनरुत्थान पर अधिक जोर दिया। युग-प्रवृत्ति के प्रतिकूल होने के कारण कर्मकाण्ड और मीमांसा धर्म पूर्णरूप से प्रचलित नहीं हुये, यद्यपि कुमारिल के प्रयत्न से नयी प्रवृत्तियों के साथ-साथ वे जीते रहे। शंकराचार्य अपने प्रयत्न में अधिक सफल हुये। उन्होंने अपने समय के समाज को अद्वैत वेदान्त का एक बहुत ही ऊँचा तत्त्वज्ञान दिया। इसके साथ ही साथ बौद्ध और जैन दर्शन तथा धर्म के बहुत से सिद्धान्तों को अपनाकर सामान्य जनता के लिए सम्प्रदाय रूप से उनको अनावश्यक बना दिया, यद्यपि इसके लिए पुरातनवादियों ने उनको प्रच्छन्न बौद्ध कहकर अपमानित भी किया। इसी युग में भगवान् बुद्ध ब्राह्मण-धर्म के दश अवतारों में सम्मिलित कर लिये गये। इन सब सुधारों का परिणाम यह हुआ कि इस नयी मैत्री और समन्वय की नीति ने ब्राह्मण-धर्म को समाज का सबसे व्यापक धर्म बना दिया।

परन्तु इस युग में धार्मिक-जीवन में कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ भी उत्पन्न हुईं जो समाज के लिये कल्याणकारी नहीं थीं। राजनीति और समाज के विभाजन की तरह इस समय धर्म भी कई सम्प्रदायों और उप-सम्प्रदायों में बँट गया। भक्तिमार्गी वैष्णव, शैव, शाक्त, ब्राह्म, सौर, गाणपत्य आदि बहुत से सम्प्रदाय और उनके उप-सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये। आन्ध्र-काल और गुप्त-काल के सरल भक्तिमार्ग के स्थान पर पूजा-पाठ सम्बन्धी बहुत से बाह्या-डम्बर और भ्रष्टाचार उत्पन्न हो गये। वैष्णवों में गोपीलीला और अन्तरंग-समाज का उदय हुआ। शैव सम्प्रदाय में पाशुपत, कापालिक और अघोरपन्थ का जन्म हुआ। इसी तरह शाक्त-सम्प्रदाय में आनन्द-भैरवी, भैरवी-चक्र, सिद्धि-मार्ग इत्यादि कई एक गुप्त, अश्लील और अनैतिक पन्थों की उत्पत्ति हुई। इस काल के ब्राह्मण धर्म का रूप धीरे-धीरे तान्त्रिक हो रहा था,

जिसमें **वाम मार्ग** अथवा **अतिमार्ग** आदि कई सम्प्रदाय बन गये। इन सम्प्रदायों में **पंच मकारों**—मदिरा, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन—का सेवन धर्म के बहाने होता था। इन भ्रष्टाचारी मार्गों से समाज की रक्षा करने के लिये कई एक **संत-महात्मा** भी हुये। इनमें शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, तामिल के आलवार वैष्णव सन्त, नायनमार (शैव सन्त), काश्मीर के नव्य शैव धर्म, कर्णाटक के लिंगायत या वीर शैव सम्प्रदायों का उल्लेख किया जा सकता है। इन्हीं सुधारकों के बल पर ब्राह्मण-धर्म जीवित रहा और असहिष्णु तथा प्रचारक इस्लाम धर्म का सामना करने में सफल हुआ।

बौद्ध-धर्म भी अनेक सम्प्रदायों और उप-सम्प्रदायों में बँटा हुआ था। जिस तरह वैदिक या ब्राह्मण-धर्म में बाह्याडम्बर, विलासिता और भ्रष्टाचार आ रहे थे, उससे अधिक बौद्ध-धर्म में उनका प्रवेश हो रहा था। बौद्ध-धर्म का रूप भी तान्त्रिक और वाममार्गी हो गया था। इस धर्म में **मन्त्रयान** अथवा **वज्रयान** का उदय हुआ। इसके कारण बौद्ध संघाराम और विहार गुह्य समाजों और भ्रष्टाचार के केन्द्र बन गये। बौद्ध धर्म में यह प्रवृत्ति तिब्बत और हिमालय प्रदेश की जातियों के सम्पर्क से अधिक वेग से आयी। बौद्ध धर्म के ह्रास का यह मुख्य कारण था। सातवीं शती के प्रारम्भ में चीनी यात्री हुयेन-संग ने जब सिन्ध की यात्रा की थी, तो वहाँ के विलासी और धर्म-विमुख भिक्षु और भिक्षुणियों के जीवन को उसने देखा था। आन्ध्र देश के श्रीपर्वत के आस पास वज्रयान का अधिक विकास हुआ और यहाँ से उड़ीसा, विहार, विन्ध्य और बंगाल के ऊपर छा गया। मुसलमानों के आक्रमण के पहले बौद्धों की यही अवस्था थी। इसमें एक तरफ तो आन्तरिक पतन हो रहा था और दूसरी ओर वैदिक अथवा ब्राह्मण-धर्म इसको आत्मसात् करने का प्रयत्न कर रहा था। शंकर अथवा रामानुज जैसे सुधारक बौद्ध-धर्म में इस समय नहीं हुये। लड़खड़ाते हुए बौद्ध-धर्म को उसके कट्टर शत्रु इस्लाम ने भारत में उसका अन्त कर दिया।

जैन-धर्म में भी मन्दिर, मूर्तिपूजा, अर्चना, वन्दना, समर्पण आदि भक्ति-मार्गी प्रवृत्तियाँ आ गयी थीं और उसकी पूजा-पद्धति का बाहरी विस्तार भी काफी हुआ था। ज्ञान और तपस्या के मार्ग के बदले बहुत से अन्धविश्वास भी जैनधर्म में घुस आये थे। उसमें सम्प्रदाय, उप-सम्प्रदाय भी अनेक बन गये थे, किन्तु उसमें वे वाममार्गी, गुह्यसमाजी और अतिमार्गी विचार और भ्रष्टाचार नहीं फैले, जो ब्राह्मण और बौद्ध-धर्म में प्रवेश कर गये थे। इसके कठोर आचार और उदासीन वृत्ति ने इस समय इसकी रक्षा कर ली। फिर भी कृच्छ्र आचार और कठोर व्रतों के कारण इसके माननेवालों की

संख्या कम होती जा रही थी। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, जैन-धर्म के केन्द्र धीरे-धीरे गुजरात, सुराष्ट्र और महाराष्ट्र होते हुये कर्नाटक और द्रविड़ प्रदेश की तरफ खिसक रहे थे। इन प्रान्तों में जैन-धर्म की अवस्था सन्तोषजनक थी।

इस समय की सामान्य धार्मिक वृत्तियाँ भारतीय समाज को बहुत से छोटे सम्प्रदायों में बाँट रही थीं। तंत्र, वाममार्ग, मंत्रयान, वज्रयान, गुह्य-समाज और भ्रष्टाचार समाज के बहुत बड़े भाग को प्रभावित कर रहे थे। शुद्ध भक्तिमार्गी सम्प्रदायों ने इनसे समाज को ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया, किन्तु इन्होंने भी जनता के बीच कई अवाञ्छनीय प्रवृत्तियाँ उत्पन्न कर दीं, जैसे ईश्वर पर परावलम्बन, परलोक पर अत्यधिक ध्यान, संसार से पलायन, अहिंसा के शारीरिक अर्थपर अधिक जोर, मनुष्य के कोमल भावों, मैत्री, करुणा, दया, प्रेम आदि का आवश्यकता से अधिक उद्रेक, देश और जाति के अस्तित्व और रक्षा के लिए आवश्यक कठोर भावों—क्रोध, शौर्य, वीरता, धीरज, अन्याय के तीव्र विरोध आदि—का दमन। सामान्य धार्मिक जीवन में कई एक अन्ध-विश्वास घुसकर जीवन को भीतर से दुर्बल और खोखला बना रहे थे। इन अन्ध-विश्वासों में कलियुग की हीनता में विश्वास, अपने भविष्य में अविश्वास, दैववाद अथवा भाग्यवाद, फलित ज्योतिष में अनुचित विश्वास, ब्राह्मण और गाय की अवध्यता और पवित्रता में अटूट विश्वास, भूत-प्रेत, जादू-टोना आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

४. भाषा और साहित्य

इस काल में भारत की संस्कृति और राजनीति की मुख्य भाषा संस्कृत थी। बौद्ध और जैनियों ने भी, जो प्रारम्भ में संस्कृत की उपेक्षा करते थे, उसको अपने विचार और लेखन का माध्यम स्वीकार कर लिया। सरकारी कागजपत्र, प्रशस्ति, दानपत्र तथा साहित्य और शास्त्रीय ग्रन्थ प्रायः सभी संस्कृत भाषा में लिखे जाते थे। परन्तु इसके साथ ही साथ इस काल के अन्तिम भाग में प्रान्तीय भाषाओं का विकास भी शुरू हो गया है। हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला, तामिल, तिलगू, कन्नड़, मलयालम आदि भाषाओं का प्रारम्भ स्पष्ट रूप से इस काल में दिखाई पड़ता है। गुप्त-काल में संस्कृत साहित्य, शास्त्र और विद्या की जो धारायें प्रवाहित हुई थीं, उनका वेग इस काल में भी बना रहा, परन्तु उनके स्वरूप और गति में अन्तर आ गया। हर्षवर्धन और बाण की रचनाओं का उल्लेख हो चुका है। आठवीं शताब्दि के प्रारम्भ से अनेक कवि, शास्त्रकार और लेखक भारतवर्ष में हुए। इनमें भवभूति, वाक्पतिराज,

राजशेखर, क्षेमेन्द्र, विल्हण, कल्हण, जयदेव, भट्टनारायण, कृष्णमिश्र, भोज विग्रहराज, माघ, श्रीहर्ष आदि का उल्लेख किया जा सकता है। भवभूति के नाटक मालतीमाधव, महावीर-चरित और उत्तर-रामचरित, कालिदास के नाटकों से टक्कर ले सकते हैं। राजशेखर के प्राकृत काव्य कर्पूर-मञ्जरी और विद्धशाल भञ्जिका बहुत उच्च कोटि के हैं। उसका काव्य मीमांसा नामक रीतिशास्त्र का ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण है। श्रीहर्ष का नैषधचरित नामक महाकाव्य अपने पाण्डित्य के लिये संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध है। बंगाली कवि जयदेव की कोमलकान्तपदावली और गीत-गोविन्द आज भी लोकप्रिय है। दर्शन के क्षेत्र में शंकर, रामानुज, मध्व, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित आदि के ग्रन्थ बहुत ही महत्त्व के हैं। व्याकरण, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, दण्ड-नीति, गणित, संगीत आदि विषयों में भी बहुत से ग्रन्थों की रचना हुई। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी ध्यान देने से स्पष्ट मालूम होता है कि इस युग की रचनाओं में वह सरलता, सुन्दरता और मौलिकता नहीं पायी जाती, जो गुप्तकालीन और उसके पूर्व के साहित्य में मिलती है। काव्य के जगत् में सहजसौन्दर्य के बदले अनावश्यक अलंकार बढ़ने लगे और सरल वर्णन और व्यञ्जना के स्थान में कष्ट कल्पना का आधिपत्य हो गया। दार्शनिक क्षेत्र में उपनिषदों, गीता, प्रारम्भिक पालिग्रन्थ और प्राकृतिक आगमों की सच्ची अनुभूति और सरलता का स्थान शुष्क तर्क और वितण्डावाद ने ले लिया। राजनीति और धर्मशास्त्र में इस युग में कोई मौलिक रचना नहीं हुई। इस काल के लेखकों में आत्मविश्वास, दूरदर्शिता और मौलिक रचनात्मक शक्ति का अभाव था। वे केवल अतीत का अनुकरण करते रहे। उनमें से अधिकांश ने भाष्य और टीकायें लिखीं और बहुतों ने केवल संग्रह और निबन्ध। परन्तु पुरानी शैली की शिक्षा समाज में अब भी काफी प्रचलित थी। देश के भिन्न भागों में बौद्ध विहार, मन्दिर, मठ, आश्रम और गुरुकुल फैले हुये थे। बड़े पुस्तकालय भी वर्त्तमान थे। पण्डितों और विद्वानों का आदर करने में राजवंश एक दूसरे की प्रतियोगिता करते थे, फिर भी ये सारे प्रयत्न संरक्षणात्मक थे, रचनात्मक नहीं। इसलिये नयी परिस्थितियों और समस्याओं के हल करने की समाज में बौद्धिक तैयारी नहीं थी।

५. कला

पूर्व मध्यकाल के राजवंशों ने ललित कलाओं को काफी प्रश्रय दिया। स्थापत्य (भवन-निर्माण), मूर्त्तिकला, चित्रकला, संगीतकला, रंग-मंच और दूसरी उपयोगी कलायें इस युग में बहुत लम्बे पैमाने पर फलती-फूलती रहीं। यद्यपि इस काल की कला में गुप्त-काल की सरलता, सजीवता और मौलिक कल्पना नहीं

पायी जाती, तथापि लालित्य और शृंगार की कमी इसमें नहीं थी। दुर्भाग्य से अरबों और तुर्कों के आक्रमणों ने इस युग की कला के बहुत से उत्कृष्ट नमूनों को नष्ट कर दिया, फिर भी कुछ उनके उदाहरण बचे हुए हैं। स्थापत्य में राज-प्रासाद और देवालयों के नमूने मिले हैं। मन्दिर अथवा देवालय बनाने की तीन शैलियाँ इस युग में चालू थीं। उत्तर भारत में नागर शैली का चलन था जिसके अनुसार मन्दिरों के ऊँचे-ऊँचे शिखर बनते थे। दक्षिण भारत में बेसर-शैली के नमूने बीजापुर, इलोरा और उसके आसपास के प्रदेशों में
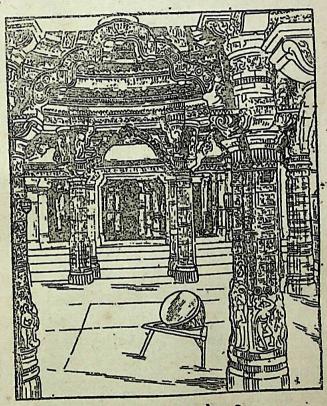
आबू (दिलवाड़ा) का जैन-मन्दिर

मिलते हैं। सुदूर दक्षिण में द्रविड़ शैली प्रचलित थी, जिसके अनुसार मंदिरों के ऊपर विशाल विमान, अथवा रथ बनाये जाते थे। मन्दिरों में अलंकार और सजावट अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी थी, इससे कला बहुत बोझिल और कृत्रिम हो गयी। उत्तर भारत के मन्दिरों के नमूने बुन्देलखण्ड में देवगढ़ और खजुराहो, उड़ीसा में भुवनेश्वर, आबू पर्वत और दिलवाड़ा के मन्दिरों,

ग्वालियर, उदयपुर और डेराइस्माइलखाँ के पास काफिरकोट के मन्दिर, काश्मीर के मार्तण्ड मन्दिर, जावा के वोरोवुदूर और कम्बोडिया के अंगकोर-वाट में पाये जाते हैं। दक्षिण भारत में इलोरा का कैलास-मन्दिर, बेसर-का एक अद्भुत उदाहरण है। द्रविड़ शैली के मन्दिर तंजौर, कांची, मदुरा, मामल्लपुरम् आदि स्थानों में पाये जाते हैं। मन्दिरों के कुछ निश्चित अंग
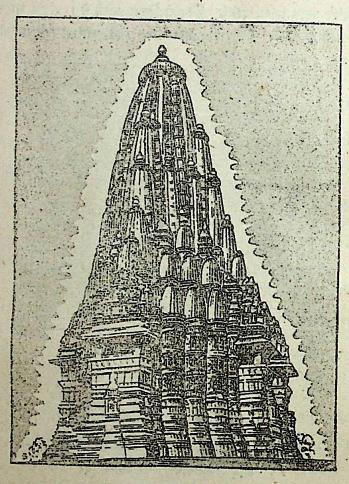
खजुराहो का मन्दिर (कंदर्या महादेव)

होते थे। सबके पीछे गर्भगृह बनता था, जिसमें मूर्त्ति की स्थापना होती थी। उसके आगे अन्तराल (गर्भगृह और मण्डप के बीच का भाग) था। मंदिर का तीसरा भाग मण्डप अन्तराल के आगे होता था। इसमें दर्शक और यात्री बैठते थे और कीर्त्तन, नृत्य आदि हुआ करते थे। मन्दिर का चौथा और

सबसे अगला भाग तोरण कहलाता था। यह मण्डप के आगे का अलंकृत द्वार था। गर्भगृह के चारों ओर प्रदक्षिणापथ होता था। द्रविड़ प्रदेश के मन्दिरों के चारों ओर बहुत विस्तृत प्राकार अथवा चहारदीवारी बनी होती थी। इसके द्वार पर गोपुरम् होता था, जो स्वयं मन्दिर के आकार का बनता था। इस काल के मन्दिरों पर अपार सम्पत्ति बनाने में खर्च की गयी थी और उनके साथ धर्मदाय में लगी हुयी थी।
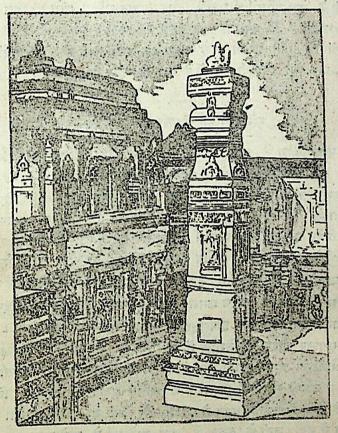
कैलास मन्दिर (इलोरा)

धार्मिक सम्प्रदायों और उप-सम्प्रदायों के बढ़ने से मध्यकालीन युग का देवमण्डल भी विशाल हो गया और अनेक देवी-देवताओं, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, अप्सरा, नाग, पशुपक्षी आदि की मूर्त्तियाँ बनने लगीं। ब्राह्मण-देवताओं में विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य, ब्रह्मा, गणेश आदि की मूर्त्तियाँ पायी जाती हैं। बौद्ध मूर्त्तियों में बुद्ध, अवलोकितेश्वर आदि की मूर्त्तियाँ और जैनियों में जैन

तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ बनती थीं। द्रविड़ देश में मन्दिरों में देवता के अतिरिक्त मन्दिर-निर्माण-कर्ताओं की मूर्त्तियाँ भी प्रतिष्ठित होती थीं। मूर्त्तियाँ अक्सर पत्थर की और कुछ काँसे, ताँबे और सोने की भी बनायी जाती थीं। इस काल की बहुत सी मूर्त्तियाँ कला की दृष्टि से बहुत ही उत्तम कोटि की हैं, किन्तु इस युग की प्रवृत्ति के अनुसार अत्यधिक अलंकारों और सजावटों से दबी हुयी हैं। चित्रकला के नमूने बहुत कम पाये जाते हैं। अजंता, इलोरा आदि के गुहा-मन्दिरों और इसी प्रकार दनदान मलिक, मीरान, लंका आदि के खण्डहरों में चित्रकला के कुछ नमूने मिलते हैं। इन चित्रों की कला के मर्मज्ञों ने बड़ी ही प्रशंसा की है। इस युग के साहित्य में रंग-मंच, संगीत, नृत्य, वाद्य और उपयोगी कलाओं के बहुत से उल्लेख पाये जाते हैं।

६. संस्कृति का बृहत्तर भारत में विस्तार

पूर्व मध्ययुग में आचार की कठोरता, खान-पान में अत्यधिक शुद्धि का भाव और निरामिषता तथा छूतछात और ऊँचनीच के भावों के कारण बहुत से धर्मशास्त्रों ने देश के बाहर जाना और समुद्र-यात्रा को कलिवर्ज्य बनाना शुरू कर दिया। किन्तु ऐसा जान पड़ता है, कि इस युग के प्रारम्भ में यह निषेध पूरे नहीं माने जाते थे। भारत के कई प्रान्तों और विशेषकर पूर्व, दक्षिण और सुदूर दक्षिण के लोग अब भी विजय, व्यापार और संस्कृति के प्रचार के लिये बाहर जाया करते थे। पश्चिमी और मध्य-एशिया में जाना इस्लाम के प्रचार के कारण क्रमशः कम हो गया, किन्तु बर्मा, हिन्दचीन, सुमात्रा, जावा और पूर्वी द्वीपसमूहों में भारतीय अब भी पहुँचते थे। इस तरह बृहत्तर भारत के निर्माण में इस युग की भी देन है। इस काल के उपनिवेशों में चम्पा, फूनान और श्रीविजय की गणना की जा सकती है। चम्पा में उसकी राजधानी अमरावती के अतिरिक्त और कई नगर थे, जिनमें वहाँ के हिन्दू राजाओं ने बहुत से मन्दिर और चैत्यों का निर्माण कराया था। कम्बुज में नवीं शती के अन्त में राजा यशोवर्मा ने यशोधरपुर नाम की राजधानी बसायी, जिसके पास अंगकोर-वाट के विशाल मन्दिर का निर्माण हुआ था। फूनान के सम्बन्ध में एक चीनी यात्री लिखता है—"एक हजार से अधिक ब्राह्मण (भारतवासी) भारत से यहाँ आकर बसते हैं, लोग उनके सिद्धान्तों को मानते हैं और विवाहों में उनको अपनी कन्या देते हैं। वे दिन-रात अपने धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं।" शैलेन्द्र नामक राजवंश के द्वारा श्रीविजय साम्राज्य सुमात्रा में स्थापित हुआ और धीरे-धीरे मलय,

सिंहल, जावा के कुछ भाग, बोर्नियो, बाली, सिलेबीज़, फिलीपाइन्स और फारमोसा के कुछ अंश पर फैल गया।

शैलेन्द्र-वंश के राजाओं ने बहुत समय तक उत्तर से मंगोलों और पश्चिम से अरबों के बढ़ाव को रोका। इसी तरह नवीं और तेरहवीं शती के बीच में जावा, बाली, बोर्नियो, श्याम और बर्मा में भारतीयों के उपनिवेश समृद्ध अवस्था में थे। जब भारत में तुर्कों के आक्रमण शुरू हुए और मुस्लिम-सत्ता की स्थापना हो गयी, तब भारतीय उपनिवेशों का सम्बन्ध मातृ-भूमि से छूट जाने के कारण उनकी शक्ति क्षीण हो गयी। धीरे-धीरे मंगोलों और अरबों ने उनपर अपना आधिपत्य जमा लिया।

१६ अध्याय

इस्लाम का उदय और उससे भारत का सम्पर्क

१. अरब में इस्लाम का उदय

सातवीं शती में जिस समय भारत कई राजनीतिक टुकड़ों में बँट रहा था और उसकी सामाजिक और धार्मिक जटिलता बढ़ती जा रही थी, उस समय एशिया के दक्षिण-पश्चिम अरब के रेगिस्तान में एक नयी शक्ति का उदय हो रहा था। वह शक्ति थी इस्लाम। इसके पूर्व संसार के इतिहास में अरब का कोई स्थान नहीं था। वहाँ समुद्र तट के रहनेवाले माँझी और छोटे-मोटे व्यापारी का काम करते थे। अधिकांश जनता असभ्य और कई जातियों में बँटी हुयी थी। उनमें अज्ञान और बहुत से अन्धविश्वास फैले थे। ऐसी अवस्था में ५७० ई० में मक्का के एक कुरैश परिवार में हजरत पैगम्बर मुहम्मद साहब का जन्म हुआ। वे बचपन से ही चिन्तनशील थे। व्यापार के सिलसिले में वे सीरिया, ईरान, मिस्र आदि देशों में जाते थे और वहाँ के जीवन का निरीक्षण करते थे। उनके मन में अरबों के परस्पर फूट, अज्ञान, अन्धविश्वास और कुरीतियों के प्रति घृणा उत्पन्न हुई। एक दिन जब वे चिन्तन में लीन थे, उन्हें ईश्वर की तरफ से एक प्रकाश मिला। वही प्रकाश इस्लाम (शान्ति) के रूप में प्रकट हुआ। हजरत साहब ने अपने को पैगम्बर अथवा ईश्वर का दूत घोषित किया। इसके बाद उन्होंने ईश्वर की एकता, मनुष्य मात्र के भ्रातृत्व, सरल और समान पूजा-पद्धति तथा पवित्र और सादे जीवन का उपदेश प्रारम्भ किया। थोड़े दिनों में मुहम्मद साहब के बहुत से शिष्य और अनुयायी हो गये। परन्तु मक्का के कुछ लोगों ने अपने सामाजिक और धार्मिक स्वार्थों के कारण उनका हिंसात्मक विरोध किया। ६२२ ई० में विवश होकर हजरत मुहम्मद को मक्का से मदीना भागना पड़ा। इस घटना को हिजरा (पलायन या भागना) कहते हैं। इसी समय से मुसलमानों में हिजरी सम्वत् चला। मदीना में मुहम्मद साहब के अनुयायियों की संख्या काफी बढ़ गयी, जिन्होंने मुहम्मद साहब के विरोधियों का सैनिक जवाब दिया। इस तरह अरब की एक विशेष परिस्थिति में शान्ति-मूलक इस्लाम ने फौजी बाना पहना। उसमें 'जेहाद' अर्थात् धर्म के प्रचार और रक्षा करने की सैनिक पद्धति चल गयी। हजरत मुहम्मद केवल धार्मिक

नेता ही नहीं किन्तु सैनिक और राजनीतिक नेता भी बन गये। उनका सारा जीवन अरब को एक सूत्र में बाँधने और उसमें इस्लाम का प्रचार करने में बीता। ६३२ ई० में उनका देहान्त हुआ।

२. इस्लाम का विस्तार

इस्लाम ने अरब में एक नया जीवन और एक नयी स्फूर्ति पैदा कर दी थी। हजरत मुहम्मद के अनुयायियों ने उनके सन्देश को संसार में फैलाने का निश्चय किया। इस्लाम के साथ राजनीति शुरू में ही लग गयी थी। हजरत मुहम्मद के उत्तराधिकारी खलीफा कहलाये, जो धार्मिक गुरु और राजनीतिक शासक दोनों थे। उनके एक हाथ में कुरान और दूसरे हाथ में तलवार थी। हजरत मुहम्मद की मृत्यु के १०० वर्ष के भीतर ही इस्लाम का झण्डा पश्चिम में एशिया माइनर, उत्तरी अफ्रीका और स्पेन तक पहुँचा। पूर्व में सारा अरब, फारस, अफगानिस्तान और तुर्किस्तान इसके झण्डे के नीच आ गये। इस्लाम के झंझावात के सामने प्राचीन रोमन, मिस्री और ईरानी साम्राज्य तथा सभ्यतायें, जो अपने भार से बोझिल हो गयी थीं, न ठहर सकीं। इस बीच में इस्लाम की राजधानी मदीना से दमिश्क आ गयी। अफगानिस्तान के अधिकांश पश्चिमी भाग में इस्लामी सत्ता के स्थापित हो जाने के बाद भारत पर अरबों की दृष्टि जाना स्वाभाविक था। उमर के वंशज खलीफा प्रथम वलीद (७०६-७१४ ई०) के समय में सिन्ध के ऊपर अरबों के आक्रमण शुरू हुये।

३. सिन्ध पर अरब-आक्रमण

सिन्ध पर अरब आक्रमण कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। पश्चिमी एशिया में जो इस्लाम का प्रसार हो रहा था, यह उसी का बढ़ाव था। युरोप में फ्रान्स और कुस्तुन्तुनियाँ से टकराकर इस्लाम वापस आ रहा था। पूर्वोत्तर में चीन की दुर्गम दीवार इस्लाम के बढ़ाव को रोक रही थी। अब उसके प्रसार का एक ही रास्ता दिखलायी पड़ता था; भारत की ओर, जो इस समय राजनीतिक दृष्टि से कमजोर हो रहा था, और उसके नगरों और मन्दिरों की सम्पत्ति आक्रमणकारियों को निमन्त्रण दे रही थी। भारत पर चढ़ाई करने का बहाना अरबों को जल्दी मिल गया। अरबों का एक दल लंका के राजा के पास बहुमूल्य उपहार लेकर खलीफा प्रथम वलीद और उसके बसरा के सूबेदार हज्जाज के साथ जा रहा था। अरब जहाज सिन्ध के बन्दरगाह देवल पर लूट लिया गया। खलीफा ने सिन्ध के राजा से इसकी सफाई माँगी। उत्तर न मिलने पर चढ़ाई शुरू हो गयी। परन्तु अरबों की प्रथम दो

सेनायें हारकर वापिस चली गयीं। इसके बाद हज्जाज ने अपने भतीजे और दामाद इमादुद्दीन मुहम्मद-बिन-कासिम को ७१२ ई० में एक बड़ी सेना के साथ सिन्ध पर आक्रमण करने को भेजा। वह ईरान होता हुआ मकरान के रास्ते से सिन्ध पहुँचा। उसने पहले देवल पर आक्रमण किया। इस समय सिन्ध की दशा दयनीय थी। सिन्ध की बौद्ध प्रजा जाट और मेद नामकी जातियाँ वहाँ के राजा दाहिर से अप्रसन्न थीं। कहा तो यह जाता है कि सिन्ध के बौद्धों ने अल हज्जाज के पास अपना दूत भेजा और अरब आक्रमण के समय उन्होंने अरबों की सहायता की। दाहिर पश्चिमी सिन्ध से भागकर पूर्व में आ गया। देवल के ऊपर अरबों का अधिकार हो गया। वहाँ का मन्दिर तोड़ा और लूटा गया। ७०० बौद्ध भिक्षुणियाँ बंदी बनायी गयीं। सत्तरह वर्ष से ऊपर की अवस्था वाले पुरुष, जिन्होंने इस्लाम स्वीकार करनेसे इनकार किया, मार डाले गये, बाकी गुलाम बनाये गये। टूटे मन्दिरों के स्थान पर मसजिदें खड़ी की गयीं। इसके बाद मुहम्मद-बिन-कासिम ने सिन्धु नदी पार कर पूर्वी सिन्ध पर आक्रमण किया। इस पार दाहिर सेना लिये रणभूमि में खड़ा था। मुहम्मद-बिन-कासिम ने एक जाट मुखिया की सहायता से सिन्धु को पार किया। दाहिर लड़ता हुआ रावार के पास रणभूमि में मारा गया। उसकी रानी सेना लेकर पहले कई दिनों तक लड़ती रही; अन्त में हार कर अपनी सहेलियों के साथ जौहर कर लिया। इसके बाद मुहम्मद-बिन-कासिम ने नेरून और सहवान नामक उत्तरी सिन्ध के नगरों पर आक्रमण किया। यहाँ की बौद्ध जनता ने आत्म-समर्पण कर दिया, किन्तु ब्राह्मनाबाद में दाहिर के पुत्र जयसिंह ने इसका घोर विरोध किया। अपने सेनापति के विश्वास-घात से वह पराजित हुआ। इससे आगे बढ़कर मुहम्मद ने सिन्ध की राजधानी अलोर (रोरी के पास) और मुलतान को ७१२ ई० में जीता। इस प्रकार दक्षिण-पश्चिम पंजाब और सारे सिन्ध पर अरबों का राज्य स्थापित हो गया।

४. सिन्ध में अरब शासन

सिन्ध को जीतने के बाद अरबों ने अपनी शासन-व्यवस्था स्थापित की। सिन्ध के ऊपर खलीफा का प्रतिनिधि शासन करता था। उसका काम था, सिन्ध के विभिन्न भागों के शासन में एकता स्थापित करना। उसके नीचे कई एक शासक थे, जो अक्सर सैनिक जागीरदार हुआ करते थे। इनका काम था अरब सत्ता कायम रखना, सेना का संगठन करना, प्रान्तों से कर वसूल करना और आवश्यकता पड़ने पर खलीफा के प्रतिनिधि की सैनिक सहायता करना। स्थानीय प्रबन्ध विशेष कर माल का विभाग सिन्धी लोगों

के हाथ में था। अरबों के शासन में सरकारी आय के कई साधन थे। इनमें लूट का माल, गैर-मुस्लिम प्रजा पर धार्मिक कर (जजिया), भूमिकर (उपज का २।५ भाग) आदि मुख्य थे। इनके अतिरिक्त और भी कई छोटे-छोटे कर लगाये जाते थे। क्रय-विक्रय पर चुङ्गी और आयात और निर्यात पर भी कर लगता था। अरबों में विलासिता बढ़ने के साथ-साथ करों की संख्या बढ़ती जाती थी। सरकारी आय का बहुत बड़ा भाग देश के बाहर खलीफा और मुस्लिम अधिकारियों के सम्बन्धियों के पास जाता था। इससे सिन्ध-प्रान्त का शोषण हो रहा था। सिन्ध में अरबी न्याय का आधार धार्मिक था। न्याय करने के लिये मुसलमान काजी नियुक्त थे, जो कुरान और हदीस के अनुसार मुकदमों का निर्णय करते थे। इसके कारण गैरमुस्लिम प्रजा के साथ पूरा न्याय नहीं हो पाता था। हिन्दुओं में सम्पत्ति, उत्तराधिकार और दायभाग (पैतृक सम्पत्ति का बँटवारा) के मुकदमों का फैसला उनकी अपनी पंचायतें करती थीं, जिनको सरकार मान लेती थी। चोरी आदि अपराधों के लिये दण्ड बहुत कठोर थे। चोरों के बाल-बच्चे जला दिये जाते थे। अरबी शासन में सेना दो प्रकार की थी, एक तो प्रान्तीय शासक की स्थायी सेना और दूसरी सरदारों की, जो युद्ध के समय बुला ली जाती थी। कुछ सैनिकों को सरकारी खजाने से वेतन मिलता था और कुछ को बदले में भूमि मिली हुई थी। इसके सिवा लूट का ४।५ भाग सिपाहियों में ही बाँटा जाता था। अरबी सेना में घुड़सवारों की प्रधानता थी। अरब अश्वारोही, अरबों की विजय में एक मुख्य कारण थे। अरब सेना का दूसरा मुख्य अंग ऊँट-सवार थे। सेना में पैदल सिपाही भी होते थे। रसद ढोने के लिये ऊँटों, खच्चरों से काम लिया जाता था। युद्ध के हथियारों में भाला, धनुष-बाण और पत्थर फेंकनेवाले यंत्र काम में लाये जाते थे।

५. सिन्ध में अरबों की धार्मिक नीति

सिन्ध में अरब शासन धर्मतान्त्रिक था। उसके अनुसार सारी प्रजा दो भागों में बँटी थी—(१) मुसलमान, और (२) ज़िम्मी। मुसलमानों के साथ एक प्रकार का व्यवहार होता था और जिम्मियों के साथ दूसरे प्रकार का। अरब लोग सिन्ध में जेहादी होकर आये थे। मन्दिर और मूर्त्ति तोड़ना, मुसलमान बनाना, काफिरों का वध करना, दास बनाना, काफिरों की सम्पत्ति लूटना आदि इनके मुख्य कार्य थे। परन्तु अरब जेहादी-विजेता और अरब शासक में अन्तर था। सिन्ध में अरब शासकों ने यह अनुभव किया, कि सारी जनता धर्म-प्रचार के नाम पर मारी नहीं जा सकती। इस सम्बन्ध में

मुहम्मद-बिन-कासिम ने अल हज्जाज को जो पत्र लिखा था, वह पठनीय है— "क्योंकि हिन्दुओं ने आत्मसमर्पण और खलीफा को कर देना स्वीकार कर लिया है, अब उनसे अधिक की आशा नहीं करना चाहिये। वे अब हमारे संरक्षण में आ गये हैं, उनके जीवन और सम्पत्ति पर हाथ नहीं उठाना चाहिये। अपने देवताओं की पूजा करने की आज्ञा उनको दी जानी चाहिये। अपने धर्म का पालन करने से उनको वंचित नहीं होना चाहिये। अपने घरों में जिस प्रकार वे चाहें उनको रहने देना चाहिए।" वास्तव में सिन्ध-विजय के बाद मुस्लिम नीति में एक विशेष परिवर्त्तन हुआ। अन्य देशों में सारी जनता को मुसलमान बनाकर अरबों ने अपनी समस्या हल कर ली थी, लेकिन भारत में उन्हें समझौते की नीति का अवलम्बन करना पड़ा। फिर भी मुसलमान और ज़िम्मी का मौलिक भेद तो था ही। हिन्दुओं को जीवन के सभी क्षेत्रों में उपेक्षा और अपमान का सामना करना पड़ता था। उनको मुसलमान यात्रियों और सैनिकों को कानूनन खिलाना पड़ता था। उनके ऊपर बहुत से सामाजिक और धार्मिक प्रतिबन्ध लगे हुये थे।

६. अरबों की असफलता

जो योजना और आशा लेकर अरब सेना सिन्ध के किनारे पहुँची थी, वह पूरी नहीं हुई। जिस विजयिनी सेना ने सारे पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका, स्पेन, फारस, अफगानिस्तान आदि मध्य एशिया के देशों को ५०—६० वर्ष के भीतर जीत लिया था, उसका बढ़ाव सिन्ध में आकर रुक गया। अरब इस्लाम का झण्डा सिन्ध से आगे नहीं ले जा सके और यह काम तुर्कों को ३००—४०० वर्ष पीछे पूरा करना पड़ा। अरबों की असफलता के कई कारण थे। पहला कारण राजनीतिक था। यद्यपि सिन्ध का चच-वंश अप्रिय और दुर्बल होने के कारण अरबों से हार गया, फिर भी सिन्ध के उत्तर में पंजाब का शाही-वंश, पूर्व में गुर्जर-प्रतिहार और दक्षिण में चालुक्यों और राष्ट्रकूटों के राज्य इतने प्रबल थे कि उनको हराना अरबों के लिए बिलकुल सम्भव नहीं था। अरबों की आन्तरिक कमजोरियाँ भी थीं। उम्मैयाद और अब्बासी वंशों में खिलाफत के लिए झगड़ा शुरू हो गया। इसलिए खलीफा न तो सिन्ध पर अच्छी तरह नियंत्रण रख सकते थे और न युद्ध के लिये पूरी सहायता भेज सकते थे। सिन्ध में बस जाने के बाद अरब लोग आपस में भी लड़ने लगे और कुछ दिनों के बाद खलीफा से स्वतन्त्र होकर उन्होंने सिन्ध को छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट दिया। असफलता का दूसरा कारण भौगोलिक था। अरबों ने गलत रास्ते से भारत पर आक्रमण किया।

सिन्ध स्वयं एक रेगिस्तानी प्रान्त था और उसके पूर्व में थर और राजस्थान के रेगिस्तान थे, जिनमें से होकर पूर्व की ओर बढ़ना बड़ा कठिन था। सिन्ध इतना गरीब देश था कि सिन्ध-विजय अरबों को लाभकर नहीं जान पड़ती थी। असफलता का तीसरा कारण इस समय इस्लाम के स्वरूप में परिवर्त्तन था। बगदाद के अब्बासी खलीफाओं ने इस्लाम में आरामतलबी और विलासिता का वातावरण पैदा कर दिया। पुरानी कट्टरता और अरबी सादगी का स्थान भोग-विलास और जीवन को कोमल बनाने वाले साहित्य, कला और दर्शन आदि ने ले लिया। इससे अरबों में इस्लाम के प्रचार का उत्साह और उसके लिये कष्ट सहने की शक्ति दोनों ही कम हो गये। भारत की सामाजिक और धार्मिक स्थिति भी इस्लाम के प्रतिकूल थी। "भारत में एक ज़बर्दस्त पुरोहित वर्ग था, जिसका सरकार से घनिष्ठ सम्पर्क और जनता पर गंभीर प्रभाव था। भारतीय धर्म सामाजिक प्रथाओं और कानूनों में ओतप्रोत था, इसलिये जनता पर उसका प्रभाव अटल था।" इसका फल यह हुआ कि भारतीयों में बहुत थोड़े से लोग दबाव में आकर मुसलमान हुये।

७. परस्पर सांस्कृतिक प्रभाव

अरबों की सिन्ध-विजय का हिन्दुओं की राजनीति, समाज, धर्म, दर्शन, साहित्य, कला और आचार-विचार पर कोई प्रभाव न पड़ा। इसका कारण यह था कि जो अरब सिन्ध में बसे उनकी संख्या भारतीय समाज में दाल में नमक के बराबर भी न थी। दूसरे अरबों में अधिकांश सैनिक थे, जो इस्लाम के नाम पर लड़ तो सकते थे लेकिन इस्लाम के सच्चे और ऊँचे सिद्धान्तों का प्रचार नहीं कर सकते थे। अरब-संस्कृति में भी उस समय थोड़ी कविता के अतिरिक्त और कोई चीज़ नहीं थी। भारतीय संस्कृति और सभ्यता पहले से विकसित और प्रौढ़ थी, जिस पर इस्लाम प्रहार तो कर सकता था, लेकिन वह ढह नहीं सकती थी; साथ ही साथ उसमें दूसरों को प्रभावित करने की संक्रामक-शक्ति थी। पराजित होकर भी भारत ने इस्लाम को प्रभावित किया और लूट के माल और कर के साथ भारतीय संस्कृति की बहुमूल्य वस्तुयें बसरा, बगदाद और दमिश्क तक पहुँचीं और वहाँ से होकर अरबों द्वारा युरोप तक पहुँचाई गयीं। अरब के खलीफाओं ने दूसरे देशों के सम्पर्क में आकर इस्लाम के बौद्धिक और सांस्कृतिक दायरे को बढ़ाने की कोशिश की। राजस्व विभाग और स्थानीय शासन में भारतीयों ने अरबों को बहुत कुछ सिखाया। भवन-निर्माण-कला में अरब बिलकुल कच्चे थे; सुन्दर और बड़ी मसजिद बनाना उन्होंने भारतीयों से सीखा। खलीफा-

मंसूर (७५३–७७४ ई० तक) और खलीफा हारून-रशीद के समय में सैकड़ों अरब विद्वान् विद्या, कला और साहित्य सीखने के लिए भारत भेजे गये और बहुत से भारतीय विद्वान् बगदाद बुलाये गये। हजारों की संख्या में संस्कृत में लिखे हुए साहित्य, दर्शन, गणित, ज्योतिष, वैद्यक, शल्य (चीर-फाड़), रसायन, भूगोल, भूगर्भ आदि विषयों के ग्रन्थों का अरबी भाषा में अनुवाद कराया गया। अरबों ने भारतीय अंक और दशमलव को सीखा; अरबी अंक अभी भी हिन्दसा कहलाते हैं। इस ऐतिहासिक धारा को ध्यान में रखते हुये प्रसिद्ध इतिहासकार हैवल ने लिखा है—"यह यूनान नहीं भारत था, जिसने इसलाम को उसके शैशव में शिक्षा दी, उसके दर्शन और रहस्यवादी धर्म को आकार-प्रकार दिया और उसके साहित्य, कला और स्थापत्य पर अपनी गहरी छाप लगायी।"

१७ अध्याय

भारत में मुस्लिम सत्ता की स्थापना : भारतीय पराजय के कारण

१. तुर्क आक्रमण : सीमान्त पर तुर्कों का अधिकार

(१) तुर्क-शक्ति का उदय

पिछले अध्याय में यह लिखा जा चुका है कि आठवीं शती के शुरू में अरब लोग सिन्ध में आकर रुक गये और इस्लाम भारत में उसके आगे न बढ़ सका। इसके लगभग ३०० वर्ष बाद तुर्कों ने इस्लाम की शक्ति को भारत में आगे बढ़ाया। तुर्क उन जातियों के वंशज थे, जिनको पुराने समय में शक, कुषण, हूण आदि कहा जाता था। स्वभाव से ही तुर्क लोग लड़ाकू, लुटेरे और निर्दय थे। ये लोग पहले बौद्ध और शैव-धर्म के माननेवाले थे। मध्य-एशिया पर अरबों का आधिपत्य हो जाने के बाद तुर्क मुसलमान बना लिये गये। इस्लाम ने इनको नया धर्म दिया, किन्तु इनका स्वभाव नहीं बदला। इस्लाम के जिहादी जोश ने इनके लड़ाकूपन और लोभ को और अधिक बढ़ा दिया। अरबी इस्लाम ने पहले तुर्कों को दबाया, परन्तु तुर्कों ने धीरे-धीरे इस्लाम पर अपना राजनीतिक अधिकार कर लिया। ८७१ ई० के बाद अरबों की सैनिक शक्ति शिथिल हो गयी और इस्लाम की तलवार तुर्कों के हाथ में आ गयी। दशवीं शती में तुर्क एक प्रबल शक्ति बन गये। तुर्कों की धर्मान्धता और जोश ने इस्लाम को पूर्व के उन देशों तक पहुँचाया, जहाँ से अरब टकराकर लौट आये थे। भारत में जिस काम को अरबों ने अधूरा छोड़ा था, तुर्कों ने उसे आगे बढ़ाया।

(२) गजनी में तुर्क-सत्ता

९३३ ई० में तुर्क सरदार **अलप्तगीन** ने गजनी में एक स्वतन्त्र तुर्क राज्य की स्थापना की। थोड़े ही दिनों में यह राज्य एक बड़े साम्राज्य का केन्द्र बन गया, जो सिन्ध से समरकन्द और बगदाद से लाहौर तक फैला हुआ था। अलप्तगीन के बाद जिन विजेताओं ने शुरू में तुर्क-साम्राज्य का विस्तार किया, उनमें **सुबुक्तगीन** और **महमूद** का स्थान बहुत ऊँचा है। सुबुक्तगीन ने पहले उत्तर-पूर्व की ओर बढ़कर काबुल और पंजाब के हिन्दू

शाही-वंश को हराया और उसको कर देने के लिए विवश किया। तुर्कों के बढ़ाव में यह सन्धि केवल एक पड़ाव थी।

(३) भारत पर महमूद के आक्रमण

सुबुक्तगीन के उत्तराधिकारी महमूद ने और आगे बढ़कर तुर्कों की शक्ति को भारत में फैलाया। महमूद उत्साह और शक्ति का पुतला था। इस्लाम के लिए जहाद तो एक बहाना मात्र था। तुर्क लूट और विध्वंस के लिये प्यासे रहते थे। महमूद के नेतृत्व में भारत को लूटने और विध्वंस करने का उनको सुनहला अवसर मिल गया। महमूद ने शाही-वंश के राजा जयपाल पर आक्रमण किया और उसको हरा दिया। जयपाल आत्मग्लानि से अपने बेटे आनन्दपाल को राज्य सौंप कर चिता पर जीते जी जल गया। महमूद ने जहाँ एक ओर पंजाब के हिन्दू शाहियों को हराया, वहाँ उसने सिन्ध की अरब सत्ता को समाप्त कर वहाँ भी तुर्कों का आधिपत्य स्थापित किया। सिन्ध और सीमान्त पर अपना पूरा अधिकार जमाकर उसने शाही राजा आनन्दपाल पर आक्रमण किया। पूर्वी पंजाब में आनन्दपाल ने एक बड़े हिन्दू सैनिक-संघ के साथ महमूद का मुकाबिला किया। परन्तु हिन्दू राजाओं की संगठन शक्ति तो भीतर से खोखली हो चुकी थी, इसलिये उन्हें हार खानी पड़ी। इस युद्ध में हिन्दुओं की हार के मुख्य कारण गलत रणनीति, हाथियों का उपयोग, बहुपन्थी सेना, योग्य नेतृत्व का अभाव और परस्पर विश्वास की कमी थी। आनन्दपाल को विवश होकर सन्धि करनी पड़ी। इससे उत्साहित होकर महमूद ने उत्तरी-भारत, सिन्ध और सुराष्ट्र में बढ़कर देश को लूटा तथा मन्दिरों और मठों का विध्वंस किया। कन्नौज, मथुरा और सोमनाथ की लूट बहुत प्रसिद्ध है। महमूद ने १०२४ ई० में सोमनाथ के ऊपर आक्रमण किया। सोमनाथ के मन्दिर में १० हजार गाँवों की आय लगी थी, इसके अतिरिक्त चढ़ावा बहुत आता था। मन्दिर के घंटे में २०० मन सोने की जंजीर लगी थी और १ हजार पुजारी थे और ५०० नर्त्तकियाँ नित्य नाचती थीं। मूर्त्ति में बहुमूल्य धातुयें और रत्न लगे थे। चुम्बक के सहारे मूर्त्ति अधर में लटकती थी। महमूद जब मन्दिर में घुसा तो पुजारियों ने प्रार्थना की, कि वह मूर्त्ति के बदले बहुत-सा धन लेकर लौट जाय। महमूद ने उत्तर दिया—"मैं मूर्त्ति-भंजक हूँ, मूर्त्ति बेचनेवाला नहीं।" उसने अपनी गदा से मूर्त्ति के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जो गजनी, बगदाद और मक्का की मसजिदों की सीढ़ियों में लगाये गये, जिन पर चढ़कर मुसलमान नमाज पढ़ने जाते थे। मन्दिर का

दरवाजा चन्दन का बना था, वह गजनी भेज दिया गया। महमूद के आक्रमणों का राजनीतिक फल यह हुआ कि महमूद के अन्तिम समय तक सम्पूर्ण सिन्ध, सीमान्त और प्रायः सारे पंजाब पर मुस्लिम सत्ता स्थापित हो गयी। लाहौर में एक **यामिनी-वंश** की स्थापना हुई और भारत का पश्चिमोत्तर सीमान्त हिन्दू शक्तियों के हाथ से निकल गया। भारत पर विदेशी आक्रमणकारियों के लिये रास्ता साफ हो गया।

(४) महमूद का व्यक्तित्व

महमूद के कार्यों पर दो दृष्टियों से विचार हो सकता है। भारतीयों की दृष्टि में महमूद एक बड़ा विजेता और सैनिक नेता था, परन्तु साथ ही लुटेरा, विध्वंसक तथा मानवता और सभ्यता का शत्रु था। अपने सहधर्मियों की दृष्टि में महमूद अपने इस्लाम की शान और उसका प्रचारक तथा योग्य सैनिक नेता था। सच बात तो यह है कि उस समय का इस्लाम साम्प्रदायिकता से ऊपर न उठ सका था। इसलिये महमूद जैसा योग्य मुसलमान गैर-मुसलमानों के साथ सभ्यता का व्यवहार नहीं कर सकता था। इसके अतिरिक्त महमूद के ऊपर राजनीतिक और आर्थिक लोभ का गहरा रंग था। इसलिए उसके जीवन में शुद्ध धार्मिक भावना की प्रधानता नहीं थी। स्वयं महमूद का समकालीन अरब लेखक अलबेरूनी ने लिखा है : "हिन्दुओं के बिखरे हुये खण्डहरों में मुसलमानों के प्रति उनकी घोर घृणा छिपी हुयी है। यही कारण है कि उनका ज्ञान-विज्ञान हमारे जीते हुये देशों से बहुत दूर चला गया है···जहाँ हमारे हाथ नहीं पहुँच सकते।" आधुनिक मुसलमान लेखक डा० हबीब ने महमूद के बारे में लिखा है 'गजनवी की सेना से भारतीय मंदिरों का जो घोर विध्वंस हुआ उसको किसी ईमानदार इतिहासकार को छिपाना नहीं चाहिये और अपने धर्म से परिचित कोई भी मुसलमान उसका समर्थन नहीं करेगा।" इसमें सन्देह नहीं, कि महमूद अपने समय का अद्वितीय सेनानायक और विजेता था, उसमें व्यक्तिगत वीरता और शौर्य, तत्परता, सावधानी, कष्ट-सहन की क्षमता एक बड़ी मात्रा में थी। सेना-संगठन, सेना-संचालन और व्यूह-रचना में वह अनुपम था। किन्तु शासन-व्यवस्था की उसमें कमी थी। जितने देशों को उसने जीता, उनमें वह शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित नहीं कर सका। महमूद अपने ढंग का कला और विद्या का प्रेमी भी था। भारत में लूटी हुई अपार सम्पत्ति और बन्दी किये हुये शिल्पियों के द्वारा उसने गजनी को बहुत-सी मसजिदों, राजभवनों और उपवनों से सुशोभित किया। उसके दरबार में बहुत से विद्वान, कवि और

लेखक रहते थे। अरबी लेखक अलबेरूनी का उल्लेख किया जा चुका है। वह भारत में आया था और व्यापक निरीक्षण के बाद 'तहकीके हिन्द' नामक ग्रन्थ लिखा। दूसरा प्रसिद्ध कवि फिरदौसी था, जिसने महान् ग्रन्थ 'शाहनामा' की रचना की थी।

(५) यामिनी वंश का पतन

महमूद के मरने के बाद गजनी की शक्ति कमजोर पड़ने लगी और धीरे-धीरे लाहौर का यामिनी-वंश भी दुर्बल हो गया। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, महमूद के साम्राज्य का संगठन उसकी व्यक्तिगत योग्यता, सेना और पशुबल के ऊपर अवलम्बित था। उसके कमजोर उत्तराधिकारी उसके विशाल साम्राज्य के सम्हालने में असमर्थ थे। दूसरे महमूद के साम्राज्य में जितनी जातियाँ थीं, उनमें कोई आदर्श और स्वार्थ की एकता न थी। महमूद के मरने के बाद वे सभी स्वतन्त्र होने लगीं। लूट में आयी हुयी अपार सम्पत्ति, स्त्रियों और गुलामों ने न केवल यामिनी-वंश में विलासिता उत्पन्न कर दी, किन्तु उन्होंने गजनी-प्रदेश की सारी जनता के चरित्र और बल को क्षीण कर दिया। इसी बीच **गोर** में एक नयी शक्ति का जन्म हुआ, जिसने लड़खड़ाते हुये यामिनी-वंश का अन्त कर दिया।

२. अफगान आक्रमण : दिल्ली में मुस्लिम राज्य

(१) गोर में अफगान-शक्ति का उदय

इसमें कोई सन्देह नहीं कि ग़ज़नी के तुर्कों ने पश्चिमोत्तर भारत पर अपना अधिकार जमा कर और लाहौर को अपना आधार बनाकर आगे बढ़ने का रास्ता साफ कर लिया था। परन्तु महमूद के बाद यामिनी-वंश में ऐसा कोई शक्तिमान शासक नहीं हुआ, जो लाहौर से आगे बढ़कर स्थायी रूप से मुस्लिम सत्ता भारत में स्थापित करता। इस काम को ग़ोर के अफगानों ने किया। अफगानिस्तान के पश्चिमी भाग में ग़ोर नाम का एक प्रदेश था। फीरोजकोह इसकी राजधानी थी। यहाँ के रहने वालों को ग़ोरी कहते थे। जाति से ये लोग अफगान-हिन्दू थे। इनमें से अधिकांश महमूद गजनवी के समय में मुसलमान हो गये। गजनी के तुर्कों ने गोरियों पर बड़ा अत्याचार किया। जब गजनी की शक्ति कमजोर पड़ी, तब अलाउद्दीन गोरी ने गजनी पर आक्रमण किया, शहर को लूटा, आदमियों का वध किया और पूरे नगर में आग लगा दी। अपने भाइयों की मृत्यु का बदला लेने के लिए उसने ग़ज़नी के सभी भवनों, विद्यालयों, अजायबघरों

को नष्ट किया। यहाँ तक कि महमूद के वंशजों की समाधियाँ खुदवाकर उनकी हड्डियों को कुत्तों के सामने फेंकवा दिया। इस विध्वंस के बाद अलाउद्दीन ने जहाँसोज़ (संसार को जलानेवाला) की उपाधि धारण की।

(२) भारत पर शहाबुद्दीन गोरी के आक्रमण

भारतीय इतिहास की दृष्टि से **शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी** के भारत के ऊपर आक्रमण अधिक महत्त्व के हैं। गजनी पर अपना अधिकार जमाने के बाद उसने अपनी दृष्टि भारत के ऊपर डाली। भारत में मुस्लिम सत्ता की स्थापना करनेवाला वास्तव में वही था। अरबों और तुर्कों ने केवल रास्ता दिखलाया था; साम्राज्य बनाने की उनके सामने कोई साफ योजना नहीं थी; लूट और विध्वंस से उन्होंने सन्तोष कर लिया था। शहाबुद्दीन का उद्देश्य भारत में राज्य स्थापित करना था। उसने उस काम को पूरा किया, जिसको मुहम्मद-बिन-कासिम और महमूद गजनवी पूरा न कर सके थे।

(क) मुहम्मद गोरी और पृथ्वीराज चौहान

जिस समय मुहम्मद गोरी भारत की ओर बढ़ा, सिन्ध, मुल्तान और पंजाब तुर्कों के अधिकार में थे। ११७५ ई० में उसके हमले शुरू हुए और ५–६ वर्षों के भीतर उसने इन प्रान्तों के ऊपर अपना पूरा अधिकार जमा लिया। इसके बाद उसने उत्तर-भारत को जीतने की तैयारी की। ११९१ ई० में वह आगे बढ़ा, परन्तु अब उसको वीर और लड़ाकू **राजपूतों से सामना** करना था। इसमें उसको कड़े प्रतिरोध का मुकाबला करना पड़ा। मुहम्मद गोरी ने पहले भटिंडा और सरहिन्द को जीता। यह समाचार पाते ही **अजमेर का राजा पृथ्वीराज चौहान** पूर्वी पंजाब में पहुँचा। उसने भी हिन्दू राजाओं का एक बड़ा सैनिक संघ बनाया। तलावड़ी के मैदान में गोरी और पृथ्वीराज की सेना का सामना हुआ। राजपूतों ने बड़े जोरों से गोरी की सेनाओं पर आक्रमण करके उसे तितर-बितर कर दिया। मुहम्मद गोरी युद्ध में घायल होकर गिरना ही चाहता था, कि उसके तुर्क अंगरक्षक ने उसको बचा लिया और उसे युद्ध से बाहर निकाल ले गया। ऐसा जान पड़ता है, कि हिन्दुओं ने तुर्कों की इस हार का पूरा लाभ नहीं उठाया, और उनको पश्चिमोत्तर सीमान्त पर छोड़ दिया। मुहम्मद गोरी हारकर बैठने वाला नहीं था। दो वर्ष के बाद ११९३ ई० में अपनी हार का बदला लेने के लिये वह भारत पर फिर चढ़ आया। तलावड़ी के मैदान में फिर राजपूत और अफगान सेनायें एक दूसरे से भिड़ीं। गहड़वालों और चौहानों की आपस की लड़ाइयों से राजपूत-संघ काफी कमजोर पड़ गया था। अबकी शहाबुद्दीन

गोरी युद्ध में विजयी हुआ। मुस्लिम इतिहासकारों के अनुसार पृथ्वीराज भागने के प्रयत्न में पकड़ा गया "और दोज़ख में भेज दिया गया।" वास्तव में तलावड़ी का दूसरा युद्ध भारत के इतिहास में एक निर्णायक युद्ध था। इसने भारत पर मुसलमानों की अन्तिम विजय निश्चित कर दी। इस गहरी हार के बाद राजपूत राजा फिर एकत्र होकर मुसलमानों का सामना न कर सके और मुस्लिम सेनायें जीत के बाद जीत करती गयीं।

(ख) दिल्ली और अजमेर-विजय

मुहम्मद गोरी के सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक ने मेरठ, कोयल और दिल्ली को जीता और दिल्ली को मुस्लिम सत्ता की राजधानी बनाया। गोरी ने ऐबक को भारत के जीते हुये प्रान्तों का शासक नियुक्त किया। ऐबक ने बड़ी निर्दयता के साथ नगरों को लूटा, कत्लेआम कराया और उनका विध्वंस किया। अजमेर पहुँचकर उसने बहुत से मन्दिरों को गिराया, और उनके स्थान पर मसजिदें बनवायीं। विग्रहराज चौहान द्वारा बनवाये हुये सुन्दर संस्कृत महाविद्यालय को तोड़-फोड़कर "ढाई दिन का झोंपड़ा" नामक मसजिद बनवाई गयी। अभी अजमेर जैसे दूर के प्रान्त में मुसलमानों के लिये सीधा शासन करना सम्भव नहीं था, इसलिए वार्षिक कर देने की शर्त पर पृथ्वीराज के लड़के गोविन्दराज को अजमेर का शासक बनाया गया।

(ग) कन्नौज-विजय

११९४ ई० में मुहम्मद गोरी ने दुबारा उत्तर-भारत पर आक्रमण किया। अबकी बार वह हिन्दू-संघ से अलग रहने वाले और देश के साथ विश्वासघात करने वाले कन्नौज के राजा जयचन्द पर चढ़ गया। भयंकर युद्ध हुआ। लड़ाई करते समय जयचन्द की आँख में बाण लगा और वह अपने हाथी से नीचे गिर गया। उसे मरा हुआ समझ कर उसकी सेना भाग गयी। नगर लूटा गया, मन्दिर तोड़े गये और दूसरे विध्वंस के कार्य हुए। जयचन्द्र को देशद्रोह का फल मिला और कन्नौज में इसके वंश का अन्त हो गया। कन्नौज के पतन के बाद गोरी की सेनाओं ने बनारस और दूसरे तीर्थ स्थानों को भी भ्रष्ट किया।

(घ) उत्तर-भारत के अन्य राज्यों पर विजय

मुहम्मद गोरी के सेनानायकों ने आसपास के और राज्यों को हराया। ऐबक ने अजमेर में चौहान-वंश का अन्त किया। इसके बाद उसने कालिंजर जीतकर ११९५ ई० में चन्देलों को हराया। ११९५ और ११९७ के बीच

ऐबक ने गुजरात पर आक्रमण किया, बयाना को जीता और ग्वालियर को अपने राज्य में मिला लिया। ११९७ में ऐबक की सेनाओं ने लड़ाकू मेढ़-जाति का दमन किया, किन्तु इन लड़ाइयों और विजयों में सबसे प्रसिद्ध विहार और बंगाल की विजय थी। ११९७ ई० में इख्त्यारुद्दीन मुहम्मद-बिन-बख्त्यार-खिलजी ने बंगाल पर आक्रमण किया। वह बड़ा वीर और सफल सेनानायक था। उसने पहले विहार के पाल-वंश का अन्त किया और विहारों, विद्यालयों और मठों को जलाया और बहुत बड़ी संख्या में बौद्ध भिक्षुओं को तलवार के घाट उतारा। विहार के ऊपर विजय से प्रोत्साहित होकर उसने बंगाल-विजय की योजना बनायी। बंगाल में इस समय लक्ष्मण सेन के दुर्बल वंशजों का राज्य था, जो विलासिता, धार्मिक अन्धविश्वास और गलत साधुता के कारण सैनिक दृष्टि से अयोग्य हो गये थे। १२०२ ई० में इख्त्यारुद्दीन ने बड़ी तेजी के साथ एकाएक बंगाल पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया।

(३) मुहम्मद गोरी का व्यक्तित्व

मुहम्मद गोरी में व्यक्तिगत वीरता और योग्यता उतनी न थी, जितनी महमूद गजनवी में। फिर भी नित नये देशों को जीतने, लूटने और इस्लाम के नाम पर विध्वंस करने की लालसा उसमें महमूद से कम न थी। इसके सिवाय एक बात में वह महमूद से भी आगे था। वह केवल सफल सेनानायक, लुटेरा और विध्वंसक ही नहीं था, किन्तु उसके सामने विजय और राज्य-स्थापन की निश्चित योजना भी थी। इसका फल यह हुआ कि वह महमूद की तरह कन्नौज को लूट कर वापस नहीं गया, किन्तु दिल्ली को अपनी राजधानी बनाकर दृढ़ मुस्लिम सत्ता की स्थापना भारत में की। इस दिशा में वह महमूद से बहुत अधिक सफल रहा। हिन्दुस्तान में उसकी विजय महमूद की विजय से अधिक व्यापक और स्थायी थी। यह उसकी नीति का फल था कि ११९३ से लेकर १८५७ के भारतीय विद्रोह तक दिल्ली के सिंहासन पर बराबर मुसलमान शासक रहे।

३. भारतीय पराजय के कारण

(१) महत्त्व का प्रश्न

हम यह देखते आये हैं कि किस तरह अरब, तुर्क और अफगान आक्रमण-कारियों के सामने भारत के प्रान्तीय राज्य एक के बाद दूसरे पराजित होते गये। यही घटना अगले चार-पाँच सौ वर्षों तक मुस्लिम आक्रमणकारियों

के सामने भारत में घटी। भारत के ऊपर पहले भी विदेशी आक्रमण हुये थे। ईरानी, यवन, शक, कुषण और हूण आदि जातियों ने छठवीं शती ई० पू० से लेकर पाँचवीं शती ई० पू० तक कई अवसरों पर भारत के ऊपर आक्रमण किया। परन्तु प्रत्येक अवसर पर भारत शीघ्र ही सम्हलकर स्वतंत्र होता गया और उसके बाद भारतीय इतिहास के कई उज्ज्वल युगों का निर्माण हुआ, किन्तु मध्यकालीन आक्रमणों के बाद बहुत लम्बे समय तक भारत ऐसा न कर सका। इस घटना को समझना और इसके कारणों को ढूँढ निकालना ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का है।

(२) तथा-कथित कारण

भारतीय पराजय के कारणों में कुछ इतिहासकारों ने शारीरिक और सैनिक कारणों को मुख्य स्थान दिया है। उनका कहना है कि ठण्डे देशों से आने के कारण मुसलमान शरीर में हिन्दुओं से अधिक हट्टे-कट्टे और बलवान थे; दूसरे मुसलमानों की घुड़सवार-सेना, उनका सैन्य-संगठन, आक्रमण करने का ढंग, युद्ध में व्यूह-रचना और हथियारों का प्रयोग हिन्दुओं से अच्छा था। इन कारणों के साथ-साथ, धार्मिक जोश और विदेश में जाकर विजय के लिये सारी शक्ति लगा देने की भावना भी कुछ लोग जोड़ देते हैं। इन कारणों को अंशतः ठीक मानते हुये भी यह कहना पड़ता है, कि ये मौलिक कारण न थे। हिन्दुओं ने कई मौकों पर मुसलमानों को शारीरिक बल और वीरता में हराया, आगे चलकर मराठों, जाटों और सिक्खों ने मुस्लिम-प्रदेशों पर आक्रमण भी किया। सेना और अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग में भी हिन्दू और मुसलमानों में विशेष कोई अन्तर नहीं था। देश और धर्म पर बलिदान होनेवाले हिन्दुओं की भी कमी नहीं थी। भारत के पतन के कारण इनसे भी अधिक गम्भीर थे। इन कारणों का संक्षिप्त विवेचन नीचे किया जाता है :

(३) वास्तविक कारण

(क) राजनीतिक

भारतीय राज्यों के पतन का पहला मुख्य कारण राजनीतिक था। मुस्लिम आक्रमण के पहले सारा देश छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट गया था। भारतीय इतिहास में अक्सर यह देखा गया है, कि जब भारत में बड़े साम्राज्य बने और उनकी केन्द्रीय शक्ति सबल रही तब विदेशियों को भारत पर आक्रमण करने का साहस नहीं हुआ, परन्तु केन्द्रीय शक्ति के अभाव और दुर्बलता के समय उन्होंने भारत पर सफल आक्रमण किया। भारत में जो

छोटे-छोटे प्रान्तीय और वंशगत राज्य थे, वे व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण आपस में लड़ा करते थे। उनमें एकता नहीं थी। कभी-कभी वे संघ भी बनाते थे परन्तु वे दृढ़ और स्थायी नहीं हो पाते थे। वंशगत राज्यों के सामने से देश की राजनीतिक एकता और उसकी रक्षा का प्रश्न ओझल हो गया। एक-एक करके वे आक्रमणकारियों से लड़ते और हार जाते। भारतीय राज्य इतने कूप-मण्डूक हो गये थे, कि न तो सीमान्त-नीति का उनको ज्ञान था और न परराष्ट्र नीति का। पड़ोस के विदेशी देशों में क्या घटनायें हो रही थीं और भारत पर उनके क्या परिणाम हो सकते थे, इसकी कल्पना भी इस युग के भारतीय राजा नहीं कर सकते थे। उनका न तो विदेशी राज्यों के साथ नियमित दौत्य-सम्बन्ध था और न सीमा की रक्षा के लिए सुसंगठित सेना ही उनके पास थी।

भारत की राजनीति में एक और महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन भी हो गया था। एकतान्त्रिक और निरंकुश राज्यों की स्थापना के बाद राजशासन में और देश के राजनीतिक भविष्य में प्रजा का हाथ और दिलचस्पी नहीं होती थी। इसलिये जब देश के ऊपर बाहिरी सेना का आक्रमण होता था, तो सारी प्रजा उसके विरोध में नहीं खड़ी होती थी। राज्य के परिवर्त्तन से उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। यदि कोई विदेशी राजा आ गया, तो वे उसको उसी प्रकार कर देते थे, जिस प्रकार पुराने राजा को। इस परिस्थति में राष्ट्रीयता और स्वतंत्रता की भावना के स्थान पर राजभक्ति और आज्ञाकारिता की भावनाओं ने प्रजा के हृदय पर स्थान कर लिया। विदेशी सत्ता भारत में लम्बे समय तक क्यों टिक सकी इसका रहस्य यही है।

(ख) सैनिक

मुसलमानों के सामने भारतीय हार का दूसरा कारण सैनिक था। प्रान्तीय राजाओं की सेनाओं का बहुत बड़ा भाग उनके सामन्तों और सरदारों के पास से आता था; राजा के पास अपनी स्थायी सेना कम होती थी। इस प्रकार से इकट्ठी सेना में सबसे बड़ा दोष यह था कि नियमपूर्वक इसकी शिक्षा नहीं होती थी और न तो एक नेतृत्व में इसको लड़ने का अभ्यास होता था। कभी-कभी तो सेनानायक के चुनाव में ही झगड़ा हो जाता था। सैनिक संघों के बनने में भी सबसे बड़ी कठिनाई यही थी। इस काल की सेना में एक मौलिक दोष यह भी था कि वह केवल राजा के लिये लड़ती थी, देश या राष्ट्र के लिये नहीं। इसलिये युद्ध में राजा के मारे जाने अथवा भाग जाने पर सेना तुरन्त ही तितर-बितर हो जाया करती थी।

भारतीय सेना में हाथियों का उपयोग भी कई वार घातक हुआ। सिकन्दर के समय से लेकर इस समय तक भारतीयों ने हाथियों के सम्बन्ध में अपने अनुभवों से लाभ नहीं उठाया। मुसलमानों की घुड़सवार-सेना भारत की बहुसंख्यक पैदल सेना से अधिक उपयोगी थी। उसमें गति, तेजी और विध्वंसक शक्ति अधिक थी। अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग में मुसलमान और हिन्दुओं में कोई विशेष अन्तर नहीं था, परन्तु चीन की सीमा के पास से आने के कारण तुर्कों में कुछ आग्नेय (आग से जलने वाले) अस्त्र, प्रयोग में आने शुरू हो गये थे, जब कि धार्मिक कारणों से भारत में आग्नेय हथियारों का प्रयोग बन्द हो चुका था।

(ग) सामाजिक

राजनीतिक और सैनिक कारणों से अधिक गम्भीर और मौलिक कारण हिन्दुओं की हार के सामाजिक, धार्मिक और बौद्धिक थे, जिन्होंने भारतीय जीवन को भीतर से खोखला बना दिया था। समाज कई जातियों और उप-जातियों में बँटता गया। उसकी एकता और शक्ति क्षीण हो गयी। नयी जाति-व्यवस्था के राजनीतिक और सैनिक दुष्परिणाम भी हुये। राजा प्रायः क्षत्रिय वर्ण या जाति का होता था और सैनिक भी प्रायः क्षत्रिय होते थे। जनता के मन में धीरे-धीरे यह बात बैठ गयी कि देश की रक्षा का भार केवल राजा और उसकी सेना पर है, देश की जनता पर नहीं। लोगों ने यह भी समझ रखा था कि राज्य करना और लड़ना केवल क्षत्रिय जाति का काम है। प्राचीन काल में जब वर्ण-परिवर्त्तन सम्भव था और अन्तर्जातीय विवाह होते थे तब इस भावना को स्थान नहीं मिलता था। मध्यकाल की सामन्त-प्रथा और राजाओं के वंशगत स्वार्थ ने इस भावना को दृढ़ किया।

(घ) धार्मिक

धर्म ने भी देश और जातियों को एक सूत्र में बाँधने के बदले उनको अलग-अलग सम्प्रदायों में बाँट दिया। वैदिक, बौद्ध और जैन सभी धर्मों में सम्प्रदाय, उप-सम्प्रदाय, शाखा और उपशाखा के बढ़ाने में होड़-सी लगी हुई थी। सभी धार्मिक सम्प्रदायों में भक्ति-मार्ग और गुह्य अथवा वाम-मार्ग की प्रधानता थी। भक्ति-मार्ग ईश्वर, बुद्ध या तीर्थंकर पर अनन्य भक्ति और पूर्ण आत्मसमर्पण, संसार से वैराग्य और परलोक में विश्वास और उसके महत्त्व पर जोर देता था। साथ ही साथ भक्ति-मार्ग ने जीवन की आवश्यक कठोर भावनाओं—क्रोध, अन्याय तथा अत्याचार के प्रति असहिष्णुता और

घृणा आदि—को दवाकर केवल कोमल भावों—अहिंसा, करुणा, दया, मैत्री, प्रेम आदि—को प्रोत्साहन दिया। इसके सिवाय खाने-पीने, आचार, अतिशुद्धि और छूतछात के नियमों के कारण जीवन छुईमुई-सा हो गया। धर्म के नाम पर कई अन्धविश्वास भी जनता में प्रचलित हो गये, जैसे कलियुग की हीनता और भाग्यवाद में विश्वास, ज्योतिष में अटूट आस्था, ब्राह्मण और गाय की शारीरिक रक्षा का महत्त्व आदि। कई युद्धों में ऐसा हुआ कि मुसलमान गाय की पाँत के पीछे से या उसकी पूँछ को झंडे से लगाकर लड़ते थे और हिन्दू गाय की पवित्रता का ध्यान रखकर उनपर आक्रमण नहीं कर सकते थे। गुह्य-समाज और वाम-मार्ग से जनता में भ्रष्टाचार और अज्ञान बढ़ते जा रहे थे।

(ङ) बौद्धिक जडता

भारत में बौद्धिक जडता ने भी अपना घर कर लिया था। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, कि इस युग के लेखकों में आत्मविश्वास का अभाव और दूरदर्शिता की कमी थी। वे अब अतीत के सुवर्ण युगों का केवल स्वप्न देख सकते थे। प्रायः टीका, भाष्य, संग्रह और निबन्ध लिखकर वे सन्तोष कर लिया करते थे। इसलिये मुस्लिम आक्रमण से उत्पन्न नयी स्थिति को समझने और उसका हल निकालने में वे असमर्थ थे। ७०० ई० से लेकर १२०० ई० तक की भारत की एकाकी स्थिति ने भी भारतीयों को कूप-मण्डूक बना दिया। साथ-साथ उनमें अभिमान, आलस्य और असावधानी भी आने लगी। वे समझने लगे कि भारत सैनिक और राजनीतिक दृष्टि से अजेय है। इस कारण से न तो बाहर से दौत्य-सम्बन्ध, न सीमा की रक्षा का प्रबन्ध और न सेना का समुचित प्रबन्ध ही था। एक विचित्र असावधानी और अत्यन्त अंधविश्वास ने बुद्धि, विवेक और क्रियाशक्ति को ढँक लिया था। अलबेरुनी ने, जो मानव जीवन का सूक्ष्म निरीक्षक था, हिन्दुओं की इस मनोवृत्ति की शिकायत की है।

भारतीय राज्यों के पतन के मौलिक कारणों के लिखने का यह मतलब नहीं कि जिन गुणों की हिन्दुओं में कमी थी, वे सब गुण मुसलमानों में मौजूद थे। इसका अर्थ केवल यह है, कि देश के ऊपर आक्रमण और कभी-कभी मानवता के ऊपर बहनेवाले आँधी-पानी को रोकने वाले जो गुण आवश्यक हैं, उनका हिन्दुओं में अभाव हो गया था। इसलिये पुरानी और प्रौढ़ सभ्यता तथा लम्बे-चौड़े देश के साधन होते हुये भी वे विदेशियों से देश की रक्षा न कर सके थे।

१८ अध्याय

दिल्ली सल्तनत का संगठन और विकास

१. दास-वंश

मुहम्मद गोरी ने भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना की, परन्तु उसने भारत पर सीधा शासन नहीं किया। उसके सेनापति और प्रतिनिधि भारत में शासन करते रहे। उसके सेनापतियों में सबसे योग्य और प्रसिद्ध कुतुबुद्दीन ऐबक था। इसने भारत में सल्तनत के संगठन और विकास में काफी भाग लिया था। वह एक दास था। इसलिये जिस राज-वंश की उसने स्थापना की वह दास-वंश कहलाता था।

(१) कुतुबुद्दीन

कुतुबुद्दीन ऐबक ने सुल्तान होने पर गोरी और गजनी की सत्ता से स्वतन्त्र दिल्ली में एक स्वाधीन सल्तनत की स्थापना की। उसने उसी नीति
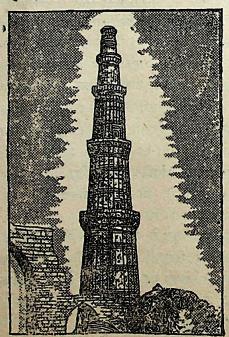
कुतुबमीनार

का भारत में व्यवहार किया, जिस को उसके स्वामी मुहम्मद गोरी या उसके

पहले मुहम्मद गजनवी या मुहम्मद बिन-कासिम ने बरती थी। विध्वंस, युद्ध, लूट, दास बनाना, धर्म परिवर्तन-मन्दिरों को तोड़ना और उनकी सामग्री से मसजिदें बनवाना आदि काम तो मुस्लिम शासकों के नियमित कार्यक्रम में थे। परन्तु इन कामों को कुतुब ने विजेता और जेहादी के रूप में किया था। शासक रूप से उसने अपने राज्य का संगठन और शासन-व्यवस्था भी की। मुसलमान लेखकों के अनुसार उसने न्याय के रास्ते से शासन किया। उसकी प्रजा सुखी थी! चोर और डाकुओं को उसने दबाया। हिन्दुओं के साथ उसने कृपापूर्वक बर्त्ताव किया। परन्तु वास्तव में उस न्याय की एक सीमा भी थी। जब काफिरों के गले में गुलामी का तौक पड़ जाता और वे जजिया (धार्मिक कर) देने को तैयार होते थे तब उनके साथ छेड़-छाड़ कम की जाती थी। शासन का स्वरूप सैनिक और धार्मिक था। जिसका उद्देश्य राज्य का विस्तार और इस्लाम का प्रचार था। मुसलमान और जिम्मी का भेद साफ था। शासन में प्रजाहित का अभी कोई ध्यान न था। व्यक्तिगत जीवन में कुतुब वीर, न्यायप्रिय और दानी था। दानी होने के कारण उसको 'लाखबख्श' की उपाधि मिली थी। वह अपने धर्म का प्रचारक और इमारतों का निर्माता था। दिल्ली और अजमेर में उसने बड़ी-बड़ी मसजिदें बनवायीं। उसने कुतुब मीनार बनवाना शुरू किया था जो उसके समय में पूरी न हो सकी। १२१० ई० में चौगान खेलते समय लाहौर में उसका देहान्त हो गया।

(२) इल्तुतमिश

कुतुबुद्दीन के मरने के बाद तुर्की अमीरों ने उसके लड़के आरामशाह को गद्दी पर बैठाया, किन्तु वह वास्तव में आरामतलब, आलसी और निकम्मा था। इसलिये बदायूँ के शासक इल्तुतमिश ने जो कुतुब का गुलाम रह चुका था, आराम शाह को गद्दी से हटाया और स्वयं गद्दी पर बैठ गया। गद्दी पर बैठने के समय इल्तुतमिश के सामने चार समस्यायें थीं:—(१) राज्य का संगठन, (२) मुस्लिम अमीरों और प्रान्तीय शासकों को दबाना, (३) हिन्दू राजाओं और सामन्तों का दमन और (४) पश्चिमोत्तर सीमाओं की रक्षा। सुल्तान ने पहले सेना का संगठन किया, फिर माल के विभाग का सुधार कर उसने भारत में नये ढंग के सिक्के चलाये। अभी तक हिन्दू सिक्कों के अनुकरण पर ही मुस्लिम सिक्के बनते थे। उनके एक ओर बैल और दूसरी ओर घुड़सवार की मूर्त्ति होती थी; लेख अरबी और नागरी दोनों ही अक्षरों में होता था। इल्तुतमिश ने इसके बदले चाँदी का टंका नाम का

बड़ा सिक्का चलाया जो तौल में लगभग १७५ ग्रेन होता था और जिसके ऊपर केवल अरबी अक्षरों में ही लेख होता था। मुस्लिम संसार के ऊपर इल्तुतमिश के शासन की अच्छी धाक जम गयी। बगदाद के खलीफा ने १२२८ ई० में उसके शासन को नियमतः स्वीकार किया, और उसको सम्मान और उपाधियाँ दीं।

मुस्लिम सरदारों और अमीरों को दबाकर उसने अपनी स्थिति को दृढ़ कर लिया और प्रान्तीय मुस्लिम शासकों पर उसका रोब जम गया। इसके बाद उसने हिन्दू राजाओं और सामन्तों को दबाया। हिन्दू राजे, सैनिक और सामन्त कुतुब के मरने पर उत्पन्न हुई स्थिति से लाभ उठाना चाहते थे और कई स्थानों पर उन्होंने विद्रोह किया। इल्तुतमिश ने उनका दमन करने के लिए कन्नौज का किला फिर से जीता। अवध के सामन्तों को हराया। पंजाब के खक्खर भी सुल्तानों के लिये एक कठिन समस्या थे। उन्होंने तुर्क-राज्य के खिलाफ कई बार विद्रोह किया और मंगोलों के आक्रमण के समय उनका साथ देकर दिल्ली की सल्तनत के लिये बहुत बड़ा संकट उपस्थित कर दिया। खक्खरों को दबाने के लिये सुल्तान को कई बार पंजाब जाना पड़ा, लेकिन उन्हें न दबा सका। इसके बाद राजस्थान में रणथम्भौर के आसपास राजपूतों के विद्रोह को भी उसने दबाया; परन्तु इल्तुतमिश की सफलता स्थायी न थी। उसको दमन-नीति से थोड़े दिन के लिये सफलता मिल गयी।

सीमान्त की रक्षा के लिये भी इल्तुतमिश ने प्रयत्न किया। भारतीय इतिहास में पश्चिमोत्तर सीमा की रक्षा का प्रश्न बराबर महत्त्वपूर्ण रहा है। सीमान्त के लिये दो प्रकार के संकट उपस्थित थे :—(१) सीमान्त की जातियों के उपद्रव और (२) बाहर से विदेशियों के आक्रमण। इल्तुतमिश के समय में पंजाब में खक्खरों के उपद्रव का उल्लेख किया जा चुका है। उसके समय में बाहरी खतरा था पश्चिमोत्तर से मुगलों के आक्रमण का। जिस तरह पाँचवीं शती में हूण, सातवीं में अरब और नवमी तथा दशमीं में तुर्क संसार को जीतने के लिये निकले थे, उसी प्रकार तेरहवीं शती में मंगोल जाति ने भी विश्व विजय के लिये प्रस्थान किया। मंगोलों के नेता चंगेजखां ने बारहवीं शती में एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया, जो पूर्व में प्रशान्त महासागर से लेकर पश्चिम में कैस्पियन सागर तक फैला था। मंगोल अभी तक बौद्ध थे, मुसलमान नहीं हुये थे। तुर्किस्तान में जो मुस्लिम राज्य स्थापित हुये थे, उनको मंगोलों ने नष्ट किया और उसके बाद चंगेजखां ने अफगानिस्तान को भी तुर्कों से छीन लिया। भारत के ऊपर

मंगोल आक्रमण इसी प्रवाह की एक लहर थी। मंगोल मध्य-एशिया और अफगानिस्तान जीतने के बाद उत्तर-भारत के रास्ते बंगाल की खाड़ी में होकर हिन्द-चीन में पहुँचना चाहते थे। चंगेजखाँ सिन्धु नदी के किनारे तक पहुँचा, किन्तु सिन्धु-पंजाब का गर्म जलवायु उसके लिये बिल्कुल ही अनुकूल न था, अतः वापस चला गया। इस प्रकार संयोग से भारत एक महा संकट से बच गया। इल्तुतमिश ने पंजाब और सिन्ध के अप्रिय और कमजोर शासक कुवाचा को हटाकर उन प्रान्तों पर अपना पूरा अधिकार कर लिया।

ऊपर लिखी हुई समस्याओं के हल के साथ-साथ इल्तुतमिश ने भारत में मुस्लिम सत्ता का विस्तार भी किया। उसने धीरे-धीरे अपनी सैनिक शक्ति और युद्ध-कौशल के द्वारा उत्तर-भारत के उस भाग पर अपनी सत्ता स्थापित की, जो कुतुबुद्दीन ऐबक के समय में दिल्ली की सल्तनत के अधीन था। परन्तु इतने से ही उसे सन्तोष न था। इससे उसने पड़ोसी राज्यों पर भी आक्रमण किया। उसने रणथम्भौर को फिर से जीता और ग्वालियर को पूर्णतः दिल्ली सल्तनत के अधीन बनाया। १२३४-३५ में उसने कालिंजर के चंदेल राजा लोकवर्मन् पर आक्रमण कर उसके राज्य को अच्छी तरह से लूटा। यहाँ से आगे बढ़कर भेलसा (प्राचीन विदिशा) को जीतते हुये उज्जैन पर आक्रमण किया। प्रसिद्ध महाकाल-मन्दिर को उसने तोड़ा और कहते हैं कि शिवलिंग और राजा विक्रमादित्य की प्रतिमा को वह अपने साथ दिल्ली ले गया। माण्डोगढ़ को भी इसी सिलसिले में उसने जीता। मालवा के बाद उसने गुजरात पर चढ़ाई की। बीच में उसे मेवाड़ के गहलोतों से लड़ना पड़ा। युद्ध में इल्तुतमिश हार गया और गुजरात न पहुँच सका।

इल्तुतमिश साहित्य और कला का आश्रयदाता था। जहाँ तक हिन्दू-कला—स्थापत्य और मूर्त्तिकला—का सम्बन्ध है, उसने उसके साथ वही व्यवहार किया, जो उसके पहले मुस्लिम आक्रमणकारियों और शासकों ने किया था। परन्तु मुस्लिम साहित्य, विद्या और कला के लिए उसके हृदय में अनुराग था। उसके दरबार में लेखक, कवि, विद्वान और सूफियों का आदर होता था। उसको इमारतों के बनाने का बड़ा शौक था। उसने ऐबक द्वारा अर्द्ध-निर्मित कुतुबमीनार को पूरा किया और जामा-मसजिद का विस्तार दूना कर दिया।

युद्ध और शासन के कठिन परिश्रम और तुर्क अमीरों के षड्यंत्र से इल्तुतमिश काफी परेशान था और १२३६ ई० में बीमारी के कारण उसका देहान्त हो गया। उसके मरने के बाद दिल्ली की सल्तनत कमजोर पड़ गयी।

जियाउद्दीन बरनी ने उस अवस्था का वर्णन किया है : "शमसुद्दीन की मृत्यु के बाद तीस वर्ष में उसके लड़कों की अयोग्यता और उनकी घटती हुई शक्ति ने लोगों के मन में एक प्रकार की चपलता, अवज्ञा और दुराग्रह उत्पन्न कर दिया। सरकार का भय जो अच्छे शासन का आधार और राज्य की शान और शक्ति का स्रोत है, सभी मनुष्यों के हृदय से जाता रहा और देश की दशा शोचनीय हो गयी।"

(३) रजिया सुल्ताना

इल्तुतमिश का बड़ा लड़का महमूद जो बंगाल का गवर्नर था, उसके जीवन काल में ही मर गया। उसके दूसरे लड़के विलासी और निकम्मे थे, इसलिये उसने अपने राज्य की अधिकारिणी रजिया को चुना। परन्तु रजिया के योग्य होते हुये भी वह उस युग के अनुकूल नहीं थी। एक मुसलमान इतिहासकार लिखता है : "शासक के सभी गुण रजिया में वर्त्तमान थे; परन्तु उसका जन्म पुरुष योनि में नहीं हुआ था, इसलिये पुरुषों की दृष्टि में उसके सभी गुण बेकार थे, ईश्वर उस पर दया करे।" तुर्की अमीरों ने रजिया के उत्तराधिकार का विरोध किया और इल्तुतमिश के छोटे लड़के रुक्नुद्दीन को गद्दी पर बैठाया; परन्तु रुक्नुद्दीन बड़ा अत्याचारी और अप्रिय था। उसके विरुद्ध भी विद्रोह हुआ और अमीरों के एक दल की सहायता से रजिया दिल्ली की गद्दी पर बैठी। परन्तु सल्तनत के वज़ीर जुनैदी ने अमीरों का संघ बनाकर रजिया का फिर विरोध किया। रजिया ने इस समय अपनी योग्यता का परिचय दिया। उसने पुरुष का वेश बनाया और अस्त्र-शस्त्र धारण किया। घोड़े पर सवार होकर सेना का नेतृत्व किया। अपनी सैनिक योग्यता और भेद-नीति से विद्रोह को दबा दिया। कुछ दिनों तक रजिया ने सफलता के साथ शासन किया, किन्तु रजिया का शासन उस समय के अमीरों और सरदारों के लिये असह्य था। रजिया को उसके स्त्री स्वभाव ने भी धोखा दिया। एक एबीसीनिया-निवासी हब्शी सैनिक याकूत उसका स्नेह-पात्र हो गया और उसको सुल्ताना ने अमीर आख़ोर (अस्तबल का अध्यक्ष) बना दिया। फिर क्या था! रजिया के खिलाफ विद्रोह की आग फिर भड़क उठी। भटिंडा के सूबेदार अल्तूनिया ने युद्ध में याकूत को मारकर रजिया को कैद कर लिया; परन्तु रजिया ने अपने सौन्दर्य और चतुराई से अल्तूनिया को अपने वश में कर लिया और दोनों का विवाह हो गया। दोनों ने मिलकर दिल्ली पर आक्रमण किया। रजिया अपनी धाक और लोगों के हृदयों में अपना आदर खो चुकी थी। अमीरों की सहायता से इल्तुतमिश के तीसरे पुत्र

बहराम ने उन दोनों को युद्ध में हराया। १२४० ई० में रजिया और उसका प्रेमी अल्तूनिया दोनों अपने ही सैनिकों द्वारा मारे गये।

(४) इल्तुतमिश के पिछले वंशज

वास्तव में इस समय **चालीस तुर्की अमीरों का गुट** दिल्ली की सल्तनत का संचालन कर रहा था। रजिया के बाद उस गुट ने बहराम और इल्तुतमिश के दूसरे वंशजों को बारी-बारी से अपने सुविधानुसार दिल्ली की गद्दी पर बैठाया। इसी गुट की इच्छा से **नासिरुद्दीन महमूद** १२४६ ई० में दिल्ली के सिंहासन पर बैठा और १२६६ ई० तक राज्य करता रहा। इल्तुतमिश के वंशजों के पिछले इतिहास को देखते हुये यह आश्चर्यजनक मालूम पड़ता है। इसका रहस्य यह था कि नासिरुद्दीन स्वभाव का दुर्बल और अमीरों की नीति में कोई हस्तक्षेप नहीं करता था, इसलिये उनकी कृपा से नाममात्र के लिये इतने लम्बे काल तक वह सुलतान बना रहा। सच बात तो यह है कि राज्य की बागडोर उसके प्रधान वजीर और अमीरों के प्रतिनिधि बलबन के हाथ में थी। मुस्लिम लेखकों ने नासिरुद्दीन के चरित्र और प्रभाव की बड़ी प्रशंसा की है। इतना तो ठीक मालूम होता है कि उस समय के सुल्तानों की अपेक्षा नासिरुद्दीन में संयम, सादगी, धार्मिकता, किफायतशारी और परिश्रम करने का अच्छा अभ्यास था। नासिरुद्दीन में एक बुद्धिमानी भी थी। परिस्थिति और अपनी कमजोरी को समझते हुये उसने सारा राज्य का भार बलबन के ऊपर छोड़ दिया, जो भीतरी उपद्रव और बाहरी आक्रमणों से दिल्ली सल्तनत की रक्षा करता रहा। नासिरुद्दीन ने अपने मरने के पहले बलबन को अपना उत्तराधिकारी निश्चित कर दिया था। इल्तुतमिश के दुर्बल वंशजों के बाद फिर एक योग्य गुलाम दिल्ली की गद्दी पर बैठा।

(५) बलबन

बलबन तुर्कों के इलबारी फिरके में पैदा हुआ था। उसका पिता तुर्किस्तान में १० हजार घरानों का खान था। लड़कपन में ही वह मंगोलों द्वारा लड़ाई में कैद हुआ और गुलाम बनाया गया। घूमते-फिरते वह दिल्ली पहुँचा और इल्तुतमिश ने उसे खरीद लिया। अपनी प्रतिभा और योग्यता से वह धीरे-धीरे उन्नति करता गया और ४० गुलामों के गुट में शामिल हो गया। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, **नासिरुद्दीन के समय में भी वास्तविक शासन बलबन के हाथ में था।** सल्तनत की जो समस्यायें इल्तुतमिश के समय में थीं, वे ही नासिरुद्दीन के शासन-काल में भी थीं। बलबन ने मंगोलों के आक्रमणों से भारत को बचाया, मुस्लिम अमीरों और

सूबेदारों पर नियंत्रण रखा और हिन्दुओं के विद्रोह को दबाया। कुछ समय के लिये हिन्दी मुसलमान अमीरों के षड्यंत्रों से बलबन के हाथ से सल्तनत की शक्ति बाहर निकल गयी थी। बलबन ने नासिरुद्दीन के पास अपना प्रतिनिधि भेजा और कहलाया—"हम सुल्तान के विरुद्ध नहीं किन्तु आधे काफिर हिन्दी अमीर रैहान के खिलाफ हैं। यदि सुल्तान उसको निकाल कर किसी तुर्क को वजीर बनावें तो हम उनके साथ हैं।" सुल्तान में फिर तुर्क भावना जागृत हो गयी और उसने बलबन को अपना वजीर बनाया।

उस समय की राजनीति और लम्बे अनुभव के बाद १२६६ ई० में नासिरुद्दीन की मृत्यु के बाद बलबन दिल्ली का सुल्तान हुआ। राज्य की डाँवाडोल स्थिति में शासन करने के लिए जो गुण होना चाहिये वे सब गुण उसमें मौजूद थे। बलबन के सामने भी प्रायः वे ही समस्यायें रहीं जो उसके पहले के सुल्तानों के समय से चली आ रही थीं—(१) राज्य का पुनर्संगठन, (२) मुस्लिम अमीरों और सर्दारों का नियंत्रण, (३) हिन्दुओं का दमन और (४) मंगोलों से सीमान्त की रक्षा। पहले के सुल्तानों की अपेक्षा इन समस्याओं का हल बलबन ने अधिक सफलता के साथ किया।

(क) शासन का संगठन

गद्दी पर बैठने के बाद पहले उसने राज्य-शासन का संगठन किया। बलबन का केन्द्रीय शासन एकतान्त्रिक और बिल्कुल निरंकुश था। राज्य की सारी शक्ति बलबन के हाथ में थी। चालीस तुर्की अमीरों का गुट भी उसके ऊपर दबाव डालने में असमर्थ था। बलबन अथक परिश्रमी और कठोर शासक था। उसने सल्तनत को कई सूबों में बाँटा। सैनिक दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण पश्चिमी सूबों के ऊपर अपने लड़कों को शासक बनाया। सूबेदारों को बलबन ने पूरी स्वतन्त्रता नहीं दी। उनको आवश्यक कार्यों में सुलतान की सलाह और अनुमति लेनी पड़ती थी। बलबन ने न्याय-विभाग का भी फिर से संगठन किया। उसके समय में न्याय का आधार मुस्लिम कानून था। बड़े-बड़े पदों पर काजी नियुक्त थे। दीवानी के मुकद्दमों में हिन्दू-प्रथाओं और मुसलमान शरीयत के अनुसार निर्णय होता था, किन्तु फौजदारी के मुकद्दमों में सबके ऊपर कुरान के नियम एक समान लागू होते थे। धर्म-तान्त्रिक राज्य होने से हिन्दुओं के साथ पूरा न्याय होना सम्भव नहीं था; परन्तु इस भेद को छोड़कर बलबन ने न्याय करने में पक्षपातहीनता और कठोरता का व्यवहार किया। माल के विभाग में बलबन ने अरबों का ही अनुकरण किया। जजिया (धार्मिक-कर), खिराज (भूमि-कर) और

जक़ात आदि सरकारी आय के मुख्य साधन थे। इसके सिवाय व्यापार, क्रय-विक्रय आदि पर और भी बहुत से फुटकर कर लगे हुये थे। बलबन ने नये ढंग के सिक्के चलाये। जागीरदारी की प्रथा पूर्ववत् थी। लूट और अधीन राज्यों से सरकारी खजाने को आमदनी होती थी। यद्यपि और किसी विभाग में बलबन हिन्दुओं का विश्वास नहीं करता था, फिर भी माल-विभाग में उसने बहुत से हिन्दू कर्मचारियों को रखा। बलबन इस बात को समझता था कि पशुबल के आधार पर शासन करने के लिये एक बड़ी और सुसंगठित **सेना** की आवश्यकता है। घुड़सवार और पैदल सेना में ऐसे योग्य और अनुभवी मलिकों को नियुक्त किया जो बहुत चतुर, साहसी और विश्वासपात्र थे। बहुत से बूढ़े जागीरदार और सैनिक जो काम के लिये अयोग्य थे, सेना से निकाल दिये गये। अस्त्र-शस्त्र बनाने के लिये कारखाने खोले गये। पुराने किलों की मरम्मत हुई और आवश्यक होने पर नये किले बनवाये गये। बलबन के पहिले अरब, अफगान और तुर्कों ने देश की चोर और डाकुओं से **आन्तरिक रक्षा** का कोई प्रबन्ध नहीं किया था। इस ओर सबसे पहले बलबन ने ही ध्यान दिया था। उसने बहुत से जंगलों को साफ कराया। स्थान-स्थान पर थाने और चौकियाँ स्थापित कीं और उनमें रक्षक नियुक्त किये। पुलिस का एक **गुप्तचर-विभाग** भी था। गुप्तचर सारे राज्य में फैले हुये थे, जो विशेषकर राजनीतिक अपराधों का पता लगाते थे। फिर भी इससे साधारण जनता को लाभ हुआ। बहुत से राजनीतिक डाकू, जो न केवल सरकार को परन्तु प्रजा को भी लूटते थे, मार डाले गये।

(ख) मुस्लिम अमीरों और सरदारों का दमन

शासन के संगठन के बाद बलबन ने मुस्लिम अमीरों और सरदारों के दबाने का काम किया। **मुस्लिम अमीरों और सरदारों** का एक गुट बन गया था। यह गुट सल्तनत के लिये एक समस्या था। सुल्तान के उत्तराधिकार और शासन में यह सदैव हस्तक्षेप करता था। इस स्थिति को बलबन सहन नहीं कर सकता था। उसने अमीरों के इस गुट को तोड़ने का निश्चय किया और उनके ऊपर बड़े-बड़े प्रतिबन्ध लगाये। शराब पीना, जुआ खेलना और दूसरी सामाजिक कुरीतियाँ जो अमीरों में प्रचलित थीं, उनको बन्द किया। दरबार का ऐसा कड़ा नियम बनाया कि सुलतान से कोई भी अशिष्ट बर्त्ताव न कर सकता था। सभी को शान्ति और गम्भीरता से बैठना पड़ता था। वह न तो किसी के साथ मजाक करता था और न हँसता ही था। इसलिये उसके दरबार में भी कोई मजाक या हँसी नहीं कर

सकता था। छोटे-छोटे नियमों के भंग पर भी वह अमीरों को कड़ा दण्ड देता था। उसने चालीस तुर्की अमीरों को धीरे-धीरे मरवा कर अपने रास्ते का काँटा साफ कर दिया।

उसके समय में बंगाल के सूबेदार तातारखाँ और तुगरिलखाँ ने पश्चिमोत्तर से मंगोलों के आक्रमण से लाभ उठाकर दिल्ली की सल्तनत से बगावत की और सुल्तान को कर देना बन्द कर दिया। बलबन ने इस विद्रोह को बड़ी कठोरता के साथ दबाया और अपने लड़के बुगराखाँ को बंगाल का सूबेदार बनाया।

(ग) हिन्दुओं का दमन

सल्तनत के जमाने में हिन्दू बार-बार विद्रोह करते थे। मेवात के राजपूतों ने अपना आतंक फैला रखा था। दोआबे और कटेहर के हिन्दू जमींदारों ने भी बगावत की। पंजाब के खक्खरों के उपद्रव अभी भी चल रहे थे। बलबन ने जिस कठोरता और बर्बरता के साथ मुस्लिम विद्रोहों को दबाया था, उससे अधिक बर्बरता और भयंकरता के साथ हिन्दू विद्रोहियों का दमन किया। सुल्तान की हिन्दुओं के प्रति सामान्य नीति अत्यन्त कठोर और अविश्वासपूर्ण थी। हिन्दू सभी प्रकार से अपमानित और दलित थे। लेकिन सुलतान को किसी की भावना से कोई मतलब नहीं था, वह तो अपना लोहा मनवाना चाहता था।

(घ) सीमान्त की रक्षा

मंगोलों से सीमान्त की रक्षा का प्रश्न भी बलबन के लिये बड़े महत्त्व का था। उसने अपने अनुभव और शक्ति को इधर भी लगाया और सीमान्त की रक्षा का उचित प्रबन्ध भी किया। पहले उसने सीमान्त के दर्रों की पूरी किलेबन्दी की, जिससे कोई शत्रु उनसे होकर भारत में न घुस सके। दूसरे उसने सीमान्त की पहाड़ियों के समानान्तर फौजी छावनियाँ स्थापित कीं। तीसरे उसने फौज का नये सिरे से पुनर्संगठन किया और चुने हुये आदमियों को सीमान्त की रक्षा के लिये नियुक्त किया। चौथे पंजाब में हथियार बनाने के कारखाने खोले गये। पाँचवें बलबन ने अपने विश्वासपात्र व्यक्तियों को पंजाब और सीमान्त का सूबेदार बनाया। बलबन के समय में मंगोल अपने आक्रमणों में कई बार पराजित हो चुके थे, पर फिर भी वे शान्त नहीं थे। १२५० ई० में उन्होंने फिर बड़े जोर से सीमांत पर आक्रमण किया। बलबन के लड़के शाहजादा मुहम्मद ने बड़ी योग्यता के साथ उनका मुकाबला करके उनको पीछे भगा दिया; परन्तु इसी युद्ध में वह मारा भी गया। इस घटना से बलबन को बड़ा धक्का लगा और हताश तथा दुःखी सुल्तान की १२८६ ई० में मृत्यु हो गयी।

(ङ) बलवन का चरित्र

गुलाम-वंश के शासकों में बलवन सबसे योग्य और बड़ा था। उसमें शासन की प्रतिभा और सैनिक संगठन तथा सेना-संचालन की उच्च कोटि की क्षमता थी। उसको अपने खान्दान का बड़ा गर्व था और सुलतान की मर्यादा का वह बहुत ख्याल रखता था। दरबार की शान-शौकत पर वह बहुत खर्च करता था। उसका राजनीतिक जीवन बड़ा कठोर था, परन्तु उसके व्यक्तिगत जीवन में कोमलता थी। विलासिता उससे कोसों दूर थी। उसने खुद शराब पीना बन्द कर दिया और दूसरों के ऊपर भी प्रतिबन्ध लगाया। उसमें विद्या-प्रेम और उदारता भी थी। फिर भी राजनीतिक और धार्मिक विचारों में अपने समय और वातावरण के ऊपर नहीं था। वह पशुबल और दमन में विश्वास रखता था और दूसरों के सुख-दुःख और धार्मिक भावनाओं की उसे चिन्ता नहीं थी। राजनीति में वह किसी का विश्वास नहीं कर सका। उसके लिये हिन्दू और मुसलमान दोनों से ही भय था। बलवन का व्यक्तित्व साम्राज्य-निर्माण और सभ्य शासन के लिये नहीं, किन्तु राज्य के पुनर्संगठन और कठोर शासन के लिये प्रसिद्ध है।

(६) बलवन के वंशज और दास वंश का अंत

बलवन के मरने के बाद गुलाम-वंश की अवस्था फिर दयनीय हो गयी। उसका लड़का बुगरा खाँ बड़ा आलसी और विलासी निकला। इसलिये सुलतान ने अपने प्रिय पुत्र मुहम्मद के लड़के कैखुसरू को अपना उत्तराधिकारी बनाया; किन्तु बलवन के मरने पर दिल्ली के अमीरों ने उत्तराधिकार के प्रश्न में फिर से हस्तक्षेप किया और बुगराखाँ के अनुभवहीन और नाबालिग लड़के कैकुबाद को दिल्ली की गद्दी पर बैठाया। कैकुबाद विलास और व्यभिचार में गोते लगाने लगा। इससे सारा शासन-प्रबंध धीरे-धीरे अमीरों के हाथ में चला गया। साथ ही साथ कैकुबाद अत्याचारी भी था और अमीरों तथा सरदारों का अपमान भी करता था। इसी समय दिल्ली में तुर्की और खिलजी दो दल बन गये, जो आपस में झगड़ने लगे। जलालुद्दीन फीरोज़ खिलजी, जो खिलजी दल का नेता था, बड़ा शक्तिशाली हो गया। उसने अपने एक सैनिक के द्वारा शराब के नशे में चूर कैकुबाद को मरवा डाला और उसकी लाश को बिना किसी धार्मिक क्रिया के यमुना नदी में फेंकवा दिया। इस तरह गुलाम-वंश का अन्त बड़ा दुःखान्त रहा। इसके बाद जलालुद्दीन ने १२९० ई० में एक नये राजवंश की स्थापना की।

१९ अध्याय

भारत में मुस्लिम साम्राज्य

खिलजी वंश

अभी तक उत्तर-भारत में सिन्ध, मुल्तान, पंजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल, अजमेर तथा ग्वालियर के ऊपर मुस्लिम सत्ता की स्थापना हो चुकी थी। काश्मीर और राजस्थान का अधिकांश, मालवा, बुन्देलखण्ड, गुजरात और आसाम मुस्लिम राज्य के बाहर थे। विन्ध्याचल के दक्षिण का भारत मुसलमानों से अभी अछूता था। इल्तुतमिश और बलबन योग्य शासक होते हुये भी मुस्लिम साम्राज्य का निर्माण न कर सके। उनका अधिकांश समय और शक्ति शासन के संगठन और सल्लनत की रक्षा में खर्च हुई। खिलजी-वंश की स्थापना के बाद मुसलमानों ने उत्तर-भारत के बचे हुये प्रान्तों में से बहुतों को जीता और मुस्लिम सेना विन्ध्य पर्वत को पार करके सुदूर दक्षिण में द्वारसमुद्र तक पहुँची। इस तरह उत्तर-भारत का सीमित मुस्लिम राज्य एक साम्राज्य के रूप में विकसित हुआ।

१. जलालुद्दीन खिलजी

दिल्ली की गद्दी पर बैठने के समय जलालुद्दीन खिलजी की अवस्था ७० वर्ष की थी। वह शरीर से कमजोर और स्वभाव का कोमल और उदार था। वास्तव में पशुबल और कठोरता के वातावरण में शासन करने के लिये उसमें योग्यता नहीं थी। इसकी कमी वह दूसरे उपायों से पूरी करता था। अमीरों, दरबारियों और कर्मचारियों को संतुष्ट रखने के लिये उनपर उपाधियों और पुरस्कारों की वर्षा करता था। परन्तु इसका परिणाम यह हुआ कि राज्य में भीतरी उपद्रव बहुत बढ़ गये। जिस तरह सुल्तान का आन्तरिक शासन कमजोर था, वैसी ही उसकी सैनिक नीति भी असफल थी। उसने कई एक लड़ाइयाँ भी लड़ीं, परन्तु उसे सफलता नहीं मिली। वह अपनी कमजोरी को धार्मिकता से ढँकना चाहता था। वह कहता था—"काफिरों के किलों से मुसलमानों की जान अधिक मूल्यवान है।" उसके समय में जब मंगोलों का आक्रमण हुआ, तो मंगोल बुरी तरह से हारे और उनका नेता उलुगखाँ अपने साथियों के साथ मुसलमान हो गया। उलुगखाँ चंगेजखाँ का वंशज था। इसलिये जलालुद्दीन ने अपनी लड़की का विवाह उसके साथ कर दिया और

सेना में उसको ऊँचा पद दिया। इसका फल यह हुआ कि मंगोलों के कारण दिल्ली के पड़ोस में बराबर षड्यन्त्र होता रहा। जलालुद्दीन की दुर्बल नीति का एक परिणाम यह भी हुआ कि उसके सूबेदार स्वतन्त्र होने की चेष्टा करने लगे। जलालुद्दीन का भतीजा अलाउद्दीन खिलजी कड़ा-मानिकपुर का सूबेदार था। १२९१ ई० में उसने विद्रोह किया और अपने सूबे का स्वतंत्र सुल्तान बन बैठा। उसने अपने नाम का खुतबा पढ़वाया और मुगीसुद्दीन की उपाधि धारण की। इस तरह से और भी कई उपद्रव उसके राज्य में हुये।

२. अलाउद्दीन

(१) सुल्तान होने के पहले : देवगिरि पर आक्रमण

जलालुद्द्दीन स्वभाव का जितना दुर्बल और सैनिक जीवन से जितना घबराने वाला था, उसका भतीजा अलाउद्दीन उतना ही साहसी, महत्त्वाकांक्षी और कठोर था। उसके मस्तिष्क में लम्बी विजय यात्राओं का नकशा तैयार था। जब वह कड़ा-मानिकपुर का सूबेदार था, तभी उसने भेलसा पर आक्रमण किया और वहाँ से बहुत-सा लूट का माल लेकर दिल्ली आया। वास्तव में अलाउद्दीन की आँख दक्षिण पर लगी हुयी थी। उसने देख लिया था कि हिन्दू राजे अपनी रक्षा के सम्बन्ध में बहुत असावधान और एक दूसरे से अलग-अलग हैं और उनके बीच में जाकर उनको हराना कितना आसान है।

अलाउद्दीन खिल्जी

अलाउद्दीन ने पहले यादवों की राजधानी देवगिरि पर आक्रमण करने का निश्चय किया। ८००० चुने हुये घुड़सवारों को लेकर उसने दक्षिण की ओर यात्रा की और दो मास के भीतर एलिचपुर पहुँच गया। इस घटना से हिन्दू राजाओं की अदूरदर्शिता का पता चलता है। इतनी लम्बी यात्रा में अलाउद्दीन आगे बढ़ने से रोका जा सकता था; परन्तु मानो रास्ते के सभी राजे और उनके सामन्त सो रहे थे और उनके भावी पतन ने उनके ऊपर जादू डाल दिया था। अलाउद्दीन ने यह प्रसिद्ध कर दिया था कि उसका चचा उससे बहुत नाराज है, और वह स्वयं दक्षिण में नौकरी की खोज में जा रहा है। जब कि युद्ध के बादल मध्य भारत से दक्षिण की ओर उमड़

रहे थे, देवगिरि के यादव राजा रामचन्द्र की सेना उसकी स्त्री तथा लड़के के साथ तीर्थयात्रा करने बाहर गयी थी। जो थोड़ी सेना किले में थी, उसको लेकर रामचन्द्र ने अलाउद्दीन का सामना किया। किन्तु हारकर किले में शरण ली। अलाउद्दीन ने यह भी प्रसिद्ध करा दिया कि उसका चचा दिल्ली से २० हजार सवारों के साथ आ रहा है। यह सुनकर रामचन्द्र का साहस छूट गया और उसने सन्धि की प्रार्थना की। ५० मन सोना, ७ मन मोती, ४० हाथी और कई हजार घोड़े उसने अलाउद्दीन को दिये। इस बीच में शंकरदेव दौड़ा हुआ सेना के साथ देवगिरि पहुँचा और लौटते हुये अलाउद्दीन ने इस बार भी यादवों की सेना को हरा दिया। देवगिरि के किले में खाने-पीने का पूरा सामान नहीं था, इसलिये रामचन्द्र ने फिर विवश होकर सन्धि की प्रार्थना की। अलाउद्दीन ने निम्नलिखित शर्तों पर संधि की—(१) यादव राजा द्वारा दिल्ली सल्तनत की अधीनता स्वीकार करना,(२) एलिचपुर प्रान्त की पूरी आमदनी वार्षिक कर के रूप में देना और (३) ६०० मन सोना, ७ मन मोती, २ मन बहुमूल्य रत्न, १००० मन चाँदी तथा अन्य सामान अलग से देना। अलाउद्दीन लूट की अपार सम्पत्ति लेकर वापस आया।

(२) राज्य प्राप्ति : जलालुद्दीन का वध

अलाउद्दीन केवल देवगिरि की लूट से ही सन्तुष्ट न था, उसके मन में तो दिल्ली के सुलतान होने की महत्त्वाकांक्षा जोर मार रही थी। कड़ा-मानिकपुर पहुँच कर उसने अपने बूढ़े चचा सुलतान जलालुद्दीन को आदर देने के लिये अपने यहाँ बुलाया। सुल्तान ने अपने विजयी भतीजे को आशीर्वाद देने के लिए कड़ा की तरफ प्रस्थान किया। जब वह बड़े प्रेम से अलाउद्दीन को गले लगा रहा था, पहले से तैयार एक सैनिक ने उसका गला काटकर अलाउद्दीन के सामने रख दिया। अपने ऊपर उदार और कृपालु सम्बन्धी का धोखे से इस प्रकार वध करना संसार की नीचतम हत्याओं में से है। परन्तु तुर्क राजनीति का नैतिक धरातल इतना नीचा था कि इस तरह की हत्यायें उस समय की साधारण बात हो गयी थीं। इस घटना के बाद अलाउद्दीन दिल्ली की ओर चला और अपने सगे-सम्बन्धियों को खदेड़ कर उसने राजधानी में अपना राज्याभिषेक कराया।

(३) अलाउद्दीन के सामने समस्यायें

गद्दी पर बैठने के समय अलाउद्दीन के सामने कई समस्यायें थीं। इनमें से चार मुख्य थीं—(१) विदेशी आक्रमण से सल्तनत की रक्षा (२)

आन्तरिक विद्रोहों का दमन, (३) राज्य-विस्तार और (४) शासन-प्रबन्ध। उसने इन समस्याओं का हल तुर्क-नीति के द्वारा किया अर्थात् उसने पशुबल और कठोर दमन से काम लिया।

(क) मंगोल-आक्रमण

मंगोल कई बार हारकर भारत से लौट चुके थे, परन्तु उनकी लूट की प्यास अभी तक नहीं बुझ सकी थी। १२९८ ई० में ट्रांसोक्सियाना के मंगोल शासक अमीर दाऊद ने सिन्ध, मुलतान और पंजाब को जीतना चाहा और उसकी सेनायें जालन्धर तक पहुँच गयीं। अलाउद्दीन के योग्य सेनापति उलुगखाँ ने उनको हराया और वे 'शैतान के भयानक लड़के' वापस चले गये। दूसरे वर्ष फिर मंगोलों ने साल्दीखाँ की अध्यक्षता में भारत पर आक्रमण किया। अब की बार अलाउद्दीन के दूसरे सेनापति जफरखाँ ने उनको बुरी तरह हराया। बीस हजार मंगोल जंजीरों में जकड़ कर दिल्ली लाये गये और अलाउद्दीन की आज्ञा से हाथियों द्वारा रौंद कर मार डाले गये। इस तरह कई बार मंगोलों ने भारत पर आक्रमण किया। १३०७ ई० में मंगोलों ने इकबाल मन्दा के सेनापतित्व में भारत पर चढ़ाई की। गाजी मलिक तुगलक ने उनको बड़ी कठोरता से हराया। इकबाल मन्दा और उसके साथी मार डाले गये और मंगोलों पर घोर अत्याचार किये गये। उसका परिणाम यह हुआ कि अलाउद्दीन के शासन-काल में मंगोलों को फिर भारत पर आक्रमण करने का साहस न हुआ। परन्तु अलाउद्दीन समझता था कि सिर्फ कठोर नीति से मंगोल रोके नहीं जा सकते थे, इसलिये उसने बलबन की सीमान्त नीति का अवलम्बन किया और उसके अधूरे कार्यों को पूरा किया। सीमान्त और पंजाब के पुराने किलों की मरम्मत कराई गयी और उनमें काफी सामान और सेनायें रखीं गयीं। सड़कें भी ठीक की गयीं, जिनमें से होकर सामान और सेनायें आसानी से सीमा पर पहुँच सकें। हथियार और लड़ाई का सामान तैयार करने के लिये बहुत से कारखाने खोले गये। सेना की संख्या भी बढ़ायी गयी।

(ख) आन्तरिक उपद्रवों का दमन

सीमान्त की रक्षा के साथ-साथ आन्तरिक विद्रोहों का दमन भी अलाउद्दीन ने किया। राज्य के भीतर मुस्लिम विद्रोह और हिन्दू विद्रोह दोनों से सुलतान को खतरा था। इस समय सल्तनत को सबसे अधिक खतरा मुसलमान अमीरों की ओर से ही था। १२९९–१३०१ ई० के बीच

जब अलाउद्दीन रणथम्भौर का घेरा कर रहा था, दिल्ली के अमीरों और जनता ने हाजी मौला के नेतृत्व में विद्रोह किया और इल्तुतमिश के एक वंशज को गद्दी पर बैठा कर उसको शाहंशाह की उपाधि दी। उस विद्रोह को दबाने में सुल्तान को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, किन्तु अन्त में वह विजयी हुआ। जालोर के पास नव-मुस्लिमों ने विद्रोह किया। वे बड़ी निर्दयता से दबा दिये गये। बदायूँ और अवध में अलाउद्दीन के भानजे उमर और मंगूखां ने बगावत की। अलाउद्दीन ने उनको पकड़ कर उनकी आँखे निकलवा लीं। सबसे अधिक कड़ाई अलाउद्दीन ने अपने भतीजे आफत खां के दबाने में की। इन विद्रोहों और उपद्रवों के कारण जानने के लिए अलाउद्दीन ने अपने वजीरों और विश्वासपात्र सरदारों से सलाहें कीं। अलाउद्दीन ने निम्नलिखित कारणों का पता लगाया—(१) राज्य के कामों में सुल्तान की असावधानी और उदासीनता (२) संगठित गुप्तचर विभाग का अभाव, (३) दरबार में शराब का दौर, और बातचीत में संयम का अभाव, (४) मलिकों, अमीरों और सरदारों में विवाह सम्बन्ध का होना (५) जनता में और विशेषकर हिन्दुओं में धन का होना। अलाउद्दीन ने विद्रोह के कारणों को दूर करने का निश्चय किया। पहले उसने व्यक्तिगत जीवन में सुधार किया। उसने शराब पीना बन्द कर दिया।

शराब के कीमती वर्त्तनों को तुड़वा कर फेंक दिया। अपने दरबारियों पर भी शराब पीने पर रोक लगा दी। दरबार के नियमों में उसने बलबन की नीति का अनुसरण किया। गुप्तचर विभाग का फिर से संगठन किया। मलिकों और सरदारों के सामाजिक व्यवहार और विवाहों आदि सम्बन्धों पर प्रतिबन्ध लगाये गये। सुल्तान की आज्ञा के बिना वे न तो आपस में विवाह ही कर सकते थे और न प्रीतिभोज। जनता से धन शोषण की नीति अलाउद्दीन को राजनीतिक और आर्थिक दोनों दृष्टियों से प्रिय थी। उसने जनता को इतना दरिद्र बना दिया कि वह सर नहीं उठा सकती थी। विशेष कर हिन्दुओं को दरिद्र बनाकर दबाये रखना उसकी निश्चित नीति थी।

(ग) राज्य-विस्तार

मुस्लिम साम्राज्य के निर्माण, विस्तार और संगठन का सबसे अधिक श्रेय अलाउद्दीन को है। अलाउद्दीन योग्य सैनिक नेता था। उसके मस्तिष्क में दो विशाल योजनायें थीं—(१) पैगम्बर मुहम्मद की तरह से एक नये धर्म का प्रवर्तन और (२) महान् सिकन्दर की भाँति एक विश्वव्यापी साम्राज्य का निर्माण करना। जब इन योजनाओं को उसने काजी अलाउल-

मुल्क के सामने रखा तो काजी ने बड़ा उचित और स्पष्ट परामर्श दिया। धर्म का प्रवर्त्तन केवल ईश्वरीय प्रेरणा से होता है और उसको केवल पैगम्बर ही कर सकते हैं; किसी शासक या सुलतान को इस का स्वप्न नहीं देखना चाहिये। विश्व-विजय के सम्बन्ध में उसने सलाह दी कि सारे संसार को जीतने की असम्भव योजना को छोड़कर अलाउद्दीन को पहले पूरे हिन्दुस्तान को जीतना चाहिए। काजी की ये बातें अलाउद्दीन के मन में बैठ गयीं और पूरी तैयारी के साथ सारे भारत के ऊपर अपना साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न उसने प्रारम्भ किया।

उत्तर भारत में कई ऐसे प्रान्त थे जिन पर दिल्ली सल्तनत का अधिकार नहीं हो पाया था। अलाउद्दीन ने पहले उन्हीं के जीतने का आयोजन किया। उसके सेनापति उलुगखाँ और नसरतखाँ ने १२९९ ई० में गुजरात और खम्भात पर आक्रमण किया और बघेल राजा कर्ण को हरा कर उन पर अधिकार कर लिया। गुजरात की लूटों में सबसे बहुमूल्य चीज थी मलिक काफूर नामक एक हिजड़ा हिन्दू गुलाम, जो अपनी सुन्दरता के कारण सुलतान के लिए एक हजार दीनार में खरीदा गया। यह हिजड़ा सयाना होने पर अलाउद्दीन का सेनापति हुआ और उसकी तरफ से दक्षिण और सुदूर दक्षिण पर विजय प्राप्त किया। गुजरात जीतने के बाद सुलतान का ध्यान राजस्थान की तरफ गया। रणथम्भौर के प्रसिद्ध किले से टकराकर कई बार तुर्क लौट आये थे। १३०१ ई० में अलाउद्दीन के प्रसिद्ध सेनापति उलुगखाँ और नसरतखाँ ने इस किले का घेरा किया। उनको सफलता न मिलती हुई देखकर अलाउद्दीन स्वयं सेना लेकर वहाँ पहुँचा। घोर युद्ध के बाद अलाउद्दीन को सफलता मिली।

रणथम्भौर की जीत से प्रोत्साहित होकर अलाउद्दीन ने १३०३ ई० में चित्तौड़ पर आक्रमण किया। चित्तौड़ का किला राजपूताने में सबसे प्रसिद्ध और दृढ़ था। अभी तक किसी मुसलमान आक्रमणकारी ने उस पर चढ़ाई करने का साहस नहीं किया था। इस आक्रमण की रोमांचकारी कहानी फिरिश्ता ने लिखी है और मलिक मुहम्मद जायसी ने भी इस पर एक काव्य की रचना की। यह कहानी अतिरंजित होते हुए भी बिल्कुल काल्पनिक नहीं मालूम पड़ती। राणा रतनसिंह की रानी पद्मिनी सारे देश में अपने रूप के लिए प्रसिद्ध थी। अलाउद्दीन राज्य के लोभ, साहसिक कामों में रुचि और पद्मिनी के रूप के आकर्षण से चित्तौड़ पर चढ़ गया। अलाउद्दीन ने राजा से कहला भेजा कि यदि वह शीशे में भी पद्मिनी का मुँह

उसे देखने दे, तो वह चित्तौड़ पर आक्रमण नहीं करेगा। राजा ने अपनी सरलता और उदारता के कारण यह बात मान ली। अलाउद्दीन अकेले ही गढ़ में बुला लिया गया। शीशे में पद्मिमी का मुँह देखने के बाद जब अलाउद्दीन लौट रहा था, तब राजा रतनसिंह उसे पहुँचाने उसके शिविर तक गया। अलाउद्दीन ने धोखे से उसको बन्दी बना लिया और चित्तौड़ में यह कहला भेजा कि जब तक पद्मिनी उसके पास नहीं भेजी जायेगी, वह राजा को नहीं छोड़ेगा। पद्मिनी ने बड़े साहस और बुद्धिमानी से काम लिया। उसने अलाउद्दीन के पास यह समाचार भेजा कि ८०० दासियों के साथ मैं पालकी में आ रही हूँ। प्रत्येक पालकी में एक वीर राजपूत बैठा था, और ढोनेवाले भी वीर राजपूत सिपाही थे। अलाउद्दीन के शिविर में पहुँचकर पद्मिनी ने एक दम से राणा रतनसिंह वाले कैम्प पर छापा मारा और उन्हें कैद से छुड़ा लिया। इसके बाद तुर्कों और राजपूतों में घोर युद्ध हुआ। अन्त में राजपूत हार गये और लगभग ३० हजार सैनिक मारे गये। रानी पद्मिनी ने अपनी मान-रक्षा के लिए अपनी सखियों के साथ जलती हुई चिता में जलकर जौहर किया। अलाउद्दीन ने गढ़ में प्रवेश किया किन्तु पद्मिनी की राख के सिवाय और कुछ हाथ न आया। अलाउद्दीन ने अपने बेटे खिज्रखाँ को चित्तौड़ का शासक बनाया। राजपूतों के दबाव के कारण १३११ ई० में खिज्रखाँ को चित्तौड़ छोड़ना पड़ा और अलाउद्दीन ने चित्तौड़ को मालदेव नामक सोनगरा सरदार को दे दिया, जिसको हराकर राजा हम्मीर ने अलाउद्दीन के जीवन काल में ही उससे छीन लिया। चित्तौड़ विजय के दो वर्ष बाद १३०५ ई० में अलाउद्दीन ने मालवा की ओर प्रस्थान किया। धीरे-धीरे उज्जैन, धारा, माण्डवगढ़ और चन्देरी के राज्य दिल्ली की सल्तनत में मिला लिये गये। इस समय राजस्थान के कुछ भागों को छोड़कर प्रायः सारे उत्तर-भारत पर मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना हो गयी।

उत्तर-भारत में अपना साम्राज्य फैलाने के बाद अलाउद्दीन के लिये यह बिल्कुल स्वाभाविक ही था कि वह विन्ध्याचल को पार कर दक्षिण पर भी अपना आधिपत्य स्थापित करे। १३०६ ई० में अलाउद्दीन ने देवगिरि पर फिर आक्रमण किया। गुजरात के सूबेदार अलपखाँ और मलिक काफूर देवगिरि पर विजय करने के लिये भेजे गये। मलिक काफूर ने देवगिरि के राजा रामचन्द्र को पकड़कर दिल्ली भेज दिया और एलिचपुर के ऊपर एक मुस्लिम सूबेदार नियुक्त किया। आश्चर्य की बात मालूम होती है कि अलाउद्दीन ने रामचन्द्र के साथ उदारता का बर्त्ताव किया और उसको रायरायान

की उपाधि देकर देवगिरि वापिस भेज दिया। सम्भवतः अलाउद्दीन भी दक्षिण भारत पर सीधा शासन नहीं करना चाहता था और दक्षिण के जीतने में रामचन्द्र को सहायक बनाना चाहता था। १३०९ ई० में मलिक काफूर देवगिरि से आन्ध्र की राजधानी वारंगल की ओर चला। वहाँ पर काकतीय राजा प्रतापरुद्रदेव शासन करता था। देवगिरि के पतन के बाद दक्षिण में हिन्दू शक्ति की रीढ़ टूट गयी थी। इस परिस्थिति में दक्षिण के छोटे-छोटे राजा मलिक काफूर का सामना करने में असमर्थ थे। लम्बे घेरे के बाद प्रतापरुद्रदेव ने आत्मसमर्पण कर दिया और सन्धि की प्रार्थना की। मलिक काफूर हजारों ऊँटों के ऊपर लूट का माल लादे हुए दिल्ली वापिस आया। देवगिरि के यादवों और द्वारसमुद्र के होयसालों में शत्रुता थी। अपनी पराजय के बाद देवगिरि के यादवों ने काफूर को द्वारसमुद्र पर आक्रमण करने को प्रोत्साहित किया। वारंगल की विजय ने उसे और भी उत्तेजित किया। १३१० ई० में द्वारसमुद्र को मलिक काफूर ने जीत लिया। इसके बाद मलिक काफूर पाण्ड्यराज की ओर बढ़ा। पाण्ड्य राजा कुलशेखर के दो लड़के सुन्दर पाण्ड्य और वीर पाण्ड्य आपस में उत्तराधिकार के लिये लड़ रहे थे। मलिक काफूर के लिए यह बड़ा सुन्दर अवसर था। सुन्दर पाण्ड्य की सहायता करने के बहाने से उसने पाण्ड्य-राज्य की राजधानी मदुरा पर आक्रमण कर दिया और उसे जीत लिया। इसके बाद काफूर ने कारोमंडल और मलाबार को जीता। वह रामेश्वर के मन्दिर तक पहुँचा और वहाँ भी लूट मचायी। सारा दक्षिण और सुदूर-दक्षिण जीतने के बाद अब अलाउद्दीन को देवगिरि के यादवों की सहायता की जरूरत नहीं थी, इसलिये उसने चौथी बार १३१२ ई० में देवगिरि पर आक्रमण करने के लिये मलिक काफूर को फिर भेजा। शंकरदेव युद्ध में मारा गया और यादवों का राज्य दिल्ली सल्तनत में मिला लिया गया। इन विजयों के फलस्वरूप उत्तर में राजस्थान के कुछ भाग, काश्मीर और आसाम को छोड़कर प्रायः सारे उत्तर-भारत और दक्षिण और सुदूर-दक्षिण के अधिकांश पर मुस्लिम साम्राज्य स्थापित हो गया।

(ग) शासन-प्रबन्ध

मुस्लिम साम्राज्य के निर्माण के साथ-साथ अलाउद्दीन ने शासन-प्रबन्ध की ओर भी समुचित ध्यान दिया। वह बिल्कुल निरंकुश और एकतांत्रिक शासक था। अपने शासन-प्रबन्ध में वह बाहरी हस्तक्षेप सहन नहीं कर सकता था। राजनैतिक मामलों में अपने ऊपर कुरान और खलीफा का नियंत्रण

भी उसको पसंद नहीं था। उसका कहना था—"कानून सुल्तान की इच्छा पर अवलम्बित है। पैगम्बर की इच्छा से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है···। मैं नहीं जानता कि यह शरीयत के अनुसार है या नहीं। मैं जिस चीज को राज्य के लिये हितकर अथवा परिस्थिति के अनुकूल समझता हूँ उसको करता हूँ। कयामत के दिन क्या होगा, मुझको मालूम नहीं।" इससे एक बात प्रकट होती है कि जब मुस्लिम शासकों के पैर भारत में दृढ़ हो गए और खिलाफत की शक्ति धीरे-धीरे कमजोर पड़ने लगी, तब वे धीरे-धीरे खिलाफत से अपने को स्वतंत्र करने लगे और भारत में नयी परिस्थिति के अनुसार उन्होंने शासन की व्यवस्था की।

राज्य का प्रमुख अधिकारी सुल्तान था। वह सिद्धान्त और व्यवहार में बहुत कुछ निरंकुश था; परन्तु काजियों और वजीरों से सलाह करता था और कभी-कभी वह उनकी बातें मानता भी था। सुल्तान का मुख्य काम था सेना का संगठन और निरीक्षण तथा विशेष युद्धों में उसका संचालन; अधिकारियों की नियुक्ति और खजाने की देख-रेख तथा सैनिक और राजनैतिक अपराधियों के लिए दण्ड देना। केन्द्रीय शासन का संगठन किस प्रकार हुआ था, इसके बारे में विशेष मालूम नहीं। परन्तु शासन कई भागों में बँटा हुआ था और उनके अध्यक्षों की सहायता से सारा केन्द्रीय शासन संचालित होता था। मोटे तौर पर साम्राज्य दो भागों में बँटा हुआ था—(१) वह भाग जिस पर सुल्तान सीधे शासन करता था। (२) वह भाग जहाँ स्थानीय राजे अधीन करके छोड़ दिये गए थे और जिनसे साम्राज्य को कर और उपहार मिलते थे। साम्राज्य का पहला भाग कई सूबों में बँटा हुआ था जिनके ऊपर सूबेदार सुल्तान की ओर से शासन करते थे।

अलाउद्दीन सैनिक बल में विश्वास करता था और सैनिक-शक्ति को दृढ़ करने के लिए उसने किले बनवाये। लड़ाई के हथियार और सामान बनवाने के लिये कारखाने खोले और स्थायी सेना की संख्या बढ़ा दी। बलबन की तरह उसने भी सेना का सुधार किया और उसने योग्य सैनिकों और अधिकारियों की नियुक्ति की। परन्तु इतनी बड़ी और योग्य सेना के निर्वाह के लिये बहुत धन की आवश्यकता थी। न तो सरकारी खज़ाने से इतना धन खर्च किया जा सकता था और न करों के बोझ से दबी हुई प्रजा पर नये कर लगाये जा सकते थे। इसलिए अलाउद्दीन ने जीवन के लिए आवश्यक सामग्रियों के ऊपर सरकार का नियंत्रण रखा और उनका मूल्य इतना घटा दिया कि कम वेतन देकर भी सैनिक और दूसरे कर्मचारी आराम से रखे जा सकें।

एक सैनिक का वार्षिक वेतन २३४ टंका (१ टंका = लगभग १ रुपया) था। खाने के सामानों का मूल्य निम्न प्रकार था :—

सामान	तौल	मूल्य	
(१) गेहूँ	१ मन	७॥ जीतल	(१ जीतल =
(२) चना	१ मन	५ जीतल	एक पैसा)
(३) जौ	१ मन	४ जीतल	
(४) चावल	१ मन	५ जीतल	
(५) उर्द	१ मन	५ जीतल	
(६) घी	२॥ सेर	१ जीतल	
(७) गुड़	१ सेर	१$\frac{1}{3}$ जीतल	
(८) चीनी	१ सेर	११$\frac{1}{3}$ जीतल	
(९) नमक	२॥ मन	५ जीतल	

सेना के साथ-साथ आन्तरिक रक्षा के लिये **पुलिस-विभाग** का संगठन भी किया गया था। इसमें भी अलाउद्दीन ने बलबन का ही अनुकरण किया। अलाउद्दीन के शासन में गुप्तचर-विभाग पर विशेष ध्यान दिया गया, क्योंकि यह सन्देह, दमन, और कठोरता पर अवलम्बित था।

राज्य के आय का मुख्य साधन भूमि-कर था जिसको **खिराज** कहते थे। किसान प्रायः हिन्दू थे, इसलिए उनको दबाने के लिये भूमिकर बढ़ाकर उपज का ५० प्रतिशत कर दिया गया। आय का दूसरा बड़ा साधन **जजिया** (धार्मिक कर) था। **लूट** और **सम्पत्ति की जप्ती** से भी सरकारी खजाने में काफी धन आता था। अधीन राज्यों से वार्षिक कर मिलता था। **व्यापार** और **क्रय-विक्रय** के ऊपर कर से काफी आमदनी होती थी। कर बड़ी कड़ाई के साथ वसूल होता था अलाउद्दीन की आर्थिक नीति और योजना युद्ध के वातावरण से प्रभावित थी। बहुत बड़ी सेना रखना उसके लिये जरूरी था, इसलिये उसने बनावटी ढंग से सामानों का मूल्य घटा दिया। इस योजना में न तो प्रजाहित की भावना थी और न दूरदर्शिता। इसमें शासन की सुविधा का ही अधिक ध्यान था। सारा नियंत्रण-विभाग **दीवाने रियासत** और **शहनाय मंडी** नामक अधिकारियों के हाथ में था। उनके कार्यालय में व्यापार के लिये अनुमति पत्र देने का रजिस्टर होता था। प्रत्येक व्यापारी को अपनी रजिस्ट्री कराना और आज्ञापत्र लेना आवश्यक होता था। राज्य की ओर से सामान खरीदने के लिये पेशगी मिलती थी। अनाज सरकारी मंडियों में इकट्ठा होता था। कोई किसान १० मन से अधिक अनाज अपने पास नहीं

रख सकता था। सभी सामानों का मूल्य निश्चित था। कुछ सामानों का मूल्य सेना-विभाग के साथ दिया जा चुका है। साग, फल, तेल, मिठाई और बिसाती के सामानों के भाव भी बँधे थे। जानवरों और दास-दासियों के मूल्य भी सरकार की ओर से तय थे। नियंत्रण के नियम बड़े कड़े थे और उनके उल्लंघन करने पर बड़ा कठोर दण्ड दिया जाता था, जिससे दीवाने रियासत और शहनाय मंडी भी नहीं बच सकते थे।

पहले के सुल्तानों के समान अलाउद्दीन की **न्याय-व्यवस्था** भी क़ुरान और शरीयत पर अवलम्बित थी और न्याय काजियों द्वारा होता था। अलाउद्दीन केवल राजनैतिक मामलों में अपना विशेषाधिकार चाहता था। कानून कठोर थे, जो हिन्दू और मुसलमान सब पर कड़ाई से लागू किये जाते थे। शासन में **निर्माण-विभाग** का संगठन भी किया गया था। इस विभाग की अध्यक्षता में सिरी और शाहपुर आदि नगर बसाये गये, कुतबी इमारतों की मरम्मत की गयी और नयी इमारतें बनायी गयी। क़ुतुबमीनार के अनुकरण पर अलाउद्दीन ने एक मीनार बनवाना आरम्भ किया, जो आज तक अधूरा पड़ा हुआ है।

अलाउद्दीन पहले निरक्षर था। पीछे उसने कुछ फारसी सीख ली और उसमें विद्याप्रेम भी उत्पन्न हो गया, जिसके कारण वह विद्वानों, संतों और कलाविदों का आदर करता था। संगीत को भी उसके दरबार में प्रश्रय मिला। अमीर खुसरो और जियाउद्दीन बरनी जैसे प्रसिद्ध कवि और इतिहासकार उसके दरबार में रहते थे। शेख निजामुद्दीन औलिया और शेख रुक्नुद्दीन जैसे संतों का भी वह आदर करता था। ऐसे लोगों का पालन-पोषण करने के लिए वृत्ति, पेंशन, पुरस्कार आदि के लिये एक सरकारी विभाग बना हुआ था।

(४) अलाउद्दीन का चरित्र और अन्त

चरित्र की दृष्टि से अलाउद्दीन को भारतीय इतिहास में बहुत नीचा स्थान मिल सकता है। अकबर जैसे अनपढ़ व्यक्तियों में जो स्वाभाविक प्रतिभा, समझदारी, ज्ञान-पिपासा आदि गुण पाये जाते हैं, अलाउद्दीन में उनका अभाव पाया जाता है। उसमें शूरता और वीरता अवश्य थी, किन्तु वह बड़ा कठोर और निर्मम था। स्वभाव से वह लोभी, अवसरवादी, धूर्त, विश्वासघाती और अत्यन्त क्रूर था। शासन में उसका मुख्य उद्देश्य प्रजापालन और प्रजारंजन नहीं किन्तु उसका अपना स्वार्थ था। उसकी सफलता के लिये बहुत कुछ उस समय की परिस्थिति सहायक सिद्ध हुई। अलाउद्दीन के जीते

त्यों ही उसे उसके कर्मों और नीति का फल मिलने लगा। भीतरी षड्यंत्रों और विद्रोहों से उसका शासन खोखला हो गया—"लक्ष्मी अपने स्वभाव के अनुरूप चंचल सिद्ध हुई; भाग्य ने उसका विनाश करने के लिये अपनी तलवार खींची। एक समय का शक्तिशाली सम्राट अपने ही सामने अपने जीवन कार्य को नष्ट होते देखकर क्रोध से अपना मांस अपने दांतों काटता था।" बुढ़ापे में वह रोगी हो गया था, उसकी चिन्ताओं ने उसकी मृत्यु को और भी निकट बुला लिया। १३१६ ई० में उसका देहान्त हुआ। ऐसा कहा जाता है कि उसके प्रिय गुलाम मलिक काफ़ूर ने ही उसको विष दे दिया था।

३. अलाउद्दीन के वंशज : खिजली वंश का अंत

अलाउद्दीन के मरने के साथ ही दिल्ली में फिर अराजकता फैल गयी। अलाउद्दीन के समय में ही मलिक काफ़ूर बड़ा प्रभावशाली हो गया था। स्वयं सुलतान बनने की महत्वाकांक्षा से उसने अलाउद्दीन के सारे परिवार को नष्ट करना प्रारम्भ किया, परन्तु अलाउद्दीन के लड़कों में मुबारक अपनी चालाकी से बच गया। ३५ दिन के शासन के बाद मलिक काफ़ूर उसके द्वारा मारा गया। परन्तु मुबारक भी अपने राज्य को सम्हाल न सका। वह अपनी प्रारम्भिक सफलता के बाद बिल्कुल विलासी और अपने प्रिय हिजड़े गुलाम खुसरू के हाथ की कठपुतली बन गया। खुसरू भी मलिक काफ़ूर के समान महत्वाकांक्षी निकला। उसने मुबारक को मारकर अपने को सुलतान घोषित किया और नासिरुद्दीन खुसरू शाह की उपाधि धारण की। सुलतान होने पर उसकी हिन्दू भावना जागृत हुई और उसने मुसलमानों पर अत्याचार किया। इससे मुसलमान मलिक, सर्दार और सूबेदार बहुत क्रुद्ध हुए। पंजाब के सूबेदार गाजी मलिक तुगलक ने दिल्ली पर आक्रमण कर खुसरू को मार डाला और स्वयं सुलतान बन बैठा। भारतीय इतिहास में यही गयासुद्दीन तुगलक के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

२० अध्याय

तुर्क-साम्राज्य की चरमसीमा और उसका ह्रास

तुगलक-वंश

१. गयासुद्दीन तुगलक

गयासुद्दीन तुगलक का पिता करौना तुर्क था, जो पंजाब में आकर बस गया था और एक जाट स्त्री से विवाह कर लिया था। गयासुद्दीन इसी स्त्री से पैदा हुआ था। इसलिये उसके स्वभाव में अपनी माँ की नम्रता और कोमलता और पिता की शक्ति और साहस दोनों प्रकार के गुण वर्तमान थे। परन्तु उसके शरीर में आधा हिन्दू रक्त होते हुये भी तुर्की राज के प्रति बड़ी भक्ति थी। जब नव-मुस्लिम मलिक काफूर और खुसरो से दिल्ली सल्तनत को खतरा उत्पन्न हुआ, तब ग़ाजी-तुगलक (जो आगे चलकर गयासुद्दीन-तुगलक के नाम से प्रसिद्ध हुआ) ने खुसरो शाह को मारकर दिल्ली के तुर्क साम्राज्य का पुनरुद्धार किया। गयासुद्दीन के सामने दो समस्यायें थीं—(१) लड़खड़ाते हुए तुर्क-साम्राज्य की रक्षा और (२) शासन सुधार द्वारा राज्य में शान्ति स्थापित करना। बड़ी सावधानी और दृढ़ता के साथ गयासुद्दीन ने इनका सामना किया। उसने नरमी और उदारता की नीति से सब अधिकारियों, अमीरों और सर्दारों को खुश कर दिया।

गयासुद्दीन ने आन्तरिक असन्तोष को चतुराई और उदारता से शान्त किया। परन्तु दूर के प्रान्तों में दिल्ली सल्तनत के प्रति जो विद्रोह खड़े हुये थे, उनको उसने सैनिक बल के द्वारा दबाया। उसने तिलंगाना और बंगाल के विद्रोहों को दृढ़ता से दमन किया। गयासुद्दीन ने अपनी नरम नीति के द्वारा शासन का संगठन भी किया "न तो सरकारी विधान में कोई रचनात्मक परिवर्तन हुआ और न कोई नयी योजना चलायी गयी, जैसी कि उसके प्रतिभाशाली पुत्र के समय जारी की गयी थी। किन्तु उसका शासन न्याय और उदारता के सिद्धान्त पर अवलम्बित था और अपने नियमों के लागू करने में वह जनता की भलाई करने की भावना से प्रेरित था।" अपने छोटे से शासन-काल में उसने दिल्ली साम्राज्य के ऊपर

चढ़ी गहरी कलंक-कालिमा को दूर करने के लिये काफी प्रयत्न किया। उसे शासन और युद्ध दोनों में ही सफलता मिली। परन्तु अन्त में उसका ही प्रिय और सगा सम्बन्धी उसकी मृत्यु का कारण बना। जब वह बंगाल से विजयी होकर सन् १३२४ ई० में दिल्ली आया तब उसके लड़के जूनाखाँ (मुहम्मद तुगलक) ने उसके स्वागत के लिए धूमधाम से तैयारी की। अपने पिता का अभिनन्दन करने के लिये उसने एक बारादरी बनवायी। जब स्वागत के उत्सव में सभी अतिथि भोजन कर रहे थे, तब बारादरी की छत सुल्तान और उसके एक छोटे लड़के के ऊपर गिर पड़ी और दोनों की इससे तुरन्त मृत्यु हो गयी। इसमे जूनाखाँ का षड्यन्त्र था। यही जूनाखाँ मुहम्मद तुगलक के नाम से दिल्ली की गद्दी पर बैठा।

२. मुहम्मद तुगलक

(१) राज्यारोहण और व्यक्तित्व

पितृघाती मुहम्मद तुगलक १३२५ ई० में दिल्ली के सिंहासन पर बैठा। उसके कुछ संबंधियों ने उसके उत्तराधिकार का विरोध किया। उनमें सागर का सूबेदार गुर्शास्प मुख्य था। वह जीते जी पकड़कर मुहम्मद तुगलक के सामने लाया गया। मुहम्मद ने उसकी खाल खिंचवा ली और उसका मांस पकवाकर उसकी बीवी और बच्चों को खाने के लिए भेजा। इन घटनाओं से मुहम्मद के राज्य-लोभ, अधीरता और कुचक्र का पता लगता है। किन्तु मुहम्मद का व्यक्तित्व और भी अधिक पेचीदा था, जो इतिहासकारों के लिये अब भी एक पहेली बना हुआ है। एक ओर उसमें मस्तिष्क और हृदय के ऊँचे गुण थे, दूसरी ओर उसके स्वभाव में पागल उड़ान, व्यवहार-हीनता, अधीरता, कठोरता और क्रूरता थी। इस कारण से कुछ विद्वान् उसको 'विरोधी गुणों की गठरी' कहते हैं, और कुछ लोग उसकी तुलना इङ्गलैण्ड के राजा प्रथम जेम्स से करते हैं, जो "अपने समय के ईसाई जगत का सबसे बुद्धिमान मूर्ख था।" इसमें सन्देह नहीं कि अब तक दिल्ली की गद्दी पर जितने मुसलमान शासक बैठे थे, उनमें मुहम्मद तुगलक सबसे अधिक विद्वान् था। वह अपने युग के सभी सामाजिक शास्त्रों, साहित्य और कला में निपुण था। फारसी काव्य का वह गम्भीर लेखक, शैली पर उसका पूर्ण अधिकार और भाषण-कला में वह बड़ा कुशल था। साथ ही दर्शन, तर्क, ज्योतिष, गणित और विज्ञान का ज्ञाता भी। निबन्ध-रचना और सुलेख में उसकी बड़ी प्रसिद्धि थी। बरनी के अनुसार मुहम्मद "सृष्टि का वास्तविक आश्चर्य था, जिसकी योग्यता पर अरस्तू और अफलातून भी

आश्चर्यचकित हो जाते।" वह उदार दानी भी था, जिसके दरवाजे पर भिखारियों और याचकों की भीड़ लगी रहती थी। अपने व्यक्तिगत जीवन में वह सच्चा मुसलमान था और कुरानशरीफ की शिक्षाओं का पालन करता था। वह सुधारवादी था और हिन्दुओं के साथ सहनशीलता का व्यवहार करता था। उसके जीवन की विचित्र पहेली को इब्नबतूता ने नीचे लिखे शब्दों में प्रस्तुत किया है। "मुहम्मद ऐसा व्यक्ति है, जो सबसे बढ़कर दान देना और रक्त बहाना पसन्द करता है। उसके दरवाजे पर दरिद्र धनी और धनी दरिद्र होते हुये देखे जाते हैं। प्रिय से प्रिय व्यक्ति उसके हाथों मृत्यु दण्ड पाते हैं। उसके उदार और वीरोचित काम तथा उसकी कठोर और हिंसात्मक कृतियाँ लोगों में काफी बदनाम हैं।"

(२) योजनायें

ऐसे उलझे हुये स्वभाव को लेकर तुगलक ने अपना शासन शुरू किया। उसके मस्तिष्क में बहुत से स्वप्न, योजनायें और सुधार भरे हुए थे। वह प्रायः किसी से परामर्श नहीं करता था और यदि किसी से परामर्श किया भी, तो भी अपने मन की करता था। अपने विचारों और विश्वासों का उसे बड़ा दुराग्रह था। अपने साम्राज्य की शान बढ़ाने के लिए और स्वयं उसका यश पाने के लिये उसने कई योजनायें चलायीं, जिनके भयंकर दुष्परिणाम हुये। उनका विवरण नीचे दिया जाता है :

(क) दो-आब में कर-वृद्धि

गयासुद्दीन ने अपनी किफायतशारी और उदार आर्थिक व्यवस्था से किसानों के ऊपर से करों का भार घटाकर भी सरकारी खजाने की दशा सुधार ली थी। मुहम्मद तुगलक मलिकों और सर्दारों को उपहार, पुरस्कार, दान आदि देकर उनको प्रसन्न करना चाहता था। दरबार की सजावट और शान-शौकत के लिये भी उसे बहुत धन चाहिये था। इसके अतिरिक्त अपनी दूसरी योजनाओं की पूर्ति के लिये भी उसे बहुत धन की आवश्यकता थी। कर बढ़ाने के अतिरिक्त उसके पास दूसरा कोई उपाय न था। गंगा-यमुना दो-आब पर भूमि-कर बेहिसाब बढ़ा दिया और साथ ही बहुत से फुटकर कर भी लगाये। इन करों से छूट मिलना असम्भव था। इस आर्थिक व्यवस्था का परिणाम बुरा हुआ और प्रजा तबाह हो गयी। दुर्भाग्यवश कर उस समय लगाये गये जब कि दो-आब में अकाल पड़ा हुआ था। लोगों की कठिनाई इससे और बढ़ गयी। बहुत देर बाद सुल्तान ने कुयें खोदने और किसानों को तकावी देने की व्यवस्था की। परन्तु जनता इससे लाभ न

उठा सकी और बहुत से लोग भूख की ज्वाला में जल मरे। सुल्तान ने असमय में कर बढ़ाने और बड़ी देर से सहायता पहुँचाने दोनों में गलती की।

(ख) राजधानी-परिवर्तन

सुल्तान की दूसरी योजना राजधानी बदलने की थी। उसने सल्तनत की राजधानी दिल्ली से हटाकर दौलताबाद (देवगिरि) ले जाने की घोषणा की। दौलताबाद के पक्ष में सुल्तान को कई बातें दिखायी पड़ती थीं। एक तो दौलताबाद सुन्दर नगर था। दूसरे दौलताबाद का किला दुर्गम और अभेद्य था। वह एक ऊँची पहाड़ी के ऊपर स्थित था, जिसके किनारों को घिसवाकर सुल्तान ने इतना चिकना करवा दिया था, कि उसपर सांप भी रेंग कर नहीं चल सकता था। दौलताबाद की स्थिति भी केन्द्रीय थी, जहाँ से साम्राज्य के सभी सूबे लगभग समान दूरी पर थे। विशेषकर दक्षिण-विजय के बाद देवगिरि का महत्त्व बढ़ गया था। मंगोलों के आक्रमणों से भी वह सुरक्षित था। परन्तु इन सुविधाओं को देखने में भी सुल्तान भूगोल और गणित से प्रभावित था; भारत की वास्तविक सैनिक और राजनैतिक स्थिति और इतिहास पर उसने पूरा ध्यान नहीं दिया। दिल्ली सल्तनत की स्थिति और रक्षा के लिये दो बातें आवश्यक थीं—(१) बाहरी आक्रमणों से पश्चिमोत्तर सीमान्त की रक्षा और (२) उत्तर भारत के मैदान पर पूरा और दृढ़ अधिकार। ये दोनों काम जितनी आसानी के साथ दिल्ली से हो सकते थे, उतनी सरलता के साथ देवगिरि से कभी नहीं। दिल्ली स्वयं भारत की रक्षा-पंक्ति के एक दरवाजे पर स्थित है। इसको अधिकार में रखते हुए भारत की रक्षा और उस पर शासन ठीक तरह से हो सकता था। यहाँ से दूर के प्रान्तों के उपद्रव को शान्त करना भी असम्भव नहीं था। "अपनी योजना के पक्ष और विपक्ष की बातों पर बिना विचार किये ही सुल्तान ने दिल्ली को नष्ट कर दिया, जो पिछले लगभग २०० वर्षों से फूलीफली थी और बगदाद और काहिरा का मुकाबिला करती थी। दिल्ली शहर निर्जन और वीरान कर दिया गया। एक बिल्ली और कुत्ता भी वहाँ न रह गया। निवासियों के झुंड अपने परिवार के साथ दुःखी हृदय से विवश होकर दिल्ली छोड़कर चले। बहुत से रास्ते में ही मर गये और जो दौलताबाद पहुँचे भी, वे रास्ते के कष्ट को सहन नहीं कर सके और कराहते हुए मौत की ओर जाने लगे। काफिरों के मुल्क दौलताबाद के चारों तरफ मुसलमानों की कब्रें फैल गयीं। सुल्तान प्रवासियों के साथ बड़ा उदार था। रास्ते और दौलताबाद में उनके लिये अच्छा प्रबन्ध भी था, परन्तु वे स्वभाव के कोमल थे, अतः प्रवास सहन नहीं कर सकते थे।

उस मूर्त्तिपूजक देश में वे नष्ट होने लगे और थोड़े से बच रहे, जो लौटकर फिर अपने देश (दिल्ली) में आये।" वास्तव में राजधानी का बदलना सुल्तान की पथभ्रष्ट शक्ति का एक बहुत बड़ा स्मारक था। इसमें बड़ी शक्ति, साधन और समय का नाश हुआ और फिर दिल्ली को बसाने और सम्हालने में कई वर्ष लग गये।

(ग) मंगोल-आक्रमण के रोकने का नया ढंग

मुहम्मद तुगलक की फिजूलखर्ची और कुशासन से पश्चिमोत्तर का सीमान्त फिर एक बार खतरे में पड़ गया। मंगोलों के आक्रमण शुरू हो गये। वे लमगान, मुल्तान और पंजाब को रौंदते हुये दिल्ली के पड़ोस तक पहुँच गये। उनका सामना करने के लिये सुल्तान जरा भी तैयार न था, क्योंकि देवगिरि जाने और वहाँ से वापस आने में उसकी शक्ति बहुत बिखर गयी थी। बलबन और अलाउद्दीन ने अपने सैनिक बल से मंगोलों को हराया था। मुहम्मद ने उनकी लूट की प्यास को बहुत सा घूस देकर बुझाना चाहा। उसकी बुद्धि में यह बात नहीं आयी कि यह घूस देने की दुर्बल नीति मंगोलों की भूख को और जगा देगी। मुहम्मद का ध्यान अपनी नीति की कमजोरी पर नहीं उसकी नवीनता पर था।

(घ) संकेत-मुद्रा का प्रचार

सुल्तान की बहुत सी योजनाओं ने सरकारी खजाना खाली कर दिया। अब प्रश्न यह था कि सरकार की आर्थिक अवस्था कैसे सुधारी जाय? अलाउद्दीन ने सामान और उसके मूल्य पर नियंत्रण करके अपना खर्च पूरा किया था। मुहम्मद के उपजाऊ दिमाग में एक नयी योजना पनपी। उसने ताँबे की संकेत-मुद्रा का प्रचार किया। इसका मतलब यह था कि ताँबे पर चांदी और सोने के सिक्कों के मूल्य अंकित होंगे और सरकारी आज्ञा से ऊँचे मूल्य पर ताँबे के सिक्कों को स्वीकार करना पड़ेगा। दुर्भाग्य से टकसाल और सिक्कों के ढलाव पर सरकारी नियंत्रण नहीं था। इसका फल यह हुआ कि हरेक लुहार की दूकान टकसाल बन गयी। लाखों और करोड़ों सिक्के ताँबे के बन गये। सरकार के पास जो चाँदी और सोना था, वह दूसरों के पास पहुँच गया और उनके बदले में सारा तांबा सरकारी खजाने में भर गया। कई इतिहासकारों ने मुहम्मद तुगलक की संकेत-मुद्रा की अर्थशास्त्र के सिद्धान्त पर प्रशंसा की है और उस समय के लोगों की निन्दा की है जो उसका महत्त्व नहीं समझ सकते थे। परन्तु सवाल तो यह है कि उस समय की परिस्थिति में तांबे की संकेत-मुद्रा चलाना ठीक था अथवा नहीं? वास्तव में

संकेत मुद्रा चलाकर मुहम्मद ने बहुत बड़ी भूल की। इस मूर्खता के होते हुये भी मुहम्मद तुगलक मुद्राकला का बहुत बड़ा सुधारक था। उसके पहले दिल्ली के सुलतानों के सिक्के भद्दे और कलाहीन होते थे। मुहम्मद ने कई प्रकार के और सुन्दर सिक्कों को ढलवाया। प्रसिद्ध मुद्रा-शास्त्री टॉमस और ब्राउन ने उसे 'मुद्रा-शास्त्र का राजा' कहा है।

(ङ) विजय-योजना

मुहम्मद तुगलक के मन में संसार को जीतने का स्वप्न जोर मार रहा था। उसके पहले अलाउद्दीन खिजली ने भी सिकन्दर का अनुकरण करने का विचार किया था, परन्तु वह मनस्वी होते हुये भी चतुर था। इसलिये अपने काजी की सलाह से उसने वह विचार छोड़ दिया। मुहम्मद तुगलक को सलाह देने का किसी को साहस नहीं होता था। अपनी विश्व-विजय की योजना में मुहम्मद ने पहले खुरासान और फिर चीन पर आक्रमण करने का आयोजन किया। एक बहुत बड़ी सेना विजय करने के लिये भेजी गयी जो रास्ते की कठिनाइयों से बहुत कुछ नष्ट हो गयी। वास्तव में जब सारे देश में असन्तोष और विद्रोह की आग भड़क रही थी, तो सारे संसार को जीतने का स्वप्न मूर्खता के सिवाय और क्या हो सकता है? कुछ इतिहासकारों ने फिरिश्ता द्वारा वर्णित चीन-विजय का दूसरा अर्थ लगाया है। उनके अनुसार मुहम्मद ने किसी हिमालय के प्रान्त पर आक्रमण किया था। परन्तु हिमालय जीतना भी कम दुस्साहस का काम नहीं था और उस समय की परिस्थिति में अव्यावहारिक था।

मुहम्मद तुगलक की योजनाओं की असफलता के कई कारण थे। बहुत कुछ उसका व्यक्तित्व इसके लिये जिम्मेदार था। उसमें कई एक भारी दुर्गुण थे, जो योजना और शासन के विरुद्ध पड़ते थे। एक तो वह कोरा आदर्शवादी था। परिस्थिति और वातावरण का विचार किये बिना ही बड़ी-बड़ी योजनाओं को चलाता था। दूसरे, उसका स्वभाव बहुत ही अहंकारी था और चाहता था कि उसकी सभी बातें मान ली जावें। तीसरे, उसमें धीरज का अभाव था। दूसरों को अपनी बात समझने का अवसर नहीं देता था। चौथे, विद्वान होते हुये भी उसमें विवेक का अभाव और कुचक्रों में आसक्ति थी। किसी प्रश्न पर वह निष्पक्ष होकर विचार नहीं कर सकता था। पाँचवें, दिल्ली के सुलतानों के लिये सुलभ तुनकमिजाजी और क्रोध की मात्रा उसमें बहुत थी। गयासुद्दीन ने मुहम्मद तुगलक के लिये बहुत अच्छी बपौती

छोड़ी थी। सुधरा शासन और प्रायः शान्त साम्राज्य उसको मिला था। अपने स्वभाव और व्यक्तित्व के कारण न केवल उसने अपने जीवन को असफल बनाया, परन्तु सारी प्रजा को भी दुःखी बना डाला। उसके शासन-काल का इतिहास एक करुण-कहानी है।

(३) शासन-सुधार

मुहम्मद ने अपने शासन में सुधार और परिवर्तन लाने का प्रयत्न किया। उसके समय का शासन इस्लामी धर्म और मुल्लाओं से बहुत ही प्रभावित था। मुसलमानों और मुल्लाओं की परवाह किये बिना उसने शासन को उनके प्रभाव से मुक्त करने की चेष्टा की। इन बातों से मुहम्मद तुगलक की उदारता और पक्षपातहीनता का कुछ संकेत मिलता है। हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं का ध्यान उसने शासन में रखा, सरकारी नौकरियों में उनको स्थान दिया और कुछ ऊँचे पदों पर भी उनको रखा। हिन्दुओं में प्रचलित सती-प्रथा को भी इसने रोका। राजस्थान के राजाओं से उसने छेड़-छाड़ न की। इस नीति से उस समय मुसलमान उससे असन्तुष्ट हो गये। अभी तक न्याय विभाग काजियों और मुफ्तियों के हाथों में था। किन्तु मुहम्मद ने अपील की अदालत का प्रधान न्यायाधीश अपने को बनाया। सुल्तान न्याय की व्यवस्था में बड़ी दिलचस्पी लेता था। सरकारी नौकरियों में कर्मचारियों की नियुक्तियों में वह योग्यता का विशेष ख्याल करता था। यदि किसी पद के लिए कोई योग्य हिन्दुस्तानी नहीं मिलता था तो वह विदेशियों की भी नियुक्ति योग्यता के आधार पर करता था। परन्तु शासन के ये सुधार उसकी योजनाओं के सामने फीके पड़ गये और जनता उनका पूरा लाभ न उठा सकी।

(४) योजनाओं का परिणाम

मुहम्मद की योजनाओं का परिणाम यह हुआ कि सारे देश में असन्तोष और उपद्रव शुरू हो गये। सिन्ध में लुटेरों ने उपद्रव मचा रखा था। मुहम्मद सेना लेकर वहाँ पहुँचा। बहुतों को मार डाला और शेष को इस्लाम ग्रहण करने को विवश किया। इस समय सिन्ध का प्रान्त सल्तनत के बाहर जाने से बच गया। सुदूर दक्षिण में संगठित हिन्दू विद्रोह हुआ। १३४६ ई० में द्वारसमुद्र के होयसालों के पतन के बाद विजयनगर में एक हिन्दू शक्ति का उदय हुआ, जिसने आसपास के सारे प्रान्तों पर अपना अधिकार जमा लिया। धीरे-धीरे दौलताबाद और गुजरात भी दिल्ली सल्तनत के हाथ से निकल गये। दक्षिण में १३४७ ई० में हसनगांगू ने बहमन-

राज्य की स्थापना की। इन उपद्रवों के सम्बन्ध में मुहम्मद तुगलक को बड़ी परेशानियों का सामना करना पड़ा। १३५१ ई० में वह सिन्ध में बीमार पड़ा और थकित और चिन्तित अवस्था में अपने बिखरे हुए साम्राज्य को छोड़कर इस संसार से चल बसा।

३. फिरोज तुगलक

मुहम्मद तुगलक निस्सन्तान मरा था। अपने मरने के पहिले अपने चचा रजब के लड़के फीरोज को, जो एक राजपूत स्त्री से उत्पन्न हुआ था, अपना उत्तराधिकारी चुना था। फिरोज स्वभाव से धार्मिक और राज्य के प्रति उदासीन था। वह षड्यंत्रों से डरता था, परन्तु सर्दारों और सेना के दबाव डालने पर फिरोज ने सुलतान बनना स्वीकार कर लिया।

(१) समस्यायें

फिरोज के सामने तीन मुख्य समस्यायें थीं—(क) स्वतन्त्र हुये प्रान्तों को फिर से जीतने का प्रयत्न करना और नये विद्रोहों को दबाना। (ख) मुहम्मद तुगलक के शासन से पीड़ित प्रजा को सुख पहुँचाना और (ग) शासन-व्यवस्था का संगठन करना।

(क) स्वतन्त्र प्रान्तों को वश में करने का प्रयत्न

मुहम्मद तुगलक के समय में जो प्रान्त स्वतन्त्र हो गये थे, उनके बारे में फिरोज ने सन्तोष कर लिया। उसमें न तो लड़ाई के लिये इच्छा थी और न शक्ति ही। इस दिशा में उसने बलबन की नीति का अनुकरण किया और अपने बचे हुये राज्य को दृढ़ करने की कोशिश की। परन्तु जहाँ युद्ध करना अत्यन्त आवश्यक हो गया वहाँ पर उसने अपने सैनिक कर्त्तव्य का पालन भी किया। फिरोज को सबसे पहले बंगाल पर आक्रमण करना पड़ा। वहाँ के सूबेदार इलियास शाह ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर ली थी। फिरोज़ बड़ी तैयारी के साथ तिरहुत होते हुये बंगाल पहुँचा और विद्रोह को शान्त कर दिया। बंगाल के ऊपर सैनिक विजय के बाद फिरोज की राजनैतिक और धार्मिक महत्त्वाकांक्षा कुछ बढ़ी। बंगाल से लौटती बार उड़ीसा में जाजनगर के राजा पर उसने चढ़ाई की। उसने जगन्नाथ पुरी के मन्दिर और मूर्त्ति को तोड़ा और मूर्त्ति के टुकड़े को समुद्र में बहा दिया। राजा ने हार मानकर सन्धि कर ली। उड़ीसा के अन्य राजाओं और जमीन्दारों को जीतता हुआ फीरोज़ दिल्ली वापिस आया।

इसके बाद फीरोज ने कांगड़ा की घाटी में नगरकोट और सिन्ध में विद्रोहों को शान्त किया और दिल्ली सल्तनत की धाक जमायी।

(ख) पीड़ित प्रजा को सुख पहुँचाना

मुहम्मद तुगलक की योजनाओं और कठोरता से बहुत लोगों को कष्ट हुआ था। फीरोज अपने धार्मिक विश्वास के अनुसार यह समझता था कि इन सबका पाप मुहम्मद को लगेगा और वह उसकी मृतात्मा को पाप से मुक्त करना चाहता था। इसलिये जिस किसी की सम्पत्ति नष्ट हुई हो, या और कोई नुकसान हुआ हो, या कोई निरपराध मार डाला गया हो, फिरोज़ ने सब की क्षतिपूर्त्ति की और उनसे इसके प्रमाणपत्र लिये। इस प्रकार सब प्रमाण-पत्र इकट्ठे कर मुहम्मद की कब्र में गाड़ दिये गये, जिससे कयामत के दिन मुहम्मद तुगलक को क्षमा मिल सके। इसके सिवाय प्रजा के ऊपर तकावी के ऋण का जो भार बढ़ रहा था, उसको फीरोज ने माफ कर दिया।

(ग) शासन-व्यवस्था

फिरोज में बलबन की दृढ़ता, अलाउद्दीन की शक्ति और मुहम्मद तुगलक की प्रतिभा नहीं थी। उसकी संकीर्ण धार्मिक-नीति ने उसकी शासन-व्यवस्था का महत्त्व सारी जनता के लिये कम कर दिया था। फिर भी यह बात माननी पड़ेगी कि फिरोज उन इने-गिने मुस्लिम शासकों में से है, जिन्होंने प्रजा की भलाई की दृष्टि से शासन किया था। शासन के ऊँचे आदर्श के साथ फिरोज में उसके लिये रुचि और क्षमता भी थी।

फिरोज़ तुगलक के समय में भी केन्द्रीय शासन एकतान्त्रिक और निरंकुश था। मुहम्मद तुगलक ने उसको कुछ धर्मनिरपेक्ष बनाने का प्रयत्न किया था। फिरोज ने फिर उसको धर्म-तान्त्रिक बना दिया अर्थात् शासन के ऊपर कुरान, शरीयत और मुल्लाओं का प्रभाव बढ़ गया। परन्तु इसके साथ ही साथ शासन में एक तरह की आदर्शवादिता और सादगी भी आ गयी। फिरोज ने प्रान्तीय शासन में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया। अलाउद्दीन और मुहम्मद तुगलक के समय में सूबेदार की नियुक्ति सुल्तान करता था और उनको सरकारी खजाने से निश्चित वेतन मिलता था। फिरोज तुगलक ने इस प्रथा को अलग कर फिर जागीरदारी-प्रथा चलायी। जागीरदारों के साथ-साथ अस्थायी सैनिक अधिकारियों के लिये जागीरें दी गयीं। साम्राज्य के ऊपर इसका प्रभाव बुरा पड़ा। भूमि और सेना दोनों जागीरदारों के हाथों में होने से उनकी शक्ति बढ़ गयी और वे स्वतन्त्र होने

की चेष्टा करने लगे। माल-विभाग में भी फ़िरोज ने सुधार किया। "फ़िरोज़ ने पैगम्बर के नियमों को अपना पथ-प्रदर्शक बनाया'''उनके प्रतिकूल जो कर थे, उनको बंद कर दिया। उचित सरकारी करों के सिवाय प्रजा से और फुटकर कर वसूल नहीं होते थे।" क़ुरान के अनुसार खिराज, जकात, खाम और जजिया चार प्रकार के कर वसूल होते थे। फिरोज इन नियमों का इतना पाबन्द था, कि वह नहरों द्वारा सिंचाई का कर लेने को भी तैयार न था, पर उलमाओं के व्यवस्था देने पर उसने सिंचाई कर स्वीकार किया। मुहम्मद तुगलक के समय के २६ सरकारी कर बन्द कर दिये गये। मुसलमान सैनिकों की लूट का ४।५ सरकार लेती थी और १।५ उनको मिलता था; फिरोज ने क़ुरान के अनुसार यह अनुपात उलट दिया। खेती और किसानों का फिरोज बहुत ध्यान रखता था। खेती की उन्नति के लिये उसने नहरें बनवाईं और इसके ऊपर बहुत कम कर वसूल किया। न्याय-विभाग का संगठन भी इस्लामी नियमों के अनुसार किया गया। अदालतों में मुफ्ती कानून की व्यवस्था करता था और काजी निर्णय सुनाता था। इस न्याय-विधान में मुस्लिम और गैर-मुस्लिम का भेद था, किन्तु फिरोज ने न्याय के लिये सबसे बड़ा काम यह किया कि उसने दण्ड की कठोरता को कम किया और न्याय के नाम पर जो अमानुषिक यातनायें दी जाती थीं, उनको उसने बन्द कर दिया। फतूहाते-फिरोज़ो के अनुसार "हाथ, पैर, कान और नाक का काटना, आँखों का निकालना, गरम और पिघला हुआ रांगा गले से उतारना, हाथ और पैर की अँगुलियों को मुँगरी से तोड़ना, जीवित पुरुष को आग में जलाना, हाथ, पैर और छाती में लोहे के सींकचे घुसेड़ना, आदमियों को आरे से चीरना आदि कई प्रकार की सजायें प्रचलित थीं...किन्तु महान् और दयालु ईश्वर ने मुझको बनाया। मैं उसका दास, मुसलमानों की अवैध हत्या और उनके ऊपर या किसी भी मनुष्य के ऊपर किसी प्रकार की यातना को रोकने का प्रयत्न करता हुआ उसकी दया की याचना और आशा करता हूँ।'

अलाउद्दीन के समय में जो **सैनिक-सुधार** किये गये थे उनको फिरोज ने फिर उलट दिया। सैनिक संगठन का आधार जागीरदारी प्रथा थी। जागीरदार सेनायें रखते थे और युद्ध के समय सुलतान की सैनिक सहायता करते थे। सैनिकों को जागीर के साथ भत्ता भी मिलता था। सरकारी सेना में लगभग ८० या ९० हजार घुड़सवार थे और जागीरदारों की सेना में लगभग २ लाख। सैनिकों को अच्छे-अच्छे घोड़े रखने होते थे और उनकी परीक्षा तथा रजिस्ट्री करानी पड़ती थी। सिपाहियों के साथ उदारता का व्यवहार होता था।

परन्तु फिरोज की उदारता के कारण सेना में बहुत से बूढ़े और अयोग्य सैनिक घुस गये, जिससे सेना कमजोर पड़ गयी।

फिरोज तुगलक स्वयं बड़ा भारी विद्वान् न था और न मुहम्मद तुगलक के समान उसमें साहित्यिक प्रतिभा ही थी। फिर भी वह विद्या का प्रेमी था और उसके प्रचार के लिये उसने व्यवस्था की। अपने अंगूरी महल में वह विद्वानों को निमंत्रण देकर बुलाता था और उनका उचित आदर करता था। शेखों और विद्वानों को सरकार की ओर से वृत्तियाँ मिलती थीं। उसके दरबार में जियाबरनी और शमशे-सिराज, अफी, आदि प्रसिद्ध लेखक रहते थे। धर्म-विज्ञान और कानून पर उसके समय में कई एक ग्रन्थ लिखे गये। संस्कृत के बहुत से ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद कराया गया। सरकार की ओर से बहुत से मदरसे खोले गये। पुरानी इमारतों और स्मारकों की रक्षा का फिरोज को बड़ा ध्यान था और इसके लिये उसने एक विभाग खोल रखा था। अशोक के दो पत्थर के स्तम्भों को टोपरा और मेरठ से उठाकर फिरोज ने उनको दिल्ली में खड़ा किया। उनमें से एक आज भी फिरोज कोटला में खड़ा है। उसको नगर बसाने और इमारतें निर्माण करने का भी बड़ा शौक था। फिरोजाबाद, फतहाबाद, जौनपुर, हिसार, फिरोजपुर आदि कई नगर बसाये। फिरोज ने ४ मसजिदें, ३० राजमहल, २०० सरायें, ५ बड़े जलाशय, ५ औषधालय, १०० मकबरे, १० स्नानघर, १० स्मारक-स्तम्भ और १०० पुलों का निर्माण कराया। फिरोज ने भवनों की सुन्दरता पर भी काफी ध्यान दिया। उसके समय में कई एक नहरें और सड़कें भी बनायी गयीं। एक नहर यमुना नदी से निकलकर हिसार फिरोजा तक जाती थी और पूर्वी पंजाब को सींचती थी। उसने कई बगीचे भी लगवाये। स्वास्थ्य और औषध-विभाग पर सरकार खर्च करती थी। हिकमत और तिब्ब (वैद्यक और आयुर्वेदशास्त्र) में सुल्तान की विशेष रुचि थी। उसने दिल्ली में दारुलशफा की स्थापना की थी और दूसरे नगरों में भी सरकार की ओर से शफाखानें खुले थे, जहाँ रोगियों को मुफ्त दवा और भोजन मिलता था। गरीबों और बेकारों की सहायता के लिये दान-विभाग खुला हुआ था, जिसके मुख्य कार्यालय को दीवाने खैरात कहते थे। गरीब मुसलमानों की लड़कियों के विवाहों में सरकार की ओर से सहायता मिलती थी।

गुलामों को अपने संरक्षण में रखने और उनके भरण-पोषण में फिरोज की बड़ी रुचि थी। वह गुलामी-प्रथा को इस्लाम प्रचार का एक साधन भी मानता था, क्योंकि गुलाम निश्चित रूप से मुसलमान हो जाते थे। गुलामों

की संख्या बढ़ते-बढ़ते एक लाख अस्सी हजार हो गयी। उनकी देखरेख के लिये एक स्वतंत्र विभाग खोलना पड़ा। सरकार के ऊपर यह एक बहुत बड़ा बोझ था। राजधानी में विलासिता और व्यभिचार फैलाने का यह एक प्रमुख साधन हो गया और राजनीतिक षड्यंत्र का बहुत बड़ा अड्डा।

(२) फिरोज की धार्मिक नीति

यदि फिरोज तुगलक की सारी प्रजा सुन्नी मुसलमान होती तो वह एक आदर्श शासक माना जाता। परन्तु उसके धार्मिक विश्वास ने उसकी शासन-पद्धति को प्रजाहित के लिये संकीर्ण बना दिया। वह न केवल हिन्दुओं के लिये अनुदार था, परन्तु गैर-सुन्नी मुसलमानों के साथ भी। उसने स्वयं लिखा है 'साधारणतः हिन्दुओं के ऊपर कठोर दण्ड को मैंने मना किया, परन्तु उनके मन्दिरों और मूर्त्तियों को मैंने तोड़ा और उनके स्थान पर अपनी मसजिदें स्थापित कीं।' नये मन्दिरों का बनाना उसने बन्द कर दिया। ब्राह्मण अभी तक जजिया कर से मुक्त थे; परन्तु फिरोज ने उनके ऊपर भी जजिया कर लगाया। एक ब्राह्मण को उसने इसलिये जीवित जलवा दिया, कि उसने खुले आम अपने विश्वास के अनुसार पूजा करने का अपराध किया था। शिया मुसलमानों के साथ वह अपने बर्त्ताव का इस प्रकार वर्णन करता है। 'मैंने उन सभी को पकड़ा और उनपर गुमराही का दोष लगाया। जो बहुत उत्साही थे उनको मैंने प्राणदण्ड दिया। मैंने उनकी किताबों को आम जनता के बीच जला दिया और ईश्वर की कृपा से इस सम्प्रदाय का प्रभाव दब गया।' सच बात तो यह है, कि मुस्लिम जगत् में अभी तक धार्मिक उदारता का युग बहुत दूर था और फिरोज तुगलक इसका अपवाद नहीं था।

(३) फिरोज के अंतिम दिन और दुर्बल वंशज

फिरोज के अन्तिम दिन बहुत ही दुःखमय थे। एक तो वह बूढ़ा हो चला था। दूसरे, उसके परिवार में उत्तराधिकार के लिये षड्यंत्र चल रहे थे। उसने अपने पोते तुगलक शाह को अपना उत्तराधिकारी चुना। सन् १३८८ ई० में ८० वर्ष का बूढ़ा और जर्जर फिरोज इस संसार से चल बसा। इसके बाद उसके वंश की वही दशा हुई, जो बलबन के बाद गुलाम-वंश और अलाउद्दीन के बाद खिलजी-वंश की हुई थी। फिरोज के दुर्बल उत्तराधिकारी अमीरों और सर्दारों के हाथों में खिलौने थे। फतह खां, अबूबकर, मुहम्मद आदि कई शासक गद्दी पर बैठे। मुहम्मद का लड़का हुमायूँ सिकन्दरशाह

की उपाधि धारण कर गद्दी पर बैठा, किन्तु छः हफ्ते के बाद ही मार डाला गया। उसके बाद मुहम्मद का छोटा लड़का महमूद गद्दी पर बैठा। इस समय तक दिल्ली की सल्तनत बहुत ही कमजोर हो गयी थी। जौनपुर, मालवा, गुजरात आदि सूबे स्वतंत्र हो गये। ऐसी परिस्थिति में १३९८ ई० में भारत के ऊपर तैमूर का आक्रमण हुआ।

४. तैमूर का आक्रमण

तैमूर एक तुर्क-वंश में उत्पन्न हुआ था। यद्यपि वह एक पांव से लँगड़ा था, परन्तु लड़कपन से ही उसके स्वभाव में अद्भुत सैनिक प्रतिभा और भयंकर कठोरता थी। उसकी गणना संसार के सैनिक विजेताओं में की जाती है। अपनी योग्यता से वह समरकन्द का अमीर हो गया और ३३ वर्ष की अवस्था में तुर्कों की चगताई शाखा का नेतृत्व ग्रहण किया। उसने बहुत जल्दी फारस, ईराक और पश्चिमी एशिया के देशों को रौंद डाला और अफगानिस्तान पर भी अपना अधिकार कर लिया। अब उसके बढ़ाव का सीधा रास्ता भारत की ओर संकेत कर रहा था।

(१) आक्रमण का कारण

भारतवर्ष बराबर मध्य-एशिया के भूखे और घुमक्कड़ लुटेरों को अपनी ओर खींचता रहा है। भारत की लूट का आकर्षण तैमूर के लिये काफी था। भारत के ऊपर चढ़ाई करने के सम्बन्ध में वह लिखता है—'हिन्दुस्तान पर चढ़ाई करने में मेरा उद्देश्य है—काफिरों के विरुद्ध आक्रमण करना, पैगम्बर की आज्ञा के अनुसार उनको सच्चे धर्म में दीक्षित करना, मूर्त्ति पूजा और कुफ्र की अपवित्रता से देश को पवित्र करना और मन्दिरों तथा मूर्त्तियों को तोड़ना, जिससे हम गाजी, मुजाहिद और ईश्वर के सामने धर्म के सैनिक और प्रचारक बन सकें।' दिल्ली के सुल्तान हिन्दुस्तान के कुफ्र को दूर करने में असमर्थ थे, इसलिये तैमूर ने सुल्तान और हिन्दुओं दोनों को दण्ड देना आवश्यक समझा। उसके कामों को देखने से साफ हो जायगा, कि उसके उद्देश्यों में लोभ और धर्मान्धता मुख्य थे। वास्तव में दिल्ली सल्तनत की कमजोरी ने उसको इस देश में बुलाया। धर्म का प्रचार तो एक बहाना मात्र था।

तैमूर ने पहले सीमान्त और पश्चिमी पंजाब पर आक्रमण करके **मुसाफिर काबुली** को वहाँ का शासक बनाया; परन्तु वहाँ की जनता ने विद्रोह करके उसको मार डाला। इस समाचार को सुनकर वह हिन्दुस्तान पर इस प्रकार टूट पड़ा जैसे भेड़िया भेड़ों पर। वह अटक, मुल्तान, दीपालपुर,

भटनेर, सरसुती होता हुआ दिल्ली के पड़ोस में पहुँच गया। रास्ते में उसने अग्निकाण्ड, नर-हत्या, अराजकता, अकाल और बीमारी का भीषण दृश्य उपस्थित किया। दिल्ली पहुँचते-पहुँचते उसके पास एक लाख से अधिक वन्दी इकट्ठे हो गये, जिनको अपने अमीरों की राय से उसने मरवा डाला। जब तैमूर दिल्ली के पास पहुँच गया, तब सुल्तान महमूद और उसके सेनापति मल्लू इकबाल ने तैमूर से लड़ाई की तैयारी की, परन्तु उनके सिपाही इस तरह भागे जैसे सिंह के सामने से हिरण। तैमूर ने दिल्ली में प्रवेश किया। 'यह ईश्वर की इच्छा थी, कि इस नगर को नष्ट किया जाय और इसके निवासियों को दण्ड दिया जाय...शुक्रवार की सारी रात लूट और अग्निकांड जारी रहा...सारा राजमहल नष्ट किया गया। मारे हुये हिन्दुओं के सिरों के स्तम्भ बनाये गये और उनके शरीर शिकारी जानवरों और चिड़ियों के लिये फेंक दिये गये। जो हिन्दू मृत्यु से बचे, वे बन्दी बनाये गये। कई हजार कारीगरों का अपहरण किया गया और तैमूर ने उनको अमीरों में बाँट दिया। पत्थर के काम करनेवाले कारीगरों को विजेता तैमूर ने समरकन्द में एक विशाल मसजिद बनाने के लिये सुरक्षित रखा।' दिल्ली में तैमूर के नाम से खुतबा पढ़ा गया। दिल्ली के आसपास के प्रदेशों को उसने लूटा और बर्बाद किया। उत्तरी हिन्दुस्तान के बहुत बड़े भाग को नष्ट-भ्रष्ट करने के बाद तैमूर ने मुल्तान के सूबेदार खिज्र खां को मुल्तान, दीपालपुर और लाहौर के सूबों का जागीरदार बनाया और स्वयं अपनी राजधानी समरकन्द को लौट गया।

(२) आक्रमण का परिणाम

दिल्ली की सल्तनत में जो अराजकता और विद्रोह फैल रहे थे, उनको तैमूर के आक्रमण ने और बढ़ा दिया और सुल्तान की रही सही शक्ति और आदर भी जाता रहा। सल्तनत के टुकड़े-टुकड़े होने शुरू हो गये। तैमूर का आक्रमण वास्तव में एक भयंकर दैवी प्रकोप था। इसकी कठोरता और बर्बरता से न केवल सल्तनत की कमर टूट गयी किन्तु प्रजा की भी बड़ी तबाही हुई। देश में अकाल और रोग फैल गये। मनुष्य और जानवर मरने लगे। खेती, उद्योग-धन्धे और व्यापार चौपट हो गये। सारी प्रजा अराजकता, रोग और भूख से त्रस्त थी। तैमूर के लौट जाने पर १३९९ ई० में मुहम्मद के चचेरे भाई नुसरत शाह ने दिल्ली को अपने अधिकार में कर लिया, परन्तु इकबाल खां ने फिर महमूद को दिल्ली का सुल्तान बनाया। इस तरह अमीरों और सर्दारों के हाथों में दिल्ली की सल्तनत खिलवाड़ बन गयी।

१४१२ ई० में महमूद का देहान्त हो गया और इसके साथ ही भारत में तुर्कों का साम्राज्य भी नष्ट हो गया। दिल्ली के अमीरों और सर्दारों ने दौलत खाँ को अपना नेता चुना। दिल्ली की स्थिति से लाभ उठाकर मुल्तान का सूबेदार और तैमूर का प्रतिनिधि खिज्र खाँ दिल्ली पहुँचा। १४१४ ई० में दौलत खां को हराकर दिल्ली में उसने एक नये राजवंश की स्थापना की।

२१ अध्याय

दिल्ली सल्तनत का पतन

तैमूर के आक्रमण के बाद दिल्ली की सल्तनत अपने पहले के रूप की छायामात्र थी। सल्तनत का बिखरना तो मुहम्मद तुगलक के अन्तिम दिनों में ही शुरू हो गया था। फिरोज तुगलक अपनी कमजोर नीति के कारण विच्छिन्न प्रान्तों को फिर दिल्ली साम्राज्य में न मिला सका। उसके उत्तराधिकारी और भी कमजोर हुये और उनके समय में दिल्ली सल्तनत के दूर के सूबे उससे बाहर निकल गये। तैमूर के आक्रमण ने विघटन की क्रिया को और पूरा कर दिया। दिल्ली सल्तनत के रहे-सहे प्रान्त भी स्वतंत्र हो गये। जिस समय मुल्तान का सूबेदार खिज्र खां दिल्ली की गद्दी पर बैठा, उस समय दिल्ली सल्तनत का अधिकार केवल दिल्ली की आसपास की भूमि पर था। दिल्ली सल्तनत का उद्धार करना सरल काम न था। सैयद-वंश में इसके लिये बिलकुल शक्ति न थी। लोदी-वंश कुछ अधिक शक्तिमान् था, परन्तु उसे बहुत थोड़ी सफलता मिली। सन् १४१४ ई० से लेकर १५२६ ई० तक सल्तनत केवल दिल्ली और उसके आसपास के प्रदेशों में ही टिमटिमाती रही। १५२६ ई० में जब भारत के ऊपर मुगल आक्रमण हुआ, तब वह उसका सामना न कर सकी और उसका अन्त हो गया।

१. सैयद-वंश

(१) खिज्र खाँ

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, वह १४१४ ई० में दौलत खां को हराकर दिल्ली की गद्दी पर बैठा और तथाकथित सैयद-वंश की स्थापना की। वास्तव में खिज्र खां सैयद नहीं था। भारत में मुस्लिम सत्ता के प्रति गिरती हुई श्रद्धा को फिर जगाने के लिये उसने अपने वंश को सैयद-वंश घोषित किया। वह अपनी कमजोरियों को समझता था और इसलिये वह अपने को तैमूर का प्रतिनिधि कहता था। उसके सामने दो समस्यायें थी—(१) यमुना-गंगा के दोआब में हिन्दू जमींदारों के विद्रोह को दबाना और (२) दिल्ली के आसपास के प्रान्तों पर सल्तनत के लड़खड़ाते हुये आधिपत्य को

फिर से कायम करना। उसने पहले रुहेलखण्ड, कम्पिल, ग्वालियर, कन्नौज, इटावा, बियाना आदि पर अपनी सत्ता जमा ली। दिल्ली के आसपास मेवातियों ने बार-बार विद्रोह किया और पश्चिमोत्तर सीमा पर घक्खरों के आक्रमण और लूट-पाट शुरू हो गये थे। अपने शासन के सात वर्षों में उसने इन विद्रोहों को दबाया। १४२१ ई० में वह बीमार पड़ा और फिर न उठ सका। स्वभाव से खिज्र खां दयालु शासक था। उसने कभी भी अनावश्यक रक्तपात नहीं किया, और न तो बदला लेने के लिये अथवा आतंक फैलाने के लिये किसी पर अत्याचार किया। किन्तु उसके समय में राजनीतिक परिस्थिति इतनी डावाँडोल थी कि न तो वह सल्तनत से निकले हुये प्रान्तों को वापिस ले सका और न शासन में ही किसी भी प्रकार का सुधार कर सका।

(२) मुबारक शाह

१४२१ में वह गद्दी पर बैठा। मुबारक ने सर्दारों को अपने पक्ष में करने के लिये उनको जागीरें दीं; परन्तु प्रसन्न करने की नीति उस समय सफल नहीं हो सकती थी। उसके समय में भी दो-आब में विद्रोह हुये और पंजाब और सरहिन्द में अशान्ति मची रही। उपद्रवों को शान्त करने के बाद मुबारक ने अपने शासन में सुधार करने का प्रयास किया। कई अमीर सरदार उसके विरुद्ध षड्यंत्र करने लगे। एक दिन सुल्तान जब मुबारकाबाद का निरीक्षण कर रहा था, उसके वजीर सरवार ने उसका काम तमाम कर दिया।

(३) मुबारक के वंशज

मुबारक के बाद सैयद-वंश के शासक बिल्कुल अयोग्य और निकम्मे थे। उनके समय में दिल्ली की सल्तनत और भी दुर्बल और क्षीण होती गयी। साथ ही प्रान्तों में विद्रोह और उपद्रव शुरू हो गये और सूबेदार अपनी स्वतंत्रता की घोषणा करने लगे। ऐसी परीस्थिति में अन्तिम सैयद सुल्तान अलाउद्दीन आलम शाह गद्दी पर बैठा। वह बहुत ही विलासी तथा आलसी था। शासन की कठिनाइयों से वह बड़ा घबराता था। दिल्ली की दशा षड्यंत्रों के कारण पेचीदी होती जा रही थी। १४४७ ई० में उसने लाहौर और सरहिन्द के अफगान सूबेदार बहलोल लोदी को बुलवाया और दिल्ली के शासन का भार उसे सौंपकर अपनी निजी जागीर बदायूँ में जा बसा। धीरे-धीरे उसका सम्पर्क और धाक दिल्ली से बिल्कुल उठ गयी। १४४८ ई० में बहलोल ने आलमशाह का नाम सुल्तानी खुतबे से निकाल दिया और अपने को स्वतंत्र सुल्तान घोषित किया।

२. लोदी-वंश

(१) बहलोल-लोदी

समस्यायें—जिस समय बहलोल दिल्ली का सुल्तान हुआ उस समय सल्तनत की अवस्था बड़ी शोचनीय थी। उसके सामने कई समस्यायें खड़ी थीं—

(क) अफगान सरदारों को सन्तुष्ट रखना और अपने विरोधी अमीरों का दमन करना। (ख) दो-आब और आसपास के प्रदेशों में सल्तनत की उखड़ी हुई धाक को जमाना। (ग) स्वतंत्र हुये प्रान्तों को फिर से जीतना। (घ) दिल्ली सल्तनत के लिये अपने प्रतिद्वन्दी जौनपुर के शर्की सुल्तानों के साथ युद्ध।

अफगान सरदार आपसी समता और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के बड़े प्रेमी थे। वे इस बात को सहन नहीं कर सकते थे कि उन्हीं में से कोई एक सुल्तान बन जाय। सरदारों को सैनिक बल से दबाना सम्भव नहीं था, इसलिये बहलोल ने उनके साथ नरमी और शिष्टाचार की नीति का अवलम्बन किया। 'सामाजिक सभाओं में वह कभी राजसिंहासन पर नहीं बैठता था और न अपने आने के समय अमीरों तथा सर्दारों को खड़ा होने देता था।...सर्दारों के साथ वह भाई-चारे का बर्त्ताव करता था।' बहलोल को सबसे अधिक खतरा अपने वजीर कमालुलमुल्क से था। पहले झूठी नम्रता से बहलोल ने उसका विश्वास प्राप्त किया, फिर अवसर पाकर उसे गिरफ्तार किया तथा जेल में डाल दिया। इस तरह सुल्तान ने अपने विरोधियों को एक-एक करके नष्ट किया।

दो-आब और आसपास के प्रदेशों में अपनी धाक जमाने में बहलोल को सफलता मिली। उसकी सैनिक शक्ति सैयद सुल्तानों से कहीं अधिक थी। पिछले कई शासन-कालों से यह प्रदेश दिल्ली के अधीन होते हुए भी उपद्रवों के घर बन गये थे। इन प्रदेशों के शान्त हो जाने से गृह-शासन में बहलोल को काफी सुविधा हुई। पश्चिमोत्तर प्रान्त पर उसने विशेष ध्यान रखा। स्वयं उसकी शक्ति का आधार उधर ही था। बाहरी आक्रमणों से सल्तनत की दशा के लिये भी सीमान्त को अपने अधिकार में रखना आवश्यक था। वह न केवल पंजाब और सीमान्त को अधीन करने में सफल हुआ किन्तु ग्वालियर, मेवात तथा सिन्ध को भी अपने अधिकार में कर लिया। इससे बहलोल की धाक जम गयी।

जौनपुर के साथ युद्ध के दो मुख्य कारण थे—(१) वहाँ का सुल्तान

महमूदशाह अन्तिम सैयद सुल्तान अलाउद्दीन आलमशाह का दामाद था। वह समझता था, कि दिल्ली की गद्दी पर उसका दावा है। (२) दो शक्तिमान राज्यों की प्रतियोगिता थी, जो एक दूसरे के अस्तित्व को सहन नहीं कर सकते थे। महमूद ने अपनी स्त्री की प्रेरणा से दिल्ली पर चढ़ाई की; परन्तु कुछ अमीरों के बीच-बचाव करने से दोनों पक्षों में सन्धि हो गयी। जब महमूद के कुछ दिनों के बाद हुसैनशाह जौनपुर की गद्दी पर बैठा तो, जौनपुर और दिल्ली का सम्बन्ध बहुत खराब हो गया। घमासान लड़ाई हुई, परन्तु अन्त में हुसैनशाह हार गया। बहलोल जौनपुर पहुँचा। उसने हुसैन को जौनपुर से निकाल दिया और अपने लड़के बारबक को जौनपुर का शासक बनाया। इस प्रकार पश्चिम में पंजाब से लेकर जौनपुर और उत्तर में सरहिन्द से लेकर ग्वालियर तक बहलोल ने सल्तनत का आधिपत्य फिर स्थापित कर लिया। १४८८ ई० में वह ज्वर से बीमार पड़ गया और जंजालों में उसका देहान्त हो गया।

२. सिकन्दर लोदी

(अ) प्रारम्भिक जीवन और राज्यारोहण

बहलोल लोदी की एक सुनार जाति की स्त्री से सिकन्दर पैदा हुआ था। उसके बचपन का नाम निजामखां लोदी था। शुरू से ही वह बड़ा योग्य तथा बलशाली मालूम पड़ता था। उत्तराधिकार के लिये जो लड़ाई हुई, उसमें उसने बारबकशाह को दबा दिया। दिल्ली की गद्दी पर बैठकर उसने सिकन्दर की उपाधि धारण की।

सिकन्दर ने सबसे पहले राज्य के संगठन तथा पुनरुत्थान पर ध्यान दिया। पहले अपने भाई बारबक से उसे निपटना पड़ा। बारबक सिकन्दर से असन्तुष्ट था और जौनपुर में उसने सुल्तान की उपाधि धारण की। लड़ाई में बारबक हारा। सिकन्दर ने उसको एक बार क्षमा किया। दुबारा उसने जब फिर विद्रोह किया तो उसको हराकर सिकन्दरखां ने जमालखां सारंगखानी को जौनपुर का सूबेदार बनाया। बंगाल के मुस्लिम सूबेदार से भी सिकन्दर की लड़ाई हुई और सन्धि की शर्तों के अनुसार बिहार का बहुत बड़ा भाग दिल्ली सल्तनत में मिला लिया गया। सिकन्दर आसपास के राजपूत राज्यों में से धौलपुर, नरवर और चन्देरी को हराने और उनसे वार्षिक कर वसूल करने में सफल हुआ। परन्तु रणथम्भौर और ग्वालियर के विरुद्ध उसे सफलता नहीं मिली। ग्वालियर का राजा मानसिंह

इस समय बहुत शक्तिशाली हो गया था। उसी के साथ युद्ध की तैयारी में १५१७ ई० में सिकन्दर बीमार पड़ा और मर गया।

अफगान अमीरों तथा सरदारों के साथ बहलोल ने नरमी का व्यवहार किया था। किन्तु सिकन्दर ने उनके साथ कड़ाई की। निरीक्षण करने पर उसे मालूम हुआ कि अफगान जागीरदारों ने वर्षों का कर सरकारी खजाने में जमा नहीं किया था। सिकन्दर ने उनसे बकाया कर वसूल करने का प्रयत्न किया। अफगान सरदार इससे बहुत ही अप्रसन्न हुये और सुल्तान के विरुद्ध षड्यंत्र करने लगे। सिकन्दर ने बड़ी सावधानी तथा सख्ती से इन षड्यंत्रों को दबाया। इसके बाद उसने कटेहर, इटावा, कोयल, सम्भल, बियाना, आदि स्थानों में हिन्दू राजाओं तथा अफगान जागीरदारों का दमन किया। इस सिलसिले में सिकन्दर ने अनुभव किया कि इन प्रान्तों को वश में रखने के लिये दिल्ली के दक्षिण में भी सल्तनत का एक केन्द्र होना चाहिये। इस विचार से उसने १५०४ ई० में यमुना के किनारे आगरा नामक नगर बसाया और अपनी फौजी छावनी स्थापित की।

दिल्ली के अन्तिम सुल्तानों में शासन की दृष्टि से सिकन्दर सबसे अधिक योग्य था। शासन के ढाँचे और नीति में उसने कोई मौलिक परिवर्तन नहीं किया, किन्तु समय की बिगड़ी हुई परिस्थिति में राज्य-प्रबन्ध को केन्द्रित करने और अपने अधिकार को ले आने में वह सफल रहा। जागीरदारी-प्रथा को उसने तोड़ा नहीं, परन्तु उसने जागीरदारों पर बहुत कड़ा नियंत्रण रखा। उनके हिसाब-किताब की जाँच-पड़ताल की, तथा उनसे नियमित कर वसूल किया। उसके फरमान सल्तनत के सभी भागों में समय-समय पर पढ़े जाते थे, जिनसे प्रजा के ऊपर राज्य का आतंक तथा भय बना रहे। सूबेदारों तथा जागीरदारों की सेना से भी सम्पर्क रखता था। सरकार की आर्थिक अवस्था पर उसका विशेष ध्यान था। उसने आय-व्यय की जाँच कराई। हिसाब-किताब के मामले में किसी के साथ वह रियायत नहीं करता था। गरीब किसानों तथा गरीब व्यापारियों की रक्षा का भी प्रबन्ध किया और अनाज के ऊपर से सरकारी चुँगी उठा दी। सिकन्दर की न्याय-व्यवस्था में काफी कड़ाई थी। प्रजा के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा के लिये पुलिस-विभाग का भी संगठन किया तथा अपराधों का पता लगाने के लिये गुप्तचरों की नियुक्तियाँ कीं। सुल्तान प्रतिवर्ष गरीबों और अशक्त लोगों की एक सूची तैयार करता था और वर्ष में ६ माह के लिये उनकी जीविका का प्रबन्ध करता था। पर्वों के अवसर पर कैदियों को वह जेल से छोड़ देता था।

किसी की जागीर विना किसी विचार के नहीं छीनी जाती थी और न तो किसी प्रचलित प्रथा का ही भंग होता था।

(आ) धार्मिक अनुदारता

सिकन्दर यद्यपि एक योग्य शासक था, परन्तु उसकी धार्मिक-नीति अनुदार, संकीर्ण और पक्षपातपूर्ण थी। फिरोज तुगलक की तरह वह भी हिन्दू माता से उत्पन्न हुआ था, परन्तु अपने नये धर्म के प्रति बहुत उत्साही होने के कारण उसने हिन्दुओं के साथ बड़ा कठोर व्यवहार किया। उसने राज्य की धर्मतांत्रिक नीति का फिरोज से भी अधिक दृढ़ता के साथ पालन किया। मथुरा, धौलपुर, नागौर आदि स्थानों में उसने मन्दिरों और मूर्त्तियों आदि का विध्वंस किया। उसके समय में मन्दिर बनाने का कड़ा निषेध था। हिन्दू अपने बहुत से पवित्र घाटों पर नहीं नहाते थे। हिन्दुओं को दाढ़ी और मूँछ बनाने की मनाही थी। अनुदारता में वह औरंगजेब से भी आगे था। बंगाल के एक ब्राह्मण ने खुले आम इस बात को कहा कि इस्लाम तथा हिन्दूधर्म दोनों ही सच्चे धर्म हैं और वास्तव में वे दो मार्ग हैं, जिनके द्वारा ईश्वर तक पहुँचा जा सकता है। इसपर कट्टर मुसलमान बहुत अप्रसन्न हुये। सिकन्दर ने बंगाल के सूबेदार को आज्ञा दी कि अपराधी को सदर अदालत दिल्ली में भेज दे। सिकन्दर ने काजियों व मुल्लाओं से पूछा कि ब्राह्मण को ऐसा प्रचार करने का अधिकार है या नहीं' ? उन्होंने उत्तर दिया कि जब ब्राह्मण ने इस्लाम की सचाई को मान लिया है, तो उसे या तो इस्लाम स्वीकार करना चाहिये या मृत्यु। सिकन्दर को यह निर्णय पसन्द आया और उसने ब्राह्मण को मृत्युदण्ड दिया; क्योंकि उसने अपने धर्म को छोड़ने से इनकार कर दिया था।

(३) इब्राहीम लोदी

(अ) स्वभाव और असफलता

१५१७ ई० में सिकन्दर के मरने के बाद उसका लड़का इब्राहीम गद्दी पर बैठा। उसके गद्दी पर बैठने के साथ ही सल्तनत में विद्रोह आरम्भ हो गये। सिकन्दर ने अपनी सैनिक शक्ति और कठोरता के द्वारा विद्रोही शक्तियों को दबा रखा था। इब्राहीम योग्यता और चरित्र में अपने पिता से बहुत निचली श्रेणी का था। उसने अपने घमण्डी, चिड़चिड़े और हठी स्वभाव के कारण अपने स्वाभिमानी और स्वतंत्रताप्रास अमीरों और सर्दारों को असन्तुष्ट कर दिया। सल्तनत के बहुसंख्यक निवासी हिन्दू सिकन्दर की धर्मान्धता से अप्रसन्न थे

और अपने पवित्र धार्मिक विश्वासों और प्रथाओं पर अत्याचार करनेवाले विदेशी शासन को घृणा की दृष्टि से देखते थे। वे अवसर की ताक में बैठे थे। सल्तनत के जागीरदारों और जमीन्दारों में भी सल्तनत की अवहेलना का भाव बढ़ता जा रहा था। इब्राहीम के सामने समस्या कठिन थी। उसके पास इसका हल नहीं था, क्योंकि न तो वह काफी शक्तिमान था, न उदार और न नीति-निपुण ही। इसलिये इब्राहीम के समय में लड़खड़ाती हुई सल्तनत एक ही विदेशी आक्रमण के सामने गिर गयी।

(आ) शासन-व्यवस्था

इब्राहीम राज्य की एकता और संगठन को सम्हाल न सका, फिर भी वह प्रजा की भलाई पर ध्यान देता था। उसके समय में खेती की अवस्था बहुत अच्छी थी। अनाज बहुत होता था और बहुत सस्ता मिलता था। सरकार अनाज के रूप में ही भूमि-कर वसूल करती थी और सरकारी कर्मचारियों का वेतन भी अनाज के रूप में दिया जाता था। कोई भी अच्छा कर्मचारी ५ टंका मासिक पर मिल सकता था। अनाज की सस्ती केवल प्रजा-हित की दृष्टि से ही नहीं किन्तु शासन की सुविधा की दृष्टि से भी थी। शासन के किसी और क्षेत्र में सुधार अथवा परिवर्त्तन नहीं हुआ।

(इ) सरदारों में असन्तोष

लोदी-वंश के अफगान सरदार इब्राहीम से बहुत असन्तुष्ट थे। उन्होंने षड्यंत्र करके इब्राहीम के भाई जलाल को अपनी ओर मिला लिया। वह कालपी का सूबेदार था और अफगान सरदारों की सहायता से उसने जौनपुर पर अधिकार कर लिया और सुल्तान होने का दावा किया। इब्राहीम ने उसको दबाया और उसका वध कर दिया। इब्राहीम ने अपने पिता की नीति का अनुसरण करते हुये अफगान सूबेदारों और अमीरों के साथ असामयिक और अनुचित कड़ाई का व्यवहार किया। इन सरदारों में से दरियाखाँ के लड़के बहादुरशाह ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा की और मुहम्मदशाह के नाम से सिक्के भी चलाये। पंजाब के सूबेदार दौलत खां के साथ इब्राहीम का दुर्व्यवहार घातक सिद्ध हुआ। इब्राहीम ने दौलतखाँ को अपने दरबार में बुलाया। अपने अपमान की आशंका से उसने अपने पुत्र दिलावरखां को दिल्ली भेजा। जिसके साथ इब्राहीम ने बड़ा दुर्व्यवहार किया। इब्राहीम के शासन में दौलतखां को अपने सम्मान और सुरक्षा का भरोसा न रहा। उसने अपने लड़के दिलावरखां को काबुल के मुगल शासक बाबर के पास भारत

पर आक्रमण करने के लिये निमंत्रण भेजा, जो उत्सुकता से ऐसे अवसर की बाट जो रहा था।

(ई) मुगल-आक्रमण

१५२६ ई० में दिल्ली के ऊपर बाबर का आक्रमण हुआ। इसके सामने बिखरी और कमजोर दिल्ली की सल्तनत ठहर न सकी। इब्राहीम युद्ध में मारा गया और उसके वंश का अन्त हो गया।

३. दिल्ली सल्तनत का विघटन : उसके कारण

दिल्ली सल्तनत के ह्रास और पतन के कई कारण थे। एक कारण आन्तरिक था, जो सल्तनत के स्वरूप और रचना में ही वर्तमान था और उसके रहते हुये सल्तनत कभी स्थायी नहीं हो सकती थी। दूसरा कारण तात्कालिक था जो उस समय की परिस्थिति से उत्पन्न हुआ था।

(१) दिल्ली सल्तनत का सैनिक स्वरूप

दिल्ली सल्तनत का स्वरूप सैनिक था। सेना के बल पर वह स्थापित हुई थी, और अन्त तक उसी पर अवलम्बित थी। सुल्तानों का एकमात्र उद्देश्य था, किसी भी प्रकार से भारतवर्ष पर अपना अधिकार जमाना और कठोर से कठोर साधनों के द्वारा प्रजा को दबा रखना। यह ठीक है कि मध्यकाल में शासन-प्रणाली में प्रजा का हाथ नहीं होता था, फिर भी कोई योग्य और दूरदर्शी शासक जनमत और जनता की सहानुभूति की अवहेलना नहीं कर सकता था। एक दो सुल्तानों को छोड़कर किसी ने भी प्रजा हित की ओर ध्यान नहीं दिया। प्रजा सल्तनत को आतंक, भय और घृणा के साथ देखती रही और उसके अन्त की कामना करती थी।

(२) विदेशीयता

सल्तनत का विदेशी बाना भी उसके विनाश का कारण हुआ। सुल्तानों ने भारतीयों के आदर्शों, विश्वासों और भावनाओं से कभी भी सहानुभूति न दिखलायी। जो कोई लालच या दबाव में आकर मुसलमान हो जाता था, उसी के साथ मुस्लिम शासक अपना सम्पर्क रखते थे। परन्तु बहुसंख्यक हिन्दू जनता के साथ उनकी कोई आत्मीयता न थी; यहाँ तक कि हिन्दी-मुसलमानों और बाहरी मुसलमानों में भी भेदभाव था। ऐसी परिस्थिति में सल्तनत की जड़ भारत-भूमि में दूर तक नहीं जा सकती थी।

(३) विधर्मीयता

दिल्ली के सुल्तान भारतीय धर्म से भिन्न धर्म को मानते थे। उनका राज्य भी धर्मतान्त्रिक था। वे अरब में विकसित इस्लाम के सिद्धान्तों के अनुसार भारतीय प्रजा पर शासन करते थे। मुस्लिम और गैर-मुस्लिम का भेद भी बड़ा था, और इसके कारण सामान्य प्रजा के साथ न्याय नहीं हो सकता था। दिल्ली के सुल्तानों ने अपने धर्म इस्लाम को भारतीय प्रजा पर लादने की भी कोशिश की और धर्म-प्रचार के नाम पर बड़े-बड़े अत्याचार हुये। इस प्रकार से अपमानित और पीड़ित प्रजा से सल्तनत सहयोग और सहायता की आशा कैसे कर सकती थी ?

(४) ढीला संगठन और विकेन्द्रीकरण

सल्तनत का ढीला संगठन और विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति भी उसके पतन में सहायक सिद्ध हुई। बड़े साम्राज्य को सम्हालने के लिये सल्तनत का संगठन ठीक न था। दूर-दूर के प्रान्त जब भी अवसर पाते थे अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर देते थे। सुल्तान-पद की अस्थिर कल्पना, अफ़गानों का स्वातन्त्र्य-प्रेम और जागीरदारी-प्रथा भी विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को बढ़ाती थी।

(५) परस्पर झगड़े और षड्यंत्र

मुस्लिम राजवंशों, अमीरों, सर्दारों, सूबेदारों और जागीरदारों के आपसी झगड़ों और षड्यंत्रों ने सल्तनत को भीतर से खोखला कर दिया। जब तक मुसलमान हिन्दुओं से लड़ते रहे, तब तक उनमें एकता थी। जब मुस्लिम सत्ता की स्थापना भारत में हो गयी तब मुसलमानों में व्यक्तिगत स्वार्थ और महत्वाकांक्षा की मात्रा बढ़ गयी। इसका फल यह हुआ कि राजधानी और प्रान्तों में सभी जगह षड्यंत्र और संघर्ष होने लगे और सल्तनत छिन्न-भिन्न होती गयी।

(६) नैतिक और शारीरिक पतन

भारत में आने के बाद मुसलमानों का नैतिक और शारीरिक पतन भी हुआ। जब मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण किया, तो उनमें धार्मिक भावना और उत्तेजना थी और वे अपने विश्वास के अनुसार त्याग और बलिदान करने को भी तैयार थे। धीरे-धीरे भारतीय नगरों और मन्दिरों की लूट, मुफ्त की सम्पत्ति, दास-प्रथा और इनसे उत्पन्न हुई विलासिता ने मुस्लिम शासकों और सैनिकों की धार्मिक भावना को शिथिल कर दिया और उनके

शरीर को दुर्बल। इसलिये वे कठिन राजनीतिक और सैनिक परिस्थितियों को सम्हाल नहीं सके।

(७) हिन्दुओं से संघर्ष

भारत की हिन्दू जनता का सल्तनत से बराबर संघर्ष चलता रहा। एशिया और अफ्रिका के और देशों में जहाँ इस्लाम की सेना गयी, वहाँ की प्रायः सारी जनता ने इस्लाम ग्रहण कर लिया। इससे न केवल इस्लाम की धार्मिक विजय हुई, किन्तु उसकी राजनीतिक समस्या भी हल हो गयी। परन्तु भारत में उस समय एक दूसरा ही दृश्य था। इस्लाम अपने कठोर आक्रमणों और अत्याचारों से भी न तो सारे देश को जीत सका और न विजित प्रदेशों की सारी जनता को मुसलमान बना सका। देश की बहुसंख्यक जनता ने अपना राजनीतिक और धार्मिक समर्पण कभी मुसलमानों के आगे नहीं किया। सल्तनत के विनाश का वह बराबर प्रयत्न करती रही।

(८) मुहम्मद तुगलक की योजनायें और फिरोज की दुर्बल नीति

मुहम्मद तुगलक की असफल योजनायें और फिरोज की दुर्बल नीति ने साम्राज्य के ढाँचे और शक्ति को कमजोर बना दिया था। मुहम्मद तुगलक की योजनाओं से प्रजा को बड़ा कष्ट हुआ और सरकारी शक्ति और साधनों का अपव्यय। यदि मुहम्मद तुगलक का उत्तराधिकारी कोई शक्तिमान शासक होता तो परिस्थिति सुधर भी जाती। परन्तु फिरोज तुगलक की धार्मिकता और स्वभाव की दुर्बलता ने सल्तनत के विघटन को प्रोत्साहन दिया।

(९) दुर्बल वंशज

फिरोज तुलगक के बाद के दुर्बल और अयोग्य सुल्तानों में राज्य-संगठन और राज्य-संचालन की क्षमता न थी और वे बिखरते हुये साम्राज्य को सम्हाल नहीं सके।

(१०) विदेशी आक्रमण

इस परिस्थिति में विदेशी आक्रमणों ने सल्तनत की जड़ हिला दी और उसका अन्त कर दिया। तैमूर के आक्रमण से सल्तनत को इतना बड़ा धक्का लगा कि फिर उसका पुनरुत्थान न हो सका। १५२६ ई० में तैमूर के वंशज बाबर का आक्रमण सल्तनत के लिये घातक सिद्ध हुआ। वह उसके सामने ऐसी गिरी कि फिर उठ न सकी।

४. प्रान्तीय मुस्लिम राज्यों की स्थापना

जब सल्तनत का का ह्रास शुरू हुआ तब उसके दूर के सूबों में मुस्लिम सूबेदारों और सरदारों ने विद्रोह किया और सल्तनत से अलग होकर स्वतंत्र राज्यों की स्थापना की। इनमें से कुछ राज्य तो बड़े शक्तिशाली और प्रसिद्ध हुये और उन्होंने राज्य-शासन, साहित्य, कला आदि के विकास में काफी योग दिया।

(१) बंगाल

बंगाल पहले सल्तनत का सूबा था। १३४० ई० में वहाँ का सूबेदार इलियासखाँ स्वतंत्र शासक हो गया। वह बहुत योग्य शासक था। उसके पुत्र सिकन्दर को इमारतें बनाने का बड़ा शौक था। उसने अपनी नयी राजधानी पाण्डुआ को कई सुन्दर भवनों से सुशोभित किया। उनमें से अदीना मसज़िद बंगाल में मुस्लिम वास्तु-कला का बहुत सुन्दर नमूना है। इलियास के वंशजों को दबाकर हिन्दू राजा गणेश अथवा कंस ने बंगाल के ऊपर कुछ दिनों तक शासन किया। परन्तु उसके वंशज मुसलमान हो गये। कुछ दिनों के बाद अरब सैयद हुसैनशाह ने एक नया राजवंश चलाया। वह बड़ा योग्य और लोकप्रिय शासक था। उसका लड़का नुसरत १५२६ में बाबर के आक्रमण तक जीवित था और उसने मुगल विजेता से सन्धि कर ली। बंगाल के मुस्लिम शासकों में कई एक विद्या के प्रेमी और कला के आश्रयदाता हुये। उन्होंने बहुत सी मसजिदें बनवायीं जिनके ऊपर हिन्दू स्थापत्य-कला का प्रभाव है। उन्होंने फारसी और अरबी के अध्ययन के साथ-साथ बंगाली साहित्य को भी प्रोत्साहन दिया। नुसरतशाह की आज्ञा से महाभारत का बंगाली अनुवाद किया गया।

(२) जौनपुर

दूसरा प्रसिद्ध मुस्लिम राज्य जौनपुर का था। १३६० ई० में फिरोज तुगलक ने बंगाल की चढ़ाई से लौटते समय पुराने हिन्दू नगर के स्थान पर जौनपुर को अपने भाई जूनाखां के नाम पर बसाया था। १३९८ ई० में तैमूर के आक्रमण के बाद यहाँ का सूबेदार ख्वाजा जहां स्वतंत्र हो गया और उसने अताबक-ए आजम की उपाधि धारण की। १४७६ ई० में सिकन्दर लोदी ने फिर जौनपुर को अपने अधिकार में लिया, किन्तु इसके बाद जौनपुर की अवस्था फिर विद्रोहात्मक हो गयी। जौनपुर के शर्की-सुल्तान विद्या और कला के बड़े प्रेमी थे। उन्होंने अरबी और फारसी के अध्ययन और प्रचार की व्यवस्था की। इब्राहीम के समय में जौनपुर अपनी विद्या के

लिये प्रसिद्ध था। हुसेनशाह संगीत का बड़ा भारी शौकीन था। जौनपुर के सुलतानों की सबसे बड़ी देन उनकी वास्तु-कला है। उन्होंने बहुत से राजमहल, मकबरे और मसजिदें बनवायीं। उनकी मसजिदों में अतालादेवी-मसजिद आज भी सुरक्षित है। १४०८ ई० में अट्टालिका देवी के मन्दिर को गिराकर इब्राहीम ने इस मसजिद को बनाया था।

(३) मालवा

मालवा में परमार राजाओं की शक्ति नष्ट होने पर १२३५ ई० में पहले पहल इल्तुतमिश ने उज्जैन पर आक्रमण किया और महाकाल के मन्दिर को तोड़ा। अलाउद्दीन खिलजी के समय में मालवा दिल्ली सल्तनत में शामिल हुआ। तैमूर के आक्रमण के बाद फिरोज तुगलक के जागीरदार दिलावरखां गोरी ने मालवा में अपने स्वतंत्र राज्य की घोषणा की और धार अपनी राजधानी बनायी। उसके लड़के अलफखां ने हुशंगशाह की पदवी धारण की। धारा दिल्ली और दौलताबाद को मिलाने वाले रास्ते पर पड़ती थी। इसलिये उसने अपनी राजधानी मांडो (मांडवगढ़) में हटा ली। उसको इमारतों का बड़ा शौक था, इसलिये उसने कई सुन्दर भवनों से मांडो को अलंकृत किया। गुजरात के आक्रमणों से मालवा की स्थिति गड़बड़ हो गयी। हुशंगशाह का लड़का बिलकुल अयोग्य और विलासी था। उसके मंत्री महमूदखां ने उसे विष देकर मार डाला और १४३६ ई० में मालवा का सुलतान बन बैठा। महमूदखां खिलजी तुर्क था। वह योग्य और न्यायप्रिय शासक था। वह दिल्ली का सुलतान बनना चाहता था, परन्तु बहलोल की तैयारी और गुजरात के दबाव के कारण उसे सफलता नहीं मिली। मेवाड़ का राणा कुम्भा महमूद का कट्टर शत्रु था। राणा कुम्भा ने उसको हराकर चित्तौड़ में एक विशाल विजय-स्तम्भ बनवाया जो आज भी वर्त्तमान है। महमूद के उत्तराधिकारियों का इतिहास उनकी विलासिता और पतन की कहानी है। महमूद का लड़का गयासुद्दीन बिलकुल विलासी था। उसके पुत्र नासिरुद्दीन ने उसे विष देकर मार डाला। नासिरुद्दीन भी बड़ा अत्याचारी और विलासी निकला। उसके हरम में १५०० स्त्रियां थीं। जब वह शराब के नशे में जल-विहार के लिये उज्जैन के कालियदह नामक झील में उतरता था, तो किसी को इस बात का साहस नहीं होता था कि उसे बाहर निकाले। अन्त में वह इसी जल-विहार में डूबकर मर गया। उसके बाद मालवा की स्थिति बहुत ही कमजोर हो गयी और वहाँ पर राजपूतों का प्रभाव बढ़ गया। इस बात को मुसलमान अमीर पसन्द

नहीं करते थे। राजपूतों के विरुद्ध मालवा के सुल्तानों ने गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह से सहायता मांगी। १५३१ ई० में सहायता के बदले बहादुरशाह ने मालवा पर अधिकार कर लिया।

परमार राजाओं के समय में मालवा के तीन प्रसिद्ध नगर—धारा, उज्जैन और माण्डवगढ़, विद्या और कला के केन्द्र थे। उनमें अनेक मन्दिर, विद्यालय, राजप्रासाद, उपवन और सरोवर बने हुये थे। उनको नष्ट करके मुस्लिम शासकों ने जो कुछ बनाया वह अपेक्षाकृत बहुत कम है। धारा और उज्जैन में उनकी कृतियाँ सुरक्षित नहीं हैं। किन्तु मांडो में उनके कुछ नमूने पाये जाते हैं। जामा मस्जिद, हिंडोला-महल, जहाज-महल, हुशंगशाह का मकबरा, बाजबहादुररूपमती के महल मांडो के प्रसिद्ध स्मारकों में से हैं। ये प्रायः दिल्ली की मुस्लिम वास्तुकला के अनुकरण पर बने हैं।

(४) गुजरात

अलाउद्दीन खिलजी ने १२९७ ई० में गुजरात को दिल्ली सल्तनत में मिलाया और तैमूर के आक्रमण के समय तक वह दिल्ली सल्तनत का एक सूबा बना रहा। गुजरात के सूबेदार **जफरखां** ने १४०१ ई० में अपने को दिल्ली सल्तनत से बिल्कुल स्वतंत्र कर लिया और अपने लड़के **तातारखां** को **नासिरुद्दीन मुहम्मदखां** की उपाधि देकर गुजरात का सुल्तान बनाया। इस वंश का पहला शक्तिमान और प्रसिद्ध शासक **अहमदशाह** था। उसने साबरमती के बायें किनारे अहमदाबाद नाम का नगर बसाकर उसको अपनी राजधानी बनायी। वह सफल योद्धा और योग्य शासक था। उसकी सेनायें मालवा, असीरगढ़, राजपूताना और आसपास के प्रदेशों में बराबर सफल रहीं। धार्मिक मामलों में वह फिरोज तुगलक के समान अनुदार था। वह आजीवन हिन्दू मन्दिरों और मूर्त्तियों को तोड़ता और बलात् हिन्दुओं को मुसलमान बनाता रहा। अहमदशाह के बाद उसका पोता सुलतान **महमूद-बेगढ़** (दो गढ़—चम्पानेर और जूनागढ़ जीतनेवाला) ५२ वर्ष तक राज्य करता रहा। वह अपने वंश का सबसे प्रसिद्ध शासक था। वह बड़ा भीमकाय और दीर्घाहारी था। उसने जूनागढ़ और चम्पानेर पर अपना अधिकार जमाया। अन्तर्प्रान्तीय राजनीति में उसने बहमनी सुल्तान निजामशाह को मालवा के सुल्तान महमूद खिलजी के आक्रमण से बचाया। उसी के समय में पुर्त्तगाली पश्चिमी समुद्र के किनारे आये। इस घटना की गम्भीरता को महमूद समझता था। उसने एक जबर्दस्त जल-सेना का निर्माण किया और पुर्तगालियों को हराया। किन्तु फिर दूसरी जहाजी लड़ाई में

पुर्त्तगाली सेनापति अलबुकर्क ने उससे ड्यू को छीन लिया। महमूद-वेगढ़ के बाद गुजरात का प्रसिद्ध सुल्तान बहादुरशाह हुआ। मेवाड़ और दूसरे राजपूत राज्यों से उस का युद्ध चलता रहा। मालवा को जीतकर उसने अपने राज्य में मिला लिया। १५३६ई० में वह मुगल बादशाह हुमायूँ से हार गया और गुजरात की स्वतंत्र सल्तनत का अन्त हो गया।

(५) सिन्ध, मुल्तान और काश्मीर

यहाँ भी स्वतंत्र राज्यों की स्थापना हुई। इन प्रान्तों में काश्मीर का इतिहास मनोरंजक है। अन्तिम लोहारा राजा सुहदेव के मुस्लिम सेनापति शाहमीर ने १३३९ ई० में काश्मीर में मुस्लिम राज्य की स्थापना की। गद्दी पर बैठकर उसने शमसुद्दीन की उपाधि धारण की। काश्मीर के शासक दिल्ली सल्तनत से स्वतंत्र बने रहे। काश्मीर के मुस्लिम शासकों में सिकन्दर (१३८६–१४०६) सबसे अधिक धर्मान्ध था। उसने अनेक सुन्दर मन्दिरों और विहारों का ध्वंस किया और काश्मीर की अधिकांश जनता को इस्लाम स्वीकार करने के लिये विवश किया। किन्तु सिकन्दर के ही वंश में जैन-उल-आबदीन नाम का दूसरा मुस्लिम शासक (१४१७-१४६७ ई०) हुआ, जो बड़ा ही योग्य, सदाचारी और धार्मिक मामलों में बड़ा ही उदार था। उसके राज्य में पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता थी। गैर-मुस्लिमों पर से जजिया कर उठा दिया गया। सिकन्दर द्वारा निर्वासित ब्राह्मणों को वापस काश्मीर बुलाया गया। हिन्दू मन्दिरों के निर्माण और जीर्णोद्धार की भी अनुमति दी गयी। उसने गोवध बन्द किया। साहित्य, चित्रकला और संगीत को प्रोत्साहन दिया। संस्कृत, अरबी और फारसी के अनेक ग्रंथों का अनुवाद उसने करवाया। अकबर के पहले तक काश्मीर का राज्य स्वतंत्र बना रहा।

(६) दक्षिण

जिस तरह उत्तर भारत में कई प्रान्तीय मुस्लिम राज्यों की स्थापना हुई, उसी तरह दक्षिण भारत में भी खानदेश में, जो भौगोलिक और सैनिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण था, फिरोज तुगलक की मृत्यु के बाद स्वतंत्र मुस्लिम राज्य की स्थापना हुयी। इसका संस्थापक मलिक फारूकी था। अकबर के पहले तक यह राज्य भी स्वतंत्र रहा। यहाँ के शासकों ने बाहरी युद्ध में बहुत कम भाग लिया, अतः खानदेश राज्य में उद्योग-धन्धों की वृद्धि हुई और प्रजा सुखी थी।

दक्षिण का सबसे प्रसिद्ध मुस्लिम राज्य बहमनी-राज्य था। मुहम्मद तुगलक की योजनाओं की असफलता के कारण दक्षिण में विद्रोह हुआ। इस समय दक्षिण के मुसलमानों में दो दल हो गये थे। सुन्नी और देशी मुसलमानों का एक दल था और विदेशी अमीरों का दूसरा। विदेशी अमीरों में अधिकांश शिया थे और वे ईरान से आये थे। धीरे-धीरे दक्षिण में उनका एक गुट बन गया। दिल्ली की सुन्नी सल्तनत से वह गुट स्वतंत्र होना चाहता था। मुहम्मद तुगलक के शासन-काल में उसको यह अवसर मिला। विदेशी गुट ने इस्माइल मलिक को अपना सुल्तान चुना और एक स्वतंत्र राज्य की घोषणा की। इस्माइल राज्य से उदासीन था, इसलिये १३४७ ई० में हसन नामक एक योग्य सैनिक उसकी जगह दक्षिण का सुल्तान चुना गया। वही बहमनी वंश का संस्थापक था। वह अपने को ईरान के बादशाह बहमन-बिन-इस्फंदियार का वंशज मानता था, इसलिये उसने अपने वंश का नाम बहमनी रखा। इस वंश में हसन के बाद मुहम्मद मुजाहिदशाह, ताजुद्दीन फ़िरोजशाह अहमदशाह, अलाउद्दीन, तृतीय मुहम्मद, आदि कई एक शासक हुये, जिन्होंने बहमनी राज्य का विस्तार और उसके शासन का संगठन किया। उनके पीछे बहमनी सुल्तान धीरे-धीरे विलासी होते गये। सौभाग्य से मुहम्मद को ख्वाजा महमूद-गावान नामक एक योग्य मंत्री मिल गया था, जो सैनिक संगठन और राज्य-शासन दोनों में ही निपुण था। माल के महकमों में उसने बहुत से सुधार किये और सल्तनत की गिरती हुई अवस्था को सुधार। परन्तु धीरे-धीरे बहमनी राज्य का ह्रास होता गया। १५२६ ई० में बहमनी-वंश का अन्त हो गया और उसके स्थान पर नीचे लिखे पांच छोटे-छोटे प्रान्तीय राज्यों की स्थापना हुई :

(क) बरार का ईमादशाही वंश।
(ख) अहमदनगर का निजामशाही वंश।
(ग) बीजापुर का आदिलशाही वंश।
(घ) गोलकुण्डा का कुतुबशाही वंश।
(च) बीदर का बरीदशाही वंश।

इन वंशों की आपस में लड़ाइयां होती रहीं। इनका सबसे बड़ा काम था, विजयनगर के हिन्दू राज्य के साथ संघर्ष। इनकी मिली हुई शक्ति ने १५६५ ई० में तालीकोट की लड़ाई में विजयगनर साम्राज्य को हराया। परन्तु अपनी आन्तरिक कमजोरियों से ये राज्य भी कमजोर हो गये और मुगल साम्राज्य में विलीन होते गये।

२२ अध्याय

हिन्दू-राज्यों का संघर्ष और पुनरुत्थान

हिन्दू राज्य यद्यपि अपनी आन्तरिक कमजोरियों के कारण मुस्लिम आक्रमण-कारियों को अपने देश में घुसने और फैलने से उस प्रकार नहीं रोक सके, जिस प्रकार युरोपीयों ने अरबों के प्रसार को रोका था और पीछे तुर्कों को भी क्रमशः युरोप से निकालकर उसके पूर्वी छोर पर लाकर छोड़ दिया। फिर भी अफ्रिका और एशिया के और देशों का अनुसरण न करते हुये भारतीयों ने सम्पूर्ण देश के ऊपर इस्लामी सत्ता को न कायम होने दिया और इस्लाम का प्रचार तो मुसल-मानों के राजनैतिक विस्तार से बहुत ही कम हुआ। बहुत से हिन्दू राजाओं ने तो पराजित होने पर भी आत्मसमर्पण नहीं किया। जहां सम्भव हुआ, वहाँ वे अपने खोये हुये राज्य को वापस लेने के लिये विदेशी सेना से लड़ते रहे और कई स्थानों पर वे सफल भी हुये। जहां उनका राज्य खो गया, वहाँ से थोड़ा इधर-उधर हटकर या तो उन्होंने लड़ाई का दूसरा मोर्चा खड़ा किया या अपने मूल स्थानों से खिसककर हिमालय, विन्ध्याचल, राजपूताना, मध्यभारत, उड़ीसा आदि के बीहड़ स्थानों में या मुस्लिम राजधानियों से दूर सुदूर दक्षिण में नये राज्यों की स्थापना की। लगभग एक शताब्दि के संघर्ष के बाद यदि भारत के नकशे पर नजर डालें, तो पांच राज-नैतिक पेटियां दिखाई पड़ती हैं—(१) हिमालय की पेटी—इसके पश्चिमोत्तर काश्मीर में १३३९ ई० तक हिन्दू सत्ता बनी रही, पर हिन्दू राजा के एक मुस्लिम कर्मचारी ने इसी वर्ष वहां मुस्लिम राज्य स्थापित किया। काश्मीर के पूर्व जम्मू, काँगड़ा, नेपाल, भूटान, कामरूप और आसाम में हिन्दू राज्य अब भी वर्त्तमान थे। (२) उत्तर भारत के मैदान की पेटी—इसमें प्रायः पूरी मुस्लिम सत्ता स्थापित थी, फिर भी स्थानीय हिन्दू राजा और जमीन्दार समय समय पर विद्रोह करते रहे। (३) तीसरी पेटी में राजपूताना और विन्ध्य मेखला के प्रदेश थे। इनमें अजमेर, गुजरात और मालवा को छोड़कर लगभग सारे राजस्थान पर हिन्दू राज्य थे। बुन्देलखण्ड के दक्षिण और बघेलखण्ड में भी हिन्दू सत्ता जीवित थी। पूरे गोंडवाने पर हिन्दुओं का राज्य था। उड़ीसा में भी हिन्दू राजा राज्य कर रहे थे। (४) चौथी पेटी दक्षिण भारत की थी। इसमें आन्ध्र और पश्चिमी घाटों में हिन्दू राज्य अब भी बचे थे। (५) पाँचवीं पेटी कृष्णा के दक्षिण में विजयनगर का साम्राज्य था। इस

प्रकार पहली, तीसरी और पांचवीं पेटियों में हिन्दू राज्य अब भी वर्त्तमान थे, उनमें से कई शक्तिमान् और उन्नतिशील थे।

१. हिमालय-शृंखला

हिमालय-शृंखला के हिन्दू राज्यों में जम्मू, काँगड़ा और उनके आसपास के छोटे-छोटे हिन्दू राज्यों के बारे में कोई विशेष जानकारी नहीं है। परन्तु नेपाल और आसाम का इतिहास राष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इन राज्यों ने विदेशी आक्रमणकारियों के सामने कभी सिर नहीं झुकाया।

२. राजस्थान और विन्ध्यमेखला

राजस्थान और विन्ध्यमेखला के हिन्दू राज्यों में **रणथम्भौर** का उल्लेख पहले किया जा सकता है। पृथ्वीराज की हार के बाद दिल्ली सल्तनत ने रणथम्भौर पर भयानक आक्रमण किये, परन्तु हिन्दुओं के संघर्ष के प्रतीक रूप में यहां का दुर्ग अचल बना रहा। यहां का राजा **हम्मीरदेव** अपने वंश का सबसे वीर और प्रतापी राजा था। कवि नयचन्द्र ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ **हम्मीर महाकाव्य** में उसके विजयों और कीर्त्ति का वर्णन किया है। राजस्थान के दूसरे राज्य **मेवाड़** का इतिहास संसार में प्रसिद्ध है। छठवीं शताब्दि के मध्य में **गृहदत्त** (**गुहिल**) नाम के सूर्यवंशी क्षत्रिय ने एक राजवंश की स्थापना की, जो उसके नाम पर गुहलोत-वंश कहलाया। इस वंश का आठवां राजा **बाप्पारावल** (७३४-७५३) बड़ा वीर, विजयी और प्रतापी हुआ। उसने मेवाड़ पर अपना अधिकार जमाया और सिन्ध के अरबों को पश्चिम में दबा रखा। बारहवीं शताब्दि के मध्य में राजा **अर्णोसिंह** के मरने के बाद मेवाड़ में
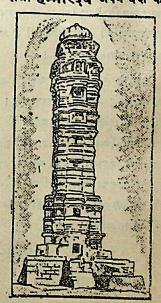
राणा कुम्भा का जयस्तम्भ

गुहलोत-वंश की दो शाखाएँ हो गयीं, **रावल** और **सीसोदिया**। रावल-वंश में ही आगे चलकर **रतनसिंह** चित्तौड़ के सिंहासन पर बैठे। उनकी रानी पद्मिनी की कहानी भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध है। जो भयानक

युद्ध हुआ था, उसका वर्णन किया जा चुका है। मेवाड़ के इतिहास में इस घटना को 'प्रथम शाका' कहते हैं। रतनसिंह के बाद चित्तौड़ में सिसोदिया वंश आ गया। राजा हम्मीर ने चित्तौड़ गढ़ को वापिस लिया। १३२६ ई० के लगभग उन्होंने चित्तौड़ के किले में अपना राज्याभिषेक कराया और राणा की उपाधि धारण की। आगे चलकर महाराणा कुम्भा अथवा कुम्भकर्ण (१४३३–१४६८ ई० तक) इस वंश में प्रसिद्ध शासक हुये। वे बड़े योद्धा, विजयी, उदार और विद्या और कला के प्रेमी थे। इनकी सबसे बड़ी विजय मालवा के सुलतान महमूद खिलजी के ऊपर हुई। इस घटना की स्मृति में राणा कुम्भा ने चित्तौड़ में बहुत ऊँचा जय-स्तम्भ बनवाया, जो आज तक वर्त्तमान है। मेवाड़ द्वारा मुस्लिम सत्ता का विरोध जारी रहा। १५०९ ई० में राणा रायमल की मृत्यु के बाद राणासंग्रामसिंह (सांगा) २७ वर्ष की अवस्था में मेवाड़ के सिंहासन पर बैठे। मेवाड़ के राजाओं में संग्रामसिंह सबसे बड़े योद्धा, वीर, और प्रतापी हुये। इन्होंने एक प्रबल सेना का संगठन किया, और राजस्थान के हिन्दू राजाओं का एक सुसंगठित संघ बनाया। लोदी-वंश के समय जब दिल्ली सल्तनत का पतन हो रहा था, तब महाराणा सांगा की गणना हिन्दुस्तान की बड़ी शक्तियों में थी। उन्होंने पठानों के साथ संघ बना कर बाबर का सामना किया।

मेवाड़ के अतिरिक्त उत्तर भारत के हिन्दू राज्यों में मारवाड़ और उड़ीसा के राज्य प्रसिद्ध थे। मारवाड़, राजस्थान के पश्चिमोत्तर में स्थित था। सल्तनत के समय में सिन्ध, गुजरात और मुलतान के मुस्लिम सूबों और फिर मुस्लिम राज्यों से घिरा हुआ था, इसलिये मारवाड़ इन पड़ोसी राज्यों से बराबर लड़ता रहा। उड़ीसा का राज्य, उत्तर भारत के दक्षिण-पूर्व कोने में पड़ता था, इसलिये भौगोलिक दृष्टि से सुरक्षित भी था। दिल्ली की सल्तनत इसके उत्तरी छोर को छूती थी, परन्तु इस पर अधिकार नहीं जमा सकती थी।

३. विजयनगर का साम्राज्य

(१) परिस्थिति

विजयनगर-साम्राज्य का उदय और विस्तार भारत के उस भाग में हुआ जहां प्राचीन काल में पल्लव, चोल, पाण्डय, होयसाल और केरल राज्य थे। तुर्क आक्रमणों से सुदूर-दक्षिण के राज्य एक-एक करके नष्ट होते गये। यद्यपि दिल्ली की सल्तनत इस सभी प्रदेशों पर अपना पूरा अधिकार न जमा सकी, फिर भी मदुरा में एक मुस्लिम राज्य की स्थापना हुई। मुसलमानों के

भयंकर आक्रमणों और अत्याचारों ने वहां की हिन्दू जनता में एक विचित्र आतंक पैदा कर दिया था। इस परिस्थिति में विजयनगर का उदय दिल्ली सल्तनत के ह्रास के कारण नहीं, परन्तु सारे भारतवर्ष में मुस्लिम सत्ता के विस्तार की प्रतिक्रिया में हुआ। वारंगल के राजा द्वितीय प्रतापरुद्र और द्वारसमुद्र के राजा वीर वल्लाल ने, जो आग वहाँ की जनता के हृदय में जलायी वह कई शताब्दियों तक न बुझ सकी। पहले उसने मदुरा के मुस्लिम राज्य का अन्त किया, फिर विजयनगर राज्य की स्थापना में कारण बनी और तुर्कों से सुदूर-दक्षिण की रक्षा करती रही।

(२) उदय और विकास

विजयनगर राज्य की स्थापना के बारे में कई कथायें प्रचलित हैं। हरिहर और बुक नाम के दो भाई वारंगल के राजा के यहाँ सेना और माल-विभाग में कर्मचारी थे। मुहम्मद तुगलक के समय में विजयनगर के प्रान्तों के आसपास हरिहर और बुक्क ने अपना अधिकार कर लिया और १३३५ ई० में विजयनगर राज्य की स्थापना की। इनमें हरिहर राजा हुआ और बुक्क उसका मंत्री। इन भाइयों के परम हितैषी और सहायक ब्राह्मण विद्वान् माधवाचार्य विद्यारण्य थे। उसकी तुलना चाणक्य और समर्थगुरु रामदास से की जा सकती है। हरिहर ने दक्षिण के छोटे-छोटे राज्यों को जीत लिया। उसने सुदूर-दक्षिण में मुस्लिम सत्ता को वहाँ से निकालने के लिये एक संघ बनाया। उसके जीवन-काल में ही विजयनगर का राज्य उत्तर में कृष्णा से लेकर दक्षिण में कावेरी तक और पश्चिम में पश्चिम समुद्र से लेकर पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक फैल गया। उसको विद्या और कला से बड़ा प्रेम था। उसने विजयनगर में कई भवनों को बनवाया। अपने गुरु श्री माधवाचार्य विद्यारण्य के आदर में उसने एक विशाल मन्दिर बनवाया, जो आज भी हैम्पी (विजयनगर) नामक स्थान में वर्त्तमान है। हरिहर के बाद उसका भाई बक्क द्वितीय, प्रथम देवराय, द्वितीय देवराय आदि कई राजा हुये। इनके शासन-काल में दो बातें उल्लेखनीय हैं। एक तो राज्य का विस्तार, संगठन, विद्या, कला को प्रश्रय और दूसरी बहमनी-राज्य से बराबर युद्ध।

१४८६ ई० में हरिहर और बुक्क के वंश का अन्त हो गया और इसके बाद तुलुव-वंश की स्थापना हुई। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध और योग्य राजा कृष्णदेव राय था, जिसने १५०९ से लेकर १५३० ई० तक राज्य किया। उसका पहला काम था राज्य का विस्तार और उसका

संगठन। उसने पूरे सुदूर-दक्षिण पर अधिकार किया। इसके बाद उड़ीसा के राजा को हराकर उसकी लड़की से विवाह किया। उसका सबसे प्रसिद्ध युद्ध बीजापुर के सुल्तान इस्माइल आदिलशाह के साथ १५२० ई० में हुआ। इसके फलस्वरूप कृष्णा और तुंगभद्रा के दो-आब पर विजयनगर का अधिकार हो गया। कृष्णदेवराय के समय के पहले ही पश्चिमी समुद्री तट पर पुर्त्तगाली आ चुके थे। राय ने उनके साथ व्यापारिक और राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित किया। कृष्णदेव राय के समय में विजयनगर का साम्राज्य अपने उत्कर्ष और समृद्धि की सीमा पर पहुँच गया। वह एक सफल योद्धा, योग्य शासक, कला और विद्या का आश्रयदाता और धार्मिक मामलों में बड़ा उदार था।

(३) ह्रास

१५३० ई० में कृष्णदेवराय का देहान्त हो गया। उसके बाद विजयनगर का ह्रास शुरू हो गया। अच्युतराय, सदाशिव राय, रामराज, आदि कई राजा हुये। इनकी कमजोरियों से लाभ उठाकर बहमनी-साम्राज्य के पतन पर स्थापित हुये दक्षिण के मुस्लिम राज्यों ने विजयनगर को दबाना शुरू किया। इसी प्रक्रिया का फल था १५६५ ई० में **तालीकोट का युद्ध**। इस लड़ाई का मूल कारण दक्षिण भारत में मुस्लिम और हिन्दू शक्तियों का एक दूसरे को नष्ट करने का प्रयत्न था, जो पिछली कई शताब्दियों से चल रहा था। १५६४ ई० में इस्लामी सत्ता की रक्षा के लिये मुसलमान राज्यों का एक संघ धर्म के आधार पर बना और विजयनगर पर आक्रमण की तैयारी हो गयी। पूरी तैयारी के बाद बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुण्डा और बीदर के मुस्लिम राज्यों की इस्लामी सेना कृष्णा के उत्तरी तट पर तालीकोट के मैदान में इकट्ठी हुई। विजयनगर के राजा सदाशिव राय और रामराज दोनों में असावधानी और आवश्यकता से अधिक आत्मविश्वास था। उसने भी एक विशाल सेना के साथ, जिसमें ६ और १० लाख के बीच सैनिक थे, तालीकोट की ओर प्रस्थान किया; परन्तु विजयनगर की सेना में सामन्तसेना अधिक थी और उसके हथियार पुराने ढंग के थे। मुस्लिम सेना की शक्ति अच्छे घुड़सवार, तेज धनुर्धारी और तोपें थीं। संख्या के ऊपर साधन और तैयारी की विजय अवश्यम्भावी थी। विजयनगर की सेना हार गयी और ९० वर्ष का बूढ़ा किन्तु अभिमानी रामराज युद्ध में मारा गया। मुस्लिम सेना ने विजयनगर पर अधिकार कर लिया। सैनिकों ने निर्दयता के साथ लोगों का वध किया, तथा मन्दिरों और

महलों को तोड़कर गिरा दिया। सारे संसार के इतिहास में किसी ऐसे शानदार नगर का इतना बड़ा विध्वंस नहीं हुआ था। प्रसिद्ध इतिहासकार वी० ए० स्मिथ ने विजयनगर के दुखान्त विनाश की तुलना तुर्कों द्वारा जेरूसलेम के विध्वंस से की है। मुसलमानों ने विजयनगर का विघटन तो कर दिया, किन्तु उस विजय से उन्होंने कोई ठोस लाभ नहीं उठाया। विजयनगर का सामाज्य छोटे-छोटे स्थानीय हिन्दू राज्यों में बँट गया।

(४) विजयनगर का शासन-प्रबन्ध

मध्य-युग के वातावरण के अनुसार विजयनगर का साम्राज्य एकतांत्रिक था। सम्राट् के हाथ में राज्य की सारी शक्तियां केन्द्रित थीं। परम्परा और धार्मिक विश्वासों के सिवाय उसके ऊपर और कोई बन्धन नहीं था। राजा के मुख्य कार्यों में सेना का संगठन और संचालन, शासन-व्यवस्था, अर्थ-विभाग का निरीक्षण और न्याय थे। उसको परामर्श देने और सहायता करने के लिये एक मंत्रिमण्डल था, जिसमें प्रधानमंत्री, कोष-मंत्री, व्यापार-मंत्री, रक्षा-मंत्री, परराष्ट्रमंत्री आदि थे। राजा प्रभावशाली सामन्तों, ब्राह्मणों और विद्वानों से भी परामर्श करता था। सामन्त राज्यों को छोड़कर साम्राज्य का शासन केन्द्रित था।

साम्राज्य दो प्रकार के प्रदेशों में बँटा हुआ था। साम्राज्य के जिस भाग पर सम्राट् का सीधा अधिकार था, वह कई मण्डलों अथवा प्रान्तों में बंटा हुआ था। मण्डलों के शासक महामण्डलेश्वर कहलाते थे। मण्डल कई नाडुओं और नाडु कई स्थलों में विभक्त थे। साम्राज्य का दूसरा भाग सामन्तों के अधीन था। सामन्त अपने भीतरी प्रबन्ध में स्वतंत्र थे। उन्हें सम्राट् को एक निश्चित कर और निश्चित सेना देनी पड़ती थी। शासन की सबसे छोटी इकाई गाँव था। इसका प्रबन्ध ग्रामसभा करती थी। ग्रामसभा के हाथ में गाँव की रक्षा, मुकदमों का फैसला, सार्वजनिक हित के काम, मनोरंजन, धार्मिक आयोजन, सरकारी कर वसूल करना, आदि काम थे।

सारा शासन कई विभागों में बंटा हुआ था। इनमें से एक मुख्य विभाग माल-विभाग था। भूमिकर उपज का चौथाई भाग लिया जाता था, शायद लड़ाई के अधिक खर्च के कारण भूमि-कर छठवें भाग से बढ़ाकर एक-चौथाई कर दिया गया था। भूमि के ऊपर किसानों का अधिकार था, किन्तु राजाओं के अधिकार में भी भूमि का एक ऐसा भाग होता था,

जिसको वे वृत्ति या दान के रूप में दे सकते थे। भूमि-कर नकद सिक्कों में देना पड़ता था। अनाज (धान) का भाव रुपये का ३३⅔ सेर था। सिंचाई के लिये सरकार की ओर से झील, बांध और नहरें बनी हुई थीं। सरकारी आय का दूसरा बड़ा साधन व्यापार और उद्योग-धंधा था। विजयनगर के साम्राज्य के समुद्र-तट पर ३०० बन्दरगाह थे, जहाँ से माल बाहर भेजे जाते थे और जहाँ पर बाहर के माल उतरते थे। क्रय-विक्रय और चुंगी से भी काफी आय होती थी। खान और जंगलों की उपज पर सरकार का एकाधिकार था। इनके अतिरिक्त और भी कई फुटकर कर थे। सब जोड़कर उपज का लगभग आधा भाग सरकारी खजाने में पहुँचता था। विजयनगर के शासन में दण्ड-विधान बड़ा कठोर था। साधारण चोरी के अपराध में एक हाथ और एक पैर काट लिये जाते थे और बड़ी चोरी के लिए फांसी का दण्ड मिलता था। व्यभिचार के लिये भी शूली का दण्ड था। राज्य के विरुद्ध षड्यंत्र करने के लिये भी प्राणदण्ड मिलता था। कठोर दण्ड-विधान विजयनगर की कोई विशेषता न थी। मध्यकाल में भारत के प्रायः सभी हिन्दू राज्यों में दण्ड विधान कठोर था। साम्राज्य की रक्षा के लिये, सेना का संगठन भी बड़े पैमाने पर हुआ था। पर्वत, दुर्ग और स्थल-दुर्गों के निर्माण, हथियार बनाने के कारखानों और सेनाओं में भरती के ऊपर काफी ध्यान दिया जाता था। सेना दो प्रकार की थी—राज्य-सेना और सामन्त-सेना। इसके अतिरिक्त बहुत से सैनिक युद्ध के समय भरती कर लिये जाते थे। सेना में पैदल, अश्वारोही और हाथी तीन मुख्य अंग होते थे। रथ का प्रयोग बहुत दिनों से छूट गया था। सरकारी अस्थायी सेना १ लाख के लगभग थी। संख्या की दृष्टि से सेना की योग्यता अच्छी नहीं थी। व्यक्तिगत रूप में हिन्दू सैनिक वीर थे; किन्तु युद्ध के अवसर पर मुस्लिम घुड़सवार और तीरन्दाज़ उनसे बीस पड़ते थे। विजयनगर की हार का यह मुख्य कारण था।

(५) विद्या और कला

विजयनगर के शासकों ने न केवल दक्षिण में हिन्दू राजनैतिक शक्ति का पुनरुत्थान किया अपितु भारतीय विद्या और कला को भी प्रोत्साहन दिया। इनके समय में संस्कृत, तेलगू और तामिल-भाषा तथा साहित्य को काफी प्रश्रय मिला। विजयनगर में दो प्रसिद्ध विद्वान् हुए, इनमें से एक आचार्य सायण ने वेदों के ऊपर प्रसिद्ध भाष्य लिखा और मीमांसा धर्म का पुनरुत्थान किया। दूसरे सायण के भाई माधवाचार्य थे, जिन्होंने पाराशरमाधवीय

नामक धर्मशास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा। विद्या और साहित्य के साथ विभिन्न कलाओं को भी विजयनगर के राजाओं द्वारा आश्रय मिला। वे स्थापत्य-कला के बड़े प्रेमी थे। उन्होंने बहुत अच्छे नगर, दुर्ग, राजभवन, मन्दिर, सरोवर, नहर, उपवन आदि बसाये। मूर्त्तिकला और चित्रकला के उत्तम काम विजयनगर राज्य में होते थे। संगीत, नृत्य और अभिनय के शिक्षण और प्रयोग के लिये राज्य से सहायता मिलती थी और जनता में भी उनका आदर था।

२३ अध्याय

मध्यकालीन समाज और संस्कृति

मध्यकाल के पहले भारत में जो सामाजिक, धार्मिक या सांस्कृतिक परिवर्त्तन, सुधार या क्रान्तियां हुई थीं वे अपने भीतर हुई थीं। उनके कारण समाज में हलचल, प्रगति और विकास हुआ था, परन्तु समाज के भीतर उनसे कठोर संघर्ष और विषमता नहीं उत्पन्न हुई थी। ईरानी, यूनानी, बाख्त्री, शक, पहलव, हूण आदि बाहर से आनेवाली जातियों ने भारत की सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक व्यवस्था स्वीकार कर ली और वे पूरी तरह भारतीय हो गयीं। परन्तु आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ से इस्लाम में दीक्षित अरब, तुर्क और अफगान जातियों के आगमन ने भारत में एक नयी परिस्थिति उत्पन्न कर दी। उनकी राजनीति और समाज-नीति इस्लाम से बहुत प्रभावित थी। इस्लाम इलहामी और प्रचारवादी होने के कारण स्वभाव से अनुदार था और दूसरी संस्कृतियों से समझौता करने के लिये तैयार न था। अफ्रिका और पश्चिमी तथा मध्य-एशिया में दूसरी संस्कृतियों को उसने जीता न छोड़ा। भारत में मुस्लिम जातियों के आने के पहले एक बहुत ही विकसित ऐतिहासिक और समन्वय-वादी संस्कृति वर्त्तमान थी। वह बराबर से समझौता करने को तैयार थी, किन्तु आत्मसमर्पण करने को नहीं। राजनैतिक दृष्टि से हारकर भी भारतीयों ने अपने समाज, धर्म और संस्कृति को प्राणपण से बचाया। इस्लाम को भारत में वह धार्मिक और सांस्कृतिक विजय प्राप्त नहीं हुई जो उसे और देशों में मिली थी। कुछ दिनों के बाद बाहर के इस्लामी देशों से सम्बन्ध छूट जाने से, भारत में स्थायी रूप से बस जाने के कारण और हिन्दू जनता से घिरे रहने के कारण मुस्लिम आक्रमणकारियों में स्थानीयता और थोड़े समझौते की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। इसी समय इतिहास की एक दूसरी प्रवृत्ति भी काम कर रही थी। एक तरफ जब कि शासक सैनिक और मुल्ला विरोध और संघर्ष पर जोर दे रहे थे, दूसरी तरफ सन्त, कवि, कलाकार और चिन्तक समता, उदारता और समन्वय के लिये प्रयत्न कर रहे थे। इस प्रयत्न को बार-बार धक्का लगता था उन कट्टर और अनुदार सुल्तानों के द्वारा, जो मूल इस्लामी विचारों और प्रथाओं को बार-बार जागृत करना चाहते थे। जहां तक हिन्दू जनता का प्रश्न था, पहले उसने राजनीति के साथ आनेवाले इस्लाम का

घोर विरोध किया। पीछे सैनिक दृष्टि से पराजित होने के कारण उसने अपने को बचाने के लिये अपने धार्मिक और सामाजिक नियमों और बन्धनों को कड़ा करके इस्लामी आक्रमण से अपनी रक्षा की। बाद में देर तक मुसलमानों के सम्पर्क से रहन-सहन, वेश-भूषा और भाषा से राजधानियों, दरबारों और शहरों में हिन्दू प्रभावित हुये; किन्तु देहातों में यह प्रभाव नहीं पहुँचा। उत्तर-भारत के बहुत से धर्मनिष्ठ और आचारनिष्ठ हिन्दू दक्षिण-भारत की ओर चले गये। दक्षिण-भारत के हिन्दुओं में इस्लाम के मुख्य केन्द्रों से दूर रहने कारण धार्मिक और सामाजिक कट्टरता अधिक बनी रही।

१. राजनीति

इस काल में मुसलमानों की राजनैतिक प्रधानता रही। उनका राज्य धर्मतांत्रिक था। इसका अर्थ यह है कि राज्य का एकमात्र अधिष्ठाता ईश्वर है, खलीफा उसका प्रतिनिधि है और सभी देशों के सुलतान उसके गुमाश्ते। सुलतान को ईश्वरीय कानून—कुरान और शरीयत के अनुसार राज्य का शासन करना चाहिये। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य का उद्देश्य है, ईश्वर की आज्ञा का पालन करना और ईश्वरीय धर्म इस्लाम का संसार में प्रचार करना। इस प्रकार की नीति ने संसार को दो भागों में बांट दिया—(१) मुसलमान और (२) गैरमुसलमान। इसलिये मुसलमानों एवं उनके राज्यों का यह कर्त्तव्य हो गया कि वे इस्लाम से भिन्न धर्मों का विनाश कर इस्लाम का प्रचार करें। इस प्रकार के सिद्धान्त और कार्यक्रम को लेकर मुस्लिम राज्य भारत में आया और जहां तक सम्भव था उनको पूरा करने का भी प्रयत्न किया। किन्तु जिन विजेताओं ने इस देश में रहकर जीते हुये प्रदेशों पर शासन करने का निश्चय किया उनको अनुभव हुआ कि सारी प्रजा का विनाश करके वे शासन नहीं कर सकते। यह अनुभव सबसे पहले सिन्ध के अरब शासकों को हुआ। इस्लामी कानून के प्रसिद्ध उल्मा अबुहनीफा ने कुफ्र के विनाश के सम्बन्ध में धर्म की एक नयी व्याख्या की। उनके अनुसार इस्लाम ग्रहण न करनेवालों को जान से मार डालना आवश्यक नहीं था। यदि जिम्मी (गैर-मुस्लिम) जज़िया देना स्वीकार कर लें, तो वे जीवित छोड़े जा सकते थे। कुछ हिन्दू सरकारी माल-विभाग की नौकरियों में भी रखे गये। पीछे के कई सुलतानों ने धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति का व्यवहार भी किया। किन्तु इतनी रियायत से मुस्लिम और गैरमुस्लिम का भेद नहीं मिट सकता

था। राज्य की बहुसंख्यक प्रजा अपने राजनैतिक और धार्मिक अधिकारों से वंचित थी। इस परिस्थिति में राज्य की कल्पना संकीर्ण और उसका कार्यक्षेत्र सीमित था। उसमें राष्ट्र, जातीयता, नागरिकता और वैधानिक विकास सम्भव नहीं था।

२. भारतीय समाज की रचना

प्राचीन भारत के समाज में आर्य, द्रविड़, शबर-पुलिन्द, किरात आदि जातियों का मिश्रण था। इनमें ईरानी, यूनानी, शक, पहलव, हूण आदि जातियां जो आर्यों से मिलती-जुलती थीं, भारत में आकर भारतीय समाज में मिल गयीं। मध्यकाल में अरब, तुर्क और अफगान भारत में आये। अरबों का आक्रमण केवल सिन्ध पर हुआ और वे संख्या में बहुत कम थे, इसलिये भारतीय समाज पर सामी-जाति के अरबों का प्रभाव नहीं के बराबर पड़ा। तुर्क मध्य-एशिया से चलकर अफगानिस्तान और बलूचिस्तान होते हुये भारत में आये। अफगान तो प्रायः भारतीय ही और इस्लाम में दीक्षित हुये थे। तुर्कों और अफगानों की जातीय विशेषतायें आर्यों से मिलती-जुलती थीं; परन्तु इस्लाम धर्म ने भारतीय समाज में मिल जाने से इनको रोका। इसका फल यह हुआ कि भारतीय समाज के दो भाग हो गये—(१) मुस्लिम और (२) हिन्दू।

(१) हिन्दू समाज

मुसलमानों द्वारा जीते हुए प्रान्तों का हिन्दू समाज तिरस्कृत और पीड़ित था। राजनैतिक पराजय और आर्थिक शोषण के कारण हिन्दुओं में दरिद्रता और असन्तोष का राज्य था। जियाउद्दीन बरनी के अनुसार 'अलाउद्दीन के समय में कोई हिन्दू अपना सिर नहीं उठा सकता था। हिन्दुओं के घरों में सोने या चांदी के सिक्कों के चिह्न भी नहीं दिखाई पड़ते थे। हिन्दुओं के चौधरी और खूट को भी घोड़े पर चढ़ने, हथियार खरीदने, अच्छे कपड़े पहनने और पान खाने के साधन नहीं थे। उनकी दरिद्रता इतनी बढ़ी हुई थी कि उनकी स्त्रियां मुसलमानों के घर जाकर नौकरानी का काम करती थीं।" अपनी हार के कारण अधिकांश हिन्दुओं का आत्मविश्वास जाता रहा और लगातार दमन और अत्याचारों के कारण उनका नैतिक पतन भी हुआ। उनमें वे दुर्गुण पैदा होने लगे, जो किसी भी गुलाम-जाति में पाये जाते हैं।

मुसलमानों के आक्रमण के पहले ही हिन्दू-समाज और संस्कृति में

जीर्णता और दुर्बलता आ गयी थी। उनकी उन्नति और प्रवाह मन्द पड़ गये थे; परन्तु पुरानी परम्परा और नियमों से बंधे हुये होने के कारण हिन्दू समाज ने इस्लाम के आक्रमण से अपने को बचा लिया। हिन्दुओं में जाति-व्यवस्था पहले से कड़ी थी। इस समय जाति के नियम, खानपान और विवाह-शादी के बन्धन कड़े कर दिये गये। इससे हिन्दू समाज में संकीर्णता आ गयी; परन्तु बाहर के आक्रमणों का प्रभाव इन बन्धनों से टकराकर बिखर जाता था। हिन्दुओं ने सामाजिक दृष्टि से अपने विजेताओं को कभी अपने से ऊँचा नहीं माना और प्रतिक्रिया के कारण उनको नीचा समझते रहे। फिर भी जो लोग भारतीय होने के लिये तैयार थे उनके साथ अब भी हिन्दुओं का व्यवहार उदार था। इसका एक बहुत बड़ा उदाहरण शान से आने वाली आसाम में अहोम-जाति है, जो यहां आकर पूरी हिन्दू हो गयी।

मुसलमानों के सम्पर्क और प्रभाव से हिन्दुओं में कई प्रथायें चालू हो गयीं। इनमें से एक स्त्रियों में पर्दा-प्रथा थी। हिन्दू-समाज में कुछ तो मुसलमानों के अनुकरण और कुछ स्त्रियों की सुरक्षा की दृष्टि से यह प्रथा चल गयी। इसी प्रकार बाल-विवाह की प्रथा भी स्त्रियों के सतीत्व की रक्षा के लिये जारी हुई। सती की प्रथा थोड़ी बहुत प्राचीन काल में भी चालू थी, किन्तु मध्य युग में उसका प्रचार बढ़ गया, क्योंकि विधवाओं के भगाये जाने और उनके मुसलमान बनाये जाने की सम्भावना अधिक थी। जौहर की प्रथा भी मुस्लिम आक्रमणों के कारण बढ़ चली थी। हिन्दू-समाज में स्त्रियों का आदर इस समय भी काफी था। उनके सतीत्व की रक्षा के लिये वे लोग अपने प्राण देने के लिये तैयार रहते थे। वे शासन और सेना संचालन का काम भी अच्छी तरह कर सकती थीं। वारंगल की रानी रुद्राम्बा इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इब्नबतूता हिन्दुओं के आतिथ्य-सत्कार की बड़ी प्रशंसा करता है।

(२) मुस्लिम-समाज

यद्यपि बहुत से मुस्लिम आक्रमणकारी भारत में बस गये, फिर भी उनका दृष्टिकोण बहुत कुछ विदेशी था। उनकी भावना और प्रेरणा भी बाहर से मिलती थी। उनमें धार्मिक और राजनीतिक अभिमान बहुत अधिक था। इसलिये हिन्दुओं को वे नीची और घृणा की दृष्टि से देखते थे और उनसे अलग रहते थे। वे अपने समाज में उन्हीं हिन्दुओं को मिलाते थे, जो इस्लाम को ग्रहण करते थे। नये मुसलमान भी अपना धर्म, भाषा और वेश

बदल देने के कारण भावना और जीवन में अभारतीय हो जाते थे। मुस्लिम समाज मुस्लिम राज्य का कृपापात्र था। अपनी सुरक्षा और जीविका के लिये उसको चिन्ता नहीं थी। सेना और शासन में उनके लिये स्थान सुरक्षित थे। जब तक उसमें धार्मिक उत्तेजना और विजय के लिये आवेश था, तब तक उसके जीवन में कठोरता और शक्ति थी। परन्तु राज्य और सम्पत्ति मिल जाने पर उसमें विलासिता आ गयी। शराब, जुआ, व्यभिचार आदि मुस्लिम-समाज में घर कर गये और उसका नैतिक और शारीरिक पतन होने लगा। इस्लाम में दास-प्रथा तो भारत में आने से पहले से ही थी। भारत में असंख्य नर-नारी गुलाम बनाये गये। गुलामी के कारण मुसलमानों में आलस्य, विलासिता और भ्रष्टाचार और बढ़ गये। मूल इस्लाम के अनुसार सारे मुसलमानों में समता का भाव था, किन्तु जब जीते हुये देशों में बड़े पैमाने पर लोगों को मुसलमान बनाया गया, तो बाहरी मुसलमान नव-मुस्लिमों के साथ समता का व्यवहार न कर सके, जिस प्रकार युरोपीय ईसाई आधुनिक युग में दूसरे देश के नये ईसाइयों के साथ बराबरी का वर्त्ताव न कर सके। भारत में इस्लाम हिन्दू समाज के आर्थिक और व्यावसायिक किन्तु निचले स्तर की कई जातियों जैसे तन्तुवाय या कोरी (जुलाहा), धुनियां, सुईकार (दरजी), नट, पँवरिया, नगरिया, भाट, मणिहार, चूड़ीहार, जोगी, गुसाईं आदि को सामूहिक रूप से मुसलमान बनाया। किन्तु वे रजील (नीच) समझी गयीं; उनको शरीफ (ऊँच) का पद नहीं मिला और न तो सैयद, शेख, पठानों ने उनके साथ विवाह-शादी, खान-पान, का ही व्यवहार किया। इब्नबतूता के वर्णन से पता लगता है कि मुसलमानों में स्त्रियों का स्थान ऊँचा न था। उनमें कड़ा पर्दा, रखेली और बहु-विवाह का बहुत प्रचार था। सुलताना रजिया तो अपवाद स्वरूप थी और उसके स्त्री होने के कारण मुस्लिम अमीरों ने उसका तिरस्कार किया और गद्दी से हटाया। फिर भी पर्दे के भीतर स्त्रियों की शिक्षा का प्रबंध होता था। मुसलमान अपने समाज के भीतर दान और दया का भाव दिखलाते थे। बहुत सी खानकाहें (दानगृह) बनी हुई थीं, जहाँ कि गरीबों को भोजन मिलता था।

३. धार्मिक अवस्था

अरब, तुर्क और अफगानों के आक्रमण के फलस्वरूप इस्लाम और हिन्दू-धर्म में संघर्ष हुआ। शुद्ध धर्म और जीवन के एक पन्थ के रूप में इस्लाम धर्म का विरोध हिन्दू-धर्म ने कभी नहीं किया। इस्लाम की तौहीद (ईश्वर

की अद्वैतता) और मुस्लिम सन्तों का आदर बराबर हिन्दू समाज में हुआ; परन्तु राजनीति के साथ मिले हुये इस्लाम का घोर विरोध हिन्दुओं ने किया। इस संघर्ष में न तो इस्लाम हिन्दू-धर्म को नष्ट कर सका और न हिन्दू-धर्म इस्लाम को बिल्कुल रोक सका। इसलिये कुछ शताब्दियों तक साथ रहने के बाद एक दूसरे को समझने, समझौते और समन्वय की नीति शुरू हुई तथा हिन्दू-धर्म और इस्लाम दोनों ने परिस्थिति के अनुकूल बनाने की चेष्टा की।

(१) हिन्दू-धर्म

हिन्दू-धर्म को इस्लाम में कोई नयी या मौलिक बात नहीं मिली। इस्लाम की तौहीद उसके लिये कोई नया आविष्कार नहीं था। एक ब्रह्म या ईश्वर की एकता का सिद्धान्त हिन्दू-धर्म में वेदों और उपनिषदों के समय से चला आता था। अनेक देवताओं की कल्पना करते हुए भी हिन्दू उनके द्वारा एक ईश्वर का ही दर्शन करते थे। भारतीय मूर्ति-पूजा के सम्बन्ध में इस्लाम का बहुत बड़ा अज्ञान था; इसलिये उसके द्वारा भारत में भयंकर विध्वंस हुआ। इस्लाम के आक्रमण होते हुये भी शुद्ध इस्लाम के प्रति हिन्दू-धर्म की उदारता बनी रही। इसका उदाहरण चित्तौड़गढ़ में राणा कुम्भा के जय-स्तम्भ के ऊपर पाया जाता है। जय-स्तम्भ की दीवारों पर जहां हिन्दू देव-मण्डल की सभी मूर्त्तियां अंकित हैं, वहां अरबी अक्षरों में 'अल्लाह' भी खुदा हुआ है। किन्तु हिन्दू-धर्म में मौलिक विशालता और उदारता होते हुये भी पूर्व मध्यकाल में कई विकार उत्पन्न हो गये थे, जिनकी चर्चा की जा चुकी है। इस्लाम का सामना हिन्दू-धर्म को केवल रण-भूमि में ही नहीं धार्मिक जीवन में भी करना था। इस समय के हिन्दू सन्त और महात्माओं ने आन्तरिक परिष्कार कर उसको समयोपयोगी बनाने का प्रयत्न किया। उनके सामने दो मुख्य प्रश्न थे—(१) धर्म का सुधार कर उसको सारी जनता के लिये सुलभ बनाना और हिन्दू धर्म के उन्हीं पहलुओं पर जोर देना, जिनके लिये शुद्ध इस्लाम भी आकर्षण पैदा कर सकता था और (२) इस्लाम के आक्रमण से हिन्दूधर्म को बचाना, किन्तु साथ ही साथ हिन्दू धर्म और इस्लाम के पारस्परिक संघर्ष, भेदभाव, सन्देह, कटुता आदि को कम से कम करके परस्पर समझौते और भाई-चारे के भाव को बढ़ाना। इन दो प्रश्नों का हल उस समय के वैष्णव भक्ति मार्ग में मिला। इसने ईश्वर की एकता, कर्मकाण्ड और गुह्य-पूजा-पद्धति के बदले भगवान की भक्ति और शुद्ध आचरण, ईश्वर के आगे मनुष्यमात्र की समता, छुआछूत और ऊँच-नीच के भाव की निस्सारता

पर जोर दिया और हिन्दू-इतिहास के सबसे अधिक अन्धकारमय युग में जनता को प्रकाश दिखलाया। हिन्दू-धर्म के जीवित रहने और पुनरुत्थान का यही रहस्य था।

(२) इस्लाम

कई शताब्दियों और देशों के चक्कर और अपने बड़े विस्तार के कारण इस्लाम भी अपनी मूल पवित्रता, सादगी, समता आदि को कायम न रख सका। उसमें भी कई सम्प्रदाय और उप-सम्प्रदाय पैदा हो गये। उसका धर्म-विज्ञान और धर्म शास्त्र पेचीदा और अनुदार होता गया। भावना की शुद्धि और ईश्वर की भक्ति के बदले मसजिद, मकबरा, ताजिया और धार्मिक क्रिया-कलापों का महत्त्व बढ़ गया। उसमें मनुष्य मात्र की समता के बदले मुस्लिम और गैर-मुस्लिम का भेदभाव उत्पन्न हुआ और मुसलमानों के बीच में भी ऊँच-नीच का भेद उत्पन्न हो गया। इस युग के मुसलमानों में भी कई सन्त और महात्मा हुये जिन्होंने इस्लाम को एक नयी रोशनी दी। इस्लाम के ऊपर हिन्दू-धर्म के वेदान्त, भक्ति-मार्ग और रहस्यवाद का प्रभाव पड़ा। इसी समय इस्लाम में सूफीमत का विकास हुआ, जो भारतीय वेदान्त और रहस्यवाद से बहुत कुछ मिलता-जुलता है।

४. मध्ययुग के सन्त और महात्मा

जिन सन्त और महात्माओं ने मध्य-युग के अन्धकार में धर्म का सुधार और पुनरुत्थान और जीवन में उदारता और समन्वय की नीति का प्रचार किया, उनका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है :

रामानुज

इनका जन्म बारहवीं शती में दक्षिण के कांची नामक नगर में हुआ। ये तामिल सन्तों से प्रभावित थे। इन्होंने श्री वैष्णव-धर्म का प्रचार किया। शंकराचार्य के शुष्क-अद्वैतवाद की समालोचना की और सगुण ईश्वर की भक्ति को जनता में फैलाया। इनका सम्प्रदाय बड़ा ही लोकप्रिय हुआ। इनके समय में दक्षिण के वैष्णवों और शैवों में परस्पर काफी झगड़ा था। रामानुज के धर्म ने इसको कम किया।

ज्ञानदेव

यह देवगिरि के यादव राजा रामचन्द्र के समकालीन थे। इन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता पर ज्ञानेश्वरी नाम का प्रसिद्ध भाष्य मराठी भाषा

में लिखा। इनका धर्म भी भक्तिमार्गी था। सामाजिक मामलों में ये उदार थे।

नामदेव

महाराष्ट्र के एक दरजी परिवार में ये उत्पन्न हुये थे। इन्होंने धर्म के बाहरी अंगों की आलोचना की और चित्त की शुद्धि और ईश्वर की भक्ति पर जोर दिया। मराठी भाषा में इनके अभंग (पद) अभी तक प्रसिद्ध हैं।

रामानन्द

तेरहवीं शती के अन्त में प्रयाग के एक ब्राह्मण-परिवार में इनका जन्म हुआ था। शिक्षा इनकी काशी में हुई और यहां पर ये वैष्णव सन्त राघवानन्द के शिष्य हो गये। इनके समय में कृष्ण-भक्ति का प्राधान्य था, जिसमें गोपी-भाव, रास और अनेक श्रृंगारिक लीलायें प्रचलित थीं। कृष्ण-भक्ति के स्थान में रामानन्द ने राम-भक्ति का प्रचार किया, जिसमें, सादगी, त्याग और तपस्या की साधना अधिक थी। उनका वैष्णव धर्म बड़ा उदार था और उनके शिष्यों में चमार, धोबी, नाई, मुसलमान आदि सभी जाति के लोग थे। कबीरदास इन्हीं के शिष्य थे। इन्हीं के सम्प्रदाय में आगे चल कर गोस्वामी तुलसीदास हुये। रामानन्द ने अपने प्रचार का माध्यम लोक-भाषा हिन्दी को बनाया।

कबीर

१३९८ ई० के लगभग बनारस के एक जुलाहा परिवार में इनका जन्म हुआ था। इनके पूर्वज नव-मुस्लिम थे। इनकी जाति के ऊपर नाथ-पंथ का बड़ा प्रभाव पड़ा था और कबीर के उपदेशों में इस पंथ के योग, ध्यान और साधना के बहुत से अंग पाये जाते हैं। कबीर बचपन से ही धार्मिक स्वभाव के थे। बड़े होने पर ये वैष्णव सन्त रामानन्द के शिष्य हो गये। उनके जीवन में नाथ-पंथ वैष्णव भक्तिमार्ग, अद्वैत वेदान्त और इस्लाम के सूफीमत का सुन्दर संगम था। वे हिन्दू-धर्म और इस्लाम के सार-अंश का प्रचार करते थे और उनके बाहरी अंग, जाति, अभिमान, जड़पूजा, तीर्थयात्रा, नदी-स्नान, नमाज़, रोज़ा, और कब्र-पूजा आदि की निन्दा करते थे। वे ईश्वर और मनुष्य जाति की एकता पर जोर देते थे

संत कबीर

और हिन्दू-मुसलमान सबको एक समझते थे। उनके शिष्यों में हिन्दू और मुसलमान दोनों थे। उनकी निर्भीक और सुधारवादी शिक्षाओं से नाराज होकर सिकन्दर लोदी ने उन्हें बनारस से बाहर निकाल दिया था। इसके बाद वे घूमते-घामते मगहर (गोरखपुर जिले में) पहुँचे और वहीं उनका देहान्त हुआ।

गुरु नानक

कबीर ने जिस निर्गुण भक्ति और सुधारवादी विचार-धारा का प्रचार किया, प्रायः उसी परम्परा में इनका भी जन्म हुआ। १४६८ ई० में लाहौर के पास पंजाब में इनका जन्म एक खत्री परिवार में हुआ था। कर्मकाण्ड और रीति-रिवाज की उपयोगिता में इनका विश्वास नहीं था। जातिभेद और सम्प्रदायवाद के ये विरोधी थे। पंजाब में मुस्लिम आक्रमणों के कारण

गुरु नानक

जो परिपस्थिति उत्पन्न हुई थी, उनका गुरु नानक पर प्रभाव था। हिन्दू और मुस्लिम धर्म के संघर्षों का मुख्य कारण उनकी रूढ़ियाँ और प्रथायें थीं। इनको छोड़कर नानक ने उपनिषदों के निर्गुण ब्रह्म, एकेश्वरवाद और प्रार्थना पर जोर दिया। ईश्वर की प्राप्ति के लिये भक्ति और जप को साधन बताया। हिन्दू-धर्म और इस्लाम के समन्वय का यह एक सुन्दर मार्ग था।

वल्लभाचार्य

इनका जन्म एक तैलंग ब्राह्मण-परिवार में १४७९ ई० में हुआ। थोड़े ही समय में इन्होंने बहुत से शास्त्रों का अध्ययन कर लिया। ये कृष्ण के उपासक थे और उन्हीं की भक्ति का प्रचार करते थे। काशी में आकर इन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की। इनकी उपासना मधुर भाव की थी। इनकी साधना के अनुसार भगवान् के सामने सम्पूर्ण समर्पण आवश्यक है। इनके सम्प्रदाय का विशेष प्रचार ब्रजमंडल, गुजरात और राजस्थान में हुआ।

चैतन्य

इनका जन्म १४८५ ई० में बंगाल के नदिया नामक स्थान में एक ब्राह्मण-परिवार में हुआ। २५ वर्ष की युवावस्था में ही इन्होंने सांसारिक जीवन का त्याग कर संन्यास ग्रहण किया। ये बड़े ही भावुक और कृष्ण के उपासक थे। ईश्वर और मनुष्यमात्र का प्रेम इनके उपदेशों का सार था। भगवान् की भक्ति में ये जातिभेद को नहीं मानते थे। इनके शिष्यों में भी सभी जाति और धर्म के लोग शामिल थे। चैतन्य के वैष्णव-धर्म ने वज्रयान और वाममार्ग से बंगाल का उद्धार किया।

चैतन्य देव

मीराबाई

जिस समय वल्लभाचार्य और चैतन्य के भक्तिमार्ग उत्तर-भारत में फैल रहे थे, मारवाड़ के राजकुल में मीराबाई का जन्म १४९८ ई० में हुआ। इनका विवाह मेवाड़ के राजा सांगा के लड़के भोज से हुआ था। बालकपन से ही मीराबाई कृष्ण-भक्ति में लीन रहती थी। वे अक्सर तीर्थ स्थानों में घूमती हुई कृष्ण-प्रेम का प्रचार करती थी। इनकी कवितायें बड़ी उच्च कोटि की हैं और हिन्दी साहित्य के इतिहास में इनका ऊँचा स्थान हैं।

मुस्लिम सन्त

जिस समय बहुत से हिन्दू सन्त और महात्मा देश में प्रेम, उदारता और

सद्भावना का प्रचार कर रहे थे, उसी समय कई एक मुस्लिम सन्तों ने भी अपने जीवन और प्रभाव से इस्लाम के ऊँचे सिद्धान्तों का प्रचार किया। इनमें ख्वाजा मइनुद्दीन चिश्ती का नाम सबसे पहले उल्लेखनीय है। ये फारस के रहनेवाले थे, और ११९५ में अजमेर में आकर इसको अपने प्रचार का केन्द्र बनाया। थोड़े ही दिनों में इनके बहुत से अनुयायी हो गये। १२३६ ई० में अजमेर में ही इनका देहान्त हुआ और यहीं पर इनका मकबरा बना, जहां बहुत से लोग तीर्थयात्रा के लिये जाते हैं। दूसरे मुस्लिम सन्त बाबा फरीदुद्दीन थे, जो बारहवीं शती के अन्त में अफगानिस्तान या मध्य-एशिया से भारत में आये और पंजाब में इस्लाम का प्रचार किया। तीसरे प्रसिद्ध सन्त निजामुद्दीन औलिया थे, जिनका जन्म १२३६ ई० में बदायूँ में हुआ था। चौथे प्रसिद्ध मुस्लिम सन्त सैयद जलालुद्दीन थे, जो बुखारा के रहने वाले थे और जो तेरहवीं शती के अन्त में भारत में आये थे। इस्लाम के प्रचार में इनको बहुत अधिक सफलता मिली। गेसूदराज नाम के मुस्लिम सन्त फिरोज़ तुगलक के समय में हुये। इन्होंने दक्षिणी महाराष्ट्र और कर्नाटक में इस्लाम का प्रचार किया। ये मुस्लिम सन्त ईश्वर की भक्ति, पवित्र जीवन और लोक-सेवा पर जोर देते थे। इनके अनुयायियों में बहुत से हिन्दू भी थे।

५. भाषा और साहित्य

भारत के ऊपर मुस्लिम-आक्रमण के पहले विभिन्न प्रान्तों में कई एक प्राकृत और अपभ्रंश भाषायें बोली जाती थीं, किन्तु धर्म, राजनीति-साहित्य आदि में संस्कृत भाषा का व्यवहार होता था। मध्य-युग में धीरे-धीरे प्रान्तीय भाषाओं का उदय हुआ। हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगाली, तामिल, तेलेगू, मलयालम; आदि भाषाओं का विकास इस युग में काफी हुआ। प्रान्तीय भाषाओं में हिन्दी सबसे अधिक व्यापक थी और बड़े पैमाने पर उसका विकास हुआ। मध्य-युग के सन्त और महात्माओं ने हिन्दी को अपने प्रचार का माध्यम बनाया। हिन्दी के विस्तार में मुसलमानों का भी बहुत बड़ा हाथ था।

तुर्क और पठान सुल्तान युद्धों में ही बराबर नहीं लगे रहते थे, किन्तु समय पाकर वे विद्या और कला के ऊपर भी ध्यान देते थे। उनके आश्रय में बहुत से विद्वान, कवि और लेखक पलते थे जो साहित्य और शास्त्रों की रचना करते थे। महमूद गजनवी यद्यपि स्थायी रूप से भारत में नहीं रहा, फिर भी उसके दरबार में रहने वाले लेखक अलबरूनी ने किताबुल-हिन्द नामक

ग्रन्थ की रचना की। इससे तत्कालीन भारतीय जीवन पर बहुत प्रकाश पड़ता है। दूसरा प्रसिद्ध मुस्लिम लेखक अमीर खुसरो था, जो खिलजी और तुगलक सुल्तानों के समय में साहित्य की रचना करता रहा। उसने कई काव्य ग्रन्थ, कोष और कहावतें लिखीं। उसने फारसी और हिन्दी में भी समन्वय करने का प्रयत्न किया। खुसरो का समकालीन हसन देहलवी उच्च कोटि का कवि था, जो मुहम्मद तुगलक के दरबार में रहता था। एक दूसरा प्रसिद्ध कवि बदरुद्दीन था। सुल्तानों के प्रश्रय में कई एक अच्छे इतिहास लेखक भी हुये। नासिरुद्दीन के समय में मिनहाजुस्सिराज हुआ। जिसने तबकाते-नासरी नामक इतिहास लिखा। खिलजीवंश के समय में जियाउद्दीन बरनी नामक प्रसिद्ध इतिहासकार हुआ। दिल्ली के बाद दूसरा बड़ा साहित्यिक केन्द्र इस काल में जौनपुर था, जो शीराजे-हिन्द कहलाता था। यहां के लेखकों में काजी शहाबुद्दीन और मौलाना शेख इलाहाबादी के नाम लिये जा सकते हैं। दूसरे विद्या के केन्द्र लखनौती, गुलबर्गा, बीदर और अहमदनगर थे। उपर्युक्त सभी लेखकों ने फारसी और अरबी भाषा में अपने ग्रन्थ लिखे। बहुत से मुस्लिम शासकों ने गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद और साहित्य के संस्कृत ग्रन्थों का अनुदान अरबी और फारसी भाषा में कराया।

सैनिक आक्रमण और राजनीतिक पराधीनता के होते हुये भी इस काल के हिन्दुओं में भारतीय साहित्य का विकास रुका नहीं, विशेषकर साहित्य और धार्मिक क्षेत्र में बहुत से उच्च कोटि के ग्रन्थ लिखे गये। स्वतंत्र और अर्द्ध-स्वतंत्र हिन्दू राज्यों में संस्कृत भाषा और साहित्य को प्रोत्साहन मिलता रहा। मुसलमानों के अधीन प्रदेशों में यद्यपि राज्य की ओर से संस्कृत लेखकों को प्रश्रय नहीं मिलता था, फिर भी वे व्यक्तिगत और स्वतंत्र रूप से अपना साहित्यिक कार्य करते रहे। दक्षिण में रामानुज ने उपनिषद, गीता और ब्रह्मसूत्र का भाष्य लिखा। विजयनगर में सायण और माधव वैदिक साहित्य, धर्मशास्त्र और दर्शन के धुरन्धर विद्वान् और लेखक हुये। बारहवीं शती के अन्त में बंगाल में प्रसिद्ध कवि जयदेव हुये, जिन्हों ने गीत-गोविन्द नामक काव्य लिखा। इस युग में कई एक नाटक और महाकाव्य भी लिखे गये। काव्यों में हम्मीर महाकाव्य का उल्लेख किया जा सकता है। चौहान राजा वीसलदेव अच्छा नाटककार था। उसने हरकेलि नामक नाटक लिखा। उसके राज-कवि सोमेश्वर ने ललित विग्रहराज नामक नाटक लिखा। इसके अतिरिक्त पार्वती परिणय, विदग्धमाधव ललित-माधव, हम्मीरमदमर्दन, आदि नाटक भी लिखे गये। धर्मशास्त्र, न्याय, राजनीति, व्याकरण आदि विषयों पर भी बहुत से ग्रन्थों की रचना हुई।

इस काल के संस्कृत ग्रन्थ अधिकांश भाष्य अथवा संग्रह थे। मौलिक और स्वतंत्र ग्रन्थ कम लिखे गये। केवल सन्त कवियों ने भक्ति-सम्प्रदाय के स्वतंत्र काव्यों की रचना की। संस्कृत के साथ-साथ प्रान्तीय भाषाओं में भी बहुत से ग्रन्थ लिखे गये।

६. कला

भारत के ऊपर मुस्लिम आक्रमण के कारण देश में साहित्य, शास्त्र और विज्ञान का सहज विकास रुक गया। इसीलिये साहित्य में मौलिक और रचनात्मक ग्रन्थ कम लिखे गये। मौलिक विज्ञान, रसायन, वैद्यक, ज्योतिष, गणित आदि की उन्नति भी रुक गयी। कलाओं में मूर्तिकला और चित्रकला भी मुसलमानों द्वारा जीते हुये प्रदेशों में नष्ट हो गयी, क्योंकि इस्लाम में इनका निषेध था। स्वतंत्र हिन्दू राज्यों में इनको सहारा मिलता रहा। जिन कलाओं का निषेध इस्लाम में नहीं था, उनका विकास इस काल में होता रहा। विशेषकर वास्तु या भवन-निर्माण-कला, संगीत और मुद्रा-कला की काफी उन्नति हुई।

वास्तु-कला

दो संस्कृतियों—मुस्लिम और भारतीय—के संघर्ष और समन्वय से इस काल की वास्तु-कला का निर्माण शुरू हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि मुस्लिम आक्रमणकारियों ने अपने धार्मिक आवेश में वास्तु-कला के बहुत ही सुन्दर नमूनों का विध्वंस किया। पर यहां बस जाने के बाद बहुत से भवनों—मसजिद, राजमहल और मकबरे आदि का निर्माण भी कराया। इन नयी इमारतों में मुस्लिम और भारतीय आदर्शों और हस्तकला का मेल हुआ। तुर्क और पठान सैनिक के रूप में भारत में आये। वे अपने साथ कलाकार और भवन-निर्माता नहीं लाये थे। इसलिये भारतीय कलाकारों और हिन्दू मन्दिरों और राजभवनों की सामग्रियों ने मुस्लिम वास्तु-कला को काफी प्रभावित किया। भारतीय वास्तु-कला में मूर्ति-अंकन एक मुख्य अंग था; मुस्लिम वास्तु-कला में यह निषिद्ध था। भारतीय वास्तु-कला में शृङ्गार और सजावट अधिक थी, मुस्लिम वास्तु-कला में कठोर सादगी। दोनों के आदर्श एक दूसरे से भिन्न थे। किन्तु दोनों के मिश्रण ने एक नयी कला को जन्म दिया, जिसको भारतीय मुस्लिम-कला कह सकते हैं।

काल और स्थान भेद से भारतीय मुस्लिम भवन-निर्माण-कला की कई शैलियां थीं। इस देश के अरब आक्रमणकारियों ने भवन-निर्माण में कोई रुचि नहीं दिखलाई, किन्तु उन्होंने भारतीय वास्तु-कला और दूसरी कारी-

गरियों की प्रशंसा और नकल की। महमूद गजनवी ने भारतीय कारीगरों के द्वारा गजनी में एक अत्यन्त सुन्दर मसजिद का निर्माण कराया, जिसको "स्वर्गीय दुलहिन" कहा जाता था। वास्तव में शहाबुद्दीन गोरी के बाद गुलाम-वंश से भारत में मुस्लिम इमारतों का बनना प्रारम्भ हुआ। शुरू की इमारतों पर हिन्दू प्रभाव की प्रधानता है। क्योंकि या तो मन्दिरों के ऊपरी भाग को तोड़कर उन्हीं के ऊपर मसजिदें बनायी जाती थीं या मन्दिरों की सामग्रियों से उनका निर्माण होता था। यह कहना आवश्यक है कि कारीगर और मजदूर प्रायः भारतीय थे। इसका सबसे बड़ा उदाहरण अजमेर में "अढ़ाई दिन का झोंपड़ा" नामक मसजिद है, जो चौहान राजा विग्रहराज द्वारा बनाये हुये संस्कृत विद्यालय को तोड़ कर बनी थी। दिल्ली की जामा मसजिद और कुतुबुल-इस्लाम में भी इसके दृष्टान्त मिलते हैं। पीछे धीरे-धीरे मुस्लिम प्रभाव बढ़ने लगा। इस शैली की मुख्य इमारतें कुतुबुद्दीन की बनाई हुई हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध कुतुबमीनार है, यद्यपि यह हिन्दू विजयस्तम्भ के ऊपर केवल आवरणमात्र है। इल्तुतमिश और बलबन के समय में इमारतों का गाढ़ा इस्लामी प्रभाव साफ दिखाई पड़ता है। खिलजी-काल में मुस्लिम सत्ता की दृढ़ता और समृद्धि के कारण मुस्लिम वास्तु-कला में बहुत उन्नति हुई। इस समय की इमारतों की रचना, शैली, श्रृंगार, उनके अनेक अंगों का गठन, गुम्बजों का प्राधान्य आदि सभी उच्च कोटि के हैं। इस शैली के मुख्य उदाहरण जमायतखाँ-मस्जिद और कुतुबमीनार के पास अलाई दरवाजा, हौजे अलाई और हौजे-खास हैं। तुगलक-काल की वास्तु-कला में फिर परिवर्तन हुआ। श्रृंगार और सौन्दर्य का स्थान फिर सादगी और विशालता ने ले लिया। इसका कारण यह था, कि फिरोज तुगलक कट्टर मुसलमान था और वह भारतीय प्रभाव को हटाकर शुद्ध इस्लामी शैली का उद्धार करना चाहता था। इस काल की प्रसिद्ध इमारतों में तुगलकशाह का मकबरा उल्लेखनीय है। सैयद और लोदी-वंश के समय में खिलजी शैली को फिर सजीव करने का प्रयत्न किया गया। गया। किन्तु तुगलक कालीन कठोरता से वह मुक्त न हो सकी।

सल्तनत के समय में वास्तु-कला की प्रान्तीय शैलियों में काफी विकास हुआ। दिल्ली से दूर होने के कारण प्रान्तीय शैलियों पर हिन्दू प्रभाव पड़ा। जौनपुर मुस्लिम वास्तु-कला का बहुत बड़ा केन्द्र था। यहां की इमारतों में अताला मसजिद, जामा मसजिद और लाल दरवाजा मसजिद आदि प्रसिद्ध हैं। अताला मसजिद आट्टालिका देवी का मंदिर

तोड़ कर बनायी गयी थी। विशाल दीवारें, चौकोर खम्भे, मीनारों का अभाव, तंग बरामदे और कोठरियां इनके ऊपर हिन्दू-कला के प्रभाव को साफ बतलाती हैं। बंगाल में भी वास्तुकला के बहुत-से नमूने पाये जाते हैं। यहां की इमारतों में हुसेनशाह का मकबरा, सोना मसजिद, कदमरसूल आदि मुख्य हैं। पाण्डुआ में अदीना-मसजिद बंगाल की शैली का उत्तम नमूना है। सल्तनत के सभी प्रान्तों में गुजरात की वास्तु-कला सबसे सुन्दर थी। गुजरात के सुलतानों ने अहमदाबाद, चम्पानेर, कम्बे आदि स्थानों में अनेक सुन्दर भवनों का निर्माण कराया। इनमें अहमदाबाद की जामा मसजिद सबसे प्रसिद्ध है, जिसमें २०० खम्भों के ऊपर १५ गुम्बज बने हुये हैं। गुजरात की मुस्लिम शैली पर हिन्दू और जैन प्रभाव स्पष्ट हैं। मालवा में धार और मांडो भी मुस्लिम-कला के केन्द्र थे। धार की इमारतों पर हिन्दू-कला का अधिक प्रभाव है; किन्तु मांडो की इमारतों की मुस्लिम शैली अधिक स्वतंत्र है। यहां की इमारतों में जामा मसजिद, हिंडोला महल, जहाज महल, हुशंग शाह का मकबरा, बाजबहादुर और रूपमती के महल आदि प्रसिद्ध हैं। काश्मीर के मुस्लिम सुलतानों ने भारतीय लकड़ी और वास्तु-कला का अनुकरण किया। दक्षिण में बहमनी-वंश और उसके पतन पर स्थापित दूसरे राजवंशों की राजधानियों गुलबर्गा, बीदर, अहमदनगर और बीजापुर में मुस्लिम वास्तु-कला को काफी प्रश्रय मिला। बहमनी सुलतानों द्वारा निर्मित गुलबर्गा में जामा मसजिद, दौलताबाद में चांद मीनार और महमूदगवां का मदरसा प्रसिद्ध हैं। दक्षिण में भारतीय हिन्दू-मुस्लिम मिश्रित वास्तु-कला १५वीं शती में विकसित हुई। बीजापुर में आदिलशाही सुलतानों द्वारा बनाई गयी मसजिदें इसी शैली की हैं। मुहम्मद-आदिलशाह का मकबरा जो गोल-गुम्बद भी कहलाता है, इस कला का उच्चतम उदाहरण है।

भारत का जो भाग स्वतन्त्र या अर्द्ध-स्वतन्त्र था, वहां प्राचीन भारतीय वास्तुकला की शैली चलती रही। मेवाड़ के राजाओं ने बहुत से दुर्ग, राजप्रासाद, मन्दिर, सरोवर आदि का निर्माण कराया। राणा कुम्भा ने इसी काल में चित्तौड़ का जय-स्तम्भ बनवाया जो स्थापत्य का एक अद्भुत नमूना है। उड़ीसा में मन्दिर निर्माण-कला का विशेष विकास हुआ। पुरी का जगन्नाथ मन्दिर, भुवनेश्वर का लिङ्गराज मन्दिर और कोणार्क का सूर्य-मन्दिर ये सब इसी समय के बने हुये हैं और उत्तर भारत की नागर-शैली के सुन्दर नमूने हैं। हिन्दू-वास्तुकला का सबसे बड़ा केन्द्र सुदूर-दक्षिण का विजयनगर राज्य था। यहां के हिन्दू शासक भारतीय वास्तु-कला के

बड़े आश्रयदाता थे। इन्होंने विजयनगर और दूसरे स्थानों में अनेक दुर्ग, राजप्रासाद, मन्दिर, सभा-भवन, नहर, पोखरे आदि बनवाये। विजयनगर की शैली अपनी विशालता और अनुपम शृङ्गार के लिये जगत्प्रसिद्ध है। मुसलमानों के अधीन प्रदेशों में भी शुद्ध भारतीय वास्तुकला दबी हुई किन्तु
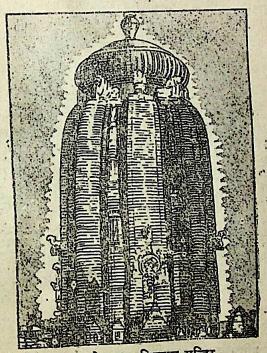
भुवनेश्वर का लिङ्गराज मन्दिर

जीवित थी। इस्लामी कानून के अनुसार मन्दिरों का निर्माण और टूटे हुये मन्दिरों की मरम्मत भी मना थी, परन्तु कुछ उदार सुल्तानों और शासकों के समय में मरम्मत कराने और मन्दिर बनाने की आज्ञा मिल जाती थी। शर्त्त यह होती थी कि मन्दिर छोटे पैमाने पर बनाये जावें और किसी भी अवस्था में मन्दिर का शिखर पास की मसजिद की मीनार से ऊँचा न हो। उड़ीसा और सुदूर-दक्षिण के मन्दिरों और उत्तर भारत के मन्दिरों के आकार में बड़ा अन्तर होने का यही कारण है।

मूर्ति, चित्र और सङ्गीत-कला

इस्लाम के द्वारा निषिद्ध होने के कारण मूर्ति-कला केवल हिन्दू राज्यों में ही चालू रही। इस युग में भी पत्थर और कांसे की अनेक देवताओं की मूर्त्तियां बनती थीं, परन्तु उनमें वह सौन्दर्य और सजीवता न थी, जो प्राचीन

मूर्त्तियों में पायी जाती थी। शुरू में चित्रकला भी इस्लाम में वर्जित थी। धीरे-धीरे इस्लाम पर ईरानी और भारतीय प्रभाव पड़ा और चित्रकला
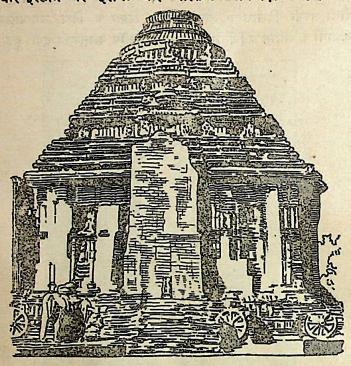
कोणार्क का सूर्य मन्दिर

पर से कड़ा प्रतिबन्ध हट गया। राजस्थान, कांगड़ा (हिमांचल प्रदेश) और विजय नगर में चित्रकला की विशेष उन्नति हुई। वैसे तो कट्टर मुसलमानों को सङ्गीत-कला भी प्रिय न थी, किन्तु ईरानी, तुर्की और भारतीय संस्कृति के सम्पर्क में आने पर इस्लाम ने संगीत पर से रोक उठा ली। इस काल में संगीत-कला ही में हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों में सबसे अधिक मिश्रण हुआ। अमीर खुसरो ने ईरानी और भारतीय संगीत-कला के समन्वय का बड़ा प्रयत्न किया। भारत के राग और रागिनियों के साथ ख्याल, गजल और कव्वाली मिल गये। मृदङ्ग और वीणा के साथ ढोल और तबले भी बजने लगे।

७. आर्थिक अवस्था और जन-जीवन

शुरू के मुस्लिम आक्रमणकारियों और शासकों की आर्थिक-नीति लूट और शोषण की थी। जनता के आर्थिक हित की उन्हें कोई चिन्ता नहीं थी,

परन्तु देश में बस जाने के बाद शासन की दृष्टि से उनके लिये यह आवश्यक हो गया कि वे जनता के आर्थिक जीवन को कम से कम एक सीमा तक पनपने दें। सबसे पहले बलबन ने इस पर ध्यान दिया। उसने अराजकता को दूर करके खेती और व्यापार के लिये सुविधा उत्पन्न की। दिल्ली के सुल्तानों में सबसे पहले अलाउद्दीन खिलजी ने आर्थिक योजना बनायी और उसका प्रयोग किया। उसने जीवन की सामग्रियों और मूल्य पर कड़ा नियन्त्रण रखा; किन्तु इसका अधिकांश लाभ वेतनभोगी सरकारी कर्मचारियों को हुआ। बेचारे साधारण किसानों और जनता को तो कष्ट ही रहा। मुहम्मद तुगलक ने सिक्कों का सुधार किया और तांबे का संकेत-सिक्का चलाया। इससे देश में क्रय-विक्रय का हिसाब गड़बड़ हो गया। दुर्भाग्य से उसके समय में एक बहुत बड़ा अकाल भी पड़ा और समय से सहायता न मिलने के कारण बहुत से लोग मर गये। फिरोज तुगलक ने बहुत से अतिरिक्त करों को बन्द कर दिया और खेती के लिये नहरें निकलवायीं। इससे प्रजा की आर्थिक अवस्था अच्छी हो गयी। बहलोल लोदी, सिकन्दर और इब्राहीम के समय में खेती की अवस्था अच्छी थी और सामानों की कीमत कम थी। इस तरह इस काल में भारत का वह आर्थिक पतन न हुआ जो युरोपीय आक्रमणों और शासन के समय आधुनिक युग में हुआ। मुस्लिम शासक और जनता लूट और शोषण का धन इसी देश में खर्च करती थी, इसलिये किसी न किसी रूप में वह धन इसी देश में रह जाता था। मुस्लिम शासकों द्वारा उन उद्योग-धन्धों को भी प्रोत्साहन मिला, जिनका सम्बन्ध राजपरिवार, अमीरों और सरदारों से था, जैसे—कलाबत्तू, किमखाब, सुईकारी आदि से बने हुये बहुमूल्य रेशमी, सूती और ऊनी कपड़ों का व्यवसाय, कीमती शराब, सजावट के सामान आदि।

जनता के आर्थिक जीवन का मुख्य आधार इस समय भी खेती था। किसान लगभग सभी हिन्दू थे और वे पुराने ढंग से खेती करते थे। फिरोज के समय में सिंचाई का प्रबन्ध छोड़कर और किसी सुल्तान ने कृषि की अवस्था सुधारने का प्रबन्ध किया हो ऐसा नहीं मालूम पड़ता। तुर्कों ने मालवा में भोजसागर के बाँध को काटकर किसानों का बड़ा अहित किया। किसानों के ऊपर भूमि-कर इतना लगा हुआ था कि वे कृषि का सुधार नहीं कर सकते थे। सुल्तानों की अपेक्षा स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य विजय-नगर, मेवाड़ आदि खेती पर अधिक ध्यान देते थे। प्रायः यही अवस्था व्यापार की भी थी। सल्तनत की ओर से व्यापार की उन्नति का कोई प्रयत्न नहीं दिखाई पड़ता। आने-जाने के रास्ते को ठीक रखने में उनका

उद्देश्य सैनिक था व्यापारिक नहीं। सड़कों के सुरक्षित न होने और अनावश्यक चुंगियों के लगने से व्यापार पंगु हो गया था। बाहरी देशों का व्यापार गुजरात के प्रान्तीय सुल्तान और विजयनगर के हिन्दू-राज्य के साथ था। जहाँ तक उद्योग-धन्धों का प्रश्न है, देश के प्राचीन उद्योग-धन्धे चलते रहे। सरकारी प्रोत्साहन केवल विलास और सजावट के सामानों को तैयार करने के लिये मिलता था। विनिमय या लेन-देन में साधारण जनता सामानों का ही आदान-प्रदान करती थी। सिक्के सरकारी नौकरियों, अधीन राज्यों से वार्षिक कर और बड़े व्यापार में काम आते थे। सोने-चाँदी और ताँबे के कई प्रकार के सिक्के चलते थे। सिक्कों में टंका और जीतल अधिक प्रसिद्ध थे। ब्याज के ऊपर ऋण भी दिया जाता था। जो लोग ऋण चुकाने में असमर्थ होते थे, वे साहूकार के यहाँ निश्चित समय तक गुलामी करते थे।

देहाती जीवन

मुस्लिम सेना और मुस्लिम शासकों का प्रभाव बड़े-बड़े नगरों तक ही सीमित रहता था। वे कर वसूल करने के अतिरिक्त देहाती जीवन में कोई विशेष हस्तक्षेप नहीं करते थे, इसलिये ग्रामीण जीवन का संगठन प्राचीन पंचायत के आधार पर चलता रहा। अपने आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक जीवन के लिये हर एक गाँव अपना स्वतन्त्र और एकान्त जीवन बिताता था; परन्तु गाँवों को एक सूत्र में जोड़नेवाली प्राचीन संस्थायें राजनीतिक कारणों से टूट चुकी थीं। देहात में अज्ञान और कूपमण्डूकता बढ़ती जा रही थी। गाँवों की निद्रा उस समय भंग होती थी, जब कोई सेना वहाँ से होकर निकलती थी या कोई कट्टर मुसलमान शासक उनको सामूहिक रूप से मुसलमान होने को विवश करता था। फिर भी गाँवों का सामाजिक जीवन इतना संगठित था कि बहुत-सी विपत्तियों को सहते हुये भी वह खड़ा था।

२४ अध्याय

मुगल-राज्य की स्थापना और उसपर ग्रहण

स्थिति

सोलहवीं शती के प्रारम्भ में दिल्ली की सल्तनत विद्रोही शक्तियों की चोटें खाकर आखिरी साँस ले रही थी। मुस्लिम सूबेदारों ने सल्तनत से बगावत करके प्रान्तों में अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये थे। मेवाड़, उड़ीसा, विजयनगर आदि कई हिन्दू राज्यों ने अपना सिर ऊँचा किया और हिन्दू शक्ति के पुनरुत्थान में लगे हुये थे। दिल्ली राज्य केवल दिल्ली के आसपास के प्रदेशों तक ही सीमित था। सल्तनत की पश्चिमोत्तर सीमा बिल्कुल अरक्षित थी। पंजाब, मुल्तान और सीमान्त के मुस्लिम सूबेदार नाम मात्र के दिल्ली के अधीन थे और बार-बार स्वतन्त्र होने की घोषणा करते थे। उनका सम्बन्ध अफगानिस्तान और मध्य-एशिया की मुस्लिम शक्तियों से था। हिन्दू और मुस्लिम दोनों शक्तियाँ सल्तनत का अन्त करना चाहती थीं। पहले पश्चिमोत्तर की मुस्लिम शक्तियों ने बाबर को भारत पर आक्रमण करने का निमन्त्रण दिया और उसने यह निमन्त्रण सहर्ष स्वीकार किया।

मुगल-वंश

तुर्क और पठान या अफगान सुल्तानों के बाद दिल्ली राज्य पर शासन करनेवाले मुगल बादशाह वास्तव में मंगोल रक्त से थोड़े प्रभावित तुर्क थे। इस समय तक मध्य-एशिया के मंगोल भी मुसलमान हो चुके थे और तुर्कों तथा ताजिकों के साथ मिल गये थे। परस्पर विवाह-सम्बन्ध से उनका आकार-प्रकार भी बदल गया था। भारतीय मुगल इसी मिश्रित तुर्क-मंगोल जाति के थे, यद्यपि उनमें तुर्क रक्त की प्रधानता थी। स्वयं बाबर, तैमूर का वंशज था। उनका बाप उमरशेख मिर्जा तुर्क था, किन्तु उसकी माँ यूनस खाँ नामक मंगोल सर्दार की लड़की थी। मुगलों की मातृभाषा तुर्की थी; परन्तु वे इस्लाम धर्म और ईरानी सभ्यता को अपना चुके थे।

१. बाबर

(१) बाल्यावस्था

बाबर के रक्त में दो जातियों का मिश्रण था। उसका पिता उमरशेख मिर्जा तुर्क विजेता तैमूरलंग की पाँचवीं पीढ़ी में था। उसकी माँ कुतुलुग-निगार चंगेजखाँ (मंगोल सम्राट) की वंशज थी। इसीलिये बाबर के स्वभाव में मंगोलों की बर्बरता और तुर्कों का साहस तथा कठोरता थी। उमरशेख मिर्जा तुर्किस्तान में फरगना का शासक था। १४९२ ई० में, जब कि बाबर केवल ग्यारह वर्ष का था, उसके पिता का देहान्त हो गया। उसका लालन-पालन और शिक्षा उसकी नानी की देख-रेख में हुई जो बड़ी विदुषी थी। अपनी मातृभाषा तुर्की के ऊपर बाबर का पूरा अधिकार था। युद्ध-विद्या में वह बड़ा कुशल था। फारसी साहित्य और ईरानी संस्कृति का उसके ऊपर गहरा प्रभाव था।

बाबर

(२) कठिनाइयाँ

उमरशेख मिर्जा के मरने के बाद बाबर के जीवन की कठिनाइयाँ बढ़नी शुरू हुईं। फरगना के ऊपर उसके चचा अहमद और उसके मामा महमूद ने चढ़ाई की; परन्तु उसकी प्रजा ने उसको बचा लिया। बाबर तैमूर की राजधानी समरकन्द पर अधिकार करना चाहता था। उसने १४९७ ई० में समरकन्द पर कुछ समय के लिये अधिकार भी कर लिया, किन्तु तुर्किस्तान में बाबर का जीवन लड़ाई, विजय और भगदड़ में ही बीता। उसे कई बार सफलता मिली और कई बार हार भी खानी पड़ी। अन्त में अपनी पैतृक सल्तनत से निराश होकर उसे दक्षिण की ओर मुड़ना पड़ा। बाबर हार और कठिनाइयों से दबनेवाला नहीं था, इसीलिए वह बाहर जाकर राज्य स्थापित करने में सफल हुआ।

(३) काबुल में

बाबर मध्य-एशिया में अपना सर्वस्व खो चुका था। वहाँ से भगोड़ा बनकर उसने हिन्दुकुश को पार किया। काबुल में भाग्य ने उसका साथ

दिया। यहाँ पर उसका चचा उलूगखाँ बेग मिर्जा शासक था। उसकी मृत्यु १५०१ ई० में हो चुकी थी। इस परिस्थिति से लाभ उठाकर काबुल के सर्दारों ने विद्रोह किया। बाबर के लिये यह सुनहला अवसर था। बाबर ने काबुल पर अधिकार कर लिया और कन्दहार (कन्धहार) और हिरात को भी जीता। काबुल पर अधिकार करने के बाद बाबर ने पादशाह (बादशाह) की उपाधि धारण की। काबुल में स्थिर होने पर भी अपने पैतृक राज्य फरगना और समरकन्द को वह न भूल सका। मध्य-एशिया के मंगोल फारस के लिये भी खतरा थे; इसलिये फारस के बादशाह इस्माइल के साथ बाबर की मैत्री हो गयी। बाबर ने एक बार फिर अपना पैतृक राज्य प्राप्त करने की कोशिश की। बाबर की जाति-बिरादरी वालों ने उसका वहाँ रहना असम्भव कर दिया। उसके सजातीय कट्टर सुन्नी थे, इसलिये वे फारस के शिया बादशाह के साथ बाबर की मित्रता को पसन्द नहीं करते थे। १५१४ ई० में बाबर को फिर काबुल वापिस आना पड़ा। उसके जीवन में यह एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। यदि वह मध्य-एशिया में सफल हुआ होता, तो शायद उसका ध्यान भारत की ओर न जाता। बाबर की इस पराजय में उसका उज्ज्वल भविष्य और भारत का मुगल-साम्राज्य छिपा हुआ था।

(४) भारत पर आक्रमण

भारत की परिस्थिति इस समय बाबर को आक्रमण करने के लिये निमंत्रण दे रही थी। दिल्ली की गद्दी पर लोदी-वंश का अन्तिम सुलतान इब्राहीम लोदी शासन करता था। सल्तनत की रीढ़ तो पहले से ही टूट चुकी थी। इब्राहीम के व्यवहार से उसके राज्य में और भी असन्तोष फैल गया। देश में एक छोर से दूसरे छोर तक हिन्दू और मुसलमान राजाओं तथा सूबेदारों ने दिल्ली सल्तनत से विद्रोह करना और स्वतंत्र होना शुरू कर दिया था। इस परिस्थिति में बाबर का ध्यान भारत की ओर आकृष्ट हुआ। तुर्क-मंगोलों का पहला चरण काबुल में पहले से ही जमा हुआ था। अब उनका दूसरा पग भारत में पड़ा। भारत पर आक्रमण करने में बाबर के लिये पहला आकर्षण लूट का था, यद्यपि उसके दिमाग में साम्राज्य की कल्पना भी चक्कर काट रही थी। पहले उसने काबुल के पूर्व खैबर के दर्रे से कोहकाफ तक आक्रमण किया। शहरों की लूट से उसको काफी सोना और सामान मिला, किन्तु सीमान्त के पठानों पर उसको बिल्कुल सफलता नहीं मिली। काबुल लौट कर उसने युद्ध की फिर से तैयारी की। फारस के बादशाह के अनुकरण पर उसने अपने तोपखाने का संगठन किया और उसके संचालन के लिये तुर्क उस्तादअली

को तोपखाने का दरोगा बनाया। तुर्कों ने बारूद और बन्दूक का प्रयोग मंगोलों से सीखा था। बाबर ने उसका उपयोग किया। भारत के ऊपर बाबर की विजय का यह एक मुख्य कारण था।

बाबर ने पश्चिमोत्तर भारत पर कई आक्रमण किये और उसके कुछ भाग पर अधिकार भी कर लिया। उसने पठान सुल्तान इब्राहीम लोदी के पास मुल्ला मुर्शिद नामक एक दूत भेजा और उसको कहलाया कि तुर्कों के अधीन जितने देश थे वह वापिस कर दे। पंजाब के शासक दौलतखां ने दूत को रोक लिया। १५२४ ई० में बाबर ने चौथी बार भारत पर चढ़ाई की। इस समय पंजाब और दिल्ली की स्थिति बिगड़ चुकी थी। पंजाब का शासक दौलतखां इब्राहीम लोदी से नाराज हो चुका था। उसने अपने लड़के दिलावरखां को बाबर के पास भारत पर चढ़ाई करने के लिये निमन्त्रण देने को भेजा। इसी प्रकार मेवाड़ के राणा सांगा ने भी बाबर को दिल्ली पर आक्रमण करने के लिये प्रोत्साहित किया। बाबर तो इसलिये उत्सुक बैठा था। उसकी सेना पूर्वी पंजाब तक पहुँची। उसने लाहौर को अपने हाथ में कर लिया और पूर्वी पंजाब में दौलतखां के लड़के दिलावरखां को सूबेदार बनाया। उसके काबुल लौट जाने पर दौलतखां ने अपनी भूल समझ ली और पूर्वी पंजाब को फिर अपने अधिकार में कर लिया।

(५) पानीपत की पहली लड़ाई

१५२५ ई० में पाँचवीं बार बाबर ने फिर आक्रमण किया। उसके साथ में बदख्शां के चुने हुये सैनिक और उसका लड़का हुमायूं था। सब मिलकर बाबर के पास कुल १२ हजार सैनिक थे। साथ में लाहौर की सेना भी थी। पूर्व में दौलतखां और इब्राहीम लोदी की सेनायें इकट्ठी हो रही थीं। दौलतखां के पास ४० हजार और इब्राहीम के पास १ लाख सेना थी। पानीपत के मैदान में मुगल और अफगान सेनाओं की मुठभेड़ हुई। पानीपत में भारतीय इतिहास के कई निर्णायक युद्ध लड़े गये हैं, जिनमें भारत के भाग्य का निपटारा हुआ है। बाबर के पहुँचने का समाचार सुनकर इब्राहीम लोदी भी ग्वालियर के राजा विक्रम के साथ वहाँ पहुँचा। एक हफ्ते तक दोनों सेनायें एक-दूसरे के आक्रमण की प्रतीक्षा करती रहीं। बाबर के पास ७०० युरोपीय तोपें, बहुत से बंदूकची और चुने हुये घुड़सवार थे। इब्राहीम के पास १ लाख सेना थी, परन्तु इसमें अधिकांश अशिक्षित किराये के सिपाही ही थे, जिनको युद्ध का पूरा अनुभव नहीं था। इब्राहिम के घुड़सवार भी बाबर के घुड़सवारों की समता नहीं कर सकते थे। इब्राहीम के हथियार भी पुराने थे, जो तोप-

बन्दूक की बराबरी नहीं कर सकते थे। इस परिस्थिति में युद्ध का परिणाम साफ दिखाई पड़ता था। १९ अप्रैल १५२६ की रात में इब्राहीम की सेना ने बाबर की सेना पर आक्रमण किया। संख्या की अधिकता के कारण शुरू में सफलता भी मिली; परन्तु चार-पाँच घंटों के भीतर ही दिल्ली की सेना तितर-बितर हो गयी। इब्राहीम लोदी युद्ध में मारा गया। बाबर ने सरलता से विजय प्राप्त की।

अफगानों की हार के तीन मुख्य कारण थे। एक तो अफगान-सेना में बहुत से अशिक्षित और किराये के सिपाही थे, जिनको लड़ाई का अनुभव नहीं के बराबर था। दूसरे, अफगान सेना में योग्य सेनापति भी नहीं थे। इब्राहीम का नेतृत्व बहुत कच्चा था। तीसरे, अफगानों के अस्त्र-शस्त्र बहुत पुराने थे, जो बाबर की तोप-बन्दूकों से सामना नहीं कर सकते थे। इसके ठीक विरुद्ध बाबर के सिपाही चुने हुये थे। उसकी घुड़सवार सेना में बड़ा वेग था। उसके पास युद्ध के नये साधन थे और सबसे बढ़कर उसका कुशल नेतृत्व था।

(६) दिल्ली और आगरा पर अधिकार और साम्राज्य की स्थापना

पानीपत में इब्राहीम को हराने पर बाबर ने लोदी-वंश की दो राजधानियों—दिल्ली और आगरा—पर अधिकार कर लिया। उसको अपार लूट का माल भी मिला। आगरे के दरबार में हुमायूँ ने ग्वालियर से प्राप्त बहुमूल्य कोहेनूर हीरा बाबर को भेंट किया। बाबर ने काबुल, फरगना, बदख्शां, काशगर, फारस आदि में अपने मित्रों को विजय के उपलक्ष्य में उपहार भेजे।

पानीपत के युद्ध के बाद बाबर के सामने कई समस्यायें थीं। पानीपत के युद्ध से लोदी-राजवंश नष्ट हो गया, किन्तु इतने से ही भारत में मुगल-साम्राज्य की स्थापना नहीं हो सकती थी। पहली समस्या अफगान सरदारों की थी, जो इब्राहीम की मृत्यु के बाद बाबर को अपना सम्राट मानने को तैयार नहीं थे; परन्तु बाबर के सौभाग्य से थोड़े ही दिनों में अफगान दल में फूट पड़ गयी और बाबर ने हुमायूँ को भेजकर पांच महीने के भीतर अवध, जौनपुर, गाजीपुर आदि प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। बाबर के सामने दूसरी समस्या तुर्क-सेना को हिन्दुस्तान में रखने की थी। यहां का जलवायु सेना को पसन्द नहीं था और वह काबुल लौट जाना चाहती थी। बाबर के बहुत समझाने-बुझाने और धमकियों के बाद सेना यहां रहने को राजी हुई। सबसे विकट तीसरी समस्या राजस्थान के राजपूत-संघ की थी। राणा सांगा के नेतृत्व में राजपूत-संघ उत्तर भारत पर अधिकार जमाने का प्रयत्न

कर रहा था। इस संघ को हराये बिना बाबर हिन्दुस्तान का सम्राट नहीं बन सकता था।

(७) राणा सांगा से युद्ध

राणा सांगा ने एक राजपूत-संघ बनाया था और उनकी महत्त्वाकांक्षा फिर भारत के ऊपर हिन्दू-साम्राज्य स्थापित करने की थी। उन्होंने बाबर को निमन्त्रण इस आशा से दिया था कि वह दिल्ली सल्तनत को नष्ट कर तैमूर की तरह वापस चला जायगा और वे उत्तर भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सकेंगे। बाबर के आक्रमण से राणा सांगा की इस योजना को बड़ा धक्का लगा, इसलिये बाबर और राणा सांगा के बीच युद्ध अनिवार्य हो गया। राजपूत एक बार फिर अपने भाग्य की परीक्षा के लिये तैयार हुये। इस समय राजपूतों के साथ अफगान सरदार हसनखाँ मेवाती और इब्राहीम लोदी का भाई महमूद लोदी भी था, क्योंकि भारत में मुगल-साम्राज्य की स्थापना से पठानों की सत्ता समाप्त हो रही थी। यह पहला अवसर था, जब हिन्दू और मुस्लिम शक्तियों ने मिलकर एक विदेशी आक्रमण का सामना किया। पहले राजपूत-संघ पूर्व की ओर बढ़ा। राणा सांगा ने मुगल सेना को हराकर फिर से बियाना, धौलपुर आदि प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। यह समाचार सुनकर बाबर ने आगरा से पश्चिम में बढ़कर सीकरी पर अपना पड़ाव डाला। उसकी एक सेना और आगे बढ़ी, किन्तु राजपूतों से हार गयी। शुरू की इन दो हारों से मुगलों में आतंक और भय फैल गया। इसी समय एक मुस्लिम ज्योतिषी ने यह भविष्यवाणी की कि मुगल युद्ध में हार जायँगे। इससे मुगल सेना और भी भयभीत और हताश हो गयी। किन्तु बाबर घबराने वाला नहीं था। सिकन्दर की तरह उसने एक लम्बी वक्तृता सेना के सामने दी और युद्ध के लिये उसे राजी कर लिया। १६ मार्च १५२७ ई० को राजपूत और मुगल सेनायें सीकरी से १० मील दूर खानवा नामक स्थान पर एक दूसरे के विरुद्ध खड़ी हुईं। संख्या में राजपूत सेना बाबर की सेना से आठ गुनी थी, परन्तु बाबर ने योग्यता और चतुराई से अपनी सेना का संगठन और व्यूह-रचना की। उसके युद्ध के नये साधनों ने इस बार भी उसकी सहायता की और अबकी राजपूतों और पठानों का संयुक्त संघ उसके सामने हार गया। झाला, अज्जा, रतनसिंह राठौर, हसनखां मेवाती आदि बड़े-बड़े सेनापति इस युद्ध में काम आये। वीर राजपूतों के सिरों की मीनार पर बाबर बैठा और उसने गाजी की उपाधि धारण की। राणा सांगा भी घायल होकर मूर्च्छित थे। जब उनकी मूर्च्छा टूटी, तो वे अपने बचाने वाले

पर बहुत अप्रसन्न हुये। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि बाबर को जीते बिना चित्तौड़ नहीं लौटेंगे। रणथम्भौर के किले से उन्होंने फिर तैयार की। चन्देरी के मेदनीराय के नेतृत्व में एक बार फिर राजपूतों ने मुगलों का विरोध किया, किन्तु राजपूत फिर हार गये। पानीपत के युद्ध के समान खानवा का युद्ध भी निर्णायक था। राजपूतों द्वारा हिन्दू-शक्ति के पुनरुद्धार की आशा बहुत दिनों के लिये जाती रही। इस युद्ध ने राजपूतों का नैतिक पतन भी किया। उनकी संघ-शक्ति टूट गयी और आगे चलकर मुगल सम्राट भेद और लोभ-नीति से उनका उपयोग करने लगे। वास्तव में मुगल-सत्ता निश्चित रूप से इसी युद्ध के बाद भारत में स्थिर हुई। राजपूत-संघ को तोड़ने के बाद बाबर ने पूर्व-बिहार और बंगाल में अफगानों के विद्रोह को सफलता के साथ दबाया और इस प्रकार सारे उत्तर भारत में मुगल-साम्राज्य की स्थापना की।

(८) शासन-प्रबन्ध

बाबर ने साम्राज्य की स्थापना के बाद शासन के संगठन और व्यवस्था पर भी ध्यान दिया। बाबर की राजत्व-कल्पना दिल्ली के अफगान-तुर्क सुल्तानों की कल्पना से भिन्न थी। सिद्धान्त रूप में सल्तनत के ऊपर सभी सर्दारों और अमीरों का अधिकार होता था और सुल्तान का पद निर्वाचित था। सल्तनत के भीतर बराबर विद्रोह और हलचल होने का यह एक बड़ा कारण था। बाबर इस कठिनाई को समझता था। इसलिये काबुल में उसने पादशाह की उपाधि धारण की थी, जो पैतृक मानी जाती थी और सर्दारों तथा अमीरों के हस्तक्षेप से मुक्त थी। बाबर का साम्राज्य बहुत बड़ा था, परन्तु बाबर की प्रतिभा जितनी युद्ध और विजय के अनुकूल थी, उतनी शासन-प्रबन्ध के लिये नहीं। शासन-सुधार के लिये उसके पास समय भी कम था। उसने सल्तनत के शासन-प्रबन्ध में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं किया और उसको पुराने ढङ्ग से चलने दिया। उसका साम्राज्य कई जागीरों में बँटा हुआ था इसलिये मध्यकालीन सामन्त-प्रथा अब भी जारी रही। राज्य की आर्थिक अवस्था भी बाबर नहीं सुधार सका, परन्तु सीमित क्षेत्र में उसने चोरों और लुटेरों से प्रजा की रक्षा का प्रबन्ध किया। सड़कों की रक्षा का भी उसने यथासम्भव प्रयत्न किया। भवन, उपवन, नहर और पुल बनवाने का भी बाबर को शौक था। शासन-प्रबन्ध में कई दोष होने पर भी बाबर ने भारत में मुगल-राज्य और शासन की नींव डाली, जिसके आधार पर उसके प्रसिद्ध पोते अकबर ने विशाल साम्राज्य और सुव्यवस्थित शासन की व्यवस्था की।

(९) मृत्यु

बाबर ने अपना सारा जीवन युद्ध और संघर्ष में बिताया। अन्तिम समय में अधिक परिश्रम के कारण उसका स्वास्थ्य खराब हो गया। इसी बीच में उसका बड़ा लड़का हुमायूँ १५३० ई० में सख्त बीमार पड़ा और उसके बचने की आशा न रही। इससे बाबर बहुत दुखी और चिन्तित हुआ। कहा जाता है कि उसने हुमायूँ के पलंग की तीन बार परिक्रमा करके ईश्वर से प्रार्थना की कि हुमायूँ की बीमारी उसके ऊपर आ जाय। उसी क्षण से हुमायूँ अच्छा और बाबर का स्वास्थ्य खराब होने लगा। २६ दिसम्बर १५३० ई० को बाबर का देहान्त हो गया। उसकी इच्छा के अनुसार उसकी लाश काबुल भेजी गयी और उसके चुने हुए सुरम्य स्थान में उसकी समाधि बनी। उसकी समाधि पर यह लेख अंकित है—'मृत्यु इस विजयी को नहीं जीत सकी, क्योंकि वह अब भी अपनी कीर्ति के रूप में जीवित है।'

(१०) व्यक्तित्व

इतिहासकारों ने बाबर के व्यक्तित्व की बड़ी प्रशंसा की है। बाबर अपने युग में एशिया का सबसे प्रतापी राजा था और किसी भी युग या देश के सम्राटों में उसको ऊँचा स्थान मिल सकता है। वह अपने आकर्षक और सुन्दर चरित्र तथा रोमांचक जीवन के कारण इस्लाम के इतिसास में प्रसिद्ध है। वह शरीर से सुन्दर और बहुत बलवान् था। कहा जाता है कि वह दो आदमियों को अपनी काँख में दबाकर किले की चहारदीवारी पर दौड़ सकता था, गंगा जैसी नदी को ३० झपट्टे में तैर कर पार कर जाता था और दिन में अस्सी मील तक घोड़े की पीठ पर बैठ सकता था। बाबर एक योग्य सैनिक और सफल तथा योग्य सेनानायक था। छोटी सेना के साथ उसने बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ जीती थीं। शारीरिक बल और सैनिक योग्यता के साथ उसमें लगन, तत्परता और दूरदर्शिता भी काफी थी। वद एक प्रसिद्ध विजेता और शासक भी था। बाबर के स्वभाव में शासक और सज्जन का अच्छा समन्वय था। वह कड़ा शासक किन्तु उदार और मधुर व्यवहारवाला था। अपने परिवार और सम्बन्धियों को वह बहुत प्यार करता था। शत्रु के साथ भी उसका व्यवहार बहुत उदार था। परन्तु जैसा कि तुर्कों का स्वभाव था, वह किन्हीं अवसरों पर कठोरता और क्रूरता से भी बाज न आता था। बाबर का जीवन लड़कपन से ही विपत्तियों और कठिनाइयों में बीता था, इसलिये वह विलासिता का आदी नहीं था। वह प्रकृति की गोद में पला था, अतः प्राकृतिक दृश्यों का बड़ा प्रेमी था। विद्या और कला में भी उसने

कुशलता प्राप्त की थी। तुर्की और फारसी भाषा और साहित्य पर उसका पूरा अधिकार था। तुर्की भाषा का वह सिद्धहस्त लेखक और अच्छा कवि था। उसका बाबर-नामा नामक संस्मरण संसार के साहित्य में प्रसिद्ध है। इस गुणों के होते हुए भी वह अपने युग का अपवाद नहीं था। मदिरा, रमणी और संगीत का वह प्रेमी था; किन्तु वह शिष्टाचार का पालन करता था और जो शराब पीकर पागल हो जाते थे उनसे घृणा। बाबर का ईश्वर में अदम्य विश्वास था, किन्तु कट्टर सुन्नी होने के कारण दूसरे धार्मिक सम्प्रदायों के प्रति वह अनुदार था। शिया धर्म के प्रति उसका झुकाव बहुत कुछ राजनीतिक कारणों से था। वह अपने राज्य और अर्थ के लोभ को जेहाद (धर्मयुद्ध) कहता था और युद्ध में शत्रुओं का वध करके अपने को गाज़ी समझता था। भारत में मुसलमानों से इतर लोगों के साथ वह घृणा करता था। फिर भी अपने समय के बहुत से मुसलमान शासकों की अपेक्षा वह उदार था और उसके धार्मिक अत्याचार बहुत कम थे।

२. हुमायूँ

(१) कठिनाइयाँ

बाबर की मृत्यु के बाद २९ दिसम्बर सन् १५३० ई० को हुमायूँ बड़े उत्सव और सजधज के साथ सिंहासन पर बैठा। अपने भाइयों और सम्बन्धियों के साथ उसने बड़ी उदारता का व्यवहार किया। तुर्क और मंगोलों की परम्परा के अनुसार हुमायूँ ने अपने पिता के साम्राज्य का बँटवारा अपने भाइयों में कर दिया। कामरान को काबुल और कन्दहार, मिर्जा अस्करी को सम्भल, मिर्जा हिन्दाल को अलवर और मेवात और चचेरे भाई मुहम्मद सुलेमान मिर्जा को बदख्शां के प्रान्त मिले। हुमायूँ की यह बहुत बड़ी राजनीतिक भूल थी और आगे चलकर इससे हुमायूँ के सामने बड़ी पेचीदगियां पैदा हो गयीं। सिंहासन पर बैठने के बाद ही हुमायूँ के सामने कठिनाइयां शुरू हो गयीं। पहली कठिनाई उसको अपने भाइयों की ओर से हुई। मुसलमानों में राज्य के लिये जेठे भाई का अधिकार सर्वमान्य नहीं था, इसलिये हरेक

हुमायूँ.

शाहजादा राज्य के लिये दावा करने लगा। दूसरी कठिनाई सेना की तरफ से उत्पन्न हुई। सेना में चगताई, उजबेग, मुगल, फारसी और अफगान कई एक जातियों के लोग शामिल थे। इनमें आपस में फूट पैदा हो गयी। ये जातियां अब मुगल-साम्राज्य की रक्षा के लिये नहीं किन्तु अपने स्वार्थ की आकांक्षा करने लगीं। सेना के खानों ने हुमायूँ के विरुद्ध षडयंत्र करना भी शुरू कर दिया। बाबर ने साम्राज्य का संगठन ठीक नहीं किया था, इसलिये शासन भीतर से बहुत ढीला-ढाला था। एक और कठिनाई हिन्दुस्तान के अफगानों की ओर से खड़ी हो रही थी। बिहार और बंगाल में उनकी शक्ति अभी नष्ट नहीं हुई थी, जो मुगल-साम्राज्य के लिये बहुत बड़ा खतरा था। गुजरात में बहादुरशाह भी मुगल-साम्राज्य के लिये आतंक पैदा कर रहा था और भीतर ही भीतर पूर्व के अफगानों को सहायता दे रहा था। ऊपर लिखी हुई कठिनाइयों का सामना करने के लिये हुमायूँ में स्वभाव और साधन की दृढ़ता नहीं थी। कामरान ने पंजाब पर आक्रमण कर दिया। हुमायूँ की कमजोरी और रियायत से पंजाब का सूबा कामरान के हाथ में चला गया। मुगल सेना के अधिकांश सैनिक इसी प्रदेश से आते थे। पंजाब के निकल जाने से हुमायूँ की सैनिक शक्ति कमजोर हो गयी। हिन्दाल और अस्करी ने भी हुमायूँ के लिए बाधा उत्पन्न की। उसके चचेरे भाई मुहम्मद सुलतान मिर्जा ने गद्दी के लिये दावा पेश किया।

(२) गुजरात से युद्ध

जब कि हुमायूँ अपने भाइयों से ठीक तरह निपट भी न पाया था कि उसके साम्राज्य पर पश्चिम और पूर्व दोनों तरफ से विद्रोह के बादल उमड़ आये। गुजरात में बहादुरशाह की बढ़ती हुई शक्ति ने हुमायूँ के मन में आतंक पैदा कर दिया। मेवाड़ के राजा से मिलकर बहादुरशाह ने मालवा पर अधिकार कर लिया था और हुमायूँ के चचेरे भाइयों को अपने यहाँ शरण दी थी। अफग़ानों के उपद्रव को बिना अच्छी तरह दबाये ही हुमायूँ गुजरात की ओर चला। उसने बहादुरशाह को हराया और अपने भाई अस्करी को गुजरात का सूबेदार बनाकर स्वयं मालवा में आकर आराम करने लगा। इसी बीच में उसको समाचार मिला कि पूर्व में अफगानों ने अपनी शक्ति बढ़ा ली है और बंगाल के सूबे पर आक्रमण कर दिया है। हुमायूँ आगरा की तरफ लौटा। अस्करी भी हुमायूँ के पीछे-पीछे चला और गुजरात तथा मालवा फिर बहादुरशाह के हाथ में चले गये। हुमायूँ आगरा में फिर विश्राम करने

लगा और एक वर्ष तक इस बात का निर्णय न कर सका कि उसे बिहार पर आक्रमण करना चाहिये या गुजरात पर। इस बीच में पूर्व के अफगानों को अपनी शक्ति के संगठन का अच्छा अवसर मिल गया। अन्त में हुमायूँ ने निश्चय किया वह पूर्व के अफगानों की शक्ति का दमन करेगा।

(३) हुमायूँ और शेरखां का संघर्ष

पूर्व की ओर बढ़कर हुमायूँ ने १५३७ में पहले चुनार पर आक्रमण किया और उस पर अपना अधिकार जमा लिया। शेरखां ने बड़ी चालाकी से अपना सब माल चुनार से रोहतासगढ़ के किले में भेज दिया। इस विजय से उत्साहित होकर १५३८ ई० में हुमायूँ बिहार होता हुआ गौड़ पहुँच गया। हुमायूँ के स्वभाव ने फिर उसे धोखा दिया। उसने छः महीने उत्सव और जलसे में बिता दिये, तब तक बरसात आ गयी। मलेरिया बुखार से सेना का एक बहुत बड़ा भाग नष्ट हो गया। फिर उसने आगरा वापिस आने का निश्चय किया। किन्तु इस बीच में शेरखां ने बंगाल और आगरे के बीच के रास्ते पर अपना अधिकार कर लिया था और उसकी सेना मुँगेर, चुनार और जौनपुर पहुँच गई थी। अपनी आधी नष्ट हुई सेना के साथ हुमायूँ बंगाल से चला। गंगा के किनारे **चौसा** नामक स्थान पर अफगान और मुगल सेनाओं का सामना हुआ। हुमायूँ हार गया और हताश होकर शेरखां से सन्धि कर ली। सन्धि की शर्तों के अनुसार बिहार और बंगाल शेरखां के अधिकार में चले गये और वह शाही उपाधि धारण कर सकता था; केवल नाम मात्र को उसको हुमायूँ का आधिपत्य स्वीकार करना था। इस सन्धि से अफगान सन्तुष्ट नहीं थे। उन्होंने धोखे से मुगल सेना पर आक्रमण कर दिया। हुमायूँ को जान लेकर आगरे की ओर भागना पड़ा।

आगरे पहुँच कर हुमायूँ ने फिर अफगानों के साथ युद्ध की तैयारी शुरू की। उधर शेरखां भी चुप न बैठा था। हुमायूँ ने अपने भाइयों से सहायता मांगी, किन्तु उन्होंने कोई सहायता न दी। इसके उल्टे कामरान और हिन्दाल दोनों ने विद्रोह किया, जिनको अपनी उदारता से हुमायूँ ने क्षमा कर दिया। इस समय तक शेरखां पूर्व से चलकर **कन्नौज** तक पहुँच गया था। हुमायूँ अपनी सेना लेकर अप्रैल १५४० में कन्नौज पहुँचा। अफगान और मुगल सेना की फिर मुठभेड़ शुरू हुई। मुगल सेना की अदूरदर्शिता और कायरता से यहाँ भी मुगल सेना की हार हुई 'इस रणक्षेत्र में चगताई (मुगल) हारे, जहाँ एक व्यक्ति भी—मित्र या शत्रु—घायल नहीं हुआ, एक भी बन्दूक का फायर न हुआ और तोपों की गाड़ियाँ बेकार रहीं। सम्राट् आगरा

भागा और जब शत्रु वहाँ पहुँचा, तो वह बिना देर किये लाहौर चला गया।' सम्भल, आगरा, ग्वालियर और दिल्ली पर अधिकार करता हुआ शेरखां पंजाब पहुँचा। कामरान डर के मारे पंजाब शेरखां के हाथों छोड़कर काबुल भाग गया। विजयी बाबर के पुत्रों की यह भगदड़ बड़ी दयनीय थी। हुमायूँ के हाथ से उसका राज्य निकल गया। भागने के सिवा उसके सामने कोई दूसरा चारा न था। दिल्ली में शेरखां ने फिर **पठान-राज्य की स्थापना** की।

(४) भारत से भागकर ईरान

लाहौर छोड़ने के बाद हुमायूँ शरण और सहायता की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान को भागता फिरा और अन्त में हिन्दुस्तान छोड़कर उसे फारस जाना पड़ा। अपने आत्मीयों और मुसलमान सहायकों की उदासीनता और विश्वासघात से तंग आकर उसने जोधपुर के राजपूत राजा मालदेव से सहायता मांगी। किन्तु शेरशाह का सन्देश पाकर उसने सहायता देने से इनकार कर दिया और स्वयं हुमायूँ को गिरफ्तार करने का प्रयत्न करने लगा। इसके बाद हुमायूँ ने अमरकोट के राजा के यहाँ शरण ली। 'अब कुछ समय के लिये भाग्य ने सम्राट् के साथ अपना व्यवहार बदला।' १५४२ ई० में हमीदा बेगम से हुमायूँ को एक बालक पैदा हुआ, जिसका नाम उसने **जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर** रखा। कहते हैं कि पुत्र के जन्मोत्सव पर बाँटने के लिये हुमायूँ के पास कुछ न था, केवल कस्तूरी की एक नाफ़ थी। कस्तूरी के टुकड़े बाँटते हुये उसने आशा प्रकट की कि जिस तरह कस्तूरी की सुगन्ध फैल रही है, उसी तरह अकबर का यश भी इस संसार में फैलेगा। अब हिन्दुस्तान में रहना हुमायूँ के लिये सम्भव नहीं था। इस बीच में **बैरमखां** भी हुमायूँ से आ मिला। काबुल में मिर्जा अस्करी और कामरान दोनों हुमायूँ को सन्देह की दृष्टि से देखते थे, इसलिये उन्होंने हमीदा और अकबर को अपने यहाँ रख लिया, परन्तु हुमायूँ को शरण न दी। इसके बाद हुमायूँ ने फारस की ओर अपना मुँह मोड़ा, जहाँ उसका पिता बाबर भी अपने राज्य से निर्वासित होकर सहायता के लिये गया था। फारस के शाह ने हुमायूँ का सम्मान किया और सहायता का वचन दिया। हिन्दुस्तान पर फिर विजय के लिये उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में हुमायूँ अपना समय फारस में काटने लगा।

२५ अध्याय

पठान-शक्ति का पुनरावर्त्तन : सूर-वंश

१. शेरशाह

(१) बाल्यावस्था और शिक्षा

पठानों की खोयी हुई शक्ति को फिर से जीवित करने वाला शेरशाह था। उसका पिता हुसन बिहार में सहसराम का जागीरदार था। शेरशाह का जन्म १४८६ ई० में हुआ था। उसका लड़कपन का नाम फरीद था। फरीद की माता न थी। विमाता के प्रति बहुत आसक्त पिता के द्वारा तिरस्कार होता था। इसलिये वर से निराश होकर के जौनपुर चला गया। यहीं पर उसकी शिक्षा हुई। उसने अरबी तथा फारसी भाषा का अच्छा अध्ययन किया। गुलिस्तां, बोस्तां और सिकन्दर-नामा उसको कंठस्थ थे। साहित्य और इतिहास में उसकी विशेष रुचि थी।

शेरशाह

(२) राजनीतिक जीवन का प्रारम्भ

फरीद की प्रतिभा से प्रसन्न होकर बिहार के सूबेदार जमालखां ने हसन और फरीद के बीच समझौता करा दिया और सहसराम की जागीर का प्रबन्ध फरीद के हाथ में आ गया, किन्तु उसकी विमाता ने फिर षड्यन्त्र किया। जागीर छोड़कर फरीद बिहार के सूबेदार बहारखां के पास चला गया। शिकार के समय चीता मारने के कारण बहारखां ने उसको शेरखां की उपाधि दी। बहारखां से भी मतभेद होने पर शेरखां बाबर के पास आगरे चला गया। बाबर शेरखां की योग्यता से प्रसन्न था। उसने जब बिहार के अफगानों पर आक्रमण किया तो शेरखां ने उसकी सहायता की। बाबर ने खुश होकर शेरखां को उसकी पैतृक जागीर वापस कर दी और बिहार के नाबालिग सूबेदार जलालखां का उसको संरक्षक बना दिया। कुछदिनों के बाद शेरखां बिहार का मालिक बन बैठा और हिन्दुस्तान में फिर एक बार पठान-राज्य का स्वप्न देखने लगा।

(३) मुगलों पर विजय और दिल्ली का सम्राट

शेरखां ने किस प्रकार हुमायूँ को हराया, इसका वर्णन किया जा चुका है। दिल्ली पर अधिकार करके उसने शेरशाह की उपाधि धारण की। दिल्ली-साम्राज्य को फिर से पठानों के अधीन करने का उसका स्वप्न पूरा हुआ; परन्तु वह मुगलों को पूरी तरह से भारत से बाहर निकाल देना चाहता था। इसलिये पंजाब, सिन्ध और सीमान्त से उसने हुमायूँ और उसके भाइयों को खदेड़ कर बाहर किया। इसके बाद उसने घक्खरों और बलोचियों को दबाया। धीरे-धीरे उसने मालवा, रायसेन, तथा मारवाड़ पर भी अपना अधिकार किया। जोधपुर के मदनदेव से उसका भयानक युद्ध हुआ और वह मरते-मरते बचा। १५४५ ई० में उसने कालिंजर पर आक्रमण किया। वहाँ के राजा कीरतसिंह ने बाहर युद्ध करने में अपने को असमर्थ समझकर किले में शरण ली। एक दिन शेरशाह जब स्वयं किले पर गोलियां बरसा रहा था, बारूद में आग लग जाने से जल कर घायल हो गया। उसी दिन शाम को कालिंजर का किला जीत लिया गया, किन्तु जलने के कारण शेरशाह का
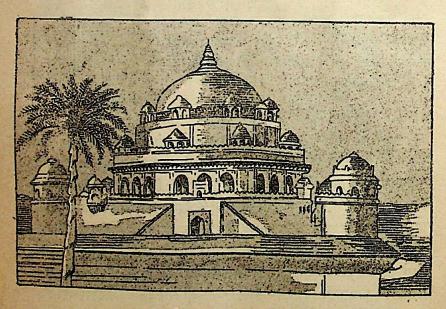
शेरशाह का मकबरा

देहान्त हो गया। उसका शव सहसराम पहुँचाया गया, जो उसी के बनवाये हुये मकबरे में दफनाया गया।

(४) शेरशाह का शासन-प्रबन्ध

भारतीय इतिहास में शेरशाह केवल योग्य सैनिक और सफल विजेता के रूप में ही प्रसिद्ध नहीं है, किन्तु उसकी कीर्ति विशेष कर के उसके अच्छे शासन प्रबन्ध पर अवलम्बित है। अपने छोटे-से शासन-काल में शेरशाह ने शासनप्रबन्ध के प्रत्येक विभाग में सुधार किया। उसके पहले दिल्ली का शासन सैनिक था। शेरशाह ने अपनी प्रतिभा और योग्यता से उसको सभ्य शासन का रूप दिया। इस दिशा में वह अकबर का पथ-प्रदर्शक था।

(क) केन्द्रीय

शेरशाह के समय में भी मुस्लिम शासन एकतांत्रिक था। सिद्धान्त रूप में राज्य का सारा अधिकार उसके हाथ में था और वह निरंकुश था। परन्तु इसमें अच्छी बात यह थी कि शेरशाह शक्तिशाली और समझदार शासक था। उसने अपने राज्य में शान्ति ही नहीं स्थापित की; किन्तु शासन का सुधार और संगठन भी किया। शासन के मामले में वह मौलवियों और उलमाओं की बात न मानकर उदारता की नीति पर तत्पर था। उसका व्यवहार हिन्दू प्रजा के साथ उदार था। अधिकारियों के ऊपर वह कड़ी दृष्टि रखता था। अफगानों का तो वह त्राता ही था।

(ख) प्रान्तीय

शेरशाह ने अपने साम्राज्य का प्रान्तीय बँटवारा एक नये आधार पर किया। वह बड़े-बड़े सूबों के पक्ष में नहीं था, क्योंकि इससे सूबेदारों के राजनैतिक विद्रोहों का डर रहता था। इसलिये उसने पूरे साम्राज्य को ४७ भागों में बाँटा जिनको **सरकार** कहते थे। हरेक सरकार में कई परगने और एक **परगने** में कई गाँव होते थे। एक परगने में नीचे लिखे अधिकारी होते थे—

(१) **शिकदार**—यह सैनिक अधिकारी था। सरकारी आज्ञा का पालन करना और अमीन की सहायता करना इसका काम था। (२) **अमीन**—इसका काम था भूमिकर का निश्चय करना और उसको वसूल कराना। (३) **खजांची** (कोषाध्यक्ष)। (४) **मुंसिफ**—कर सम्बन्धी मुकदमों का यह निर्णय करता था। (५) **कारकुन** (हिन्दी और फारसी के लेखक)। (६) **पटवारी**। (७) **चौधरी**। (८) **मुकद्दम**—सरकार के दो मुख्य अधिकारी **शिकदारे-शिकदारान** और **मुंसिफे-मुंसिफान** थे। मुंसिफे-मुंसिफान का काम प्रजा के आचरण की देख-रेख करना था। खेत

सम्बन्धी झगड़ों का निर्णय और किसानों में कर की वसूली में किसी प्रकार के उत्पात को दबाना और दण्ड देना इन्हीं के हाथ में था। सरकारी कर्मचारियों का तबादला प्रति दूसरे वर्ष हुआ करता था।

(ग) माल-विभाग

माल-विभाग और विशेष कर भूमि-कर का शेरशाह ने बहुत अच्छा प्रबन्ध किया। उसके समय में सारी भूमि नापी गयी। उसका वर्गीकरण किया गया और भूमि के प्रकार और उपज के आधार पर भूमि-कर निश्चित हुआ। उपज का एक-चौथाई भाग सरकार को मिलता था। अनाज अथवा नकद दोनों में कर वसूल होता था। मुकद्दम नाम के सरकारी कर्मचारी कर वसूल करते थे। प्रजा सीधे भी कर चुका सकती थी। कर निश्चित करने में उदारता होती थी, परन्तु इकट्ठा करने में कड़ाई होती थी। अकाल के समय किसानों को सरकार की ओर से तकावी मिलती थी। कृषकों के साथ सरकार की बड़ी सहानुभूति थी।

(घ) न्याय

न्याय-विभाग का भी शेरशाह ने सुधार किया। हिन्दू मुसलमान सबके साथ समान न्याय उसके समय में होता था। उसने सारे राज्य में अदालतों की स्थापना की। फौजदारी मुकद्दमों का **शिकदार** और दीवानी मुकद्दमों का **मुंसिफ** फैसला करते थे। उसके समय में **काजी** और **मीरे-अद्ल** का उल्लेख कम मिलता है। जिससे मालूम होता है। कि न्याय पर धर्मतंत्र का कम प्रभाव था। हिन्दुओं में उत्तराधिकार, दायभाग और बँटवारे आदि का निर्णय उनकी पंचायतें करती थीं। अपराधियों को किसी भी प्रकार की छूट नहीं मिलती थी और बादशाह तक के सम्बन्धी दण्ड से बच नहीं सकते थे। चोरी और डकैती के लिये प्राणदण्ड दिया जाता था। सरकारी अधिकारियों को यह आज्ञा थी, कि यदि उनके हल्के में अपराधों का पता न लग सके तो वे **मुकद्दम** को गिरफ्तार कर लें और चोरी और डकैती से हुई हानि का हर्जाना उनसे वसूल करें।

(ङ) सेना और पुलिस

साम्राज्य का विस्तार, विदेशी आक्रमणों से उसकी रक्षा और आन्तरिक विद्रोहों को दमन करने के लिये उसने एक विशाल सेना का संगठन किया। लोदी-वंश की सैनिक व्यवस्था को तोड़कर अलाउद्दीन की सैनिक पद्धति का शेरशाह ने अनुकरण किया। उसने सेना में **फौजदारी** प्रथा चलाई

राज्य में कई सैनिक छावनियाँ थीं। प्रत्येक छावनी की सेना को फौज और उसके अधिकारी को फौजदार कहते थे। बादशाह की निजी सेना में १ लाख ५० हजार घुड़सवार, २५ हजार पैदल, ५ हजार हाथी और बहुत से बन्दूकची और तोपें थीं। घोड़े पर दाग लगायी जाती थी और सैनिकों के साथ उदारता का व्यवहार होता था। किलों की मोर्चाबन्दी हुई और हथियार बनाने के कारखाने खोले गये। सेना को इस बात की चेतावनी होती थी कि वह किसी प्रकार भी किसानों और व्यापारियों को हानि न पहुँचावे। सेना के साथ-साथ राज्य की आन्तरिक शान्ति और रक्षा के लिये पुलिस का अच्छा प्रबन्ध था। अपराध के लिये स्थानीय अधिकारी शिकदार और मुकद्दम के ऊपर जिम्मेदारी होती थी। उसके समय में प्रजा का जीवन और धन सुरक्षित था। यात्री बिना भय के एक स्थान से दूसरे स्थान को जा सकते थे। प्रजा के आचरण का निरीक्षण होता था। शराब, व्यभिचार आदि पर प्रतिबन्ध लगे हुये थे। अपराधियों का पता लगाने के लिये गुप्तचर नियुक्त थे।

(च) सार्वजनिक हित के काम

शेरशाह के शासन में सार्वजनिक विभाग और दान-विभाग का संगठन भी हुआ था। इमाम और धार्मिक लोगों को सरकार से वृत्तियां मिलती थीं। विद्या और कला को आश्रय और प्रोत्साहन दिया जाता था। बहुत से मदरसे और मसजिदें विद्या के केन्द्र थे, जहाँ पर अध्यापकों और विद्यार्थियों को वृत्तियां दी जाती थीं। गरीबों और अनाथों के लिए मुफ्त भोजनालय बने हुये थे। आने-जाने के मार्गों पर भी ध्यान दिया गया। शेरशाह पहला अफ़गान शासक था, जिसने प्रजा की सुविधा के लिये सड़कें बनवाना शुरू किया। सबसे बड़ी सड़क बंगाल में सुनारगांव से लेकर पेशावर तक बनी। आगरा से भरतपुर, आगरा से बियाना तथा मारवाड़ और लाहौर से मुल्तान तक सड़कें बनाई गयीं। सड़कों के किनारे पेड़ लगाये गये। हरेक कोस पर हिन्दुओं और मुसलमानों के लिये अलग-अलग सरायें बनी हुई थीं। सड़कों के किनारे कस्बे बसाये गये तथा पत्र और समाचारवहन के लिये डाक-विभाग और डाक की चौकियां स्थापित की गयीं। भारतीय इतिहास में भवन-निर्माण-कला पर भी शेरशाह की छाप है। उसके बनवाये हुये भवनों में सबसे प्रसिद्ध उसके द्वारा बनवाया सहसराम का मकबरा है। अपनी विशालता और गाम्भीर्य के लिये शुरू की मुस्लिम इमारतों में यह अद्वितीय है। शेरशाह के प्रत्येक सरकार में एक किला बनवाया, जिनमें छोटा रोहितास का किला उल्लेखनीय है।

(छ) शेरशाह का चरित्र

मध्यकालीन शासकों में शेरशाह का व्यक्तित्व बहुत ऊँचा है। वह योग्य सैनिक, वीर योद्धा, उदार विजेता और बुद्धिमान तथा सफल शासक था। विद्या और कला का वह प्रेमी, स्वभाव से धार्मिक और व्यवहार में उदार था। वह केवल अपने परिश्रम और योग्यता के बल पर एक साधारण व्यक्ति से दिल्ली का सम्राट बन सका था। उसके सामने राजत्व का ऊँचा आदर्श था। प्रजा के कल्याण के लिये वह अथक परिश्रम करता था। उसका शासन न्याय और मानवता पर अवलम्बित था। उसकी धार्मिक नीति मध्यकाल की संकीर्णता से मुक्त थी। हिन्दुओं के साथ उदारता का व्यवहार करता था। इस मामले में वह अकबर का पथ-प्रदर्शक था। किन्तु कई अवसरों पर उसके स्वभाव की कठोरता भी प्रकट होती है। विशेष कर युद्ध और राजनीति में वह अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये कूटनीति, चाल और विश्वासघात से भी बाज नहीं आता था।

२. शेरशाह के वंशज और सूर-वंश का पतन

शेरशाह की मृत्यु के बाद उसकी व्यक्तिगत योग्यता से खड़ा किया हुआ साम्राज्य शीघ्रता से गिरने लगा। उसके बाद सलीमशाह, फिरोजखां, मुहम्मदशाह, इब्राहीमखां, सिकन्दर आदि कई शासक हुये। अफगान सरदारों को अपने वश में रखना उनके लिये असम्भव था। सलीमशाह ने दमन की नीति अपनायी, किन्तु उसको सफलता नहीं मिली। फिरोज खां बहुत ही शीघ्र अपने चचा मुबरेज़खां से मारा गया, जो मुहम्मद शाह के नाम से गद्दी पर बैठा। मुहम्मद शाह व्यसनी और अयोग्य था। सौभाग्य से हेमू बक्काल (हेमचन्द्र) उसको योग्य मंत्री मिल गया था। सिकन्दर सूर के समय में जब कि सूर-वंश बिल्कुल जर्जर हो गया था, १५५४ ई० में हुमायूँ ने हिन्दुस्तान पर आक्रमण कर दिया और सूर-वंश का अन्त करके वह फिर दिल्ली के सिंहासन पर बैठा।

२६ अध्याय

मुगल-साम्राज्य का निर्माण और संगठन

१. मुगलों का पुनरावर्तन

(१) हुमायूँ का पुनः भारत-विजय

हुमायूँ फारस में चुप नहीं बैठा था। उसने फारस के बादशाह से राजनीतिक एक सन्धि की थी और वार फिर वह बादशाह के पद पर बैठना चाहता था। अफगानिस्तान, मध्य-एशिया और हिन्दुस्तान की राजनैतिक अवस्था का वह निरीक्षण करता रहता था। अफगानिस्तान पर अधिकार किये बिना वह हिन्दुतान पर नहीं पहुँच सकता था; इसलिये उसने काबुल के शासक कामरान और गजनी के शासक हिन्दाल पर आक्रमण किया और अफगानिस्तान पर अपना फिर से अधिकार कर लिया। १५ नवम्बर १५४५ ई० को उसने काबुल में प्रवेश किया और हमीदा बेगम और अकबर से मिलकर बहुत प्रसन्न हुआ। अफगानिस्तान पर अधिकार कर हुमायूँ ने भारत में मुगल-साम्राज्य के पुनरुद्धार का रास्ता साफ कर दिया। १५५४ ई० में उसे समाचार मिला कि दिल्ली का पठान सुल्तान सलीम सूर मर गया और पठानों में परस्पर मतभेद शुरू हो गया है। उसने एक बड़ी सेना के साथ पश्चिमोत्तर भारत पर आक्रमण किया। दिल्ली के सुल्तान सिकन्दर सूर ने मुगलों का सामना किया, किन्तु हार गया। उसके फलस्वरूप दिल्ली का साम्राज्य मुगलों के हाथ में आ गया। इसके बाद हुमायूँ को साम्राज्य के विस्तार और संगठन की चिन्ता हुई। किन्तु वह बहुत दिनों तक साम्राज्य का उपभोग कर न सका। एक दिन पुस्तकालय से उतरते समय अजान सुनकर सीढ़ी पर नमाज पढ़ने को ठहरा। लकड़ी फिसल जाने पर नीचे गिरा और मर गया। १७ दिन तक यह घटना छिपाई गई। इसके पीछे अकबर का राज्याभिषेक हुआ।

(२) हुमायूँ का चरित्र

हुमायूँ स्वभाव से दयालु, सज्जन और सहृदय था। इन गुणों की अधिकता के कारण उसको अपने पूरे जीवन में कष्ट उठाना पड़ा। उसने अपने भाइयों के साथ सज्जनता का व्यवहार और अपराध करने पर उनको क्षमा

किया। उसमें शारीरिक शक्ति होते हुये भी आलस्य बहुत था। बाबर के समान उसमें साहस भी नहीं था, इसलिये वह अपने विजयों और अच्छे अवसरों से लाभ नहीं उठा सकता था। उसमें कई एक दुर्गुण भी थे। वह शराब बहुत पीता था और अफीम भी खाता था। बाबर के समान ही उसमें साहित्य और कविता से प्रेम था। उसने विद्या और कला को प्रोत्साहन दिया। जीवन में अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी प्रसन्नता और सज्जनता कभी उससे अलग नहीं हुई।

२. अकबर

(१) बाल्यावस्था और राज्यारोहण

जब हुमायूँ शेरशाह से हारकर हिन्दुस्तान से भागता हुआ सिन्ध में चक्कर काट रहा था, १५४२ ई० में अमरकोट नामक स्थान में अकबर का जन्म हुआ। उसका लड़कपन कठिनाइयों में ही बीता। फिर भी उसमें भावी महत्त्व के लक्षण दिखाई पड़ते थे। इन कठिनाइयों ने अकबर के स्वभाव को दृढ़, साहसी और सहनशील बना दिया था। उसकी शिक्षा-दीक्षा हुमायूँ के बहनोई बैरमखां की देख-रेख में हुई। उसने पढ़ना लिखना नहीं सीखा किन्तु उसकी सैनिक शिक्षा उच्च कोटि की हुई और व्यावहारिक ज्ञान उसने बहुत प्राप्त किया। सरहिन्द की लड़ाई में पठानों का दमन करने के लिये पंजाब में बैरमखां के साथ अकबर गया हुआ था। गुरुदासपुर जिले के कलानौर नामक स्थान में बैरमखां और अकबर का पड़ाव था। यहीं हुमायूँ के मरने का समाचार मिला। इस समय अकबर की अवस्था केवल १३ वर्ष की थी। छावनी के पास के एक छोटे बगीचे में ईंट के चबूतरे पर १४ फरवरी १५५६ ई० में बैरमखां ने अकबर का राज्याभिषेक किया और वह स्वयं ही उसका संरक्षक बना।

अकबर

(२) पानीपत की दूसरी लड़ाई

हुमायूँ के मरने के बाद अफगानों ने एक बार फिर दिल्ली वापस लेने का प्रयत्न किया। सिकन्दर सूर अभी जीवित था और उसका मंत्री हेमू उसके

साथ था। हेमू का पूरा नाम हेमचन्द्र विक्रमादित्य था। वह बहुत ही योग्य और महत्त्वाकांक्षी था। उसने दिल्ली पर आक्रमण किया। मुगल सरदार तारदीखां को हराकर उसने दिल्ली पर अपना अधिकार कर लिया और विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। वह भारतीय इतिहास का अन्तिम विक्रमादित्य था। वैरमखां और अकबर ने दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। मुगल और हेमू की सेनाओं की मुठभेड़ पानीपत के मैदान में हुई। युद्ध में हेमू की आंख में तीर लगा और वह पकड़ा गया। वैरमखां ने अकबर से उसको मार डालने का आग्रह किया। अकबर ने कहा कि वह अन्धे आदमी पर हाथ न उठायेगा। इस पर वैरमखां ने अपनी तलवार निकाल कर एक ही झटके में हेमू का सिर उसके धड़ से अलग कर दिया। विजय-चिह्न के रूप में उसका सिर काबुल भेजा गया और दिल्ली की जनता में आतंक पैदा करने के लिये उसकी धड़ दिल्ली के दरवाजे पर टांग दी गयी। पानीपत की दूसरी लड़ाई भी भारतीय इतिहास में निर्णायक सिद्ध हुई। वास्तव में मुगल-सत्ता का पुनरावर्त्तन इसी घटना के बाद हुआ जब मुगलों का सबसे बड़ा शत्रु हेमू हराया गया। इसके बाद मुगल सेना पानीपत से दिल्ली की ओर चली और मुगलों का दिल्ली और आगरे पर अधिकार हो गया।

(३) अन्य विजय और बैरमखां का अन्त

दिल्ली पर अधिकार करने के बाद वैरमखां ने मेवात, ग्वालियर, जौनपुर और उनके आस-पास के प्रदेशों के हिन्दुओं और पठानों का दमन किया और साम्राज्य के संगठन का भी प्रयास किया। किन्तु इसके साथ ही साथ बैरम-खां की शक्ति बढ़ती जा रही थी और वास्तव में साम्राज्य का सूत्र उसी के हाथ में था। उसको अधिकार का मद हो गया और वह अशिष्टता और पक्षपात का व्यवहार करने लगा। यह बात अकबर और उसके परिवारवालों को सहन नहीं हो सकती था। हमीदा बेगम, माहम अंका और आदमखां आदि ने वैरमखां के विरुद्ध षड्यंत्र किया। वैरमखां ने स्थिति जानकर अकबर के सामने आत्मसमर्पण किया। अकबर ने उसको मक्का की यात्रा करने की आज्ञा दी। रास्ते में वैरमखां ने विद्रोह किया किन्तु वह फिर हराया गया। इसके बाद जब वह मक्का की ओर जा रहा था तो एक पठान ने उसका बध कर दिया। वैरमखां के बाद अबकर के ऊपर कुछ समय के लिये उसके परिवार की स्त्रियों का प्रभाव बहुत बढ़ गया और इससे राजधानी में षड्यंत्र और अव्यवस्था फैल गयी। परन्तु अकबर ने अपनी कमजोरी को शीघ्र समझ लिया और दृढ़ता से राज्य का सूत्र अपने हाथ में कर लिया।

(४) विजय और साम्राज्य-निर्माण

लड़कपन से ही अकबर के मस्तिष्क में सामाम्राज्यवादी विचारों का अंकुर और सम्पूर्ण भारत के सम्राट बनने की इच्छा वर्त्तमान थी। इसलिये दिल्ली की प्रारंभिक कठिनाइयों से निश्चिन्त होकर उसने उत्तर भारत और दक्षिण के उन प्रदेशों के जीतने की योजना बनायी, जो अभी तक मुगल-साम्राज्य में शामिल नहीं थे।

पहले उसकी दृष्टि **गोंडवाना** के एक छोटे और दुर्बल राज्य पर गयी। वहां का राजा **वीरनारायण** अभी बालक था और उसकी माता रानी **दुर्गावती** उसकी संरक्षिका थी। रानी दुर्गावती ने बड़ी वीरता के साथ अकबर का मुकाबला किया; किन्तु साधन कम होने के कारण मुगल सेना से हार गयी और अन्त में अपनी सहेलियों के साथ अग्नि में जलकर जौहर कर लिया। इसके बाद अकबर ने **जौनपुर** और **मालवा** में राजनीतिक उपद्रवों को शान्त किया और **पंजाब** पर मिर्जा हाकिम के आक्रमण को रोका।

दिल्ली से थोड़ी दूर पर **राजस्थान** में कई एक हिन्दू राज्य बचे हुये थे। इनको अपने अधिकार में किये बिना अकबर का साम्राज्य नहीं बन सकता था। अकबर के सामने यही एक समस्या थी। वह इस बात को समझता था, कि केवल दमन की नीति से राजपूतों को अपने वश में नहीं कर सकेगा, इसलिये उसने साम, दान, भेद और दण्ड सभी नीतियों का प्रयोग किया। दिल्ली के पठान सुल्तानों की अपेक्षा उसने अधिक उदारता और समझदारी से काम लिया। उसका पहला आक्रमण **आमेर** (जयपुर) के कछवाहा राजा **भारमल** पर १५६२ ई० में हुआ। राजा ने आत्मसमर्पण किया। उसने अपनी राज्यभक्ति दिखायी और अकबर की सेवा करना स्वीकार किया। आमेर के साथ मुगलों की सन्धि दृढ़ करने के लिये अकबर ने भारमल की लड़की से विवाह किया और उसके लड़के **भगवानदास** और पोते **मानसिंह** को ऊँचे पदों पर नियुक्त किया।

(५) मेवाड़ से युद्ध

राजस्थान पर अकबर का दूसरा आक्रमकण **मेवाड़** के राणा **उदयसिंह** के विरुद्ध १५६७ ई० में हुआ। राणा की नीति और सिद्धान्त आमेर के राजा भारमल से भिन्न थे। वह लोभ और भय से प्रभावित नहीं हो सकते थे। स्वतंत्रता और आत्मसम्मान की रक्षा के लिये चित्तौड़ के राणाओं ने कष्ट सहन के मार्ग को अपनाया। मेवाड़ के साथ भी अकबर ने पहले भेद नीति से

काम लिया और उदयसिंह के छोटे लड़के शक्तिसिंह को अपनी ओर मिला लिया। इसके बाद चित्तौड़ पर आक्रमण शुरू हुआ। उदयसिंह राणा सांगा के समान दृढ़ और साहसी नहीं थे, इसीलिये राणा जयमल और पत्ता के ऊपर चितौड़ के संरक्षण को छोड़कर बाहर चले गये। ३० हजार राजपूत सैनिकों के वध के बाद चित्तौड़ के ऊपर अकबर का कुछ समय के लिये अधिकार हो गया। मेवाड़ इस लड़ाई के बाद भी मुगल-साम्राज्य में नहीं मिला। राणा उदयसिंह के पुत्र महाराणा प्रताप बहुत

महाराणा प्रताप

ही स्वाभिमानी और वीर योद्धा थे। उन्होंने कभी भी मुगलों के सामने आत्म-समर्पण नहीं किया। उनके दोहरे शत्रु थे—एक तो मुगल और दूसरे मुगलों से हारे हुए राजपूत। आमेर के मानसिंह को वे भीतर से घृणा की

दृष्टि से देखते थे। एक बार दक्षिण जीतकर मानसिंह जब लौट रहे थे, तो उदयपुर होते हुए दिल्ली वापस आये। राणा प्रताप ने उनके स्वागत का प्रबन्ध कर दिया किन्तु स्वयं उनके साथ भोजन करने से इनकार किया। इसको मानसिंह ने अपना अपमान समझा और अकबर को मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिये भड़काया। इसबार अकबर ने राजा मानसिंह और आसफखां को मेवाड़ विजय करने के लिये भेजा। **हल्दी घाटी** के मैदान में राजपूत और मुगल सेनाओं की मुठभेड़ हुई। इस युद्ध में बहुत बड़ी संख्या में राजपूत मारे गये। मुगलों का सामरिक विजय हुआ; किन्तु महाराणा प्रताप ने मुगल आधिपत्य न स्वीकार कर अपना संघर्ष जारी रखा और थोड़े ही दिनों के भीतर चित्तौड़, अजमेर और मण्डलगढ़ को छोड़कर सारे मेवाड़ पर अपना अधिकार कर लिया।

मेवाड़ के ऊपर पहले आक्रमण के बाद ही अकबर ने **रणथम्भौर हाड़ा के चौहान** पर चढ़ाई की। रणथम्भौर का किला राजस्थान में बहुत प्रसिद्ध था। पठान सुल्तानों के समय उनकी सेनायें रणथम्भौर से टकराकर कई बार लौट आयी थीं। वहां के राजा **सुरजन हाड़ा** ने मुगलों से घोर युद्ध किया, किन्तु अन्त में अपने किले में घिर गया। भगवानदास और मानसिंह ने सन्धि का प्रस्ताव किया। हाड़ा के पुत्र दूदा और भोज ने सन्धि करके शाही सेवा स्वीकार कर ली। रणथम्भौर के पतन का अन्य राजपूत राज्यों पर बुरा प्रभाव पड़ा। **कालिंजर** के राजा **रामचन्द्र** ने चौहानों की पराजय सुनकर मुगलों के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। इसके बाद **जोधपुर** के राजा **मालदेव** और **बीकानेर** के राजा **कल्याण सिंह** ने भी मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली और अपनी लड़कियां देकर उनसे मैत्री का सम्बन्ध स्थापित किया।

राजस्थान से छुटकारा पाकर १५७३ ई० में अकबर से **गुजरात** पर आक्रमण किया और वहां के सुल्तान **मुजफ्फरशाह** द्वितीय को हराकर उस पर अधिकार कर लिया। इस विजय का प्रभाव मुगल-साम्राज्य की राजनैतिक और आर्थिक स्थिति पर अच्छा पड़ा। व्यापार और कर के रूप में बहुत रुपया मुगल खजाने में आने लगा। १५७५ ई० में अकबर ने **बंगाल** को भी अपने अधिकार में कर लिया। धीरे-धीरे अकबर ने **सिन्ध, बिलोचिस्तान, काश्मीर** और **उड़ीसा** पर भी अपना अधिकार जमाया। इस तरह लगभग सम्पूर्ण उत्तर-भारत पर अकबर का साम्राज्य स्थापित हो गया।

उत्तर-भारत पर विजय करने के अनन्तर अकबर ने दक्षिण पर ध्यान दिया। बहमनी-वंश के पतन पर दक्षिण में पांच प्रान्तीय मुस्लिम राज्यों की स्थापना हुई थी। उनमें से अहमदनगर का राज्य और खानदेश मुगल-साम्राज्य के निकट थे। अकबर ने १६०० ई० में पहले अहमदनगर पर चढ़ाई की। वहां की रानी चाँदबीबी भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध है। उसने अकबर का कड़ा मुकाबला किया, किन्तु हार गयी और अहमद नगर का राज्य मुगल-साम्राज्य के अधीन हो गया। इसी तरह लोभ और दण्ड की नीति से अकबर ने खानदेश को भी अपने अधीन किया। अकबर के समय में मुगल सेना अहमदनगर के दक्षिण में नहीं जा सकी; किन्तु इन विजयों के बाद मुगल-साम्राज्य भारत के बहुत बड़े भाग पर फैल गया।

(५) सीमान्त-नीति

मुगल पश्चिमोत्तर से भारत में आये थे और काबुल को अपना आधार बनाकर उन्होंने भारत को जीता था। इसलिये उनका ध्यान अफगानिस्तान और अपने पूर्वजों के स्थान हिन्दु-कुश के उस पार मध्य-एशिया की तरफ भी लगा रहता था। इसके अतिरिक्त पश्चिमोत्तर की अफगान जातियां मुगलों के लिये बराबर समस्या बनी रहीं। वे बार-बार मुगल सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करती थीं। अफगान सुलतानों के समय में भी ये जातियां शान्त नहीं थीं। इनके प्रति सुलतानों की नीति दमन की नीति थी। अकबर ने एक सफल नीति का उपयोग किया। मुगल और राजपूत दोनों की मिली हुई शक्ति का व्यवहार पश्चिमोत्तर जातियों के खिलाफ उसने किया। राजा मानसिंह काबुल के सूबेदार बनाये गये और उनके नेतृत्व में पश्चिमोत्तर की जातियों पर अधिकार किया गया। अकबर ने काबुल और कन्दहार पर भी अपना आधिपत्य दृढ़ रखा। इसका परिणाम यह हुआ कि उसका साम्राज्य पश्चिमोत्तर के आक्रमणों से सुरक्षित रहा और उसको हिन्दुस्तान के भीतर शासन के संगठन और सुधार के लिए अवसर मिला।

(६) शासन-प्रबन्ध

एक विशाल साम्राज्य का निर्माण अकबर के लिये महत्त्व का काम था, किन्तु उससे भी अधिक महत्त्व का काम साम्राज्य का संगठन और शासन की व्यवस्था थी। संसार के इतिहास में अकबर की कीर्ति बहुत कुछ उसकी शासन-व्यवस्था पर ही अवलम्बित है।

(४) शासन का स्वरूप

अकबर की शासन-व्यवस्था महत्त्वपूर्ण होते हुये भी बिल्कुल मौलिक नहीं थी। दूसरे देशों में मुस्लिम शासन का जो स्वरूप था, उसका प्रभाव अकबर के शासन पर था। ईराक में अब्बासी खलीफा और मिश्र में फातमी खलीफा जिस सिद्धान्त से शासन कर रहे थे, उसके बहुत से तत्त्व अकबर की शासन-प्रणाली में पाये जाते हैं। सिद्धान्त रूप में अकबर का शासन भी धर्मतांत्रिक था। व्यवहार में इसमें परिवर्तन और स्थानीयता आ गयी। हिन्दुओं की शासन-व्यवस्था का भी अकबर के शासन पर प्रभाव था, विशेष कर माल-विभाग के ऊपर। इसलिए अकबर की शासन-पद्धति को "भारतीय पृष्ठभूमि में अरब-फारस की शासन-पद्धति" कह सकते हैं।

(ख) केन्द्रीय

अकबर का शासन एकतान्त्रिक था। यद्यपि सिद्धान्त में वह बिल्कुल निरंकुश था, परन्तु अपने मंत्रिमण्डल से प्रभावित होता था। उसकी तुलना इस मामले में मौर्य सम्राटों से की जा सकती है। अकबर में व्यक्तिगत योग्यता उच्चकोटि की थी, इसलिये वह अपने मंत्रियों का गुरु था, उनका शिष्य नहीं। बादशाह के नीचे सर्वप्रथम अधिकारी वकील होता था। सब कार्यों में बादशाह उससे सलाह लेता था। अकबर का केन्द्रीय शासन कई विभागों में बँटा हुआ था, जिनमें मुख्य थे—(१) अर्थ-विभाग—इसके मुख्य अधिकारी दीवान अथवा वजीर होते थे। (२) सेना—इसका मुख्य अध्यक्ष मीर बख्शी था। (३) शाही-परिवार इसके मुख्य अधिकारी खाने-सामान होता था। (४) न्याय—इसके प्रधान काजी-उल-कुजात होते थे। (५) धर्मदाय और दान—इसके प्रधान अधिकारी सदरे-सुदूर थे। (६) लोक नीति-निरीक्षण—इसके मुख्य अधिकारी मुहतसिब थे। (७) तोपखाना—इसके मुख्य अधिकारी मीर-आतिश दारोगाय तोपखाना थे। (८) गुप्तचर-विभाग और डाक—इसके मुख्य अधिकारी दारोगाय-डाक-चौकी थे। (९) टकसाल—इसके प्रधान अधिकारी दारोगाय टकसाल थे।

(ग) प्रान्तीय

अकबर के पहले प्रान्तीय शासन अच्छी तरह सुसंगठित नहीं था। शेरशाह के समय में साम्राज्य सरकार और परगनों में बँटा हुआ था। हुमायूँ ने जागीरदारी की प्रथा चलाई। अकबर ने इस प्रथा को तोड़कर

अपने साम्राज्य को सूबों में बाँट दिया। उसके साम्राज्य में निम्न-लिखित सूबे थे :

(१) काबुल
(२) लाहौर
(३) मुल्तान
(४) दिल्ली
(५) आगरा
(६) अवध
(७) इलाहाबाद
(८) अजमेर
(९) गुजरात
(१०) मालवा
(११) बिहार
(१२) बंगाल
(१३) खानदेश
(१४) बरार
(१५) अहमदनगर
(१६) उड़ीसा
(१७) काश्मीर
(१८) सिन्ध
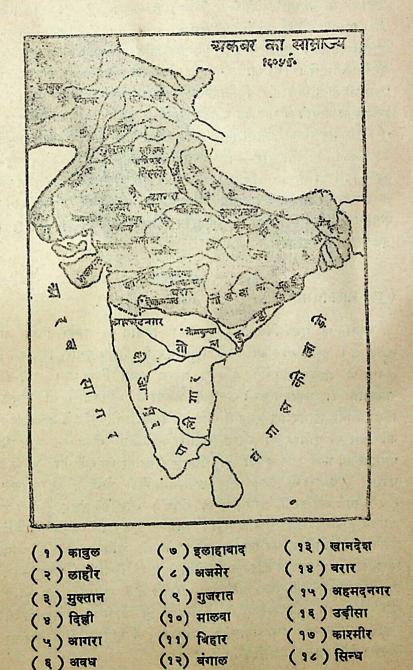
प्रत्येक सूबा—सरकार, परगना और गाँव में बँटा हुआ था। सूबे का मुख्य अधिकारी सूबेदार अथवा सिपहसालार होता था। उसके नीचे निम्नलिखित अधिकारी होते थे: (१) दीवान—इसके हाथ में खजाना था और यह दीवानी के मुकद्दमों का फैसला करता था। (२) सदर—इसका पद धार्मिक था। काजी और मीर अदल आदि न्याय-विभाग के अधिकारी उसके अधीन थे। (३) आमिल—यह माल-विभाग का अध्यक्ष और न्यायाधीश भी होता था। (४) बितिकची—हिसाब-किताब सम्बन्धी कागजात इसके हाथ में होते थे और यह कानून-गो के काम का निरीक्षण करता था। (५) पोतदार अथवा खिजानदार—यह किसानों से पोत या लगान वसूल करता था। (६) फौजदार—यह प्रान्तीय सेनानायक था। (७) कोतवाल—यह पुलिस का प्रधान अधिकारी था। (८) वाके-नवीस—यह प्रान्त की सभी घटनाओं को लिखवाता था और केन्द्रीय सरकार को उसकी सूचना देता था। राजस्व-विभाग के दूसरे मुख्य अधिकारी कानून-गो, कारकुन, मुकद्दम और पटवारी होते थे।

(घ) माल-विभाग

शासन के मुख्य विभागों में पहले माल-विभाग का उल्लेख किया जा सकता है। इसमें भी मुख्य करके भूमि-कर में विशेष सुधार किये गये। अकबर के पहले शेरशाह ने भूमि का प्रबन्ध अच्छा किया था। भूमि की समस्याओं का अध्ययन करने के लिये अकबर ने अधिकारियों को नियुक्त किया, जिनमें टोडरमल मुख्य थे। उन्होंने क्षेत्रफल और भूमि के उपजाऊपन के आधार पर भूमिकर का प्रबन्ध किया। पहले खेती योग्य सभी भूमि की पैमाइश की गयी और उसको [१] पोलज (बराबर खेती के योग्य), [२] परौती (कभी-कभी परती और कभी-कभी खेती योग्य), [३] चाचर (३-४ साल तक परती, फिर खेती के योग्य) और [४] बंजर (खेती के अयोग्य) चार विभागों में बांटा गया। भूमि-कर एक वर्ष के बदले दस साल तक के लिये निश्चित कर दिया गया। राज्य को भूमि-कर का १।३ भाग मिलता था, जो अनाज और नकद दोनों रूप में दिया जा सकता था। किसानों से कर सीधा वसूल होता था। अकाल और सूखे के समय उनको छूट मिलती थी और सरकार से तकावी भी दी जाती थी। किसानों की भलाई का पूरा ध्यान रखा गया और इस सम्बन्ध में अधिकारियों को सरकार की ओर से निश्चित आदेश दिये गये थे।

(ङ) सेना

अकबर के पहले सेना-संगठन का आधार जागीरदारी प्रथा थी। इसका सबसे बड़ा दोष यह था कि जब केन्द्रीय शासन कमजोर पड़ता था, तो जागीरदार अपनी सेना के बल पर स्वतंत्र होने का प्रयत्न करते थे। १५७१ ई० में अकबर ने शाहबाजखां को सेना-सुधार के लिये नियुक्त किया। उसके सुझाओं के अनुसार अकबर ने सेना में कई सुधार किये। अकबर के सैनिक संगठन का आधार मनसबदारी-प्रथा थी। मनसब का अर्थ होता है, पद अथवा दर्जा। इसके अनुसार सेना के अधिकारी सरकार के नौकर होते थे और उनको निश्चित वेतन मिलता था, सेना की भक्ति बादशाह के लिये होती थी, सेना के अधिकारी के प्रति नहीं। सेना में नीचे से ऊपर तक के कई पद बनाये गये और इन पदों के अध्यक्ष २० सिपाहियों से लेकर ५००० सिपाहियों तक के मालिक होते थे। ७००० से १०००० के सिपाहियों के ऊपर विशेष पद होता था। मनसबदारों के अतिरिक्त और भी कई तरह के सैनिक होते थे जिनको दाखिली या अहदी कहते थे। सेना के कई विभाग थे, जिनमें (१) पैदल (२) तोपखाना (३) सवार (४) जहाजी बेड़ा (५) हाथी आदि का उल्लेख किया जा सकता है। सेना की बहुत सी छावनियां बनी हुई थीं जिनमें शान और विनय पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

(७) अकबर की राजपूत-नीति

राजपूतों का भारत की राजनीति में बहुत ऊँचा पद रहा है और विदेशी सत्ता को उनसे बराबर संघर्ष करना पड़ता था। दिल्ली के तुर्क और पठान सुल्तानों ने उनके साथ दण्ड और दमन की नीति का व्यवहार किया। इससे कुछ राजपूत राज्य तो नष्ट हो गये; किन्तु राजस्थान में अब भी बहुत से राजपूत राज्य सुरक्षित थे। उनके ऊपर आधिपत्य किये अथवा उनको मित्र बनाये बिना उत्तर-भारत की कोई भी राजनीतिक शक्ति भारत में विशाल साम्राज्य का निर्माण नहीं कर सकती थी। अकबर चतुर राजनीतिज्ञ था। उसने केवल दण्ड या सेना का ही उपयोग न करके साम, दान, और भेद का भी उपयोग किया और अपने साथ मैत्री का व्यवहार रखनेवाले राजपूतों के साथ उदारता का व्यवहार किया। राजपूतों के साथ सामाजिक मामलों में उनसे बराबरी का व्यवहार और विवाह-सम्बन्ध भी किया। इसका फल यह हुआ कि बहुत से राजपूत राज्यों ने उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया और मुगल-साम्राज्य के विस्तार में उसकी सहायता की। राजपूत राजा

और सरदार मुगल दरबार की शोभा बढ़ाने लगे। अकबर ने राजपूतों का विश्वास किया और शासन में उनको ऊँचा पद भी दिया। अकबर की इस नीति के पीछे व्यक्तिगत उदारता के साथ एक राजनीतिक आवश्यकता भी छिपी थी। हिन्दुस्थान में अकबर के विरोधियों में बहुत से पठान सर्दार, सीमान्त की अफगान जातियां और कुछ उसके अपने निकट सम्बन्धी थे। इन सब के विरोध में अकबर राजपूतों का उपयोग करने में सफल हुआ।

(८) अकबर के सुधार

अकबर ने अपने समय में कई प्रकार के सुधारों को चलाया। इसमें उसका अपना उदार स्वभाव, राजपूतों से उसका सम्बन्ध और उसके उदार मंत्री सभी कारण थे। पहले उसने धार्मिक क्षेत्र में सुधार प्रारम्भ किया। १५६३ ई० में धार्मिक यात्रियों पर से कर उठा दिया, यद्यपि इससे सरकार को करोड़ों रुपयों की हानि हुई। १५६४ ई० में हिन्दुओं पर से जजिया कर उठा दिया गया। विशेष दिनों पर गोवध निषिद्ध कर दिया गया। सामाजिक सुधारों में सती-प्रथा, बाल-विवाह, निकट सम्बन्धियों में विवाह, दहेज, बहु-विवाह और अनमेल विवाह तथा दास-प्रथा का निषेध मुख्य है। शिक्षा-सम्बन्धी सुधारों में अकबर ने संस्कृत भाषा के अध्ययन को प्रोत्साहन दिया। दरबार के प्रथम श्रेणी के २१ विद्वानों में से ९ हिन्दू थे। हिन्दू वैद्यक और शल्य-प्रक्रिया (चीरफाड़) को भी प्रोत्साहन मिला। शासन सम्बन्धी सुधारों में जागीरदारी-प्रथा का भंग, सेना में मनसबदारी-प्रथा का प्रवर्त्तन और सिक्कों का सुधार मुख्य थे।

(९) धार्मिक नीति और दीने-इलाही (ईश्वरीय धर्म)

अकबर सुन्नी परिवार में उत्पन्न हुआ था। उसके धार्मिक विचार के परिवर्तन और विकास में कई बातें कारण हुईं। बाबर और हुमायूँ दोनों ही विपत्ति के मारे ईरान के शिया बादशाह के सम्पर्क और प्रभाव में आ चुके थे। अकबर के ऊपर अपने इन पूर्वजों का प्रभाव था। दूसरे अकबर की प्रजा का बहुत बड़ा भाग हिन्दू था और उसका राजपूतों से सामाजिक सम्बन्ध भी स्थापित हो गया था। इसका प्रभाव भी अकबर के ऊपर पड़ रहा था। १५७५ ई० में शेखमुबारिक और उनके दो पुत्र फैजी और अबुल-फजल ईरान से अकबर के दरबार में आये। ये दोनों ही बड़े विद्वान और धार्मिक मामलों में बहुत उदार थे। इन्होंने अकबर के धार्मिक विचारों को प्रभावित किया। युरोप की ईसाई जातियों से भी अकबर का सम्पर्क हुआ था। संभवतः इसका भी अकबर पर प्रभाव था।

इन सब प्रभावों का परिणाम यह हुआ कि अकबर ने १५७५ ई० में फतेहपुर सीकरी में एक इबादत-खाने (उपासना-भवन) की स्थापना की, जो सभी के लिये खुला था। अकबर सभी धर्मों के तत्त्वों को सुनना चाहता था और सचाई पर पहुँचने की कोशिश करता था। ब्राह्मण, जैन, पारसी, ईसाई, मुसलमान आदि देश में विभिन्न भागों से सत्संग, वाद-विवाद और विचार-विनिमय के लिये आते थे। धर्म के तत्त्वों का विवेचन इबादत-खाने में होता था। कभी-कभी कट्टर मुसलमानों के कारण वाद-विवाद में कटुता भी आ जाती थी।

धीरे-धीरे अकबर ने यह निश्चय किया कि देश में अनेक धार्मिक सम्प्रदाय के बदले एक सर्वमान्य धर्म होना चाहिये, जिसको सभी लोग स्वीकार कर सकें। वह एक सार्वभौम धर्म की खोज में था। १५८१ ई० में दीने-इलाही (ईश्वरीय धर्म की स्थापना) हुई। दीन-इलाही में सभी धर्मों की अच्छी बातों, सिद्धान्तों और पूजा-पद्धति का समावेश था। इसमें रहस्यवाद, दर्शन और प्रकृति-पूजा की प्रधानता थी। बुद्धिवाद को भी इसमें ऊँचा स्थान मिला था। सभी धर्मों के प्रति उदारता इसका मुख्य ध्येय था। अकबर के वचन थे—

"मन्दिर में पूजा करे, मसजिद माथा टेक।
गिरजे में बैबिल पढ़े, पार ब्रह्म है एक॥"

इस धर्म में अकबर का स्थान प्रमुख था। वह इस धर्म का प्रवर्तक या पैगम्बर माना जाता था और उसके सिक्कों पर 'अल्लाहो-अकबर' लिखा जाता था। दीन-इलाही की दीक्षा सबके लिये खुली थी, परन्तु अकबर का युग इस प्रकार के धर्म के अनुकूल नहीं था और बहुत कम लोग इसके माननेवाले हुये।

२७ अध्याय

मुगल-साम्राज्य का उत्कर्ष

१. जहाँगीर

(१) बाल्यावस्था और शिक्षा

गुरुवार ३० अगस्त १५६९ ई० में अकबर के राज्य के १३ वें वर्ष में जहाँगीर का जन्म हुआ। शेख सलीम चिश्ती की कृपा से वह पैदा हुआ था। इसलिये इसका नाम सलीम रखा गया। यद्यपि अकबर स्वयं निरक्षर था, फिर भी उसने अपने लड़कों की शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध किया। बैरमखां के लड़के अब्दुर्रहीम खानखाना उसके शिक्षक रखे गये जो अरबी, फारसी, तुर्की, संस्कृत और हिन्दी के विद्वान् और कवि थे। सलीम ने फारसी, तुर्की और हिन्दी सीखी। उसमें कविता का प्रेम भी उत्पन्न हुआ। १५ वर्ष की अवस्था में जहाँगीर की सगाई राजा भगवानदास की लड़की मानबाई से हुई और १३ फरवरी १५८५ ई० में

जहाँगीर

हिन्दू और मुस्लिम दोनों रीतियों से उनका विवाह हुआ। अकबर ने जहाँगीर को शासन की शिक्षा भी दी और उन्नति करते-करते उसको १० हजार की मनसबदारी का पद मिला। सलीम ने अकबर के जीवन-काल में ही राज्य करने के लिये कई बार विद्रोह किया, किन्तु अकबर ने उसको क्षमा कर

दिया। २४ अक्टूबर १६०५ ई० में अकवर के देहान्त के वाद जहांगीर दिल्ली के सिंहासन पर बैठा।

(२) राज्यारोहण और बारह फरमान

गद्दी पर बैठकर जहाँगीर ने नुरुद्दीन मुहम्मद जहाँगीर पादशाह गाजी की उपाधि धारण की। उसने सर्दारों और अमीरों में उपाधियों की वर्षा की, बहुतों को उपहार दिये और करों की माफी की। कहा जाता है कि उसने प्रजा की फरियाद सुनने और न्याय करने के लिये अपने निवास-स्थान पर न्याय की घंटी लटकवा दी। यह कहा नहीं जा सकता कि उसके स्वभाव को जानते हुये कितने लोगों ने उसका उपयोग किया। जहाँगीर ने शासन का प्रवन्ध अच्छा किया, और शासन व्यवस्था के सम्बन्ध में नीचे लिखे फर्मान जारी किये : (१) जकात की माफी, (२) सड़कों पर डाके और चोरों को रोकने का प्रवन्ध, (३) मरे हुये लोगों का स्वतंत्र उत्तराधिकार, (४) मद्य और दूसरे मादक पदार्थों का निषेध, (५) बलात् किसी के घर पर अधिकार करने और अपराध में किसी के नाक-कान काटने का निषेध, (६) गासिबी (किसान के जमीन को छीन लेना) का निषेध। (७) औषधालयों का निर्माण और हकीमों की नियुक्ति, (८) विशेष दिनों में पशुवध का निषेध, (९) रविवार दिन का सम्मान, (१०) मनसब और जागीरदारों की स्वीकृति, (११) धार्मिक भूदान की स्वीकृति और (१२) कैदियों की मुक्ति।

(३) युद्ध और विजय

अकबर ने एक बहुत बड़ा साम्राज्य जहाँगीर के लिये छोड़ा था। इसलिये जहाँगीर जैसे विलासप्रिय बादशाह को नये प्रदेश जीतने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी। उसके समय छोटी-मोटी लड़ाइयाँ हुईं। पंजाब में उसने शाहजादा खुसरो के विद्रोह को शान्त किया और सिक्ख गुरु अर्जुनदेव पर अभियोग लगाकर उनका वध भी। मुगल-सत्ता से सिक्खों का विरोध अब प्रारम्भ हो गया था। अकबर ने चित्तौड़गढ़ को जीत लिया था, किन्तु राणा और मेवाड़ पर विजय प्राप्त न कर सका। जहाँगीर ने शाहजादा खुर्रम को यह काम सौंपा। इस समय महाराणा प्रताप के लड़के अमरसिंह मेवाड़ के शासक थे, जो विलासी और स्वभाव के कमजोर थे। अमरसिंह ने कठिनाइयों से डरकर मुगलों से सन्धि कर ली, इससे जहाँगीर को बड़ी प्रसन्नता हुई। जहाँगीर के समय में अहमदनगर, कांगड़ा, कन्दहार, बिहार और उड़ीसा में विद्रोह हुये जिनको उसने सफलता के साथ दबाया।

(४) नूरजहाँ

जहाँगीर के जीवन में उसकी बेगम नूरजहाँ का बहुत बड़ा स्थान है। नूरजहाँ तेहरान के निवासी मिर्जा गयासबेग की लड़की थी। जब वह ईरान से हिन्दुस्तान आ रहा था, तो कन्दहार में नूरजहाँ पैदा हुई। उसका लड़कपन का नाम मेहरुन्निसा था। बड़ी होने पर उसका विवाह बंगाल के सूबेदार शेर अफगन के साथ हुआ। जहाँगीर की आँखें नूरजहाँ पर पड़ चुकी थीं। उसने षड्यंत्र करके अफगन को मरवा डाला और १६२१ ई० में मेहरुन्निसा से विवाह किया और उसको नूरमहल और नूरजहाँ की उपाधि दी। इस घटना ने जहाँगीर के जीवन और शासन को बहुत प्रभावित किया।

नूरजहाँ

नूरजहाँ का पिता एतमादुद्दौला और भाई आसफखां बड़े पदों पर रखे गये। नूरजहाँ बादशाह के साथ झरोखे में से दर्शन देती थी। शाही आज्ञापत्रों पर उसके हस्ताक्षर होते थे और उसकी मुहर लगती थी। सिक्कों पर भी नूरजहां का नाम लिखा जाता था। वास्तव में इस घटना के बाद राज्य का पूरा अधिकार नूरजहाँ और उसके सम्बन्धियों के हाथ में चला गया और जहाँगीर केवल मदिरा, मांस और दूसरे भोग-विलासों में डूबा रहता था। इस कारण से नूरजहाँ और शाहजादा खुर्रम से संघर्ष हुआ और राज्य में कई पेची-दिगियाँ पैदा हो गयीं। १६२७ ई० में राजौरी में जहाँगीर की मृत्यु हुई और वह लाहौर के शालीमार उपवन में दफनाया गया।

२. शाहजहाँ

(१) प्रारम्भिक जीवन

शाहजहाँ का जन्म ५ जनवरी १९६२ ई० में लाहौर में हुआ था। उसकी माँ राजपूत राजकुमारी जगतगुसाईं अथवा जोधाबाई थी। उसका लड़कपन का नाम खुर्रम था। उसका लालन-पालन अकबर की निस्संतान बेगम रुकिया बेगम की देख-रेख में हुआ था। साहित्यिक ज्ञान की

अपेक्षा व्यावहारिक और सैनिक शिक्षा में उसकी अधिक रुचि थी। उसकी कई बेगमें थीं, जिनमें अर्जुमन्द बानू बेगम (मुमताजमहल) प्रसिद्ध थी। वास्तव में जहाँगीर के समय में भी सैनिक विजयों में खुर्रम का

मुमताजमहल शाहजहाँ

ही हाथ था। खुर्रम ने सेना-संचालन और शासन का काफी अनुभव प्राप्त कर लिया था।

(२) युद्ध और विजय

१६२७ में जहाँगीर की मृत्यु के बाद खुर्रम आगरा में मुगल गद्दी पर बैठा और उसने शाहजहाँ की उपाधि धारण की। उसके तीस वर्ष के शासन-काल में साम्राज्य का बड़ा उत्कर्ष हुआ और राज्य में शान्ति, सुव्यवस्था और समृद्धि बनी रही। उत्तर-भारतवर्ष में उसे कोई बड़ा युद्ध नहीं करना पड़ा। बुन्देलखण्ड, मालवा, छोटानागपुर और सीमान्त में छोटे-छोटे उपद्रवों को उसने शान्त किया और पश्चिमी समुद्र के किनारे पुर्त्तगाली डकैती का भी दमन किया। उसको विशेष ध्यान पश्चिमोत्तर सीमा की ओर देना पड़ा। बदख्शाँ और कन्दहार के सम्बन्ध में उसको कई युद्ध करने पड़े। उसके राज्य-काल में मुगल सेना और राज्य का अधिक विस्तार हुआ। उसने अहमदनगर के निजामशाही-वंश का पूरा नाश कर उसको मुगल-राज्य में मिला लिया और बीजापुर के आदिलशाही

वंश और गोलकुण्डा के कुतुवशाही वंश को अपने अधीन किया। मुगल-राज्य के विस्तार में यह एक वहुत लम्बा डग था।

(३) उत्तराधिकार के लिए युद्ध

शाहजहाँ के शासन के अन्तिम काल में उसका जीवन सुखी नहीं था और उसके जीते-जी ही उसके चार शाहजादों—दारा, शुजा, औरंगजेब और मुराद में उत्तराधिकार के लिये लड़ाई प्रारम्भ हो गयी। सच वात तो यह है कि सल्तनत और मुगल-राज्य के समय में उत्तराधिकार का प्रश्न टेढ़ा था और अक्सर षड्यंत्र, विष और सैनिक वल से इसका निवटारा होता था। दारा के रक्त में राजपूत अंश अधिक था और उसको राजपूतों की सहायता प्राप्त थी। वह विद्वान् और उदार भी था। औरंगजेब कट्टर मुसलमान था तथा तुर्क और मुगल उसकी सहायता करते थे। सभी भाइयों में औरंगजेब महत्त्वाकांक्षी, षड्यंत्री और युद्ध तथा शासन में कठोर था। अन्त में सफलता भी उसी को मिली और अपने पिता शाहजहाँ को आगरे के जेल में डालकर वह मुगल गद्दी पर वैठा।

(४) सुखी और समृद्ध शासन

शाहजहाँ का शासन-काल वास्तव में मुगलों के इतिहास का स्वर्ण-युग था। अकवर और जहाँगीर के समय में जो राज्य का विस्तार हुआ था और शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित हुई थी, उसका पूरा फल शाहजहाँ के समय में मिला। शाहजहाँ के राज्य में शान्ति, समृद्धि और प्रजा में सुख था। खफीखाँ नामक लेखक ने लिखा है : "यद्यपि अकवर वहुत वड़ा विजेता और कानून का प्रवर्त्तक था, किन्तु अपने राज्य के शासन और सुव्यवस्था, आर्थिक प्रवन्ध, शासन-संगठन आदि में शाहजहाँ की तुलना भारत का कोई भी शासक नहीं कर सकता।" शाहजहाँ के समय में सवके साथ समान न्याय होता था और प्रजा की सम्पत्ति और जीवन सुरक्षित थे। अच्छे शासन के कारण उसके समय में अपराधों की वहुत कमी थी।

(५) कला और साहित्य

शाहजहाँ ने अपने शासन में कला और साहित्य को वड़ा प्रोत्साहन दिया। राज्य में शान्ति और वादशाह की दिलचस्पी के कारण कला और साहित्य की वड़ी उन्नति हुई। कवि, दार्शनिक, विद्वान्, कलाकार और शिल्पी शाही-दरवार में आश्रय पाते थे। वादशाह का उदाहरण अमीरों और सर्दारों को कला और साहित्य के प्रचार में प्रोत्साहित करता था। शाहजहाँ ने

बहुत धन खर्च करके तख्ते ताऊस नामक सिंहासन बनवाया। उसने अपनी बेगम मुमताजमहल की समाधि पर ९ करोड़ २७ लाख रुपया खर्च करके ताजमहल का निर्माण किया। ताजमहल सचमुच में संगमरमर में एक सजीव स्वप्न है। उसको स्त्री-सुलभ सौन्दर्य की प्रतिमा कहा जा सकता है। शाहजहाँ की बनवाई हुई दूसरी प्रसिद्ध इमारत आगरे की मोती मसजिद है। यह ३० लाख रुपया खर्च करके ७ वर्ष में तैयार हुई थी। आगरा के किले में मुसम्मन बुर्ज भी उसी का बनवाया हुआ है। राजधानी के लिए आगरा उतना उपयुक्त न था, जितनी दिल्ली; इसलिये उसने दिल्ली में शाहजहाँनाबाद और लाल किले का निर्माण कराया। दिल्ली में लाल किला, दीवाने-आम, दीवाने-खास, जामा मसजिद और निजामुद्दीन औलिया का मकबरा शाहजहाँ के बनवाये हुए हैं। अजमेर में भी उसने कई इमारतें बनवाई। साहित्य के क्षेत्र में भी शाहजहाँ ने विद्वानों, लेखकों और कवियों का आदर किया। फारसी और हिन्दी के गद्य-पद्य और काव्य, संगीत, चित्रकला, नृत्य, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद आदि सबकी उन्नति हुई। फारसी के कई ग्रन्थ लिखे गये और संस्कृत के कई ग्रन्थों का अनुवाद हुआ। बादशाह स्वयं हिन्दी बोलता था, हिन्दुस्तानी संगीत का प्रेमी था और हिन्दी कवियों का आदर करता था। उसके दरबार में सुन्दरदास, चिन्तामणि, कवीन्द्र आचार्य आदि प्रसिद्ध कवि रहते थे। इसी प्रकार तानसेन का दामाद लालखाँ, गुणसमुद्र, जगन्नाथ, सुखसेन, सुरसेन, आदि संगीत विशारद भी प्रश्रय पाते थे। संस्कृत के कवियों में पण्डित जगन्नाथ उसके दरबार के प्रसिद्ध कवि और विद्वान् थे।

ताजमहल

(६) स्वभाव

शाहजहाँ के स्वभाव में गुणग्राहकता और उदारता के साथ-साथ धार्मिक कट्टरता भी थी। अकबर और जहाँगीर की उदार धार्मिक-नीति में शाहजहाँ के समय में परिवर्तन शुरू हो गया था और कई अवसरों पर शाहजहाँ ने अपनी धार्मिक अनुदारता का परिचय दिया था।

२८ अध्याय

मुगल-साम्राज्य की पराकाष्ठा और ह्रास

१ औरंगजेब

(१) शासन के स्वरूप में परिवर्त्तन

औरंगजेब किस प्रकार मुगल गद्दी पर बैठा इसकी चर्चा की जा चुकी है। इसके समय में मुगल-साम्राज्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर फिर पतन की ओर ढलने लगा। इसके लिये औरंगजेब का चरित्र और नीति उत्तरदायी थे। अधिकार प्राप्त करके उसने शासन में कई सुधार और परिवर्त्तन किये, जिसका परिणाम साम्राज्य के ऊपर अच्छा नहीं हुआ। सबसे बड़ा परिवर्तन उसने शासन के स्वरूप में किया। सिद्धान्त रूप में तो पहले ही मुगल-शासन धर्मतान्त्रिक था, किन्तु व्यवहार में मुगल शासकों ने आवश्यकता के अनुसार उसको उदार और धर्म-निरपेक्ष बना लिया था। औरंगजेब कट्टर सुन्नी मुसलमान था, इसलिये उसने शासन को फिर कट्टर इस्लामी नियमों से जकड़ा और उसको मुस्लिम और गैर-मुस्लिम भेद पर अवलम्बित किया। मुगल सत्ता के इतिहास में यह एक बहुत बड़ी घटना थी, जिसने भारत में उसके भविष्य को अन्धकारमय बना दिया।

औरंगजेब

(२) विजय और मुगल-राज्य की पराकाष्ठा

औरंगजेब की महत्त्वाकांक्षा मुगल-साम्राज्य को सारे भारत पर फैलाने की थी। अब भी भारत में ऐसे प्रदेश थे, जो मुगल-साम्राज्य के बाहर थे और जिनका जीतना औरंगजेब अपनी शान और साम्राज्य-विस्तार के लिये आवश्यक समझता था। औरंगजेब के युद्धों और विजयों को दो भागों में बाटा जा सकता है—(१) उत्तर भारत के युद्ध और (२) दक्षिण भारत के

युद्ध। उत्तर-भारत में आसाम अभी मुगल-साम्राज्य के बाहर था। औरंगजेब ने मीर जुमला और शायस्ता खां को आसाम पर आक्रमण करने के लिये भेजा। मुगल-सेना को आसाम की सीमा पर थोड़ी-सी सफलता मिली, किन्तु उसे हारकर वापस आना पड़ा। इसके बाद औरंगजेब ने पश्चिमोत्तर सीमा पर ध्यान दिया। यहाँ की अफगान जातियाँ उत्तर-भारत के हरेक साम्राज्य के लिये समस्या थीं। पहले के सुल्तानों और बादशाहों ने उनको प्रायः कबायली इलाकों में स्वतंत्र छोड़ दिया था। औरंगजेब ने उनको पूरी तरह से जीतने का प्रयत्न किया। इसका फल यह हुआ कि मुगल सेना और धन का सत्यानाश हुआ और दक्षिण में मराठे आदि मुगलों की विद्रोही शक्तियाँ बढ़ने लगीं। औरंगजेब ने बीकानेर के रायकरन, चम्पतराय बुन्देला, पालमऊ के चेरो राजा, कुमायूँ के राजा बहादुरजंग और तिब्बत के बौद्ध शासक के विरुद्ध अपनी सेनायें भेजीं और उनका दमन किया। उत्तर-भारत में औरंगजेब की अनुदार और कठोर धार्मिक-नीति के कारण राजनैतिक प्रतिक्रिया और विद्रोह शुरू हुये। जाटों ने मथुरा के आसपास विद्रोह किया। मेवात में सतनामियों का विप्लव शुरू हुआ और पंजाब में सिक्खों का विद्रोह। राजस्थान में मेवाड़ के राजाओं ने अपनी शक्ति का संगठन करके अपनी काफी धाक जमा ली। औरंगजेब अपनी दमनकारी नीति के रहते हुये भी इन शक्तियों को पूरी तरह से दबा नहीं सका।

दक्षिण के ऊपर आक्रमण करने में औरंगजेब के दो मुख्य उद्देश्य थे। पहला, वह मुगलों का साम्राज्य दक्षिण में फैलाना चाहता था। यह आक्रमण का शुद्ध राजनैतिक कारण था; किन्तु उसका दूसरा उद्देश्य धार्मिक था। दक्षिण के मुस्लिम-राज्य धर्म से शिया थे और मराठे हिन्दू। इन गैर-सुन्नी शक्तियों को औरंगजेब सहन नहीं कर सकता था। दक्षिण में औरंगजेब का बहुत अधिक समय और शक्ति लग गयी और मुगल-साम्राज्य के विस्तार के साथ-साथ उसकी समाधि की नींव भी वहीं पड़ी। "जब औरंगजेब दक्षिण की ओर अपने भगोड़े पुत्र अकबर का पीछा करते हुये पहुँचा, तो वास्तव में वह अपने विनाश की ओर जा रहा था। दक्षिण उसका समाधि-स्थान सिद्ध हुआ और जब १७०७ ई० में औरंगाबाद में वह दफनाया गया तो उसकी समाधि के पत्थर के नीचे उसके शरीर के साथ मुगल-साम्राज्य भी दब गया।" औरंगजेब ने पहले बीजापुर के आदिलशाही वंश पर आक्रमण किया। १६८६ ई० में बीजापुर का पतन हुआ। बीजापुर के ९ महलों के

ध्वंस में औरंगजेब ने अपने कट्टरपंथी स्वभाव का परिचय दिया। गोलकुण्डा पर उसका आक्रमण १६८५ ई० में हुआ, उस समय अबुलहसन वहाँ का शासक था। उसके ऊपर औरंगजेब ने यह आक्षेप लगाया, कि उसने ब्राह्मणों को ऊँचे पद पर रखा था, मराठों का साथ दिया था, शत्रु राज्य को सहायता दी थी और इस्लाम के विरुद्ध ऐय्याशी का जीवन बिताया था। वास्तव में यह लड़ाई और गोलकुण्डा को हड़प जाने का एक बहाना मात्र था। दक्षिण में सबसे अधिक संघर्ष मराठों के नेता शिवा जी से करना पड़ा और जब तक वे जीवित थे तब तक औरंगजेब की दाल न गली। उनके मर जाने के बाद औरंगजेब ने महाराष्ट्र पर हस्तक्षेप करना शुरू किया और कुछ समय के लिये मराठों की शक्ति दबती-सी मालूम पड़ने लगी।

(३) औरंगजेब की धार्मिक-नीति

औरंगजेब की धार्मिक नीति का मुगल-साम्राज्य के इतिहास में बहुत बड़ा स्थान है। उसके कारण बहुत-सी प्रतिक्रियायें उत्पन्न हुईं, जिन्होंने मुगल-साम्राज्य के पतन में काफी योग दिया। औरंगजेब कट्टर सुन्नी मुसलमान था और दूसरे धार्मिक सम्प्रदायों को कुफ्र (पाप) समझता था। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण सादगी और कठोरता का था, इसलिये सजावट, शृङ्गार और विलासिता से उसको घृणा थी। उसकी यह धर्म-नीति उसके राजनैतिक कार्मों को भी प्रभावित करती थी। उसने सर्वसाधारण के लिये निम्नलिखित नियम बनाये :—(१) उसके राज्य के सोलहवें वर्ष में संगीत बन्द कर दिया गया। ऐसा कहा जाता है कि दिल्ली के निवासियों ने संगीत का एक जनाजा निकाला और शाही महल के किनारे से उसको ले जा रहे थे। औरंगजेब ने पूछा कि यह किसका जनाजा जा रहा है? व्यंग से उसको उत्तर मिला कि 'संगीत का'। औरंगजेब ने बड़ी गम्भीरता से कहा "उसको इतनी गहराई से दफनाओ कि वह फिर से उठ न सके।" (२) बादशाह का तुलादान बन्द कर दिया गया। (३) हिन्दुओं का नमस्कार बन्द करके सलाम-वालेकुम की प्रथा चलाई गयी। (४) फलित ज्योतिष पर प्रतिबन्ध लगाया गया। (५) मादक द्रव्य, स्त्रियों का रोजे में जाना, वेश्यागमन, शृङ्गार, जुआ, हिन्दुओं के त्योहार, मुहर्रम के जुलूस आदि बन्द कर दिये गये। औरंगजेब की धार्मिक-नीति हिन्दुओं के प्रति बहुत ही कठोर थी। उसने बहुत से मन्दिरों का विध्वंस किया। बनारस में विश्वनाथ का मन्दिर, मथुरा में केशवराय का मन्दिर, सोमनाथ में शिव का मन्दिर और गुजरात में चिन्तामणि का मन्दिर औरंगजेब की आज्ञा

से नष्ट किये गये। उसने बहुत-सी हिन्दू पाठशालाओं को बन्द करा दिया। हिन्दुओं पर मुसलमानों की अपेक्षा अधिक और भारी कर लगाये गये। उनके मेले बन्द कर दिये गये और वे नौकरियों से निकाल दिये गये। औरंगजेब ने एक शुद्धि (तबलीग) विभाग भी खोला। इस्लाम ग्रहण करने पर बहुत-सी सरकारी नौकरियां लोगों को मिलती थीं। सिया मुसलमान और ईसाइयों के साथ भी औरंगजेब की धार्मिक-नीति कठोर थी। जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है, इस अनुदार और कठोर धार्मिक-नीति का दुष्परिणाम यह हुआ कि बहुत-सी शक्तियाँ मुगल-साम्राज्य के विरुद्ध उठ खड़ी हुईं और उसके विनाश में सहायक बनीं।

२. औरंगजेब के वंशज और मुगल-साम्राज्य का पतन

औरंगजेब का देहान्त दक्षिण में औरंगाबाद में हुआ और वह वहीं शेख बुरहानद्दीन के मकबरे के पास दफनाया गया। औरंगजेब के मरने के बाद से ही मुगल-साम्राज्य का विनाश शीघ्रता से शुरू हो गया। औरंगजेब का उदाहरण उसके शाहजादों के सामने था। शाहजादा मुअज्जम (शाह-आलम), आज़म और कामबख्श में उत्तराधिकार के लिये लड़ाई हुई। इसमें मुअज़्ज़म अपने दोनों भाइयों को मारकर सिंहासन पर बैठा और बहादुरशाह की उपाधि धारण की। बहादुरशाह ने औरंगजेब की नीति का अनुकरण करके मराठों की गृहनीति में हस्तक्षेप और पंजाब में गुरु गोविन्द-सिंह से युद्ध किया। उत्तराधिकार के युद्ध में उन्होंने शाहआलम की सहायता की थी और दक्षिण के युद्ध में भी मुगलों का साथ दिया था। वहीं पर एक अफगान के हाथ से वे मारे गये। सरहिन्द के सरदार वजीरखाँ ने गुरु गोविन्दसिंह के मरने के बाद उनके दो नाबालिग बच्चों को जीते जी दीवार में चुनवा दिया। इस पर वीरबन्दा ने मुगल-शक्ति का तीव्र विरोध किया। बहादुरशाह ने सिक्खों को कड़ाई से दबाया, किन्तु बन्दा उनके हाथ न लगा। बहादुर असावधान शासक था और उसे शाह-बेखबर की उपाधि मिली थी। १७१२ ई० में उसका देहान्त हो गया। फिर उत्तरा-धिकार के लिये युद्ध हुआ और जहाँदारशाह अपने दो भाइयों को मारकर गद्दी पर बैठा। उसका शासन-काल मुश्किल से ११ महीने ही चला और उसके बाद फर्रुखसियर दिल्ली का बादशाह बना। वह बहुत ही विलासी और अत्याचारी था। उसके समय सैयद भाइयों—अब्दुल्ला और हुसेन अली-का प्रभाव बहुत बढ़ गया और मुगल शाहजादे उनके हाथ की कठपुतली बन गये। उन्होंने १७१९ ई० में फर्रुखसियर को गद्दी पर से

उतार कर मार डाला। कई छोटे-छोटे कठपुतली बादशाहों के बाद १७१९ ई० में मुहम्मदशाह दिल्ली का बादशाह बना। उसके समय में सैयद भाइयों की

मुगल साम्राज्य औरंगजेब का नकशा

शक्ति का अन्त हुआ किन्तु मुहम्मदशाह मुगल-साम्राज्य का छिन्न-भिन्न होना न रोक सका। १७२४ ई० में आसफशाह ने दक्षिण में स्वतंत्र राज्य की

स्थापना की और वह दक्षिण का निजाम बन बैठा। उसी वर्ष अवध में सआदतखाँ, १७४० में, बंगाल में अलीवर्दीखां और रुहेलखण्ड में रुहेले स्वतंत्र हो गये। मराठों की शक्ति फिर बढ़ गयी और उनकी सेना दिल्ली के पास तक पहुँचने लगी।

३. नादिरशाह का आक्रमण

मुहम्मदशाह के समय में सबसे प्रसिद्ध घटना १७३९ ई० में भारत के ऊपर ईरान के बादशाह नादिरशाह का आक्रमण था। इसकी तुलना तैमूरलंग और बाबर के आक्रमणों से की जा सकती है। जब-जब दिल्ली का साम्राज्य कमजोर पड़ा, तब-तब ऐसे आक्रमण होते रहे। नादिरशाह ने बड़ी आसानी से सीमान्त और पंजाब पर अधिकार कर लिया और दिल्ली के पास तक पहुँच गया। मुहम्मदशाह में साम्राज्य और राजधानी की रक्षा करने की शक्ति न थी। दिल्ली पर धावा करके नादिरशाह ने कत्ले-आम की घोषणा की। इसमें असंख्य नर-नारी मारे गये और शहर लूट कर ध्वस्त कर दिया गया। अन्त में विवश होकर मुहम्मदशाह ने आत्म-समर्पण कर दिया। नादिरशाह को ३५ करोड़ रुपये, अनगिनत रत्न और जवाहिर, प्रसिद्ध तख्ते-ताऊस, १ लाख घोड़े, १० हजार ऊँट और ३०० हाथी सन्धि की शर्तों के अनुसार मिले और सिन्ध के पश्चिम का सारा मुगल-साम्राज्य उसके हाथ लगा। बहुमूल्य रत्नों में कोहे-नूर की कहानी बड़ी करुण है। नादिरशाह और मुहम्मदशाह का मिलन हुआ। शिष्टाचार की परम्परा के अनुसार दोनों बादशाहों की पगड़ियों का परिवर्त्तन आवश्यक था। दिल्ली की लूट के समय मुहम्मदशाह ने कोहे-नूर को अपनी पगड़ी में छिपा रखा था। मिलन के समय उसके चले जाने से मुहम्मद को बड़ा शोक हुआ। नादिरशाह के आक्रमण ने मुगल-साम्राज्य को बड़ा धक्का दिया। इससे मुगलों की सत्ता और धाक दोनों ही धूल में मिल गयीं। दूर-दूर के प्रान्त स्वतंत्र होने लगे और मुगलों के विरुद्ध विद्रोह की आग और भड़क उठी।

(४) मुगल-साम्राज्य के पतन के कारण

मुगल-साम्राज्य के पतन के कई कारण थे। इनमें से कुछ मौलिक और कुछ प्रासंगिक थे। मौलिक कारणों में मुगल-शासन का निरंकुश स्वरूप मुख्य था। ऐसा शासन केवल व्यक्तिगत योग्यता पर चल सकता था। इसके पीछे कोई विधान या जनता का बल नहीं था। इसका ह्रास कुछ पीढ़ियों के बाद अवश्यम्भावी हो गया। दूसरा मौलिक कारण मुगल उत्तराधिकार में स्थिर नियम का अभाव था। सभी शाहजादे गद्दी का

दावा करते थे और आपस में लड़ाई करके साम्राज्य की शक्ति को क्षीण बना देते थे। मुगल सुबेदारों का विद्रोह भी साम्राज्य के पतन का एक प्रधान कारण का। दक्षिण, अवध, बंगाल और रुहेलखण्ड आदि सूबों में सुविधा पाते ही मुगल सुबेदार स्वतंत्र हो गये। मुगल अमीरों और सरदारों में परस्पर दलबन्दियाँ भी पतन का कारण बनीं। उनमें हिन्दुस्तानी, तूरानी, और ईरानी कई दल बन गये थे, जो एक-दूसरे के विरुद्ध और साम्राज्य के खिलाफ षड्यंत्र करते रहते थे। पिछले मुगल सम्राटों, अमीरों, सर्दारों और सैनिकों में आराम-तलबी और विलासिता उत्पन्न हो गयी, जिससे उनका नैतिक और शारीरिक ह्रास हुआ। यहाँ तक कि वे युद्ध में भी अपनी बेगमों और विलास के सामानों को ले जाते थे। इस अवस्था में वे किसी संगठित और कठोर आक्रमण का सामना नहीं कर सकते थे।

तात्कालिक या प्रासंगिक कारणों में औरंगजेब के स्वभाव और धार्मिक-नीति का स्थान मुख्य है। अकबर ने अपनी उदारता और नीतिज्ञता से मुगल-साम्राज्य का निर्माण और संगठन किया था। औरंगजेब ने अपनी अनुदारता और अदूरदर्शिता से उसे छिन्न-भिन्न कर दिया। इसके कारण जबर्दस्त राजनैतिक प्रतिक्रिया हुई। कई राष्ट्रीय शक्तियों का भारत में उदय हुआ जिनमें जाट, सिक्ख, राजपूत और मराठे मुख्य थे। इसके साथ संघर्ष करने में मुगल-शक्ति का बड़ा क्षय हुआ। औरंगजेब की पश्चिमोत्तर-सीमान्त-नीति भी गलत थी। अफगान जातियों को अधीन करने में सरकारी खजाना और सेना दोनों नष्ट हुये। औरंगजेब की दक्षिण-विजय की नीति भी मुगल-साम्राज्यों के लिये अनिष्टकर सिद्ध हुई। वहाँ मुस्लिम राज्यों के नष्ट हो जाने पर मुगलों के कट्टर शत्रु मराठों के उत्कर्ष और विस्तार को अवसर मिल गया। इसी समय एक दूसरा धूमकेतु राजनैतिक क्षितिज पर दिखाई पड़ने लगा। युरोप की जातियों का आगमन मुगल-साम्राज्य के लिये घातक था। औरंगजेब के दुर्बल अधिकारी लड़खड़ाते हुये मुगल साम्राज्य को सम्हालने में असमर्थ थे। भारत के ऊपर विदेशी आक्रमण ने मुगल-साम्राज्य के पतन की प्रक्रिया को पूरा कर दिया। नादिरशाह के हमले ने मुगल-शक्ति को पहले से ही प्रायः धराशायी कर दिया था। इस तरह विशाल और सुव्यवस्थित मुगल-साम्राज्य पतन की ओर बड़ी तीव्रता से जाने लगा।

२९ अध्याय

राष्ट्रीय शक्तियों का उदय और मुगल-साम्राज्य से उनका संघर्ष

तुर्क, अफगान और मुगल-राज्यों के लम्बे शासन के होते हुये भी भारत की राष्ट्रीय शक्तियाँ बिल्कुल निर्मूल नहीं हुई थीं। जब भी उनको अवसर मिलता था, वे उठ खड़ी होतीं, अपनी स्वतंत्रता की घोषणा करतीं और जहाँ तक सम्भव हो सकता, विदेशी राज्य को नष्ट करने का प्रयत्न करती थीं। कभी उनको आंशिक सफलता मिलती और कभी हार; किन्तु वे अपने आदर्श और प्रयत्न का त्याग नहीं करती थीं। दिल्ली सल्तनत के अन्तिम समय में भारत के भिन्न भागों में जिन राष्ट्रीय शक्तियों का उदय हुआ था उनका उल्लेख किया जा चुका है। मुगल साम्राज्य के अन्तिम काल में भी इन शक्तियों का उदय हुआ। अकबर जैसे राजनीतिज्ञ और उदार बादशाह के समय में राष्ट्रीय शक्तियों का विरोध कुछ नर्म और ठंडा पड़ गया था; किन्तु औरंगजेब जैसे अनुदार, हठधर्मी और कठोर दमन की नीति बरतनेवाले शासकों के समय में राष्ट्रीय विरोध अधिक भड़क उठा था। विदेशी सत्ता से स्वतंत्र होने की भावना और औरंगजेब की धार्मिकनीति की प्रतिक्रिया में उत्तर और दक्षिण भारत में कट्टर राष्ट्रीय शक्तियों का उदय हुआ। उनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

१. जाटों का उदय

दिल्ली और आगरे के पड़ोस में जाट और मेवाती दोनों ही दिल्ली सल्तनत और मुगल-राज्य को तंग करते रहे। जाट निर्भीक और स्वतंत्रता प्रेमी थे। अतः बार-बार पराजित होने पर भी बिना किसी राज्य और संगठित सेना के सामूहिक रूप से उठकर विदेशी सत्ता का विरोध करते थे। मथुरा के आस-पास जाटों ने कई बार विद्रोह किया। उन्होंने एकाध बार बादशाह को मार डालने का भी आयोजन किया, यद्यपि उनको सफलता नहीं मिली। ऊधव वैरागी के एक शिष्य ने १६६९ ई० में काजी अब्दुल मकरान को मार डाला। मथुरा और उसके आसपास के प्रदेशों में औरंगजेब द्वारा हिन्दू मन्दिरों का विध्वंस होने पर जाटों में विद्रोह की आग भड़क उठी। तिलपत के गोकुला जाट के नेतृत्व में विप्लव शुरू हुआ। उसने मुगल फौजदार

अब्दुल-नबी को मार डाला। इसपर अप्रसन्न होकर औरंगजेब ने मथुरा के विशाल और अत्यन्त सुन्दर केशवराय के मन्दिर को नष्ट किया। किन्तु इस प्रकार के कामों से विद्रोह बढ़ता ही गया और गोकुला के सैनिकों की संख्या २० हजार तक पहुँच गई। औरंगजेब ने एक बहुत बड़ी सेना भेजकर गोकुला को दबाया। किन्तु १६८१ ई० में फिर जाटों ने विद्रोह किया। इस समय उनके नेता राजाराम और चुरामन थे। औरंगजेब की मृत्यु तक जाटों के उपद्रव चलते रहे। बादशाह उनको दबा नहीं सका और उसके मरने के बाद जाटों की शक्ति बढ़ती गयी और आगे चलकर आगरा और दिल्ली पर आक्रमण करके उन्होंने मुगलों से बदला लिया।

२. सतनामियों का विद्रोह

सतनामियों का एक धार्मिक सम्प्रदाय था, जिसका केन्द्र दिल्ली से ७५ मील दक्षिण-पश्चिम नारनौल था। इनके जीवन में साधु और गृहस्थ का विचित्र मिश्रण था। ये भी बड़े स्वतंत्रता-प्रेमी थे और बाहरी हस्तक्षेप को सहन नहीं कर सकते थे। एक बार एक मुगल सिपाही ने सतनामी किसानों से छेड़छाड़ की। इसपर सतनामियों में बड़ा असन्तोष पैदा हुआ और उन्होंने वहाँ के शिकदार के ऊपर आक्रमण किया और उसकी छावनी को लूट लिया। इसके बाद उनको दबाने के लिये नारनौल के फौजदार करतलाबखाँ को भेजा गया; किन्तु वह भी मारा गया और नारनौल पर सतनामयों का अधिकार हो गया। कुछ समय के लिये सतनामियों की धाक नारनौल की आसपास जम गयी और उनकी वीरता से मुगल सेना बहुत भयभीत हो गयी। इसपर औरंगजेब ने स्वयं नारनौल की तरफ प्रस्थान किया और राजा बिशनसिंह, हमीदखाँ और दूसरे सेनापतियों को सतनामियों के खिलाफ भेजा। बड़े भयंकर युद्ध के बाद सतनामी दबाये जा सके।

३. सिक्खों की राजनीतिक शक्ति का विकास

गुरु नानकदेव ने एक भक्तिप्रधान और शान्तिप्रिय धार्मिक सम्प्रदाय की स्थापना पंजाब में की थी और उनका उद्देश्य हिन्दू और मुसलमानों में समझौता और समन्वय करा देना था, किन्तु मुगल बादशाहों की नीति ने गुरु नानक के अनुयायिओं को शस्त्र ग्रहण करने और राजनीतिक संगठन के लिये विवश किया। गुरु नानक के बाद दूसरे गुरु अंगद हुमायूँ के समकालीन थे। उनके समय में कोई विशेष घटना नहीं हुई। पाँचवें गुरु अर्जुनदेव (१५९१-१६०६ ई०) प्रसिद्ध हुये। उन्होंने जहाँगीर के

शाहजादे खुसरू को शरण दी थी, इसलिये जहांगीर ने उससे अप्रसन्न होकर उनका वध करा दिया। इसका फल यह हुआ कि गुरु अर्जुन के पुत्र और उत्तराधिकारी **गुरु हरगोविन्द** ने सैनिक वाना धारण किया। वे कहते थे—"आध्यात्मिक और राजनैनिक शक्ति के रूप में मेरे पास दो तलवारे हैं...गुरु के निवास स्थान में धर्म और सांसारिक भोग दोनों का मिश्रण होगा।" गुरु हरगोविन्द की सेना का मुगलों की शिकारी सेना से झगड़ा हो गया। गुरु के सैनिकों ने शाही सेना को अमृतसर के पास हरा दिया। इसके बाद औरंगजेब ने एक बड़ी सेना भेजी। गुरु को विवश होकर काश्मीर की पहाड़ियों में भागना पड़ा। वहीं १६४५ ई० में उनका देहान्त हो गया। सातवें **गुरु हरराय** (१६४५-१६६१ ई०) थे। दारा इनसे बहुत प्रभावित था और अकसर इनके पास जाता रहता था। इससे अप्रसन्न होकर औरंगजेब ने गुरु हरराय को सफाई देने के लिये बुलाया। गुरु ने स्वयं न जाकर अपने बेटे **रामराय** को औरंगजेब के दरबार में भेजा, जो उसकी चाल में फँस गया। गुरु के मरने पर उनके सबसे छोटे लड़के **तेगबहादुर** गुरु हुये। पहले इन्होंने रामराय के साथ आसाम की लड़ाई में मुगलों की सहायता की थी, किन्तु औरंगजेब की धार्मिक-नीति के कारण यह मुगलों के कट्टर विरोधी हो गये। इन्होंने औरंगजेब के अत्याचारों के विरुद्ध एक बहुत बड़ा संगठन तैयार किया। इनके इस काम से औरंगजेब बड़ा ही क्रुद्ध हुआ और इनको दिल्ली बुला भेजा। गुरु तेगबहादुर इस बात को जानते थे कि औरंगजेब इनके साथ क्या व्यवहार करेगा। इसलिये इन्होंने दिल्ली जाने के पहले अपने पुत्र **गोविन्दसिंह** को गुरु बनाया। गोविन्द सिंह की कमर में गुरु हरगोविन्द की कृपाण बाँधते हुये इन्होंने गोविन्द सिंह को गुरु स्वीकार किया। उन्होंने कहा कि वे मृत्यु के मुख में जा रहे हैं और अपने पुत्र **गोविन्दसिंह** को अपनी मृत्यु का बदला लेने का आदेश किया। गुरु तेगबहादुर के अन्तिम वचनों का गुरुगोविन्दसिंह पर बड़ा प्रभाव पड़ा और अपने जीवन में वे मुगल सत्ता के घोर शत्रु बन गये। गुरु तेगबहादुर दिल्ली के किले में कैद करके रखे गये। वहाँ पर उनपर यह अभियोग लगाया गया कि, उन्होंने हरम की स्त्रियों पर दृष्टिपात किया था और इसपर उनको मृत्युदण्ड दिया गया। मरने के पहले अपनी सफाई में गुरु तेगबहादुर ने कहा—"मैं तुम्हारी बेगमों की तरफ नहीं किन्तु भारत के राजनैतिक आकाश में यूरोपियों की शक्ति को देख रहा था, जो थोड़े दिनों में तुम्हारे साम्राज्य का अन्त कर देगी।" गुरु की भविष्यवाणी सच्ची निकली।

गुरु गोविन्दसिंह (१६७६–१७०८) नानक पन्थ के दसवें और अन्तिम गुरु थे। उनमें अदम्य उत्साह और अद्भुत संगठन की शक्ति थी। "वे गीदड़ों को सिंह और गौरेया को वाज बना सकते थे।" उन्होंने सिक्खों को एक सुसंगठित सैनिक शक्ति के रूप में बदल दिया। उन्होंने अपने सम्प्रदाय में सभी जातियों के लोगों को भरती किया और जाति-प्रथा को भंग करके

गुरु गोविन्द सिंह

उनमें समानता और शूरता की भावना भर दी। वे कहते थे–"मैं मुगलों की सत्ता को नष्ट करने के लिए चारों वर्णों के लोगों को सिंह बना दूँगा।" यद्यपि गुरु गोविन्दसिंह मुगल-साम्राज्य का अन्त न देख सके, किन्तु सिक्खों ने उसके विनाश में बहुत बड़ा भाग लिया। दिल्ली साम्राज्य के केन्द्र पंजाब में उन्होंने एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की।

४. राजस्थान में राजपूत-शक्ति का उदय

यह लिखा जा चुका है, कि चित्तौड़ के पतन के बाद भी मेवाड़ मुगलों की अधीनता में नहीं आया था। जयपुर, जोधपुर, बीकानेर आदि राज्यों ने यद्यपि मुगलों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था फिर भी इनका अस्तित्व नष्ट नहीं हुआ था। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के समय तक पिछले तीन राजपूत राज्यों ने मुगल-साम्राज्य के विस्तार में सहायता की। जयपुर के मिर्जा राजा जयसिंह और जोधपुर के राजा यशवन्तसिंह दोनों ही मुगल-साम्राज्य के स्तम्भों में से थे। परन्तु जब औरंगजेब ने अपनी धार्मिक-नीति और राजनीतिक लोभ के कारण यशवन्त सिंह के वंश का विनाश और मारवाड़ पर अधिकार करना चाहा, तो वहां के राठौर भी मुगलों के शत्रु बन गये। मेवाड़ के राणा राजसिंह और जोधपुर के राजा अजितसिंह के सहायक दुर्गादास राठौर दोनों ने मुगल-साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। यद्यपि बीच-बीच में मुगलसेना ने मेवाड़ और मारवाड़ को दबा रखा, किन्तु अन्त में ये दोनों ही राज्य मुगल-साम्राज्य से स्वतंत्र हो गये और राजस्थान के दूसरे राजपूत राज्यों को स्वतंत्र होने के लिए प्रोत्साहित किया। इसी प्रकार बुन्देलखण्ड में वीर बुन्देला और छत्रसाल भी भारत की राष्ट्रीय शक्ति के प्रतीक थे। इनका सम्बन्ध मेवाड़, मारवाड़ और बूँदी के हाड़ा राजाओं से तथा दक्षिण के मराठों से था। इन शक्तियों के मिले हुये संगठन ने मुगलों के विरुद्ध विप्लव की एक कड़ी श्रृंखला तैयार कर ली थी।

५. मराठा शक्ति का उदय

इस युग में जितनी राष्ट्रीय शक्तियों का उदय हुआ उनमें मराठा शक्ति सबसे अधिक संगठित, शक्तिमान और व्यापक थी। मुगल सत्ता की प्रतिक्रिया के सिवाय मराठा शक्ति के उदय के कई कारण वर्त्तमान थे। एक तो महाराष्ट्र की भौगोलिक स्थिति राष्ट्रीय शक्ति के उदय के लिये अनुकूल थी, जहाँ की नीची-ऊँची पहाड़ी भूमि और उसकी उपज की कमी मनुष्य को जीवन-संघर्ष के लिये सहनशील बना देती है। बाहरी आक्रमणकारियों के लिये ऐसी भूमि का जीतना भी कठिन होता है। राजनीतिक विपत्तियों के समय मराठा सैनिक अपने पहाड़ी किलों में बड़ी आसानी से शरण ले सकते थे और उनसे निकल कर विदेशी सेना पर आक्रमण कर सकते थे। महाराष्ट्र की पहाड़ियां और जंगल लुक-छिपकर युद्ध करते के लिये बहुत ही अनुकूल हैं। हलके और तेज मराठे सैनिक छिप-छिपकर मुगल सेना पर छापा मारने में बहुत सफल हुये। महाराष्ट्र के राजनीतिक उत्थान के पहले वहाँ धार्मिक

सुधारों ने इसके लिये क्षेत्र तैयार कर दिया था। तुकाराम, एकनाथ, वामन पण्डित, समर्थ गुरु रामदास आदि ने अपने उपदेशों और कामों से वहां की जनता में बड़ी स्फूर्ति भर दी थी, जिससे वह अपने धर्म और देश की रक्षा के लिये बलिदान करने को तैयार थी। समर्थ गुरु रामदास महाराज शिवाजी के गुरु थे और तत्कालीन जागृति में उनका बड़ा भारी हाथ था। उस समय के साहित्य का प्रभाव भी मराठों के ऊपर काफी पड़ा। समर्थ गुरु रामदास का 'दास-बोध' नामक ग्रन्थ गुलाम जाति में नयी चेतना और उत्साह भरने में अनुपम था। मराठों ने अपनी पराधीनता के सम्बन्ध में भी दक्षिण के मुसलमानी राज्यों में नौकरियां करके शासन और सेना-संचालन का काफी अनुभव प्राप्त कर लिया था। इसलिये वे राजनीतिक परिवर्त्तन के लिये पहले ही से तैयार थे। औरंगजेब की धर्म-नीति और दक्षिण-नीति ने भी महाराष्ट्र में राष्ट्रीय शक्ति के विकास में काफी योग दिया। औरंगजेब की अनुदार और अत्याचारी नीति ने हिन्दू जनता में तीव्र प्रतिक्रिया और मुस्लिम-राज्य के लिये घोर घृणा उत्पन्न कर दी। दक्षिण-भारत में प्रान्तीय मुस्लिम राज्यों को नष्ट करके औरंगजेब ने दक्षिण में मुस्लिम-सत्ता की जड़ कमजोर कर दी और मुगल-साम्राज्य वहां दृढ़ न हो सका। इससे मराठों ने काफी लाभ उठाया और अपनी शक्ति का विस्तार किया।

(१) शिवाजी

(क) प्रारम्भिक जीवन

मराठा शक्ति के सबसे बड़े प्रतीक महाराज शिवाजी थे। इनके पिता शाहजी भोंसला बीजापुर के आदिलशाही राज्य में नौकर थे और उनका वहां पर बड़ा प्रभाव था। उनकी माता का नाम जीजा बाई था। शिवाजी का जन्म १० अप्रैल १६२७ ई० में जीजाबाई के गर्भ से हुआ था। शिवाजी अक्सर अपनी माता के साथ रहे। इन्होंने बालककी शिक्षा-दीक्षाका काफी ध्यान रखा। महाभारत और रामायण की कथायें सुनाकर जीजाबाई ने लड़कपन से ही शिवाजी के हृदय में राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा का बीज बो दिया था। शिवाजी के शिक्षक दादोजी कोणदेव थे। शिवाजी के चरित्र-निर्माणमें इनकाभीबड़ा हाथ था। शिवाजी कभी-कभी अपने पिताके पास

शिवाजी

बीजापुर भी जाया करते थे और बड़े ध्यान से हिन्दुओं के पतन और मुस्लिम, राज्य के अत्याचारों और उसके भावी विनाश का निरीक्षण करते थे। वे किशोरावस्था में ही **समर्थ गुरु रामदास जी** के प्रभाव में आये। हिन्दू धर्म की रक्षा और हिन्दू-साम्राज्य की स्थापना का स्वप्न गुरु रामदास ने शिवाजी के हृदय पर अंकित कर दिया।

(ख) सैनिक जीवन और मुस्लिम राज्यों से संघर्ष

शिवाजी का सैनिक जीवन और सैनिक शक्ति का संगठन भी बड़े महत्त्व-का था। महाराष्ट्र के दलित और बिखरे हुए किसानों और चरवाहों को इकट्ठा करके उनमें उत्साह भरकर और उनको सैनिक शिक्षा देकर एक बलशाली सेना का संगठन करना शिवाजी का ही काम था। यह स्वाभाविक ही था कि उनका सबसे पहला संघर्ष बीजापुर राज्य के साथ होता, क्योंकि बीजापुर से स्वतंत्र होकर उन्होंने एक स्वतंत्र मराठा राज्य की घोषणा की थी और आदिलशाही सूबों के कुछ भाग पर अपना अधिकार जमा लिया था। बीजापुर के सुल्तान ने शिवाजी को पकड़ने के लिये **अफ़जलखां** नामक अपने सेनापति को भेजा। अफजलखां शिवाजी को धोखे से पकड़ना चाहता था और शिवाजी इस बात को जानते थे, इसलिये हाथ में बघनखा छिपाकर वे उससे मिलने गये और उसका वहीं पर काम तमाम कर दिया। मराठा सिपाहियों ने अफजलखां की सेना को मार भगाया।

शिवाजी का दूसरा संघर्ष हिन्दुस्तान की सबसे बड़ी मुस्लिम शक्ति मुगलों के साथ हुआ। औरंगजेब ने **शायस्ताखां** को शिवाजी के विरुद्ध भेजा; किन्तु शिवाजी ने शायस्ताखां को भी हराया और उसे विवश होकर लौटना पड़ा। औरंगजेब जबर्दस्त कूटनीतिज्ञ था। उसने राजा जयसिंह और शाहजादा मुअज्जम को बहुत बड़ी सेना के साथ महाराष्ट्र पर आक्रमण करने को भेजा। शिवाजी की सैसिक शक्ति अभी इतनी बड़ी शक्ति का सामना करने के लिये काफी न थी, इसलिये उन्होंने पुरन्दर में जयसिंह की मध्यस्थता से सन्धि कर ली। सन्धि की शर्त्तों के अनुसार मुगल-साम्राज्य का आधिपत्य नाममात्र के लिये शिवाजी ने मान लिया और बीजापुर और गोलकुण्डा के विरुद्ध मुगलों की सहायता करना स्वीकार किया। मिर्जा राजा जयसिंह के परामर्श से शिवाजी ने मुगल दरबार में जाना भी स्वीकार कर लिया किन्तु इसमें उनका उद्देश्य मुगल-साम्राज्य का अपनी आंखों निरीक्षण और उत्तर की हिन्दू शक्तियों से सम्पर्क स्थापित करना था। आगरे में औरंग-जेब ने उनका अपमान करके उनको जेल में डाल दिया, परन्तु शिवाजी

अपनी चतुराई से जेल से निकल गये और मथुरा, काशी, पुरी आदि तीर्थों में होते हुए फिर महाराष्ट्र वापस पहुँच गये और मुगलों से युद्ध करने की तैयारी शुरू कर दी।

(ग) हिन्दू राज्य की स्थापना

१६७४ई०में रायगढ़के किलेमें शिवाजी का राज्याभिषेक हुआ और उन्होंने हिन्दू-साम्राज्य की घोषणा की। मुस्लिम सत्ता से घिरे हुये देश में इस घटना का बहुत बड़ा महत्त्व था। इसके बाद शिवाजी ने दक्षिण के मुस्लिम राज्यों और मुगल प्रान्तों के भागों को अपने राज्य में मिलाकर उसका विस्तार किया।

(घ) शासन-प्रबंध

शिवाजी की विजयों और राज्य-स्थापना के समान उनका शासन-प्रबन्ध भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। उस समय की शासन-प्रणाली के अनुसार राज्य भी एकतांत्रिक था और राज्य का पूरा अधिकार उन्हीं के हाथ में था। परन्तु शिवाजी आदर्शवादी, अत्यन्त परिश्रमी और उत्साही शासक थे। इस लिये निरंकुश होते हुए भी प्रजाकी भलाईके लिये उन्होंने राज्य किया। शासन में सहायता करने के लिये नीचे लिखे आठ प्रधानों का एक मंत्रिमंडल था:— (१) प्रधान अथवा पेशवा—यह राजा का प्रधान मंत्री होता था और राज्य के सामान्य शासन की देखरेख करता था। (२) अमात्य (अर्थ-सचिव), (३) मंत्री (घटनाओं का लेखक), (४) सुमन्त (परराष्ट्र सचिव), (५) सचिव (गृह-सचिव), (६) पण्डितराव (धर्म-सचिव), (७) सेनापति और (८) न्यायाधीश। छठवें और आठवें प्रधानों को छोड़कर शेष को राज्य की सैनिक सेवा भी करनी पड़ती थी। शिवाजीका केन्द्रीय शासन १८ विभागों में वंटा हुआ था।

शिवाजी के प्रांतीय शासन पर हिन्दू प्रभाव के साथ दक्षिण के मुस्लिम राज्यों का प्रभाव भी था। उनका राज्य स्वराज्य, प्रान्त, तरफ, मौजा में बंटा हुआ था। प्रान्त के शासक देशाधिकारी कहलाते थे। उनके नीचे सूबेदार, कारकुन, हवलदार और मुखिया होते थे। शिवाजी ने जागीरदारी-प्रथा को भंग कर दिया, और सरकारी कर्मचारियों का नकद वेतन निश्चित किया। राजकीय अधिकारियों का स्थान परिवर्तन होता था। अर्थ-विभाग भी अच्छी तरह से सुव्यवस्थित था। जागीरदारी के भंग से सरकारी खजाने को बड़ा लाभ हुआ। भूमिकी पैमाइश करायी गयी और उपज का ३० से ४० प्रतिशत तक सरकार को भूमि-कर के रूप में मिलता था। सरकार की ओर से खेती को प्रोत्साहन और कृषकों की रक्षा का प्रबन्ध था। राज्य के बाहर के प्रदेशोंसे चौथ और सरदेशमुखी नामक कर शिवाजी को मिलता था। न्याय-विभाग प्राचीन प्रथा पर अवलम्बित था यद्यपि उस पर भी थोड़ा-बहुत मुस्लिम प्रभाव पड़ा था। स्थानीय मुकदमों का फैसला ग्राम-पंचायतें करती थीं। फौजदारी के मुकदमों का निर्णय पटेल के हाथ में था। ऊपर के न्यायालयों में न्यायाधीश नीचे की अदालतों की अपील सुनते थे। अभियोगों के निर्णय में लिखित कागज-पत्र, अधिकार और साक्षियों के अतिरिक्त अग्नि, जल, विष आदि दैवी साक्ष्य का उपयोग भी किया जाता था। शिवाजी के शासन में दान और शिक्षा-विभाग भी खोले गये थे। देश के सैनिक-वातावरण में शिवाजी ने एक बहुत बड़े सेना-विभाग का निर्माण किया था। उनके अधि-

कार में २८० पर्वत-दुर्ग थे, जिसमें सेना और उसके भरण और शिक्षण का सामान रखा जाता था। उनके पास बहुत बड़ी स्थायी सेना थी, जिसमें १ लाख पैदल, ४० हजार घुड़सवार, १२६० हाथी, और बहुत-सी तोपें तथा बन्दूकें थीं। इस समय तक हिन्दू शक्ति ने भी तोपों और बन्दूकों का उपयोग करना सीख लिया था। शिवा जी के पास एक बहुत बड़ा जहाजी बेड़ा भी था। सेना की कई एक इकाइयां थीं, जिनके ऊपर हवलदार, जुमला, हजारी, पंचहजारी, सरनौबत नामक अधिकारी नियुक्त थे। सेना के लिये कठोर नियम बने हुये थे, जिनका पालन करना अत्यावश्यक था, जैसे—किसानों की रक्षा, स्त्रियों का सम्मान, धार्मिक स्थानों और पुस्तकों का आदर, आदि।

(ङ) चरित्र

शिवाजी का चरित्र और व्यक्तित्व बहुत ऊँचा था। मुसलमान लेखकों ने अपने राजनीतिक स्वार्थ और धार्मिक पक्षपात के कारण उनकी निन्दा की है। किन्तु वे महान् राजनीतिज्ञ और महान् सेनापति थे। उनके जीवन में आदर्श और व्यवहार का बहुत अच्छा संतुलन था। वे परिस्थिति को पहचानते थे, और नीतिज्ञता से काम लेते थे, किन्तु नीचता से नहीं। वे बहुत बड़े राजनीतिक सुधारक और नेता थे। व्यक्तिगत जीवन में उनका ऊँचा नैतिक आदर्श था। उनको ऊँची शिक्षा नहीं मिली थी, किन्तु उनमें प्रतिभा और विवेक काफी मात्रा में थे। वे हिन्दू-धर्म के उद्धारक और उसके बहुत बड़े समर्थक थे, किन्तु धर्मान्ध नहीं थे। उन्होंने अपने युद्धों में विधर्मियों के धर्म-स्थानों, स्त्रियों और पुस्तकों का आदर किया। शिवाजी की गणना मध्य-युग के महान् राष्ट्र-निर्माताओं में की सकती है।

(२) शिवाजी के वंशज

शिवाजी की मृत्यु १६८० ई० में हुई। इसके बाद मराठों के पारस्परिक कलह, नैतिक पतन, शिवाजी जैसे नेता के अभाव और मुगलों से निरंतर युद्ध के कारण मराठों की शक्ति कुछ समय के लिये बिखरने लगी। शिवाजी के पुत्र शम्भाजी विलासी, दुर्बल और अदूरदर्शी थे। औरंगजेब मराठों की शक्ति का विनाश करना चाहता था। उसने शम्भाजी के समय में महाराष्ट्र पर आक्रमण करके उनको कैद कर लिया। शम्भाजी के सौतेले भाई राजाराम कुछ अधिक योग्य थे; किन्तु वे भी बिगड़ती हुई स्थिति को सम्हाल न सके। शम्भाजी का पुत्र साहू भी मुगलों द्वारा कैदी हुआ और दिल्ली दरबार में ७ हजार की मनसबदारी पाकर सन्तुष्ट रहने लगा। किन्तु राजाराम ने मुगलों के विरुद्ध मराठों का

संघर्ष जारी रखा। उनकी मृत्यु से मराठों को बड़ी निराशा हुई। उनकी स्त्री ताराबाई बड़ी योग्य थी। उनके समय में फिर मराठा शक्ति पनपने लगी और औरंगजेब के जीते जी मराठों ने मुस्लिम प्रान्तों से चौथ और सरदेशमुखी कर वसूल किये।

(३) पेशवा-पद का उदय

शिवाजी के वंशजों की दुर्बलता के कारण महाराष्ट्र में पेशवापद का उदय हुआ और राज्य के संचालन में इसका प्रभाव बढ़ गया पेशवा अथवा प्रधान अष्ट-प्रधानों अथवा मंत्रियों में से एक था। साहू के समय से धीरे-धीरे राजा की शक्ति क्षीण होती गयी और पेशवा की शक्ति बढ़ती गयी, जो धीरे-धीरे राज्य का वास्तविक संचालक हो गया। पेशवा का पद भी राजा की तरह से पैतृक बन गया। मुगल-राज्य के पतन के समय पेशवाओं ने फिर मराठा शक्ति का पुनरुत्थान किया। पहला पेशवा बालाजी विश्वनाथ हुये। १७१४—२० तक इन्होंने महाराष्ट्र में शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित की। इन्होंने राज्य का आर्थिक प्रबन्ध भी किया और आसपास के प्रान्तों से चौथ और सरदेशमुखी भी वसूल की। १७२० ई० में मुगल सम्राट मुहम्मदशाह पर दबाव डालकर सारे देश से चौथ और सरदेशमुखी की स्वकृति उससे ले ली। दूसरा पेशवा बाजीराव बालाजी विश्वनाथ से भी अधिक योग्य और महत्वाकांक्षी था। उसने देश के बहुत बड़े भाग से कर वसूल किया और विशाल सेना का संगठन। उत्तर भारत में साम्राज्य-स्थापना का वह स्वप्न देखने लगा। दक्षिण में उसने आसफजाह निज़ाम की शक्ति को रोका, गुजरात, मालवा और बुन्देलखंड पर अधिकार कर लिया और उसकी सेना दिल्ली के पड़ोस तक पहुँचने लगी। तीसरा पेशवा बालाजी १७४०ई० में शासनारूढ़ हुआ। उसने अपनी शक्ति को दृढ़ किया और सतारा में शिवाजी के वंश को छोड़कर १७५० ई० में पूना को अपनी राजधानी बनाई। उसने मराठा-संघ की स्थापना की और स्वयं ही उसका प्रमुख बना। उसके भाई राघोजी ने कटक और उड़ीसा पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया और मराठी सेना बंगाल के ऊपर भी छापा मारने लगी। बालाजी ने पश्चिमोत्तर भारत पर भी ध्यान दिया। १७५८ई० में राघोबा अथवा रघुनाथराव ने लाहौर पर आक्रमण किया और पंजाबपर अपना अधिकार जमा लिया। ऐसा जान पड़ने लगा कि सारे भारत का साम्राज्य मराठों के हाथों आ जायगा। उनका राज्य-विस्तार दक्षिण में कर्नाटक से लेकर उत्तर में पंजाब और पश्चिम में काठियावाड़ से लेकर पूर्व में बंगाल की सीमा तक हो गया।

(४) पानीपत की तीसरी लड़ाई

इस बढ़ती हुई राष्ट्रीय हिन्दू-शक्ति से मुस्लिम जगत को बड़ा आतंक हुआ। दिल्ली का मुगल बादशाह बिलकुल ही शक्तिहीन और बारी-बारी से मराठों, रुहेलों और अवध के नवाबों के हाथ की कठपुतली बन गया था। इस समय अफगानिस्तान के बादशाह अहमदशाह अब्दाली ने भारत पर आक्रमण किया। पहले शुजाउद्दौला मराठों से मैत्री की बातचीत करता रहा, परन्तु पीछे अब्दाली से मिल गया। एक तरफ पेशवा, मराठे सामंत और भरतपुर का जाट राजा सूरजमल थे और दूसरी तरफ अहमदशाह अब्दाली, शुजाउद्दौला और रुहेले थे। १७६०-६१ ई० में दोनों तरफ की सेनायें पानीपत के मैदान में इकट्ठी हुईं। यह पानीपत की तीसरी लड़ाई थी और पहली दो लड़ाइयों की तरह यह भी निर्णायक सिद्ध हुई। मराठे उत्तर भारत की मैदानी लड़ाई के अभ्यस्त न थे। दूसरे उनकी सेना और रसद के आधार दक्षिण में थे, जहां से सहायता पहुँचना आसान नहीं था। उन्होंने इसी समय अपनी पुरानी युद्ध-प्रणाली—लुक-छिपकर आक्रमण करना—को छोड़ दिया था और भारी सेना और तोपखाना का उपयोग किया था। इस तरह की लड़ाई में इनको अभी कुशलता प्राप्त नहीं हुई थी। मराठों के सेनापति भाऊ में अभिमान और दुराग्रह भी अधिक था। वह राजपूतों और जाटों को अपने साथ अन्त समय तक रख न सका। बड़े घोर युद्ध के बाद मराठे पानीपत की लड़ाई में हारे और नादिरशाह की तरह लूट-खसोट कर के अहमदशाह अब्दाली वापस चला गया।

पानीपत के युद्ध ने शक्तियों के भाग्य का निर्णय कर दिया। मराठा-संघ टूट गया और फिर उसका बड़े पैमानेपर निर्माण नहीं हो सका। उसके स्थान में पाँच छोटे-छोटे मराठा राज्यों की स्थापना हुई—ग्वालियर में सिंधिया, इन्दौर में होलकर, बड़ौदा में गायकवाड़, नागपुर में भोंसले और पूना में पेशवा। फिर भी मराठों की शक्ति नष्ट नहीं हुई। उन्होंने आगे चलकर अपनी शक्ति का संगठन और अंग्रेजों का विरोध किया। पानीपत की लड़ाई के बाद मुगल-शक्ति का बिलकुल अन्त हो गया, यद्यपि दिल्ली का बादशाह नाममात्र के लिये बचा रहा, जो आगे चलकर अंग्रेजों के हाथ में पड़ गया। हिन्दुओं की शक्ति एक बार फिर विदेशी शक्तियों के संगठन से टकराकर बिखर गयी और उसे अपने पुनरुद्धार की प्रतीक्षा में फिर से बैठना पड़ा।

३० अध्याय

उत्तर मध्यकालीन सभ्यता और संस्कृति

१५२६ ई० में बाबर के आक्रमण के बाद लगभग दो सौ वर्ष तक भारत के ऊपर कोई बाहरी हमला नहीं हुआ था। यह सच है कि अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिये मुगल बादशाहों को देश के भीतर कई लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं और उनकी प्रतिक्रिया भी हुई। परन्तु अकबर के समय तक भारत के बहुत बड़े भाग पर उनका अधिकार हो गया। साम्राज्य की स्थापना के बाद शासन का अच्छा संगठन भी हुआ। इससे देश में शान्ति और सुव्यवस्था कायम हुई। काफी लम्बे समय तक विभिन्न राजनीतिक, सामाजिक, जातीय, धार्मिक, आर्थिक वर्गों में परस्पर संपर्क, समझौता और आदान-प्रदान की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। यद्यपि जहाँ आक्रमण और अत्याचार हुए, वहाँ संघर्ष और प्रतिक्रिया दिखाई पड़ती है; फिर भी सल्तनत के समय की राजनीतिक स्थिति बदल चुकी थी। देश-विजय और धर्म-परिवर्तन का जोश भी कम हो गया था। हिन्दू-मुस्लिम बहुत दिनों तक एक साथ रह चुके थे। इसलिये एक मिश्र और समन्वित जीवन का निर्माण इस काल में संभव हुआ।

१. राजनीति

दिल्ली के तुर्क और पठान सुल्तानों ने यद्यपि हिन्दुस्तान को अपना घर बना लिया था, परन्तु उनके राज्य की कल्पना में यहाँ की बहुसंख्यक प्रजा—हिन्दुओं का—कोई स्थान न था। उनका राज्य तो धर्मतांत्रिक था ही, उनके शासन में भी सेना और दूसरी नौकरियों में हिन्दुओं को जगह नहीं मिलती थी। इसके कारण थे राजनीतिक अविश्वास और धार्मिक द्वेष। जब मुगलों का आक्रमण हुआ तब पहले-पहल तुर्कों और पठानों ने हिन्दुओं की मित्रता और सहायता की आवश्यकता का अनुभव किया और उनके साथ संघ बनाकर बाबर का विरोध किया। शेरशाह ने इस अनुभव से लाभ उठाया। और अपने शासन में हिन्दुओं को अधिक स्थान दिया और उनके साथ उदारता का व्यवहार किया। पश्चिमोत्तर भारत, अफगानिस्तान तथा मध्य-एशिया की जातियों से लड़ने और दक्षिण में राज्य-विस्तार के सिलसिले में मुसलमानों

ने अपने राज्य, शासन और विजयों में हिन्दुओं के महत्त्व को समझा और बुद्धिमानी से काम लिया। सिद्धान्त रूप में मुगलों के समय में भी राज्य धर्मतांत्रिक था। परन्तु व्यवहार में वह, किसी अंश में, भौगोलिक राष्ट्र का रूप ग्रहण कर रहा था। अकबर ने जजिया (धर्म-कर) को हटाकर मुसलमान और हिन्दू के भेद को बहुत कम कर दिया और अपने 'इबादत खाने' और 'दीन इलाही' से सब धर्मों की बराबरी को स्वीकार किया। इसके साथ ही अपने शासन और नौकरियों में धर्म, जाति और सम्प्रदाय का भेद किये बिना केवल योग्यता के आधार पर सब को नियुक्त किया। यद्यपि शुद्ध राष्ट्रीयता अकबर के समय में संभव न थी, फिर भी राज्य के अंशतः राष्ट्रीकरण का श्रेय उसको दिया जा सकता है। इस प्रक्रिया को औरंगजेब की धार्मिक नीति से धक्का लगा; किन्तु उसके समय में भी मुगल-सेना और सूबों में हिन्दुओं को ऊँचा स्थान प्राप्त था। औरंगजेब के बाद भी मुस्लिम और मराठे (हिन्दू) राज्यों में धार्मिक मामलों और राजकीय नौकरियों में उदारता आती गयी और धर्म के स्थान में देश और राजभक्ति का महत्त्व बढ़ता गया। अंग्रेजों के आगमन ने फिर इस प्रवृत्ति को धक्का दिया और राजनीतिक मामलों में कभी-कभी हिन्दू-मुसलमान का भेद भड़क उठता था। पानीपत की तीसरी लड़ाई में इस भेद ने उग्र रूप धारण किया और राष्ट्र के टुकड़े फिर छिन्न-भिन्न हो गये।

राज्य का स्वरूप इस समय भी एकतांत्रिक और निरंकुश था। प्रजा की इसमें कोई आवाज न थी। बादशाह के वजीर (मंत्री) होते थे, किन्तु मंत्रि-मण्डल का कोई वैधानिक रूप नहीं होता था; अपनी इच्छा के अनुसार बादशाह उनसे राय लेता और उनकी बात मानता अथवा नहीं मानता। जागीरदारी प्रथा तोड़कर मुगलों ने सामन्तशाही का अन्त कर दिया। इससे राज्य अधिक केन्द्रित हो गया। मनसबदारी एक प्रकार की सरकारी नौकरी बन गयी; किन्तु मनसबदारी का आधार सेना थी, इसलिये शासन में सैनिक तत्त्व की प्रधानता थी। शायद इसके लिये उस समय की राजनीतिक स्थिति उत्तरदायी थी। प्रत्येक मुगल बादशाह, राजपूत और मराठा राजा प्रजा की भलाई के लिये प्रयत्न करता था। परन्तु राज्य प्रजा के सामाजिक जीवन में अकबर के सुधारों और औरंगजेब के प्रतिबंधों को छोड़कर और स्थानीय रीति-रिवाजों में कोई छेड़-छाड़ नहीं करता था। दूर के प्रान्तों और विशेषकर देहात में राज्य के फरमान पहुँच नहीं पाते थे और प्रजा स्थानीय और जातीय नियमों से शासित होती थी।

२. समाज

देश के बहुसंख्यक हिन्दुओं में समाज की रचना जाति-प्रथा के ऊपर अवलम्बित थी। जाति के मुख्य आधार थे विवाह, भोजन और व्यवसाय। इनके सम्बन्ध में व्यापक और कठोर नियम थे। राजनीतिक हार के कारण हिन्दुओं ने अपनी रक्षा के कड़े सामाजिक नियम बनाये, परन्तु इससे न केवल हिन्दू और मुसलमान के बीच सामाजिक खाई बन गयी, बल्कि हिन्दुओं की विभिन्न जातियों के बीच में भी भेद और वर्जनशीलता बढ़ी। राजपूतों और मुगलों के बीच राजनीतिक विवाह हुए; राजपूतों ने अपनी लकड़ियां दीं, परन्तु उन्होंने मुस्लिम लड़कियों से विवाह न किया। जातियों, वर्णों और पेशों का परिवर्तन प्रायः बन्द-सा हो गया। जो लोग हिन्दुओं में से लोभ, दबाव या स्वेच्छा से इस्लाम धर्म ग्रहण करते थे, वे मुस्लिम राज्य के कानून के अनुसार फिर हिन्दू-धर्म में वापस नहीं जा सकते थे। हिन्दुओं के लिये शुरू में जो विवशता थी, उसको उन्होंने प्रथा के रूप में मान लिया और हिन्दू समाज से निकले हुए व्यक्ति उसमें वापस नहीं जा सकते थे। पूर्व-मध्यकाल और मध्यकाल में जो सामाजिक प्रथायें प्रचलित थीं, वे ही अधिक संकीर्णता और कठोरता के साथ जारी रहीं। अकबर के सामाजिक सुधारों का उनपर बहुत थोड़ा प्रभाव पड़ा। हिन्दुओं ने मुसलमानों को भी एक जाति मान लिया। उनके साथ उठने-बैठने, काम-धंधे, पढ़ने-लिखने, मनो-विनोद, पर्व, मेले आदि में बाहरी सामाजिक सम्बंध वे रखते थे; परन्तु विवाह, शादी, खान-पान का संबंध नहीं। धीरे-धीरे मुसलमानों में भी और सामाजिक कारणों से कई जातियाँ बनने लगीं और उनमें शरीफ और रजील का भेद पैदा हो गया।

सरकारी तौर पर समाज के कई वर्ग थे जिनके जीवन में परस्पर बहुत भेद और अन्तर था। सबसे ऊपर बादशाहों और राजाओं का वर्ग था जिनको विशेष पद और सुविधायें प्राप्त थीं और जो आराम और विलासिता का जीवन बिताते थे। इस वर्ग के नीचे सरदारों, अमीरों और अभिजात लोगों का वर्ग था जो छोटे-छोटे पैमाने पर बादशाह और राजाओं के समान ही रहता था। तीसरा वर्ग मध्यम श्रेणी के लोगों का था जो साधारणतः आराम किन्तु सादगी और किफायतसारी का जीवन बिताता था। किन्तु इस वर्ग के व्यापारी अंग में आराम और विलासिता काफी थी। चौथा और सबसे निचला वर्ग सामान्य लोगों का था, जिसे कठोर जीवन बिताना पड़ता था। इनमें किसान, मजदूर, कारीगर आदि शामिल थे। संभवतः पर्याप्त भोजन

तो उनको मिल जाता था किन्तु आराम का जीवन वे नहीं बिता सकते थे। इस वर्ग को पूरी स्वतंत्रता और सरकारी सुविधा प्राप्त नहीं थी और राज्य की ओर से इनके ऊपर कई प्रकार के दवाव और अत्याचार होते थे।

३. धार्मिक जीवन

इस काल के धार्मिक जीवन में भी कई नयी विचार-धाराओं को बल मिला। मुगलों के आगमन के पहले हिन्दुओं की निर्गुणमार्गी ज्ञानाश्रयी धारा की प्रधानता थी, जिसमें नानक, कबीर आदि प्रधान थे। ये सच्चे ज्ञान और निराकार ईश्वर की उपासना को मुक्ति का साधन मानते थे। परन्तु इस समय सगुणमार्गी भक्तिधारा का प्रचार अधिक हुआ। इसमें दो सम्प्रदाय थे: (१) कृष्णायत और (२) रामायत। चैतन्य, सूरदास आदि कृष्ण के भक्त थे। वे कृष्ण की भक्ति और सगुण उपासना को मोक्ष का साधन बतलाते थे। इस सम्प्रदाय में प्रेम, आवेश, शृंगार, विलासिता आदि घुस आये थे। रामायत सम्प्रदाय के सन्तों में तुलसीदास प्रमुख थे। वे राम के अनन्य उपासक थे। उनकी उपासना-पद्धति सगुण किन्तु सादी और आचारनिष्ठ थी। उनके दार्शनिक विचार रामानुज के समान विशिष्टाद्वैती थे। तुलसीदास स्मार्त (स्मृतियों में विहित धर्म को माननेवाले) थे, इसलिये वे अवैदिक और परम्परा विरोधी धर्मों को अच्छा नहीं समझते थे। अपने ग्रन्थ रामायण के द्वारा उस समय के हिन्दू समाज की उन्होंने रक्षा की।

सूरदास

मुसलमानों में सूफी सम्प्रदाय का उदय पहले हो चुका था, परन्तु इस समय इसको विशेष प्रोत्साहन मिला। यह एक अद्वैतवादी और आनन्दमार्गी पंथ था और हिन्दुओं के वेदान्ती भक्तिमार्गी सम्प्रदाय के बहुत निकट था। कट्टर सुन्नी मुसलमान इसको पसन्द नहीं करते थे, किन्तु ईरान के सम्पर्क और हिन्दुओं के साथ के कारण यह लोकप्रिय हो गया। इस सम्प्रदाय के सन्त, महात्मा ईश्वर को प्रेमाश्रय मानकर भक्ति और उपासना के द्वारा उसमें लीन हो जाने का उपदेश करते थे। सूफियों में भी कई उपसम्प्रदाय थे। उसमें कुछ परम्परागत इस्लामी आचार-विचार को मानते थे; कुछ स्वतंत्र विचार के और परम्परा-विरोधी थे।

अकबर ने धार्मिक जगत् में एक नया प्रयोग किया। अनेक धर्मों और सम्प्रदायों से उत्पन्न भेद और संघर्ष को एक राष्ट्र के निर्माण में वह बाधक समझता था। इसलिये उसने सर्वमान्य दीन-इलाही (ईश्वरीय धर्म) का

तुलसीदास
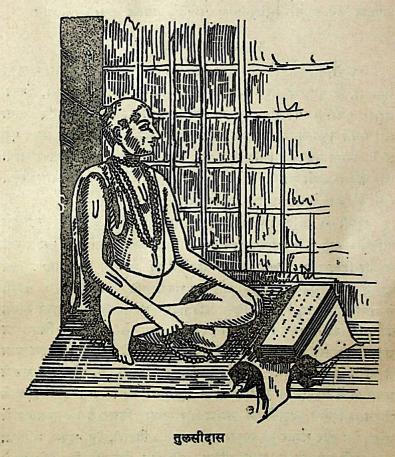
प्रवर्तन किया, जिसमें सभी धर्मों के उत्तम सिद्धान्त, नैतिक विचार और पूजा-पद्धति सम्मिलित थी। किन्तु वातावरण अनुकूल न होने के कारण यह नया धर्म लोकप्रिय न हो सका।

आचार्य, सन्त, महात्मा, औलिया, फकीर आदि सच्चे धर्म, नैतिक आचरण, ज्ञान, भक्ति और उपासना का प्रचार और मनुष्यों में परस्पर प्रेम और सद्भावना का उपदेश करते थे; परन्तु बीच-बीच में कट्टरपंथी मुस्लिम शासकों द्वारा प्रजा पर धार्मिक अत्याचार होते थे और लोगों में परस्पर कटुता बढ़ जाती थी। तीर्थयात्रा, हज, मूर्तिपूजा, कब्रपूजा और कई प्रकार के

कर्मकाण्ड तथा धार्मिक रीति-रवाज प्रचलित थे; बहुत-से अंधविश्वास भी जनता में चालू थे, जैसे—जादू, टोना, तंत्र, मंत्र, कवच, तावीज़, झाड़-फूँक आदि। अकबर जैसा बुद्धिवादी बादशाह भी अपनी विजयों और पुत्र-प्राप्ति के लिये अजमेर में चिश्ती की दरगाह की पैदल यात्रा करता था।

४. भाषा और साहित्य

वैसे तो बारहवीं शती से ही प्रान्तीय भाषाओं का विकास शुरू हो गया था, किन्तु उत्तर-मध्यकालमें उनकी विशेष उन्नति हुई। हिन्दी, बँगला, मराठी, गुजराती और दक्षिण की प्रान्तीय भाषाओं का स्वरूप निखर आया और उनमें बहुत-से ग्रंथ लिखे गये। हिन्दू-मुस्लिम सम्पर्क से इस समय एक नयी भाषाका उदय हुआ जिसको 'उर्दू' कहते हैं। हिन्दी के ऊपर अरबी और फारसी शब्दों का आरोप करके इस भाषा का निर्माण हुआ। मुस्लिम सत्ता के प्रसार के साथ इस भाषा का भी विस्तार हुआ।

हिन्दी को यद्यपि राज्याश्रय कम मिला, किन्तु इसकी सभी स्थानीय बोलियों—अवधी, ब्रजभाषा, राजस्थानी, बुन्देलखण्डी आदि—में स्वतंत्र रूप से और हिन्दू राजाओं के प्रश्रय से उच्च कोटि का साहित्य रचा गया। इस कालमें हिन्दी कवियों में तुलसी और सूर सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए। तुलसी ने रामचरितमानस, विनय पत्रिका, कवितावली, गीतावली आदि उत्तम काव्यों की रचना की। मानस में मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के चरित का चित्रण कर जनता के सामने उन्होंने एक बहुत ऊँचा आदर्श उपस्थित किया। इस ग्रन्थ से भारत के असंख्य नर-नारियों को आज भी प्रेरणा मिलती है। सूर ने ब्रजभाषा में कृष्ण-भक्ति के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सूरसागर' को लिखा। इसमें कृष्ण के जीवन के विविध पहलुओं का सजीव और सुन्दर चित्रण है। सूरसागर में भक्ति, प्रेम और शृंगार का अनुपम समन्वय है। बिहारी, देव, भूषण, मतिराम लाल आदि इस युग के अन्य प्रसिद्ध कवि थे। बिहारी, देव, मतिराम ने विशेष करके शृंगार रस की कवितायें कीं। भूषण और लाल वीर रस के कवि थे। भूषण छत्रशाल बुन्देला और छत्रपति शिवाजी की राजसभा में रहे। अपनी कविता से इन्होंने हिन्दुओं में उत्साह, पराक्रम और आशा का संचार किया। हिन्दी में कई प्रसिद्ध मुसलमान कवि भी हुए जिनमें मलिक मुहम्मद जायसी, अब्दुर्रहीम खानखाना, रसखान, ताज, मिर्जा हुसेन अली आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। मुगल बादशाहोंमें अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ हिन्दी में कविता करते थे और उनके दरबार में बहुत से हिन्दी कवि प्रश्रय पाते थे। दूसरी प्रान्तीय भाषाओं में भी अच्छे ग्रंथों की रचना हुई। बंगाल

के वैष्णव साहित्य में चैतन्य-भागवत, चैतन्य-मंगल, चैतन्य-चरितामृत आदि ग्रन्थ लिखे गये। काशीराम, मुकुन्द राम चक्रवर्ती, धनाराम आदि प्रसिद्ध कवि बंगाल में इसी काल में हुये। उर्दू कविता के केन्द्र दिल्ली, लखनऊ, औरंगाबाद और बीजापुर थे। वली, नुसरत, हाशमी, सेवा, रामराव, शौकी, गव्वासी, चन्द्रभान वरहमन, मीर, सौदा, शोज आदि इस समय के प्रसिद्ध उर्दू कवि थे।

मुगल बादशाहों और उनके सूबेदारों और अधीन राज्यों के द्वारा फारसी भाषा और साहित्यका बड़ा प्रचार हुआ। नर्जारी, उर्फी और फैजी आदि फारसी के अच्छे कवि हुए। शेख मुबारक, अबुल फजल, अब्दुल कादिर बदायूनी ने फारसी में उत्तम ग्रन्थों के सिवाय कुरान और हदीस पर अच्छी टीकायें भी लिखीं। अबुल फजल, फरिश्ता, खफी खां, गुलबदन बेगम, जौहर, निजामुद्दीन अहमद, अब्बास सरवानी, अब्दुल हमीद लाहौरी आदि इस काल के प्रसिद्ध इतिहासकार थे। गुलबदन बेगम, नूरजहाँ, जहाँनारा, जेबु-न्निसा आदि स्त्रियों की कवितायें आज भी आदर पाती हैं। बाबर और जहाँगीर आत्म-चरित लिखने की कला में प्रवीण थे। मुसलमान शासकों के संरक्षण में संस्कृत भाषा के विविध प्रकार के विषयों—साहित्य, दर्शन, आयुर्वेद, गणित, ज्यौतिष आदि—के ग्रंथों का फारसी में अनुवाद कराया गया। शाहजहाँ के दरबार में पण्डितराज जगन्नाथ रहते थे, जिन्होंने रस-गंगाधर, भामिनीविलास, सौन्दर्यलहरी आदि संस्कृत के मौलिक तथा उच्चकोटि के ग्रन्थों की रचना की।

५. कला

(१) वास्तुकला

कलाओं में वास्तु-कला के उत्तर-मध्यकालीन कई एक उदाहरण आज भी वर्तमान हैं, जो इस कला की सुन्दरता और महानता के द्योतक हैं। मुसल-मानों के आगमन के पहले भारतमें राजभवन, दुर्ग और मंदिर-निर्माणकी कई शैलियाँ प्रचलित थीं। क्योंकि पुराने राजभवनों और मंदिरों की साम-ग्रियों से मुसलमानों ने नयी इमारतें बनवायीं और यहाँ के शिल्पियों और कारीगरों ने काम किया, इसलिये मुसलिम वास्तु-कलापर भारतीय प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। कुछ कट्टर सुलतानों ने इस प्रभावसे मुक्त होने का भी प्रयत्न किया, परन्तु उनको सफलता नहीं मिली। गुजरात में मुस्लिम इमारतों पर हिन्दू प्रभाव अधिक था। यह प्रक्रिया जारी रही और इसके सबसे सुन्दर परिणाम मुगलों के शासन-काल में दिखायी पड़े। बाबर को इमारतें बनाने का समय और सुविधा कम थी। फिर भी पानीपत में काबली

बाग की मसजिद, संभल की जामा मसजिद तथा आगरे में लोदी किले के भीतर की मसजिद उसकी यादगार के रूप में आज भी खड़ी है। यद्यपि बाबर को हिन्दुस्तानी चीजें कम पसन्द थीं, फिर भी भारतीय कारीगरों ने उसकी रचनाओं को प्रभावित किया। हुमायूँ के समय की आगरे और फतहाबाद (हिसार जिले) में दो मसजिदें पायी जाती हैं जिनपर ईरानी सजावटका प्रभाव है। अफगान शासक शेरशाह के समय में वास्तु-कला की स्पष्ट उन्नति हुई और साहस के साथ भारतीय शैली और प्रभावों को स्वीकार किया। दिल्ली के पुराने किले के दो दरवाजे और किलाये-कुहन मसजिद कला की दृष्टि से बहुत सुन्दर हैं। परन्तु उसके समय की सबसे सुन्दर कृति सहसराम (बिहार) में एक कृत्रिम झील के मध्य में बनी उसकी समाधि है जो भारतीय मुसलिम-कला का सुन्दर नमूना है। योजना, गंभीरता और श्रृंगार की दृष्टि से इसमें हिन्दू और मुस्लिम तत्वों का सफल मिश्रण है। अकबर के ऊपर मंगोल, तुर्क, ईरानी और भारतीय कई प्रकार के प्रभाव थे, परन्तु उसके ऊपर सबसे गहरा रंग राजस्थानी जीवन और कला का था। मुगल-स्थापत्यकी पृष्ठभूमि आज भी जयपुर और उदयपुरमें देखी जा सकती है। अकबर ऊँची कल्पना और रुचि का व्यक्ति था, अतः उसकी कल्पना और रुचि ही पत्थर और ईंट के रूप में मूर्तिमती हुईं। अकबर के समय की पहली इमारत दिल्ली में हुमायूँ का मकबरा है। इस पर ईरानी प्रभाव होते हुए भी इसकी योजना और बाहर की ओर सफेद संगमरमर का प्रयोग साफ भारतीय है। आगरा, फतहपुर सीकरी, अजमेर, दिल्ली और इलाहाबाद में अकबर के समय की बहुत-सी इमारतें हैं। आगरा के किले में जहाँगीरी महल, फतहपुर सीकरी में जीवबाई का महल, दीवाने खास, जामा मसजिद, शेख सलीम चिश्ती का मकबरा, बुलन्द दरवाजा, पंच महल, मरियम-उज्ज-मानी का महल, इलाहाबाद में चालीस स्तम्भों का महल आदि प्रसिद्ध हैं। अकबर की अंतिम इमारत सिकन्दरा में बनी उसकी समाधि है, जिसको उसने शुरू कराया था, पर जो जहाँगीर के समय पूरी हुई। इसमें पाँच तल्ले एक दूसरे के ऊपर क्रमशः घटते हुए बने हैं। बौद्ध विहार तथा हिन्द-चीन की वास्तु-शैली का स्पष्ट प्रभाव इसपर दिखायी पड़ता है।

जहाँगीर के शासन-काल में अपेक्षाकृत इमारतें कम बनीं, यद्यपि वह और उसकी बेगम नूरजहाँ दोनों ही सौंदर्य के प्रेमी थे। उसने पहले सिकन्दरा में अकबर की समाधि को पूरा कराया। उसके समय की दूसरी प्रसिद्ध इमारत आगरे में एतामादुद्दौला का मकबरा है, जिसका निर्माण उसकी लड़की

नूरजहाँ ने कराया था। यह सफेद संगमरमर का बना हुआ है। इसमें बहुमूल्य पच्चीकारी का काम किया गया है। यह उदयपुर के गोलमण्डल मंदिर के अनुकरण पर बना है। शाहजहाँ बहुत बड़ा निर्माता था। उसके समय में दिल्ली, आगरा, काबुल, काश्मीर, कन्दहार, अजमेर, अहमदाबाद आदि स्थानों में निर्मित बहुत-सी इमारतें अकबर की इमारतों की तुलना नहीं कर सकतीं, परन्तु श्रृंगार और प्रदर्शन में उनसे आगे बढ़ी हुई हैं। दिल्ली किले के भीतर दीवाने-आम और दीवाने-खास इस बात के ज्वलन्त उदाहरण हैं। दीवाने-खास में रजत-मंडित तथा संगमरमर, सोना और बहुमूल्य रत्नों का काम अनुपम है। इसको देखते हुए इसकी छत में अंकित निम्नलिखित उक्ति उचित जान पड़ती है : "अगर फिरदौस बर रूये जमी अस्त, हमीनस्त" (यदि पृथ्वी के धरातल पर कहीं स्वर्ग है तो वह यहीं है यहीं है, यहीं है)। आगरे की मोती मसजिद अपनी सफाई और सौन्दर्य की दृष्टि से स्थापत्य का उत्कृष्ट नमूना है। आगरे की जामा मसजिद भी उसी के समय की बनी एक सुन्दर इमारत है। शाहजहाँ की सबसे सुन्दर कृति ताजमहल है, जिसको उसने अपनी बेगम मुमताजमहल की समाधि के रूप में बनवाया था। योजना, गांभीर्य और सौंदर्य की दृष्टि से यह एक अद्भुत रचना है और इसकी गणना संसार के सात आश्चर्यों में होती है। बाइस वर्ष में तीस करोड़ रुपये खर्च करके यह बनवायी गयी थी। इसकी योजना बनानेवाला शिल्पी कौन था, इस बात को लेकर विद्वानों में मतभेद है। पादरी मैनरीक का मत कि वह इटली का रहनेवाला था असिद्ध हो चुका है। मुसलिम इतिहासकारों के अनुसार वह कुस्तुनस्तुनिया का रहनेवाला उस्ताद ईसा था। वास्तव में ताज का ढाँचा पूरा एशियाई है और उस पर युरोपीय प्रभाव कुछ भी नहीं है। लाहौर के शाहदरा में जहाँगीर की समाधि को भी शाहजहाँ ने ही बनवाया था। उसकी दूसरी अनुपम कृति तख्ते-ताऊस का निर्माण था, जिसको नादिरशाह उठा ले गया और आज उसका कोई निशान बाकी नहीं है। औरंगजेब कट्टर सुन्नी होने के कारण कला की ओर उदासीन था इसलिये उसके समय से वास्तु-कला की अवनति होने लगी। उसकी बनवायी हुई इमारतों में लाहौर की मसजिद और औरंगाबाद में बीबी का रौजा प्रसिद्ध हैं, परन्तु वे पहले की इमारतों का असफल अनुकरण मात्र हैं। इसके बाद मुसलिम वास्तु-कला की प्रतिभा क्षीण होने लगी। मुगल-साम्राज्य के पतन पर लखनऊ और हैदराबाद में इसका अवशेष बना रहा।

हिन्दू राजधानियों और तीर्थस्थानों में भी इस काल में राजप्रासाद, मंदिर, झील, उपवन आदि बनाये जाते रहे। जयपुर, उदयपुर, जोधपुर, बीकानेर,

सोनागढ़ आदि स्थानों में तत्कालीन वास्तु-कला के नमूने पाये जाते हैं। वृन्दावन, इलोरा, अमृतसर, आदि में मंदिर-स्थापत्य के उदाहरण मिलते हैं।

(२) चित्र-कला

भारत में चित्र-कला का विकास बहुत पहले हो चुका था, जिसके नमूने अजन्ता, इलोरा और बाघ की गुफाओं में आज भी वर्तमान हैं। कट्टर इस्लाम के प्रभाव के कारण अरब, तुर्क और अफगान शासकों का चित्रकला को प्रश्रय नहीं मिला, यद्यपि राजस्थान, कांगड़ा, हिमांचल प्रदेश, विजयनगर आदि स्थानों में यह कला जीवित थी। इस्लाम में जीवधारियों का चित्रण करना कुफ्र (पाप) था, क्योंकि उसके अनुसार मनुष्य चित्रण करके ईश्वर की बराबरी करने की धृष्टता करता है। ईरान, तूरान और चीनी सम्पर्क और प्रभाव से मुसलमानों के दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। मुगलों के आने के बाद चित्रकला को राज्याश्रय मिलना शुरू हो गया। शुरू में इस कला पर ईरानी प्रभाव अधिक था, परन्तु धीरे-धीरे भारतीय प्रभाव बढ़ता गया। चित्रकला की मुगल-शैली वास्तव में भारतीय और राजस्थानी चित्र शैली के बहुत निकट थी।

तैमूर के वंशज चित्रकला के बड़े शौकीन थे। वैसे बाबर के समय के चित्रकला के नमूने नहीं पाये जाते हैं, किन्तु अलवर में सुरक्षित बाबरनामा के चित्रित फारसी हस्तलेख से मालूम होता है कि उसके दरबार में भी चित्रकला का आदर था। हुमायूँ अपने साथ ईरान से सैयदअली और ख्वाजा अब्दुस्समद को भारत ले आया और 'अमीर हमजा' नामक काव्य का चित्रांकन कराया। अकबर ने इन दोनों कलाकारों से चित्रकला सीखी थी और वह इस कला का अनन्य प्रेमी था। उसके दरबार में फारस के विदेशी चित्रकार अब्दुस्समद, फारूकबेग, खुरसान कुली और जमशेद के साथ-साथ बसवान, लाल, केसू, मुकुन्द, हरिवंश, दसवंथ आदि हिन्दू चित्रकार भी रहते थे। धीरे-धीरे बाहर से चित्रकारों का आना बन्द हो गया और हिन्दू चित्रकारों की संख्या मुगल दरबारों में बढ़ गयी। अकबर प्राकृतिक और मानव सौंदर्य का बड़ा प्रेमी था। इसलिये इस्लामी निषेध के रहते हुये भी उसने चित्रकला को प्रोत्साहन दिया और उसमें ईश्वर के अस्तित्व और सौन्दर्य का अनुभव किया। उसके दरबार में रज्मनामा (महाभारत), बाबरनामा, अकबरनामा, निजामी के काव्य का चित्रांकन तथा बादशाह और उसके अमीरों के चित्रण किये जाते थे। चित्र कागज और कपड़े दोनों पर खींचे जाते थे। फतहपुर सीकरी के भवनों में सुन्दर भित्ति-चित्र भी बनाये गये थे।

विविध रंगों का प्रयोग होता था; सुनहले रंग का काम बहुत सुन्दर होता था। मुगल-चित्रकला का सबसे अधिक विकास जहाँगीर के समय हुआ। वह इस कला का बहुत ही प्रेमी, मर्मज्ञ और पारखी था। उसके पास चित्रों का बहुत बड़ा संग्रह था; सुन्दर चित्रों पर अधिक से अधिक पुरस्कार देने को वह तैयार रहता था। वह स्वयं भी चित्रकला जानता था। उसने चित्रकला को विदेशी अनुकरण से मुक्त करके उसको भारतीय रूप दिया। उसके दरबार के चित्रकारों में आगा रजा, अबुल हसन, मुहम्मद नादिर, मुहम्मद मुराद, उस्ताद मंसूर, विशनदास, मनोहर, गोवर्धन आदि अधिक प्रसिद्ध थे। जहाँगीर के बाद चित्र-कला की अवनति होने लगी। शाहजहाँ भवन-निर्माण का प्रेमी था; चित्रकला से उसको शौक न था। उसके दरबारी चित्रों में रंगों के सुन्दर मिश्रण के स्थान में कीमती लेप और सोने की लदान अधिक है। उसने बहुत से चित्रकारों को आपने दरबार से निकाल दिया, जिन्होंने प्रान्तीय दरबारों में शरण ली। उसके पुत्रों में दारा शिकोह चित्रकला का प्रेमी था, जिसके चित्रों का अलबम आज भी इंडिया आफिस में सुरक्षित है। औरंगज़ेबके समय में चित्रकला का निश्चित पतन हुआ। वह कट्टर सुन्नी होने के कारण इस कला का द्रोही था उससे छिपाकर मुगल दरबार के शिल्पी चित्र बनाते थे। कहा जाता है कि उसने बीजापुर के आसार महल के चित्रों को नष्ट करा दिया और सिकन्दरा में अकबर के मकबरे के चित्रों पर सफेदी करा दी। मुगल-साम्राज्य का पतन होने पर चित्रकला के केन्द्र अवध, हैदराबाद, मैसूर, बंगाल और दूसरे प्रान्तों और हिन्दू राज्यों में खिसकते गये। सम्पूर्ण मुगल-काल में लेखन-कला का बड़ा आदर था और इसकी विविध शैलियों का विकास हुआ।

जैसा कि पहले लिखा गया है, हिन्दू राज्यों में चित्रकला की कई शैलियाँ प्रचलित थीं। राजस्थान, कांगड़ा, हिमांचल प्रदेश, गुजरात, विजयनगर आदि स्थानों में अच्छे चित्रकार थे। रामायण, महाभारत आदि काव्यों तथा राग-रागिनियों के चित्रांकन विशेष रूप से होते थे। प्राकृतिक दृश्यों तथा देवताओं, वीर पुरुषों और राजाओं तथा रानियों के भी चित्र खींचे जाते थे। हिन्दू राज्यों में चित्रकला के साथ मूर्तिकला का भी प्रचलन था, यद्यपि इसमें प्राचीन कालीन मौलिकता और सौन्दर्य का अभाव था।

(३) संगीत-कला

सभी मुसलमान और हिन्दू राज्यों, मुगल सूबों और औरंगज़ेब को छोड़ कर सभी मुगल-सम्राटों के दरबार में संगीत-कला को आश्रय प्राप्त था।

बाबर में प्रकृति-प्रेम के साथ संगीत का भी प्रेम था और उसने अपने आत्म-चरित में अपने दरबार के गायकों का आदर और प्रशंसा के साथ उल्लेख किया है। हुमायूँ के ऊपर सूफी मत का प्रभाव था और वह गान-विद्या को ईश्वर की प्राप्ति का साधन मानता था। अकबर गान-विद्या का बड़ा प्रेमी और गायकों का आश्रयदाता था। अबुल फजल के अनुसार उसके दरबार में छत्तीस प्रसिद्ध गायक थे, जिनमें तानसेन सबसे निपुण था। मालवा का यशस्वी गान-मर्मज्ञ बाजबहादुर भी अकबर के दरबार में रहता था। जहाँगीर और शाहजहाँ के दरबारों में भी गायकों को प्रश्रय मिलता रहा। शाहजहाँ को गाना सुनने का बड़ा शौक था और रात को गाना सुनते-सुनते वह सो जाता था। चित्रकला से भी बढ़कर संगीत-कला का औरंगजेब शत्रु था। वह संगीत को मनुष्य के चरित्र बिगाड़ने का साधन मानता था; इसलिये उसने संगीत पर प्रतिबन्ध लगा दिया। निराश होकर जब गायकों ने संगीत का जनाजा निकाला तो औरंगजेब ने कहा—"इसको इतनी गहराई में गाड़ो कि यह फिर अपना सिर न उठा सके।" दरबार और राजसभा के अतिरिक्त सन्तों और उनके अनुयायियों में संगीत का काफी प्रचार था। वैष्णवों की कथा, कीर्तन, यात्रा, उत्सव आदि में संगीत का प्रचुर उपयोग होता था। संगीत-कला में हिन्दू और मुस्लिम तत्त्वों का मिश्रण काफी स्वतंत्रता के साथ हुआ, यद्यपि अन्त में हिन्दू तत्त्वों की ही प्रधानता रही।

६. आर्थिक जीवन

आर्थिक जीवन के सम्बन्ध में आइने-अकबरी, जहाँगीरनामा, आलमगीर-नामा और दूसरे फारसी के ग्रंथ, युरोपीय व्यापारी और यात्रियों के यात्रा-वर्णन तथा उस समय के साहित्यिक ग्रंथों से जानकारी प्राप्त होती है। जीवन का प्रथम आर्थिक आधार खेती थी। भूमि तथा उसकी उपज का वितरण प्रायः आजकल जैसा ही था। विशेष उपजों में ईख की खेती बिहार, बंगाल और उत्तर-प्रदेश में होती थी। नील उत्तर भारत के कुछ भागों में होता था जो रंग बनाने के काम आता था। अफीम अधिकतर मालवा में पैदा होती थी। कपास और रेशम की उपज प्रायः उन्हीं प्रान्तों में होती थी, जहाँ आजकल होती है। तम्बाकू जहाँगीर के समय में इस देश में आया और बहुत शीघ्र कई प्रान्तों में फैल गया। अनाज का बँटवारा लगभग आजकल जैसा ही था। खेती की पद्धति में भी वर्तमान से कोई विशेष अन्तर न था। खेती के औजार, हल खींचने के जानवर, जुताई, बुआई, सिंचाई, कटाई आदि सब

ऐसे ही थे; सम्भवतः नहरें कुछ कम थीं, किन्तु कृत्रिम ताल, झील आदि अधिक थे। खेती आसानी से और उसकी उपज अधिक होती थी, परन्तु किसानों पर सरकारी बोझ और अत्याचार बहुत था। उनका पेट अवश्य भरता था, परन्तु उनके जीवन में आराम और सम्मान की कमी थी। खेती के साथ पशुपालन जीवन का दूसरा आर्थिक आधार था। गाय, भैंस, बकरी, भेड़ आदि का पालन दूध, मांस और ऊन के लिये काफी प्रचलित था।

भारतवर्ष जैसे प्राचीन काल में वैसे उत्तर मध्यकाल में भी केवल कृषि-प्रधान और गोधन-प्रधान देश न था, बल्कि यहाँ उद्योग-धन्धों का भी काफी विकास हुआ था। इस देश के कारीगर और शिल्पी सिर्फ अपने यहाँ के धनी-मानी और सामान्य जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करते थे, बल्कि बहुत काफी माल बाहर के देशों में भी भेजते थे। मुख्य उद्योगों में रूई के कपड़े का काम सबसे अधिक प्रचलित था। उत्तर प्रदेश बिहार, बंगाल और उड़ीसा में रूई से कपड़ा बुनने का काम बहुत होता था। ढाका में झीना मलमल तैयार होती थी, जिसकी माँग पश्चिम के देशों में अधिक थी। यद्यपि रेशमका उत्पादन कपास से कम था, फिर भी काश्मीर, बंगाल और आसाम इसके बड़े केन्द्र थे। मुगल दरबार से रेशम के काम को काफी प्रोत्साहन मिलता था , ऊन का अधिकांश काम काश्मीर, पंजाब और सीमान्त तथा अन्य पहाड़ी प्रदेशों में होता था। रंगाई के काम में भी भारतीयों ने कुशलता प्राप्त की थी। फूल, लता, पत्ती आदि की आकृतियों से चित्रित कई प्रकार की साड़ियाँ और कपड़े तैयार किये जाते थे। दरी, गलीचे, सन्दूक, कलमदान, धातु के विभिन्न प्रकार के बर्तन आदि बहुत अधिक मात्रा में तैयार होते थे। लकड़ी और हाथी दाँत के काम जगत-प्रसिद्ध थे। व्यापारी कारीगरों को पेशगी देकर सामान तैयार कराते और उसका पूरा लाभ स्वयं उठाते थे। कभी-कभी सरकारी दबाव से भी कम दाम पर कारीगरों को सामान बेचना पड़ता था। किन्तु पूँजी और सरकारी प्रोत्साहन के बिना ये व्यापार पनप भी नहीं सकते थे। समृद्ध और विलास के जीवन से भी उद्योग-धंधों को प्रोत्साहन मिलता था।

देशी और विदेशी व्यापार दोनों ही उन्नत थे। यहाँ से निर्यात में कई प्रकार के कपड़े, मसाले, नील, अफीम, बहुमूल्य रत्न और पत्थर इत्यादि बाहर जाते थे। आयात में सोना-चाँदी, कच्चा रेशम, धातु, मूंगा, मखमल, सुगंधियाँ, चीनी मिट्टी के बर्तन, घोड़े, अफ्रीकी गुलाम आदि बाहर से आते थे। स्थल और जल दोनों मार्गों से व्यापार होता था। पश्चिमोत्तर में लाहौर से काबुल और मुलतान से कन्दहार तक रास्ता चलता था। स्थल मार्ग

बहुत सुरक्षित नहीं था। पश्चिमी और पूर्वी समुद्र तट पर कई एक बन्दरगाह थे जहाँ से विदेशों के साथ व्यापार होता था। इनमें से लाहौरी बन्दर (सिन्ध), सूरत, भड़ोच, कम्ब, बेसीन, गोआ, कालीकट, कोचीन, नोगा-पट्टम, सातगाँव, श्रीपुर, चटगाँव, सोनारगाँव आदि प्रसिद्ध थे। अकबर के बाद अंग्रेज और डच व्यापारी भारत में आ चुके थे। और उन्होंने कई कारखाने स्थापित कर लिये थे। आयात और निर्यात दोनों पर चुङ्गी लगती थी, जिसकी दर सामान पर ३॥ प्रतिशत और सोना-चाँदी पर २ प्रतिशत थी। चाँदी देश के बाहर भेजी नहीं जा सकती थी। सामान्य व्यवहार की चीजों का दाम सस्ता था। सरकार सिक्कों का नियंत्रण करती थी और कई प्रकार के सिक्के प्रचलित थे। अकबर के समय में मोहर, रुपया, दाम, जीतल आदि सिक्के जारी थे। धातु की शुद्धता, तौल और सौंदर्य की दृष्टि से ये सिक्के उत्तम कोटि के थे। व्याज पर रुपये दिये जाते थे। आढ़त, बैंक और हुंडी आदि की प्रथा भी थी।

साधारणतः देहात के लोगों को खाने-पोने की कमी नहीं थी। सब चीजें अधिकता से पैदा होती थीं और उनका दाम बहुत कम होने से अधिकांश जनता को सुलभ थीं। परन्तु यह न भूलना चाहिये कि मजदूरी भी कम थी और मजदूरों में खरीदने की शक्ति सीमित थी। यह सच है कि जीवन की आवश्यकतायें कम होने से लोगों में असन्तोष कम था। देश में बहुत से बड़े-बड़े शहर थे। उनमें सरकारी और व्यापारी वर्ग के लोग आराम और विलास का जीवन बिताते थे। औरंगजेब के बाद से देश में धीरे-धीरे फिर अराजकता फैलने लगी, जीवन के आर्थिक आधार अरक्षित हो गये और प्रजा में व्यवसाय का अनिश्चय और गरीबी बढ़ने लगी।

३१ अध्याय

आधुनिक युग का उदय

युरोपीय जातियों का आगमन : अंग्रेजी सत्ता का उदय

सोलहवीं शती के बाद का इतिहास युरोप के आधुनिक इतिहास से बहुत ही प्रभावित है। आधुनिक युग के शुरू में पश्चिमी युरोप में जो परिवर्तन हुए उन्होंने न सिर्फ युरोप की कायापलट कर दी किंतु सारे संसार में उहोंने एक नया युग ला दिया। इस युग की कई विशेषताएँ हैं। युरोप के ऊपर तुर्कों के आक्रमण ने रोमन-साम्राज्य के पूर्वी भाग को बड़े जोर से धक्का दिया। इसका फल यह हुआ कि कुस्तुनतुनिया और दूसरे नगरों के विद्वान्, शिल्पी और वैज्ञानिक भागकर पश्चिमी युरोप की तरफ चले गये। इस घटना ने पश्चिमी युरोप के निवासियों की मानसिक शक्ति को जागृत किया। इसके साथ ही प्राचीन यूनानी और रोमन सभ्यता तथा संस्कृति का पुनरुत्थान हुआ। इस पुनरुत्थान ने जनता की सोई हुई चेतना को बल दिया। जीवन के कई क्षेत्रों में नये अनुसन्धान और वैज्ञानिक आविष्कार होने लगे। नये जल-मार्गों और देशों का पता लगाया गया। युरोप के लोग उन देशों में उपनिवेश बसाने लगे और उनके साथ व्यापार करने लगे। युद्ध की कला में भी विकास हुआ। तुर्कों से बारूद का प्रयोग युरोप ने सीखा और अधिक व्यापक और घातक पैमाने पर इसकी उन्नति की, जिसके कारण दूसरे देशवाले युद्ध की कला में उनसे पिछड़ गये। राष्ट्रीयता का जन्म भी इसी काल में प्रारम्भ हुआ। पहले ईसाई चर्च ने सारे ईसाई जगत को एक सूत्र में बाँध रखा था। यह धार्मिक बंधन अब ढीला हो गया। उसका स्थान देश की भौगोलिक सीमा और राज्य की महत्त्वाकांक्षा ने ले लिया। सभी देश अपने राजनीतिक प्रभुत्व के लिये एक दूसरे से होड़ करने लगे। छापे की कल के आविष्कार ने भी इस युग के ऊपर बड़ा प्रभाव डाला। इससे शिक्षा, विद्या और ज्ञान के प्रचार का क्षेत्र बहुत बढ़ गया, और साधारण जनता में प्राचीन तथा नवीन देश और विदेश के विषय में जानकारी प्राप्त करने की रुचि उत्पन्न हुई।

जब युरोप में इस तरह के परिवर्तन हो रहे थे, तब भारत में एक दूसरा ही दृश्य दिखाई पड़ रहा था। मुगलों के आक्रमण ने भारत में आधुनिक युग को लगभग १५० वर्ष पीछे ढकेल दिया। १८ वीं शती के

शुरू में मुगल-साम्राज्य स्वयं शिथिल होने लगा और दूसरे आक्रमणकारियों के लिये उसने रास्ता खुला छोड़ दिया। इस समय युरोप की कई जातियाँ भारत में जल-मार्ग से घुस आयीं। वे अपने नये उत्साह, नये साधन और संगठन की नयी शक्ति को लेकर भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न करने लगीं।

१. पुर्त्तगाली

युरोप पर तुर्कों के आक्रमण से भूमध्य सागर के किनारे रहनेवाली जातियों का व्यापार सर्वप्रथम प्रभावित हुआ। तुर्कों ने अरब-सागर और भूमध्य-सागर के रास्तों को अरक्षित बना दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि युरोपके लोगों ने पूर्व से निराश हो कर पश्चिमी गोलार्द्ध का पता लगाया। इसमें स्पेन के निवासी सबसे आगे थे। कोलम्बस ने अमेरिका को ढूँढ़ निकाला। स्पेन के साथ पुर्तगाल के निवासियों ने भी सामुद्रिक यात्रा और अनुसन्धान में होड़ लगायी और उन्होंने अफ्रिका की परिक्रमा करते हुए इसके दक्षिणी छोर पर उत्तमाशा अंतरीप का पता लगाया। १४९३ ई० में पोप ने पश्चिमी और पूर्वी गोलार्द्ध का बँटवारा स्पेन और पुर्तगाल के बीच कर दिया। पुर्तगालियों ने उत्तमाशा अन्तरीप से बढ़कर पूर्व में भारत की ओर प्रस्थान किया। इसी प्रयत्न में वास्कोडिगामा नामक यात्री १४९८ ई० में भारत के पश्चिमी समुद्र तट पर कालीकट के बन्दरगाह पर पहुँचा। कालीकट के राजा जमोरिन ने पुर्तगालियों को व्यापार करने की सुविधा दे दी। उस समय तक पश्चिमी भारत का व्यापार अरबों के हाथ में था। अरबों को दबाकर पुर्तगालियों ने अरब-सागर पर अपनी जल-शक्ति की स्थापना की।

वास्कोडिगामा

पुर्तगालियों का पहला गवर्नर १५०५ ई० में आलमिडा हुआ। वह भारत की राजनीतिक को समझता था। उसने व्यापारियों और उपनिवेशियों की रक्षा करने के लिए एक दुर्ग बनाया और इस तरह पुर्तगालियों की राजनीतिक शक्ति की नींव डाली। १५०९ई० में पुर्तगालियों का दूसरा गवर्नर अलबुकर्क भारतमें आया। यह आलमिडा से भी अधिक महत्वाकांक्षी था। उसने १५१० ई० में गोवा पर अधिकार कर उसको अपनी

राजधानी बनाया। इसके बाद उसने मलक्का को जीता और लंका, सकोत्रा और उर्मुज नाम के द्वीपों में व्यापारिक मण्डियां तथा उपनिवेश बनाये। पूर्व के देशों में अपने व्यापार और राज्य की रक्षा के लिये उसने एक बहुत बड़े जहाजी बेड़ेका निर्माण किया। लगभग एक शताब्दी तक पूर्वी व्यापार और उपनिवेश में पुर्तगालियों का प्राधान्य बना रहा किन्तु अंत में उन्हें सफलता न मिली। १५८० ई० में स्पेन के राजा ने पुर्तगाल को अपने साम्राज्य में

वास्कोडिगामा कालीकट के राजा जमोरिन के दरबार में

मिला लिया, इससे विदेशी पुर्तगाली शक्ति को बड़ा धक्का लगा। किंतु इसके पहले ही बहुत से कारण ऐसे थे जिनसे पुर्तगालियों की शक्ति क्षीण हो रही थी। उनकी असफलता का प्रधान कारण अपनी शक्ति का दुरुपयोग था। उन्होंने असमय में ही अपनी राजनीतिक योजना प्रकट कर दी, जिससे भारत में उनका विरोध शुरू हो गया। भारतीय स्त्रियों से विवाह और विलास के कारण भी उनका पतन होने लगा। जल और स्थल में उनकी लूट और छापा-मारी की बदनामी चारों तरफ फैल गयी। भारतीयों के साथ उनका व्यवहार अच्छा नहीं था, इसलिए उनके साथ यहाँ के निवासियों की सहानुभूति नहीं हुई। पुर्तगालियों के शासन में धर्म-प्रचार की प्रधानता थी। वे हिन्दू और मुसलमान दोनों को ही घृणा की दृष्टि से देखते थे और उनको जबर्दस्ती ईसाई बनाने की कोशिश करते थे। इस कारण भारतीय जनता में उनके प्रति क्षोभ था। पुर्तगालियों के लिए अभी मुगलों और मराठों का सामना करना भी संभव नहीं था। इसी बीच में पश्चिमोत्तर युरोप की अन्य जातियाँ—

जो अधिक संगठित और व्यावहारिक थीं, भारत में आ गयीं। उनके सामने पुर्तगाली अपनी शक्ति का विस्तार करने में असफल रहे। भारत में केवल गोआ, डामन और ड्यू नामक छोटे स्थानों के ऊपर अधिकार से ही उनको संतोष करना पड़ा।

२. डच

पोप द्वारा पुर्तगाल को पूर्वी देशों के साथ व्यापार करने का जो अधिकार मिला था, उसका विरोध करनेवाली जातियों में हालैण्ड के निवासी डच लोग और इंगलैण्ड के निवासी अंग्रेज थे। हालैण्ड निवासियों को समुद्री व्यापार का अनुभव पहले ही था और वे दूर-दूर के प्रदेशों में अपनी नावें ले जाते थे। १६०१ ई० में पूर्वी देशों के साथ व्यापार करने के लिए उन्होंने एक व्यापारिक कम्पनी की स्थापना की। थोड़े ही दिनों के भीतर डच व्यापारी भारत के समुद्र-तट पर और द्वीप-समूह में पहुँच गये। पुर्तगालियों की शक्ति तो पहले से ही क्षीण हो रही थी, इसलिए हालैण्डवालों का अंग्रेजों से मुकाबला हुआ। डच लोगों को पूर्वी भारतवर्ष में तो पूरी सफलता नहीं मिली; किन्तु उन्होंने पूर्वी द्वीप समूह से अंग्रेजों को खदेड़ दिया, जिससे विवश होकर अंग्रेजों को अपनी शक्ति भारत में केन्द्रित करनी पड़ी।

३. अंग्रेज

१६वीं शती के अन्त में अंग्रेजों की सामुद्रिक शक्ति का विकास हुआ और उनका उत्साह बढ़ा। १५८० ई० में रानी एलिजाबेथ ने इस बात की घोषणा की, कि समुद्र सभी के लिए खुला है और न तो प्रकृति और न जनता का हित इस बात के पक्ष में है कि उसके ऊपर किसी भी एक जाति का अधिकार रहे। १५८२ ई० में इंगलैण्ड ने पुर्तगाल के समुद्री एकाधिकार का विरोध किया और १५८८ ई० में स्पेन के जहाजी बेड़े आर्मेडाको हराया। इस घटना ने अंग्रेज जाति के जहाजी हौसले को बहुत अधिक बढ़ा दिया। १६०० ई० में इंगलैण्ड के कुछ व्यापारियों ने पूर्वी देशों से व्यापार करने के लिए ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना की। पहले इस कम्पनी के सामने कई भीतरी कमजोरियाँ थीं, जिनको दूर करके १६५० ई० में संयुक्त ईस्ट इण्डिया कम्पनी बनायी गयी।

युरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थिति ने भारत में युरोपीय जातियों के परस्पर संबंध पर बहुत प्रभाव डाला। पहले तो डचों ने अंग्रेजों को पूर्वी द्वीपसमूह से खदेड़ा। इसका फल यह हुआ कि अंग्रेजों को भारत में आकर पुर्तगालवालों से प्रतियोगिता और युद्ध करना पड़ा। शुरू में पुर्तगाल

वालों ने अंग्रेजों को भारत में घुसने से रोकने की कोशिश की। टामस वेस्ट और कैप्टेन निकोलस आदि अंग्रेज कप्तानों ने १६१४-१५ ई० के लगभग पुर्तगाल वालों को कई स्थानों पर हराया। इससे पुर्तगालियों की प्रतिष्ठा भारत के पश्चिमी समुद्र तट पर कम हो गई और अंग्रेजों की धाक जम गई। १६३० ई० में मैड्रिड की सन्धि हुई; किंतु इससे दोनों जातियों के बीच का झगड़ा तय नहीं हुआ। १६६१ ई० में जब कैथराईन ब्रायग्रेञ्जा का विवाह द्वितीय चार्ल्स के साथ हुआ तो बम्बई नगर अंग्रेजों को दहेज में मिल गया।

इसके बहुत पहले १६१५ ई० में अंग्रेज राजदूत सर टामस रो जहांगीर के दरबार में पहुँच चुका था और उसको व्यापार करने की आज्ञा मिल गयी थी। अंग्रेजों ने पूर्वी समुद्र-तट पर कई बन्दरगाह और उपनिवेशों की स्थापना की, जिसमें मद्रास, हुगली आदि प्रसिद्ध थे। पहले तो दक्षिण और बंगाल के नवाबों ने अंग्रेजों का विरोध किया; किंतु पीछे उनको व्यापार की आज्ञा दे दी।

४. फ्रांसीसी

युरोप की जातियों में फ्रांसीसी सबसे पीछे व्यापार करने आये। उन्होंने भी युरोप के और देशों का अनुकरण करके एक ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की। पूर्वी देशों के साथ व्यापार करने में फ्रांसीसीयों के मुख्य उद्देश्य तीन थे। उनका पहला उद्देश्य देश को जीतकर अपनी राजनीतिक शक्ति को बढ़ाना था। दूसरा उद्देश्य फ्रांस के राजा की शक्ति को बढ़ाना और तीसरा उद्देश्य ईसाई मत का प्रचार करना था। फ्रांसीसीयों ने सूरत, मसुलीपट्टम, पाण्डुचेरी, चन्द्रनगर आदि स्थानों में अपने कारखानों की स्थापना की और मारीशस तथा माही पर भी अपना अधिकार जमा लिया। भारत की राजनीतिक स्थिति से भी उन्होंने काफी लाभ उठाया। १७४२ ई० में फ्रांसीसीयों का गवर्नर होकर डुप्ले भारतवर्ष आया। वह बड़ा ही महत्वाकांक्षी

डुप्ले

था। उसके आने से अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच में तीव्र संघर्ष प्रारंभ हो गया।

५. अंग्रेजों और फ्रांसीसियों में युद्ध

अंग्रेज और फ्रांसीसी दोनों युरोप में भी आपस में लड़ रहे थे, इसलिए जब कभी उनके बीच युरोप में झगड़ा शुरू होता, उसका प्रभाव भारत में उनके परस्पर संबंध पर भी पड़ता था। दोनों जातियों में व्यापारिक होड़ तो थी ही। ये दोनों भारतवर्ष की तत्कालीन परिस्थिति से लाभ भी उठाना चाहते थे और अपने अपने राज्य के स्वप्न भी देखने लगे थे। इसलिए दोनों देशों में युद्ध होना अनिवार्य हो गया। १७४४ ई० में आस्ट्रेलियन उत्तराधिकार के युद्ध में दोनों जातियों ने भाग लिया। इसके फलस्वरूप भारत में भी इन जातियों के बीच युद्ध शुरू हो गया। माही, कोरोमण्डल के किनारे, मद्रास आदि कई स्थानों में कई युद्ध हुए। पहले माही में डीला बौरडोनैस

लार्ड क्लाइव
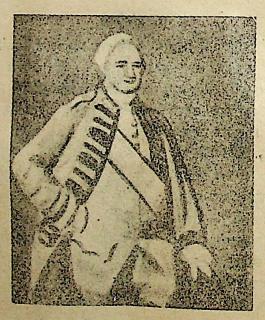
और डुप्ले के नेतृत्व में फ्रांसीसियों को सफलता मिली; किंतु फ्रांसीसियों की आन्तरिक कमजोरी से अंग्रेजी सत्ता बच गई। इसके बाद कर्नाटक और हैदराबाद में नवाबों और निजाम के उत्तराधिकार के झगड़े में अंग्रेजों और

फ्रांसीसियों दोनों ने भाग लिया। अब अंग्रेजों की फ्रांसीसियों के साथ दूसरी लड़ाई छिड़ गई। इस युद्ध में भी फ्रांसीसियों को प्रारंभिक सफलता मिली किंतु अंग्रेज फिर भी बच गये। युरोप में सप्तवर्षीय युद्ध छिड़ जाने पर फिर अंग्रेज और फ्रांसीसी भारत में लड़ने लगे। इस लड़ाई में अंग्रेजों का सेनानायक क्लाइव तथा फ्रांसीसियों का सेनानायक बुस्सी था। इस तीसरी लड़ाई में फ्रांसीसी हार गये और अंग्रेजों की जीत हुई। १७६३ में पेरिस की संधि ने अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के संघर्ष का अन्त कर दिया।

६. अंग्रेजों की सफलता के कारण

फ्रांसीसियों के विरुद्ध अंग्रेजों की विजय के कई कारण हैं। सबसे पहले अंग्रेजों की नीति में व्यापार की प्रधानता थी और उनके पास आर्थिक बल अधिक था। इसके बदले में फ्रांसीसी राजनीति में उलझे हुए होने के कारण व्यापार पर ध्यान कम देते थे और उनकी आर्थिक व्यवस्था अच्छी न थी। बंगाल में अंग्रेजों के कई उपनिवेश थे, जहाँ से अंग्रेजों को आर्थिक सहायता मिलती थी। अंग्रेजों को भारत में काम करने की पूरी स्वतंत्रता थी और उनकी घरेलू सरकार उनके काम में हस्तक्षेप नहीं करती थी। इसके विरुद्ध फ्रांसीसी सरकार फ्रेंच ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कामों में बराबर हाथ डालती थी, जिससे इसके कामों में बाधा पहुँचती थी। क्लाइव और लारेंस जैसे सफल नेता अंग्रेजों को प्राप्त थे, जिनकी तुलना करनेवाले फ्रांसीसियों में बहुत कम थे। इस समय अंग्रेजी जहाजी बेड़े की शक्ति भी बहुत बढ़ गई थी। इससे फ्रांसीसी बन्दरगाहों का घेरा अंग्रेज बड़ी सरलता से कर लेते थे। फ्रांसीसी अधिकारी आपस में लड़-झगड़कर अपनी शक्ति कमजोर कर लेते थे और अंग्रेजों को इस तरह लाभ उठाने की सुविधा देते थे। इस विजय ने अंग्रेजों का भविष्य और भी निश्चित और उज्ज्वल कर दिया।

३२ अध्याय

बंगाल की नवाबी का पतन और अंग्रेजी सत्ता की स्थापना

१. बंगाल की तत्कालीन स्थिति

दिल्ली के मुग़ल सम्राटों की शक्ति और मान के ह्रास का प्रभाव भारतवर्ष के सभी भागों पर पड़ा। दक्षिण और कर्नाटक के सूबेदारों की तरह बंगाल का नवाब भी प्रायः सभी मामलों में दिल्ली से स्वतंत्र हो गया था, यद्यपि दिल्ली की नाममात्र की प्रभुता उस पर अभी थी। मुगल सम्राट की कमजोरी का फल यह हुआ कि बंगाल, बिहार और उड़ीसा में मुसलमान नवाबों ने निरंकुश शासन प्रारंभ कर दिया और फलतः अव्यवस्थित शासन और षड्यंत्रों ने इन प्रांतों में अपना घर कर लिया। १७४० ई० में तत्कालीन बंगाल के नवाब सरफ़राज खां के विरुद्ध षड्यंत्रों में सफलतापूर्वक भाग लेकर अलीवर्दी खां स्वयं नवाब बन बैठा। वह एक योग्य और कुशल शासक था परन्तु उसका सारा समय अपने राज्य के भीतरी विद्रोह तथा मराठों के बाहरी आक्रमणों को रोकने और दबाने ही में बीता। उसके प्रयत्नों के फलस्वरूप बंगाल में ऊपरी शान्ति बनी रही, परंतु भीतर ऐसी अनेक बुराइयाँ थीं जिनका निवारण आवश्यक था। बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा नवाब के शासन से असन्तुष्ट थी। फ्रांसीसी और अंग्रेज, जो चन्द्रनगर और कलकत्ते में व्यापार की अनेक सुविधाओं का भोग कर रहे थे, राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश कर चुके थे। ये दोनों जातियां युरोपीय युद्धों में एक दूसरे के विरुद्ध लड़ा करती थीं, जिसका फल भारतवर्ष में भी पड़ता था। उनकी राजनीतिक महत्त्वकांक्षाएं बढ़ गई थीं। बंगाल में अंग्रेजों के हौसले बहुत बढ़ चुके थे और उन्होंने नये सिरे से किलेबन्दी करने का प्रयत्न प्रारंभ कर दिया। अलीवर्दीखां इन सभी बातों को ताड़ गया, परंतु अंग्रेजों की नीयत पर सन्देह होते हुए भी कुछ कर सकने में वह असमर्थ रहा। इन सभी बातों के अलावा सबसे बड़ी दुर्भाग्य की बात उसके लिए यह थी कि उसको कोई पुत्र नहीं था, जो उसके बाद उत्तराधिकारी होता। १७५६ ई० में उसकी मृत्यु हो गई और उसकी सबसे छोटी लड़की का पुत्र सिराजुद्दौला नवाब की गद्दी पर बैठा।

२. सिराजुद्दौला का अंग्रेजों से संघर्ष

(१) कारण—सिराजुद्दौला को बंगाल की नवाबी प्राप्त करने में कोई विशेष कठिनाई तो नहीं हुई, परंतु उसके विरोधियों की कमी नहीं थी। उसके विरुद्ध अनेक षड्यन्त्रों में अंग्रेजों ने भी भीतर से भाग लिया। उन्होंने युरोप में युद्ध और भारत में मराठों के आक्रमण की आशंका से कलकत्ते की किलेबन्दी शुरू कर दी। सिराजुद्दौला के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह अंग्रेजों को एक सैनिक शक्ति बनने से रोके और उसने अंग्रेजों को किलेबन्दी करने से मना किया, परन्तु उन्होंने उसकी अवहेलना की। इतना ही नहीं सिराजुद्दौला के विरोधियों और उसके अपराधियों को अंग्रेज कलकत्ते में शरण भी देते रहे। नवाब के एक अपराधी ने जब आकर कलकत्ते में शरण ले ली तो उसके माँगने पर भी अंग्रेजों ने उसे लौटाया नहीं। व्यापारिक क्षेत्र में अंग्रेजों को १७१७ ई० में नवाब से बंगाल में जो भी सुविधायें प्राप्त हुई थीं उनका भी उन्होंने दुरुपयोग किया। इन सभी बातों से सिराजुद्दौला के मनमें अंग्रेजों के प्रति विश्वास उठ गया और मौलिक रूप से अंग्रेजों की महत्त्वाकांक्षा, उनकी समृद्धि तथा सैनिक शक्ति नवाब के भय का कारण बन गयी।

सिराजुद्दौला

(२) युद्ध—नवाब को उपयुक्त परिस्थितियों में अपनी सैनिक शक्ति के उपयोग के अलावे और कोई उपाय नहीं बच रहा। जून, सन् १७५६ ई० में उसने अंग्रेजों के विरुद्ध सैनिक आक्रमण प्रारंभ कर दिया। थोड़े ही दिनों के भीतर अंग्रेजों की सभी फैक्ट्रियां जिनमें कासिम-बाजार और कलकत्ता की मुख्य थीं, नवाब के सैनिकों ने ले लीं। अंग्रेजों को फोर्ट-विलियम छोड़ना पड़ा और वह भी नवाब के हाथों में आ गया। ड्रेक ने जो फोर्ट-विलियन का सैनिक गवर्नर था, नवाब के सैनिकों का विशेष प्रतिरोध नहीं किया और वह अन्य सभी अंग्रेजों और उनके परिवार के व्यक्तियों के साथ निकल कर अपने जहाजों पर शरण लेने के लिए विवश हो गया। कलकत्ते का नवाब के द्वारा इस प्रकार जीत लिया जाना इतिहास की एक स्मरणीय घटना है। इसका महत्त्व तथाकथित काल कोठरी की घटना के कारण कुछ लोग मानते हैं। ऐसा कहा जाता है कि सिराजुद्दौला के सैनिकों ने कलकत्ते में अंग्रेजों को

पकड़कर कैद कर लिया तथा उनमें से १४६ व्यक्ति एक छोटी-सी कोठरी में गर्मी की एक रात बिताने के लिए बाध्य किये गये, जिसके फलस्वरूप दम घुट कर १२३ व्यक्तियों का प्राणान्त हो गया। बचे हुए व्यक्तियों में डा० हालवेल भी था जिसने अपनी और अपने साथियों की करुण कथा सुनाई। परन्तु असली बात यह प्रतीत होती है कि हालवेल का बहुत कुछ बयान मनगढ़ंत और काल्पनिक था, जिसका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं था। यह हो सकता है कि कुछ अंग्रेज कैदियों को कष्ट हुआ परंतु इसमें सिराजुद्दौला का कोई दोष नहीं था। उसकी बिना जानकारी के उसके सैनिकों ने कुछ अंग्रेजों को कष्ट दिया।

अंग्रेज लोग इस प्रकार कलकत्ते को अपने हाथों से चले जाने देते, यह असंभव था। मद्रास से उनको तुरंत सहायता प्राप्त हुई और एक बहुत बड़ा बेड़ा क्लाइव और वाटसन के नेतृत्व में बंगाल की ओर आ गया तथा २ जनवरी सन् १७५६ को अंग्रेजों ने कलकत्ते पर पुनः अधिकार प्राप्त कर लिया। सच तो यह है कि अंग्रेजों के जहाजी बेड़े के मद्रास से आने और उसकी शक्ति का सिराजुद्दौला को बिलकुल पता ही नहीं था। परंतु इसके साथ ही साथ उसने अब पहले जैसी कर्मण्यता भी नहीं दिखाई और चुपचाप कलकत्ते को अपने हाथ से निकल जाने दिया तथा अंग्रेजों से संधि कर ली। अंग्रेजी कम्पनी के उपनिवेशों को तथा पुरानी सभी सुविधाओं को सिराजुद्दौला ने वापस कर दिया। यही नहीं कम्पनी की जो भी सम्पत्ति नष्ट हुई थी, उसका हर्जाना भी उसे चुकाना पड़ा। इसके अलावे अंग्रेजों को कलकत्ते की किलेबंदी और रुपया ढालने का अधिकार भी प्राप्त हो गया। कम्पनी ने भी इस संधि से इस नाते संतोष किया कि उसके पास नवाब की पूरी शक्ति को कुचलने का साधन नहीं था तथा उसे यह भी आशंका थी कि कहीं नवाब फ्रांसीसियों से अंग्रेजों के विरुद्ध मिल न जाय। क्लाइव और वाटसन के आपसी संबंध भी अच्छे नहीं थे। अन्त में बंगाल में कम्पनी का व्यापार बढ़े, इसके लिए शान्ति आवश्यक थी और उसका उपाय संधि ही थी।

३. सिराजुद्दौला के विरुद्ध अंग्रेजों की कूटनीति

एक बार सिराजुद्दौला और अंग्रेजी कम्पनी के बीच अविश्वास उत्पन्न हो जाने पर वह बढ़ता ही गया। नवाब के विरुद्ध असंतुष्ट लोगों की कमी नहीं थी। उसकी राजधानी मुर्शिदाबाद षड्यंत्रों का अखाड़ा बन गयी और क्लाइव के नेतृत्व अंग्रेजों ने भी उसमें भाग लेना प्रारम्भ कर दिया। नवाब की

कमजोरी यह थी कि इन छिपे हुए षड्यंत्रों के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक होकर उनको दूर करने के लिये वह प्रयत्नशील नहीं था। स्वयं मीरजाफर जो उसका सम्बन्धी और सेनापति था, उसके विरुद्ध षड्यंत्रकारियों का नेता था और उसने अंग्रेजों से भी नवाब के विरुद्ध मिलने में कोई हिचक नहीं दिखायी। अंग्रेजों का दोष यह था कि नवाब के द्वारा सन्धि की शर्तों का पूर्ण पालन होते हुए भी वे उसे अपदस्थ करने का सर्वदा प्रयत्न करते रहे। क्लाइव ने कूटनीति का प्रयोग किया तथा उसकी मीरजाफर से गुप्त संधि हो गयी। सन्धि की शर्तों के अनुसार यह तय पाया कि अंग्रेजों को पुरानी सभी सुविधायें मीर जाफर के नवाब हो जाने पर प्राप्त रहेंगी तथा फ्रांसीसियों को बंगाल से बाहर निकालने में नवाब अंग्रेजों की सहायता करेगा। सिराजुद्दौला के खजाने से प्राप्त होनेवाली रकमों का आधा हिस्सा कम्पनी और उसके कर्मचारियों को दिया जायगा। सिराजुद्दौला के विरुद्ध इस षड्यंत्र में कलकत्ते के असन्तुष्ट हिन्दू व्यापारियों ने भी भाग लिया। अमीचंद नामक एक सौदागर ने, जो मीरजाफर और क्लाइव के बीच मध्यस्थ का काम कर रहा था, प्रारम्भ से अन्त तक बहुत बड़ी दुष्टता और विश्वासघात का परिचय दिया। लूट के सामान में एक बड़ा हिस्सा न मिलने पर वह पूरे षड्यंत्र का भण्डाफोड़ कर देगा, इस धमकी से उसने लाभ उठाना चाहा, परन्तु क्लाइव उससे भी बड़ा धोखेबाज निकला। उसने अमीचन्द को पूरा चकमा दिया। गुप्त संधि की दो प्रतियां तैयार करायी गयीं। सच्ची प्रति पर अमीचन्द का हस्ताक्षर नहीं लिया गया। परन्तु झूठी प्रति पर, जिस पर अमीचन्द का हस्ताक्षर था, वाटसन ने हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया। क्लाइव ने उसके हस्ताक्षर को अपने ही हाथों बना लिया और अपना काम चालू किया। इस प्रकार क्लाइव ने सिराजुद्दौला को गद्दी से उतार कर मीरजाफर को अपने कठपुतली के रूप में बंगाल का नवाब बनाने का निश्चय किया और तदर्थ अपनी गुप्त योजना भी तैयार कर ली। इन सारे गुप्त व्यवहारों में क्लाइव का भाग निन्द्य और विश्वासघात से भरा हुआ था और यह उसके नाम पर सदा एक कलंक का टीका बना रहेगा।

४. प्लासी का युद्ध

(१) सिराजुद्दौला का पतन

अंग्रेजों ने जब एक बार अपनी कूटनीति का चक्र चला दिया तो उसे अन्त तक ले जाने में उन्हें कोई हिचक नहीं हुई। परन्तु सिराजुद्दौला को अपदस्थ करने के लिये युद्ध का आश्रय लेना आवश्यक था और अंग्रेजों ने

उसके लिये बहाना भी ढूँढ़ लिया। नवाब पर यह दोष लगाया गया कि उसने अंग्रेजी कम्पनी के साथ हुई सन्धि की शर्तों को तोड़ा है। अंग्रेजों के विरुद्ध फ्रान्सीसियों के साथ पत्र-व्यवहार करने का दोष भी उसपर लगाया गया। इसके साथ ही क्लाइव ने अपनी सैनिक तैयारी पूरी कर ली और प्लासी के मैदान की ओर जून १७५७ में प्रस्थान कर दिया। परन्तु यह सब कुछ होते हुये सिराजुद्दौला की आंख समय से नहीं खुली और षड्यंत्र के सम्बन्ध में सन्देह रखते हुये भी उसने पूरी अकर्मण्यता का परिचय दिया। मीर जाफर की गतिविधि पर सन्देह करते हुये भी वह अन्त तक उसकी वातों को मानता रहा और फ़लस्वरूप सारा षड्यंत्र सफल हो गया। लड़ाई के मैदान में मीर जाफर ने अपनी सैनिक वफादारी के विरुद्ध पूर्ण विश्वासघात किया और खड़ा होकर तमाशा देखता रहा। केवल कुछ फ्रांसीसी सिपाहियों की सहायता से थोड़े-से हिन्दू सैनिकों ने युद्ध में भाग लिया। वे इतनी वीरतापूर्वक लड़े कि थोड़ी-सी भी मीरजाफर की सहायता होने पर अंग्रेजी टुकड़ी में निश्चय ही भगदड़ मच जाती। परन्तु अन्त में मीरजाफर के द्वारा इस प्रकार विश्वासघात का शिकार होकर सिराजुद्दौला ने मैदान छोड़ दिया और उसकी सेना में भगदड़ मच गयी। क्लाइव को बहुत ही थोड़े प्रयत्न से विजयश्री मिल गयी। थोड़े ही दिनों में सिराजुद्दौला मीरजाफर के सैनिकों द्वारा पकड़ लिया गया और उसके लड़के मीरन की आज्ञानुसार मार डाला गया। मीरजाफर बंगाल का नवाब घोषित किया गया और उसने कम्पनी को उसकी सैनिक सेवाओं के बदले २७॥ लाख रुपया दिया। क्लाइव तथा उसके दूसरे साथियों ने भी लूट की रकमों में पूरा हिस्सा लिया तथा नये नवाब से घूस स्वीकार की। क्लाइव को नवाब ने अमीर की उपाधि से अलंकृत किया और जागीर तथा उपहारों से भी प्रसन्न किया।

(२) प्लासी का महत्त्व

प्लासी का युद्ध युद्धकला अथवा भयानकता के विचार से बहुत बड़ा नहीं, परन्तु परिणाम के विचार से निश्चय ही महत्त्वपूर्ण था। युद्ध की दृष्टि से उसे अंग्रेजों की सामरिक मोर्चेबन्दी, सैनिक कुशलता और उनकी बहादुरी का तथा हिन्दुस्तानियों की भेड़ियाधसान प्रवृत्ति का परिचायक कहना न्यायपूर्ण नहीं है। सिराजुद्दौला की पराजय अथवा क्लाइव के सैनिकों की विजय में सैनिक बहादुरी का बड़ा भाग नहीं था। सच तो यह है कि नवाब की सारी सेना ने युद्ध में कभी भाग ही नहीं लिया और जिन थोड़े से सैनिकों ने युद्ध में भाग लिया उन्होंने पर्याप्त वीरता दिखायी और फिर हिन्दुस्तानी सिपाही

दोनों ही ओर से लड़ रहे थे। ऐसा नहीं कि एक तरफ तो उन्होंने वीरता दिखाई और दूसरी ओर कायरता। नवाब की हार का मुख्य कारण विश्वासघात तथा उसकी निजी अकर्मण्यता थी। युद्ध का परिणाम निश्चय ही महत्वपूर्ण हुआ। बंगाल में एक ऐसा नवाब गद्दी पर बैठा जो अंग्रेजों की कठपुतली हो गया। अंग्रेज कम्पनी एक शुद्ध व्यापारिक संस्था न रहकर अब सक्रिय राजनीति में भाग लेने लगी और उसके राजनीतिक अधिकार बहुत ही बढ़ गये। भारतवर्ष में अपने साम्राज्य के स्थापन के लिये अंग्रेज कम्पनी को प्लासी के युद्ध में सफलता के कारण बंगाल में एक बहुत बड़ा आधार मिल गया और मीरजाफर की अयोग्यता का अंग्रेजों ने खूब लाभ उठाया।

५. नवाबी की दुर्दशा

मीरजाफर ने बंगाल की नवाबी प्राप्त करने के लिये जिस कायरता का परिचय दिया, उसकी वह कायरता बाद में भी बनी रही। अपनी शक्ति के लिये वह अंग्रेजों पर आश्रित रहा। अंग्रेजों की व्यापारिक उन्नति के साथ उनका धन तो बढ़ता ही गया, बंगाल की राजनीति के पीछे भी वे सच्ची शक्ति हो गये। नवाब उनकी कृपा और कृतज्ञता के भार से इतना दबा हुआ था कि वह अपनी अधिकांश आय अंग्रेजों को पुरस्कृत करने में ही व्यय कर देता था और शासनव्यवस्था की ओर बिलकुल ही ध्यान नहीं देता था। १७६० ई० तक अंग्रेजों की शक्ति बंगाल में फ्रांसीसियों और डचों की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गयी और बंगाल की सम्पत्ति उनकी शक्ति का अविरल स्रोत बन गयी। उधर जब तक क्लाइव बंगाल की अपनी प्रथम गवर्नरी पर आसीन रहा तब तक तो उसने मीरजाफर की उसके विरोधियों से रक्षा की; परन्तु १७६० ई० में बीमार पड़ने के कारण जब वह इंगलैण्ड चला गया, तो नवाब की दशा बहुत खराब हो गयी। उसके बाद का समय झूठे अधिकारों और नैतिक पतन का समय था। दिल्ली के शक्तिहीन मुगल बादशाह का प्रतिनिधि नवाब भी बंगाल में पूरे रूप से शक्तिहीन हो गया। वास्तविक शक्ति अंग्रेजों के हाथ में चली गयी जो केवल अपने स्वार्थ की चिन्ता में लगे हुये थे। कम्पनी के कर्मचारी अनीति और अत्याचार करने लगे तथा हर एक अपने को शासक समझने लगा। उन्होंने अपनी व्यापारिक सुविधाओं का अतिक्रमण करके अपनी छिपी हुई शक्ति का लाभ उठाया और फलस्वरूप नवाब की आय बहुत कम हो गयी। धीरे-धीरे नवाब और कम्पनी के झगड़े बढ़ने लगे। क्लाइव के बाद वैन्सीटार्ट गवर्नर हो गया था और वह क्लाइव की तरह मीरजाफर को अपने चंगुल में न रख सका। नवाब अंग्रेजी सेना का खर्च भी

नहीं दे सका। ऐसी दशा में हाल्वेल की राय से वैन्सीटार्ट ने मीरजाफर से नवाबी छीन लेना सोच लिया और उसके लिये उसने मीर कासिम से बात-चीत भी शुरू कर दी। मीरकासिम नवाब का दामाद था। उसकी अंग्रेजों से जो गुप्त संधि हुई उसमें यह तय पाया कि कम्पनी का मीरजाफर के ऊपर जो भी बकाया था उसे मीरकासिम चुकायेगा और उसके अलावे कम्पनी को वह बर्दवान, चटगाँव और मिदनापुर के जिले भी दे देगा। अंग्रेजों की कृपा हट जाने के बाद मीरजाफर के लिये अपनी नवाबी बनाये रखना कठिन हो गया और उसने १७६० ई० में नवाबी छोड़ दी। अंग्रेजों ने मीरकासिम को नवाब बना दिया और मुगल सम्राट् से उसकी स्वीकृति भी उन्होंने प्राप्त कर ली। परन्तु इस सारे कार्य में मीरकासिम और मुगल सम्राट् तो कठपुतली मात्र रहे और असली शक्ति कम्पनी तथा उसके कर्मचारियों के हाथ में थी। मीर-कासिम ने अपने सभी वादे पूरे किये। बर्दवान, मिदनापुर और चटगांव के जिलों के अतिरिक्त कम्पनी को उसने २ लाख पौण्ड का उपहार दिया, जिसमें ५० हजार पौण्ड का हिस्सा वैन्सीटार्ट ने भी स्वीकार किया।

६. मीरकासिम

(१) स्वतन्त्र होने का प्रयत्न

मीरकासिम एक योग्य और कुशल शासक था। वह मीरजाफर की दुर्दशा देख चुका था और स्वयं अंग्रेजों की शक्ति पर आश्रित होते हुये भी उनसे छुटकारा पाने का उपाय सोचने लगा। अंग्रेजी कम्पनी के नौकर कम्पनी के नाम पर अपना व्यापार भी करने लगे और अनेक अनुचित सुविधाओं के भाग के लिये अन्धेर मचाने लगे। कम्पनी ही की तरह वे भी करों से छूट की मांग करने लगे और नवाब की आय एकदम घट गयी। मीरकासिम ने अंग्रेजों से घबड़ाकर अपनी राजधानी मुर्शिदाबाद से मुंगेर हटा ली और अंग्रेजों के विरुद्ध सैनिक तैयारी करने लगा। अपनी सेना के सुसंगठित करने के लिये उसने कुछ जर्मन लोगों की भी सेवायें स्वीकार कर लीं। अंग्रेज भी चुप नहीं बैठे रहे। उनकी पटना में एक फैक्टरी थी। वहाँ के मुखिया ऐलिस ने मीरकासिम से पटना नगर जीत लेना चाहा और चढ़ाई भी कर दी। परन्तु वह असफल रहा और उसके सभी सैनिक मारे गये। अब मीरक़ासिम और अंग्रेजों में युद्ध अवश्यम्भावी हो गया। कई स्थानों पर मीरकासिम की सेनाओं पर अंग्रेजी सेनाओं ने आक्रमण कर दिया और उनकी सर्वत्र विजय हुई। मीरकासिम को अपनी नवाबी छोड़कर अवध की ओर भागना पड़ा और अंग्रेजों ने एक बार फिर मीरजाफर को बंगाल का नवाब बनाया। मीरजाफर

के द्वारा अंग्रेजों के हाथों से दूसरी बार नवाबी स्वीकार करने पर नवाबी की बची-खुची शक्ति भी कम्पनी के हाथों में आ गई और अंग्रेजों की राजनीतिक तथा व्यापारिक सुविधायें बहुत ही बढ़ गयीं।

(२) बक्सर की लड़ाई

मीरकासिम ने बंगाल की नवाबी को पुनः प्राप्त करने के लिये एक बहुत बड़ा प्रयत्न किया। उसने अवध की ओर जाकर वहाँ के वजीर से संधि कर ली। दिल्ली के मुगल सम्राट् द्वितीय शाहआलम को भी अंग्रेजों की बढ़ती हुई शक्ति से चिढ़ थी और उसने भी मीरकासिम से हाथ मिला लिया। तीनों की सेनाओं ने १७६४ ई० में बक्सर की ओर प्रस्थान किया परन्तु अंग्रेज भी सजग थे। यद्यपि संयुक्त हिन्दुस्तानी सेनाओं की संख्या अंग्रेजी सेना की संख्या से कई गुना अधिक थी; परन्तु उनमें कौशल, रणचातुरी और सहयोग की भावना का अभाव था। फल यह हुआ कि मेजर मुनरो के नेतृत्व में अंग्रेजी सेनाओं की विजय हुई। शाहआलम तुरन्त अंग्रेजों से जा मिला तथा बाद में उसने उनसे संधि भी कर ली और मीर-कासिम को विवश होकर अपनी प्राणरक्षा के लिये भागना पड़ा।

शाहआलम

(३) महत्त्व

बक्सर की लड़ाई का भारतवर्ष के इतिहास में बहुत बड़ा महत्त्व है। इस लड़ाई ने अंग्रेजों के अधूरे कार्य को पूरा किया। प्लासी के मैदान में सफलता पाकर यदि अंग्रेजों ने बंगाल में राजनीतिक प्रभुता पायी तो बक्सर की लड़ाई में सफल होकर उन्होंने सारे हिन्दुस्तान में अपनी प्रभुता स्थापित करने का अवसर और आधार पा लिया। एक ही साथ उत्तरी हिन्दुस्तान की तीन शक्तियों—बंगाल के नवाब, अवध के वजीर और उन दोनों के नाममात्र के मालिक दिल्ली के सम्राट् की संयुक्त सेनाओं पर विजय पाकर उन्होंने अपनी सैनिक महत्ता का परिचय दिया। अब तक जो उनकी शक्ति भीतर की कूट-नीति पर आधारित थी, अब वह सेना और तलवार की शक्ति पर दृढ़ हो गई। वे बंगाल, बिहार और उड़ीसा के पूरे मालिक हो गये और हिन्दुस्तान में साम्राज्य बढ़ाने का उन्हें अपूर्व अवसर मिल गया।

७. क्लाइव की लड़ाई

(१) दीवानी

मई सन् १७६५ ई० में क्लाइव दूसरी बार बंगाल में अंग्रेजी कम्पनी का गवर्नर बनाकर भेजा गया। मीरजाफर, जिसे मीरकासिम के बाद अंग्रेजों ने दुबारा बंगाल का नवाब बनाया था, कम्पनी के हाथ का कठपुतला था। उसकी मृत्यु हो जाने के बाद उसके लड़के नजीमुद्दौला को नवाबी मिली परन्तु वह भी कठपुतली मात्र ही था। ऐसी दशा में बंगाल का शासन चौपट हो रहा था और अंग्रेजी कम्पनी के कर्मचारी स्वार्थपरता में लगे हुये थे। क्लाइव ने बंगाल पहुँचते ही इन बातों की ओर ध्यान दिया और सुधार करना प्रारम्भ कर दिया। उसने अवध के वजीर शुजाउद्दौला से संधि कर ली, जिसे इलाहाबाद की संधि कहते हैं। उसकी शर्तों के अनुसार कड़ा और इलाहाबाद के जिलों को छोड़कर अवध का सारा प्रांत वजीर को लौटा दिया गया और वजीर ने कम्पनी को ५० लाख रुपया युद्ध का हर्जाना दिया। दिल्ली के मुगल सम्राट् द्वितीय शाहआलम से भी उसने संधि कर ली तथा उसको अंग्रेजों की ओर से इलाहाबाद और कड़ा के जिलों के साथ २६ लाख रुपये सालाना की पेंशन भी दी गई। उसके बदले सम्राट् से क्लाइव ने बंगाल की दीवानी प्राप्त कर ली, जिससे अंग्रेजी कम्पनी को बंगाल में मालगुजारी और कर वसूल करने का अधिकार मिल गया।

(२) क्लाइव के अन्य सुधार

क्लाइव ने इंगलैण्ड से चलते समय यह प्रतीज्ञा की थी कि वह हिन्दुस्तान में आकर कम्पनी का सुधार करेगा। वह आते ही सुधार कार्य में लग गया। कम्पनी के नौकरों में व्यक्तिगत व्यापार और घूस लेने की प्रथा बहुत बढ़ गई थी। उसे रोकने के लिये क्लाइव ने सबसे घूस न लेने की प्रतिज्ञा कराई तथा व्यक्तिगत व्यापार की मनाही कर दी। पहले तो उसने कर्मचारियों को अधिक वेतन देने का प्रस्ताव किया परन्तु जब उसमें असफल रहा तो पीछे उसने कम्पनी के ऊँचे अधिकारियों को नमक का एकाधिकार दे दिया। बाद में यह प्रथा भी रद कर दी गई और कम्पनी की आमदनी पर कर्मचारियों को कमीशन देने की प्रथा चलाई गई। क्लाइव ने सैनिक सुधार भी किया और सिपाहियों को मिलनेवाला दोहरा भत्ता उसने बन्द कर दिया। सेना के अफसरों ने इसका विरोध किया और कइयों ने अपना त्यागपत्र दे दिया। क्लाइव ने सभी त्यागपत्रों को स्वीकार कर लिया और विद्रोही कर्मचारियों तथा सैनिकों को सेना से निकाल बाहर किया।

क्लाइव के उपर्युक्त संधियों और सुधारों का बड़ा महत्त्व है। अवध से संधि करके उसने अपनी राजनीतिक प्रभुतावाले क्षेत्र अर्थात् बंगाल के लिये मराठों के आक्रमण से बचने के लिये एक अन्तर-राज्य बना लिया और अवध में अंग्रेजों के नेतृत्व में संरक्षक सेना रख दी। दिल्ली का सम्राट् अब उसकी कृपा पर आश्रित होकर उसका पेंशनभोगी हो गया और इस प्रकार कम्पनी की शक्ति बहुत बढ़ गयी। बंगाल की दीवानी मिल जाने से यद्यपि दोहरा शासन स्थापित हो गया, परन्तु कम्पनी की आमदनी बहुत अधिक हो गयी।

क्लाइव सन् १७६७ ई० में हिन्दुस्तान से फिर इंगलैण्ड लौट गया। वहां उसपर पार्लियामेण्ट में अनेक अभियोग लगाये गये। वह अन्त में दोषों से मुक्त करार दिया गया और भारतवर्ष में कम्पनी की तथा अंग्रेज जाति की सेवा तथा शक्तिस्थापन के लिये उसको धन्यवाद भी दिया गया। परन्तु क्लाइव को अपने को बचाने के लिये बड़ा प्रयत्न करना पड़ा और उसको हार्दिक चोट लगी। अन्त में जीवन से ऊबकर उसने आत्महत्या कर ली।

(३) वेरेल्स्ट और कार्टियर के भ्रष्टाचार

क्लाइव के चले जाने के बाद क्रमशः **वेरेल्स्ट** (१७६७ से १७६९ ई०) तथा **कार्टियर** (१७६९ से १७७२ ई०) बंगाल के गवर्नर बनाये गये। इन दोनों के समय में कोई विशेष महत्त्वपूर्ण घटना नहीं हुई तथा वे साधारण योग्यता से शासन चलाते रहे। परन्तु क्लाइव जैसे कड़े शासक के न रहने पर बंगाल के दोहरे शासन के दोष स्पष्ट रूप से सामने दिखाई देने लगे। बंगाल के नवाब के हाथों में 'आक्रमणों से नवाबी की रक्षा और साधारण शासन का उत्तरदायित्व' था; परन्तु कर वसूल करने का अधिकार कम्पनी के हाथ में होने से उसके पास धन का अभाव था। कम्पनी के हाथ में शक्ति थी परन्तु उसपर उत्तरदायित्व बिलकुल नहीं था। नवाब अपनी कमजोरी के कारण कम्पनी के नौकरों के व्यक्तिगत व्यापार और लूट को रोकने में असमर्थ था तथा उनके शोषक व्यापार के कारण प्रजा की दुर्दशा होने लगी। बंगाल में एक भीषण अकाल पड़ गया; परन्तु तब भी बड़ी बेरहमी से कम्पनी करों को वसूल करती रही। अन्त में कम्पनी ने **वारेन हेस्टिंग्स** को बंगाल का गवर्नर बनाकर भेजा और उसने अनेक बुराइयों को भरसक दूर करने का प्रयत्न किया।

३३ अध्याय

अंग्रेजी सत्ता का विस्तार

(१७७२ ई० से १७९८ ई०)

१. अवध से गठबन्धन

वारेन हेस्टिंग्स दो वर्ष तक (१३ अप्रैल सन् १७७२ ई० से १९ अक्टूबर सन् १७७४ ई० तक) बंगाल का गवर्नर रहा; परन्तु बाद में वह गवर्नर जनरल बना दिया गया और कम्पनी का भारतवर्ष में सर्वप्रमुख कर्मचारी हो गया। उसका समय भारतवर्ष में अंग्रेजी सत्ता के विस्तार की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण रहा। जब वह आया तब भारतवर्ष में ऐसी अनेक शक्तियां थीं, जिनका मुकाबला किये बिना अंग्रेजी सत्ता का विस्तार कठिन था। अवध का वजीर शुजाउद्दौला १७६५ की संधि के द्वारा अंग्रेजों का मित्र हो गया था और उन्होंने बड़ी बुद्धिमानी से उसके राज्य को मराठों के आक्रमणों से बिहार और बंगाल को बचाने के लिये अन्तर-राज्य बना दिया था। शाहआलम द्वितीय कुछ दिनों तक तो अंग्रेजी कम्पनी की कृपा का भोग करता रहा; परन्तु बाद में वह दिल्ली पर एक बार पुनः असली सम्राट् के रूप में आसीन होने का स्वप्न देखने लगा और मराठों से जा मिला। मराठा लोग भी १७६१ ई० की पानीपत की हार से फिर उठकर अपनी शक्ति बढ़ाने में लग गये थे। उनका सबसे शक्तिशाली नेता उस समय महादाजी सिंधिया था और १७७०–७१ ई० में उसने पुनः एक बार शाह-आलम पर अपना प्रभाव जमा लिया तथा सम्राट् को पुनः असली सम्राट् बनाकर दिल्ली की गद्दी पर बैठाने का आश्वासन दिया। शाहआलम ने अपने को अंग्रेजों से मुक्त करने के लिये उसका प्रस्ताव मान लिया और उसको पुरस्कारस्वरूप कड़ा और इला-हाबाद के जिलों को भी दे दिया। ये जिले उसको कम्पनी की ओर से १७६५ ई० में मिले थे। इसपर वारेन

महादाजी सिंधिया

हेस्टिंग्स ने कड़ाई से काम लिया और तुरन्त उसने कड़ा और इलाहाबाद के

जिलों को अवध के वजीर को ५० लाख रुपये सालाना के बदले दे दिया। वजीर ने संरक्षण संधि के अनुसार अवध की रक्षा करनेवाली अंग्रेजी सेना के खर्च को चुकाने का भी वादा किया। १७७३ ई० बनारस की सन्धि के द्वारा वारेन हेस्टिंग्स ने शुजाउद्दौला से मिलकर उपर्युक्त समझौता कर लिया।

२. रुहेला-युद्ध

बनारस की संधि का प्रभाव रुहेलखण्ड से कम्पनी के युद्ध के रूप में पड़ा। रुहेलखण्ड अवध के उत्तरपश्चिम में हिमालय की तलहटी पर बसा हुआ एक छोटा सा राज्य था, जिसमें रुहेले सरदारों का नेता हाफिज रहमत अली योग्यता और न्यायपूर्वक शासन करता था। यद्यपि उसकी अवध के शासक से पटती नहीं थी परन्तु मराठों के आक्रमण से डरकर उसने शुजाउद्दौला से यह संधि कर ली कि मराठों के रुहेलखण्ड पर आक्रमण के समय यदि अवध सहायता करेगा तो वह ४० लाख रुपये पुरस्कार स्वरूप देगा। संयोगवश सन १७७३ ई० में मराठों ने रुहेलखण्ड पर आक्रमण कर दिया और अवध की सेना की सहायता से वे पीछे हटा दिये गये। शुजाउद्दौला ने जब अपनी सहायता के पुरस्कार ४० लाख रुपयों को मांगा तो रहमत अली ने आनाकानी की। इस पर क्रुद्ध होकर उसने रुहेलों से संधिपालन कराने के लिये अंग्रेजों से सहायता मांगी। अंग्रेजी कम्पनी ने इसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया तथा एक अंग्रेजी टुकड़ी की सहायता से अवध की सेनाओं ने रुहेलखण्ड को रौंद डाला। युद्ध में रुहेले बड़ी वीरतापूर्वक लड़े और उनका सरदार हाफिज रहमत अली खां लड़ते-लड़ते वीरगति को प्राप्त हुआ। रुहेलखण्ड मीरनपुर कटरा के युद्ध में जीतकर अवध में मिला दिया गया।

यहाँ कम्पनी तथा वारन हेस्टिंग्स की नीति न्यायपूर्ण नहीं थी। रुहेलों ने कभी भी कम्पनी का कुछ बिगाड़ा नहीं था। शुजाउद्दौला और हाफिज रहमत अली के आपसी झगड़े में पड़ने की अंग्रेजों को कोई आवश्यकता नहीं थी। बनारस की सन्धि के अनुसार अवध के ऊपर आक्रमण की दशा में ही अंग्रेजों को सहायता देना आवश्यक था। अवध का शासक यदि कहीं आक्रमण करे तो उसमें उसकी सहायता के लिये अंग्रेज बाध्य नहीं थे। परन्तु भीतरी बात तो यह थी कि अंग्रेज कम्पनी ने हिन्दुस्तान के छोटे-छोटे राज्यों के आपसी झगड़ों में हमेशा राजनीतिक स्वार्थ के कारण हिस्सा लिया और उसका लाभ उठाया। रुहेलखण्ड पर आक्रमण करके अपनी कठपुतली अवध के जरिये वारेन हेस्टिंग्स ने अंग्रेज कम्पनी की शक्ति दृढ़ की।

३. अंग्रेजों का मराठों से संघर्ष

(१) मराठों में गृह-कलह

सन १७७० ई० तक मराठे पानीपत की तीसरी लड़ाई (सन १७६१ ई०) की हार से सम्हल चुके थे। उन्होंने अब नर्मदा नदी को पार करके मालवा, राजस्थान, रुहेलखण्ड तथा दिल्ली पर आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया था। १७७१ ई० में महादाजी सिंधिया ने किस प्रकार शाहआलम द्वितीय को अंग्रेजों से फोड़कर अपनी ओर मिला लेने का प्रयत्न किया, इसको हम ऊपर देख चुके हैं; परन्तु इसका वह बहुत लाभ नहीं उठा सका, क्योंकि मराठों में आपसी शत्रुता और भेद प्रारम्भ हो गया। पेशवा, जिसकी राजधानी पूना थी, मराठा राज्यों का प्रमुख माना जाता था। **पेशवा माधवराव प्रथम** बड़ा ही कुशल और बुद्धिमान शासक था और वह अपने काका **रघुनाथ राव** अथवा **राघोवा** की महात्वाकांक्षाओं को दवाये रखने में समर्थ सिद्ध हुआ। परन्तु दुर्भाग्यवश १७७२ ई० में उसकी अल्पकालीन अवस्था में ही मृत्यु हो गयी।

राघोवा फड़नवीस

उसका भाई **नारायण राव**, राघोवा को अपनी ओर न रख सका और अन्त में राघोवा ने नारायण राव का वध करवा दिया। अब पेशवा की गद्दी के लिये युद्ध अवश्यम्भावी हो गया तथा एक तरफ राघोवा और दूसरी तरफ **नाना फड़नवीस** के नेतृत्व में नारायण राव की मृत्यु के बाद उसकी पत्नी **गंगाबाई** से उत्पन्न पुत्र के सहायक लोग अपनी अपनी शक्ति जुटाने लगे।

(२) अंग्रेजों का हस्तक्षेप

अंग्रेज लोग इस प्रकार के झगड़ों में पड़कर लाभ उठाने के अभ्यस्त हो गये थे और उन्होंने इस अवसर को भी हाथ से नहीं जाने दिया। राघोवा ने जब बम्बई की अंग्रेजी प्रेसीडेन्सी से सहायता मांगी, तो उन्होंने उसे तुरत स्वीकार कर लिया तथा राघोबा और अंग्रेजों के बीच १७७५ ई० में सूरत की संधि हो गयी। बेसीन और सालसीट के बदले बम्बई की सरकार ने उसकी सहायता स्वीकार कर ली तथा कम्पनी की एक टुकड़ी और राघोबा की सेनाओं ने पूना सरकार को एक युद्ध में हरा भी दिया। परन्तु कलकत्ता की बड़ी कौंसिल ने बम्बई सरकार की सूरतवाली संधि और पूना सरकार के विरुद्ध लड़ाई को अनुचित ठहराया तथा उसने पूना की सरकार से १७७६ ई में एक संधि भी कर ली। परन्तु इस नयी सन्धि का बम्बई सरकार पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा और वह केवल कोरे कागज की चीज रह गई। बम्बई सरकार ने १७७८ ई में फिर राघोवा से सन्धि कर ली। वारेन हेस्टिंग्स ने, जो कौंसिल में अपने विरोधियों से अब मुक्त हो चुका था, इस संधि को मान लिया तथा पुनः पूना की सरकार के विरुद्ध राघोबा की ओर से अंग्रेजों ने युद्ध प्रारम्भ कर दिया। परन्तु मराठों से वारगाँव की लड़ाई में अंग्रेजों की करारी हार हुई, तथा उन्हें विवश होकर संधि की बात चलानी पड़ी। वारेन हेस्टिंग्स ने संधि मानने से इनकार कर दिया और उसने कर्नल गोडार्ड के सेनापतित्व में उत्तरी भारत से सेना भेजी, जो अहमदाबाद और बेसीन जीतती हुई पूना पर चढ़ गयी; परन्तु वहाँ अंग्रेजों की बुरी हार हुई। दूसरी तरफ अंग्रेजी सेनाओं ने ग्वालियर जीत लिया। वारेन हेस्टिंग्स ने यहाँ कूटनीति से काम लिया और उसने महादाजी सिंधिया को फोड़ लिया। नागपुर के भोंसले को भी थोथा आश्वासन दिया गया। इस सब का फल यह हुआ कि नाना फड़नवीस अकेले बच गये और उनको संधि की बात स्वीकार करनी पड़ी।

(३) सालबाई की संधि

सन १७८३ ई० में सालबाई की संधि हुई। इसके अनुसार अंग्रेजों का सालसीट पर अधिकार मान लिया गया और उन्होंने नारायण राव के बालक पुत्र द्वितीय माधवराव को पेशवा मान लिया। राघोबा को पेंशन दे दी गयी तथा सिंधिया को यमुना के पश्चिम के सभी प्रदेश वापस मिल गये। इस प्रकार अंग्रेजों को इस संधि से कोई विशेष लाभ तो नहीं हुआ; परन्तु उनको मराठों के बीच में भेद उत्पन्न करने का अवसर मिल गया।

४. हैदरअली से संघर्ष

(१) प्रथम मैसूर-युद्ध

हैदरअली एक उत्साही, महात्वाकांक्षी और साहसी व्यक्ति था। मैसूर के हिन्दू राज्य में नौकरी करते हुए अन्त में उसने राज्य को ही अपने लिये हड़प लिया। परन्तु उसका शासन न्यायपूर्ण और प्रजा को सुख देनेवाला था। उसकी बढ़ती हुई शक्ति से अंग्रेजों को खतरा अनुभव होने लगा तथा जब वह अपना साम्राज्य बढ़ाने लगा, तो, स्वभावतः हैदराबाद के निजाम और मराठों के कान खड़े हो गये। १७६५ ई० के लगभग अंग्रेजों ने निजाम तथा मराठों से मिलकर हैदरअली के विरुद्ध एक संघ बना लिया, परन्तु थोड़े ही दिनों में मराठे अलग हो गये। अन्त में निजाम ने भी अंग्रेजों का साथ छोड़ दिया तथा हैदरअली की ओर जा मिला, परन्तु मैसूर भी उसकी मित्रता का बहुत दिनों तक लाभ नहीं उठा सका। अन्त में सन १७६९ ई० में अंग्रेजों ने हैदरअली से संधि कर ली और दोनों दलों ने अपने विजित प्रदेश और कैदियों को लौटा दिया। अंग्रेजों ने यह भी वादा किया कि मैसूर पर आक्रमण होने की अवस्था में वे हैदरअली की सहायता करेंगे।

हैदरअली

(२) द्वितीय मैसूर-युद्ध

मराठों ने मैसूर पर १७७१ ई० में आक्रमण कर दिया, परन्तु अंग्रेजों ने कोई सहायता मैसूर की नहीं की। इस पर हैदरअली क्रुद्ध हो गया। १७७९ ई० में जब मराठे अंग्रेजों से लड़ रहे थे तब निजाम के साथ हैदरअली ने भी मराठों का साथ दिया। उस समय अंग्रेजों की हालत बड़ी बुरी थी और सारे हिन्दुस्तान में उन्हें युद्धों का सामना करना पड़ रहा था। हैदरअली १७८० ई० में कर्नाटक पर आंधी पानी की तरह टूट पड़ा और उसकी राजधानी अर्काट को जीत लिया। परन्तु जब वारेन हेस्टिंग्स ने यह देखा कि मद्रास की सरकार हैदरअली को दबाने में सफल नहीं है, तो उसने बंगाल से सर आयरकूट को हैदर के विरुद्ध भेजा। आयरकूट ने पोर्टो नोवो नामक स्थान पर एक बड़ी विजय प्राप्त की। इसी बीच हैदरअली को फ्रांसीसियों की सहायता प्राप्त हो गई। मैसूर के दुर्भाग्य से १७८२ ई० में हैदरअली की मृत्यु

हो गयी। परन्तु उसके वीर पुत्र टीपू ने युद्ध को चलाये रखा और १७८३ ई० में एक बड़ी अंग्रेजी टुकड़ी को हराकर कैद कर लिया। परन्तु दूसरी ओर कर्नल फुलार्टन उसकी राजधानी श्रीरंगपट्टम तक पहुँच गया। इसी बीच मद्रास के गवर्नर मैकार्टनी ने टीपू के पास संधि का संदेश भेजा जिसे उसने स्वीकार कर लिया। अंग्रेजों और टीपू में मंगलोर की संधि हो गई और दोनों ने एक-दूसरे के जीते हुए प्रदेशों को लौटा दिया।

सुलतान टीपू

हैदरअली एक योग्य शासक था। उसने मैसूर राज्य की सीमा बहुत बढ़ा दी। यद्यपि वह कुछ पढ़ा-लिखा नहीं था परन्तु उसकी बुद्धि बड़ी कुशाग्र और स्मृति बड़ी तीव्र थी। राजनीति की गूढ़ से गूढ़ बातों को समझने में उसको कोई कठिनाई नहीं होती थी और अपने निर्णय पर तुरत काम करने की उसमें अद्भुत शक्ति थी। राज्य के सभी प्रबन्धों और मामलों पर उसकी दृष्टि रहती थी तथा वह सभी कागज-पत्रों को समझता था। उसके शासन-काल में उसकी प्रजा सुखी थी।

५. वारेन हेस्टिंग्स का चेतसिंह और अवध की बेगमों के प्रति दुर्व्यवहार

बनारस के राजा चेतसिंह अवध के वजीर के सामन्त थे परन्तु बाद में उन्होंने अंग्रेजी कम्पनी की प्रभुता अपने ऊपर मान ली। १७७५ ई० में उन्होंने हेस्टिंग्स से एक संधि कर ली जिसके अनुसार कम्पनी को २२॥ लाख रुपया सालाना भेंट देना उन्होंने स्वीकार किया। मराठों और हैदरअली से युद्धों के कारण कम्पनी को धन की कमी रहने लगी और वारेन हेस्टिंग्स ने चेतसिंह से साधारण भेंट के अलावा कई बार रुपया मांगा तथा उन्होंने अपनी असमर्थता प्रगट करते हुए भी बराबर उसकी मांगों को अंशतः अथवा पूर्णतः पूरा किया। १७८० में घुड़सवारों का एक दल और पैदल टुकड़ी चेतसिंह से मांगी गई और उन्होंने उसे अंशतः देने का वचन दिया परन्तु वारेन हेस्टिंग्स अपनी शक्ति के मद में वाराणसी आ पहुँचा तथा उसने चेतसिंह को कैद करके उनका अपमान किया। इसपर राज्य सैनिकों ने विद्रोह कर दिया और अंग्रेजी सिपाहियों को मार डाला। स्वयं हेस्टिंग्स को प्राण बचाने के लिये भागना पड़ा। परन्तु तुरंत ही अंग्रेजी कुमक पहुँच गयी और वाराणसी को उसने जीतकर

शांति स्थापित कर ली। चेतसिंह ने अपने को निर्दोष बताया; परन्तु तब भी वे राज्य-च्युत कर दिये गये और उनका राज्य उनके भतीजे को दे दिया गया। वारेन हेस्टिंग्स का चेतसिंह के प्रति यह दुर्व्यवहार किसी भी दशा में ठीक नहीं

वारेनहेस्टिंग

ठहराया जा सकता। चेतसिंह जो अंग्रेजी कम्पनी के साथ हुई संधि की शर्तों का पूरा-पूरा पालन कर रहे थे, किसी भी प्रकार दोषी नहीं थे तथा उनके राज्य पर आक्रमण करके हेस्टिंग्स ने जिस उतावलेपन और लालच का परिचय दिया वह सर्वथा निन्दनीय था।

परन्तु धन के लोभ में वारेन हेस्टिंग्स चेतसिंह के साथ दुर्व्यवहार करने तक ही नहीं सीमित रहा। अवध के शासक शुजाउद्दौला के मर जाने के बाद १७७५ ई० में उसका पुत्र आसफउद्दौला गद्दी पर बैठा। उससे भी कई बार वारन हेस्टिंग्स ने धन मांगा और उसने माँग पूरी की। उसका तथा अंग्रेजी कम्पनी का भी विश्वास था कि बेगमों अर्थात् नवाब की माँ और दादी के पास बहुत धन है और अंग्रेजी कम्पनी का बकाया चुकाने के लिये वह उनसे धन मांगने लगा। एक बार १७७५ ई० में बेगमों ने लाखों रुपयों से नवाब को

प्रसन्न भी किया परन्तु वह सन्तुष्ट नहीं हुआ। अन्त में उसने बेगमों से धन उगाहने के लिये वारेन हेस्टिंग्स से आज्ञा मांगी, जिसे उसने निर्लज्जतापूर्वक दे दी। अंग्रेजी सेना की सहायता से बेगमें और उनके नौकर डराये धमकाये गये और उनका सारा धन छीन लिया गया। वारेन हेस्टिंग्स का इस सम्बन्ध में सारा वर्ताव नीचता और अन्याय से भरा था। इन अपराधों के फलस्वरूप, इंगलैण्ड लौट जाने के बाद, पार्लमेण्ट में बर्क द्वारा उसपर अनेक गंभीर अभियोग लगाये गये।

६. लार्ड कार्नवालिस

(१) तीसरा मैसूर-युद्ध

वारेन हेस्टिंग्स १७८५ ई० में वापस बुला लिया गया। उसके बाद जान मैकफरसन एक वर्ष तक स्थानापन्न गवर्नर जनरल रहा; परन्तु उसके काल में कोई विशेष घटना नहीं हुई। १७८६ ई० में लार्ड कार्नवालिस भारतवर्ष में अंग्रेजी कम्पनी का गवर्नर जनरल होकर आया। वह शांतिप्रिय था तथा १७८३ के पिट्स इण्डिया एक्ट का पालन करना चाहता था। उसके अनुसार अंग्रेजी कम्पनी को भारतीय राजाओं के झगड़ों में हस्तक्षेप करने की मनाही कर दी गई थी। परन्तु कार्नवालिस आते ही यह समझ गया कि मैसूर में बढ़ती हुई टीपू सुलतान की शक्ति अंग्रेजी कम्पनी, विशेषतः मद्रास सरकार के लिये, घातक होगी और वह यह ताड़ गया कि दोनों में युद्ध अवश्यम्भावी है। यद्यपि टीपू ने ऊपर से अंग्रेजों की मित्रता बनाये रखी, परन्तु भीतर ही भीतर वह फ्रांस और तुर्की से सहायता और मित्रता के लिये सम्बन्ध स्थापित करने लगा। कार्नवालिस भी चुप नहीं था और उसने टीपू के विरुद्ध निजाम तथा मराठों को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न शुरू कर दिया। उसने निजाम से गुन्टूर की सरकार हड़प ली। कार्नवालिस यह जानता था कि निजाम भी टीपू का शत्रु है और उसको अवसर आने पर सहायता का झूठा आश्वासन दे दिया। टीपू कार्नवालिस द्वारा निजाम का फोड़ना ताड़ गया और उसने अंग्रेजों पर संधि भंग करने का दोषारोपण किया। उसी के साथ उसने ट्रावनकोर के हिन्दू राजा पर, जो अंग्रेजों का मित्र था, आक्रमण कर दिया। १७९० ई० में कार्नवालिस ने भी

लार्ड कार्नवालिस

निजाम और मराठों के संयुक्त सहयोग से टीपू के विरुद्ध धावा बोल दिया। पहले अंग्रेजों की ओर से मेजर जनरल मेडोज भेजा गया परन्तु टीपू उससे अधिक कुशल था और अंग्रेजों की कई स्थानों पर हार हुई। बाद में कार्नवालिस ने स्वयं मैदान में उतर कर युद्ध संचालन शुरू कर दिया। १७९१ ई० में उसने बंगलोर पर आक्रमण कर दिया तथा उसे जीत कर वह टीपू की राजधानी श्रीरंगपट्टम की ओर बढ़ने लगा। परन्तु टीपू की वीरता और वर्षा के कारण कार्नवालिस आगे नहीं बढ़ पाया और युद्ध कुछ दिनों के लिये रुक गया। जब लड़ाई फिर हुई तो कार्नवालिस का पल्ला टीपू से भारी पड़ा तथा उसने संधि की बातचीत शुरू कर दी।

(२) परिणाम

दो वर्षों के युद्ध के बाद १७९२ ई० में टीपू ने अंग्रेजों से संधि कर ली। उसको अपना लगभग आधा राज्य छोड़ देना पड़ा जिसे अंग्रेजी कम्पनी, निजाम और मराठों ने बाँट लिया। अंग्रेजों के हिस्से में मलाबार, कुर्ग, बारामहल तथा समुद्री किनारे पड़े। टीपू को इसके अलावा ३० लाख पौण्ड युद्ध का हर्जाना भी देना पड़ा और अपने दो लड़कों को अंग्रेजों के यहाँ बन्धक के रूप में रखना पड़ा। इस प्रकार टीपू की शक्ति बहुत ही कम हो गयी और उसका मान घट गया।

७. सर जान शोर की नीति

१७९३ ई० में कार्नवालिस इंगलैण्ड लौट गया और उसकी जगह पर सर जान शोर हिन्दुस्तान में गवर्नर जनरल बनाया गया। वह शांतिप्रिय व्यक्ति था तथा १७८३ ई० के पिट्स इण्डिया ऐक्ट के अनुसार देशी राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहता था। उसके समय में मराठों की शक्ति बढ़ी और उन्होंने हैदराबाद के निजाम को १७९५ ई० में खरदा की लड़ाई में बुरी तरह पछाड़ा। सर जान शोर ने अपनी अहस्तक्षेप की नीति का पालन करते हुये निजाम की कोई मदद नहीं की और वह अंग्रेजों से असन्तुष्ट हो गया। उसने १७९८ ई० में अवध से एक नयी संधि की तथा वहाँ रक्षा के लिये जो अंग्रेजी सेना रखी गयी थी, उसका निजाम से मिलनेवाला खर्च कम कर दिया। १७९८ ई० में उसका कार्यकाल समाप्त कर दिया गया और कार्नवालिस पुनः गवर्नर जनरल बनाकर भारत भेजा गया। परन्तु लार्ड कार्नवालिस यहाँ आकर कुछ कर न सका और उसी साल लार्ड वेलेजली भारतवर्ष का गवर्नर जनरल होकर आया।

३४ अध्याय

अंग्रेजी प्रभुता की स्थापना : भारतीय राज्यों का पतन

१. स्थिति

लार्ड वेलेजली १७९८ ई० में भारतवर्ष का गर्वनर जनरल होकर आया। वह घोर साम्राज्यवादी था और भारतवर्ष में पहले रह चुकने के कारण यहाँ की परिस्थितियों को समझता था। सर जानशोर की कमजोर नीति का फल यह हुआ कि अंग्रेजों के मित्रों का उनसे विश्वास उठ गया था। निजाम फ्रांसीसियों की सहायता और मित्रता पाने का इच्छुक हो गया था। टीपू १७९२ ई० की अपमानजनक संधि को दूरकर पुनः अपनी प्रतिष्ठा और शक्ति स्थापित करना चाहता था। मराठों की शक्ति अपनी चरम सीमा पर थी तथा यशवंतराव होल्कर और दौलतराव सिंधिया अपनी शक्ति बहुत बढ़ा चुके थे। ऐसी दशा में वेलेजली शांति और हस्तक्षेप न करने की नीतिका विरोधी हो गया और भारत में आकर उसने अंग्रेजी साम्राज्य के विस्तार का कार्य प्रारंभ कर दिया।

लार्ड वेलेजली

२. सहायक संधि की प्रथा

अंग्रेजी साम्राज्य के विस्तार की दृष्टि से उसने सहायक संधि की प्रथा प्रचलित की। यद्यपि इस प्रकार की संधियाँ अंग्रेज लोग पहले भी अवसर मिलने पर देशी राज्यों से करते थे परन्तु उनका क्षेत्र और शर्तें सीमित होती थीं। वेलेजली ने अनेक नयी शर्तों के साथ उसे प्रचलित किया। उसके अनुसार देशी रियासतों को अंग्रेजी अफसरों की देखरेख में अपनी रक्षा के लिये सेना रखनी होती थी तथा सेना के खर्च के लिए अपने राज्य का कुछ भाग अंग्रेजों को देना पड़ता था। छोटे राज्यों को भेंट कम्पनी को देनी होती थी, जिसके बदले अंग्रेजी सरकार उनकी रक्षा करती थी। कोई भी राज्य बिना अंग्रेजों की अनुमति से न तो कोई युद्ध कर सकता था और न कहीं संधि ही। इस

सहायक संधि को माननेवाले सभी राज्यों को अंग्रेजी कम्पनी के रेजिडेण्ट को राय लेने के लिये रखना पड़ता था। इस प्रथा के द्वारा वेलेजली ने सभी देशी राज्यों में मित्र बनकर घुस जाने का निश्चय कर लिया और अपनी गूढ़-नीति का जाल बिछा दिया।

(१) निजाम के द्वारा सहायक संधि की स्वीकृति

सहायक संधि को निजाम जैसे कमजोर शासक ने तुरन्त स्वीकार कर लिया। इसके द्वारा उसने १७९८ ई० में अंग्रेजों को अपनी परराष्ट्र नीति सौंप दी। उनके कहने से अपनी सेवा में रखे हुए सभी फ्रांसीसी अफसरों को निकाल दिया। उसने अपनी रक्षा के लिये अंग्रेजी सेना का खर्च चुकाना भी स्वीकार कर लिया। बाद में १८०० ई० में इस संधि की पुनः पुष्टि की गयी और सहायक सेना की संख्या बढ़ा दी गयी तथा मैसूर की लड़ाइयों में अंग्रेजों की मदद के बदले जितने जिले उसको मिले थे वे सब उसने अंग्रेजी सरकार को लौटा दिया। जब १८०३ ई० में निजाम अली मर गया तो उसके उत्तराधिकारी सिकन्दर शाह ने सभी समझौतों को मान लिया। इस प्रकार निजाम अंग्रेजों का कृपापात्र और उनके अधीन हो गया।

(२) कर्नाटक सूरत और तंजौर पर वेलेजली का प्रहार

वेलेजली भारतवर्ष में अंग्रेजी कम्पनी की शक्ति को प्रभुशक्ति मानता था। कर्नाटक नवाब मुहम्मद अली के समय से ही बुरे शासन से त्रस्त था और महलों में षड्यंत्र चला करते थे। शासन की बुराई वेलेजली के लिए अच्छा बहाना था। इसके अतिरिक्त उसको कुछ ऐसे भी प्रमाण मिले जिनसे नवाब का टीपू सुल्तान से पत्र-व्यवहार करना सिद्ध हुआ। इसी बीच मुहम्मद अली १८०१ ई० में मर गया तथा वेलेजली ने उसके भतीजे अजीमुद्दौला की ओर से हस्तक्षेप करके उसे तो पेंशन दे दी और सारे कर्नाटक के शासन को कम्पनी के हाथ में ले लिया। इसी प्रकार सूरत के नवाब के साथ भी व्यवहार हुआ। उसकी रक्षा अंग्रेजी सेना किया करती थी और उसके बदले वह कम्पनी को सेना का खर्च देता था। परन्तु यह खर्च बहुत दिनों से बाकी पड़ा हुआ था और उसका बहाना बनाकर १८०० ई० में वेलेजली ने नवाब को सूरत का शासन अंग्रेजों के हाथ सौंप देने को बाध्य किया। कर्नाटक और सूरत की ही तरह तंजौर के हिन्दू राजा का भी दुर्भाग्य हुआ और १७९९ ई० में जब वहाँ उत्तराधिकार के लिए झगड़ा चल रहा था तो वेलेजली ने उसमें हस्तक्षेप करके सहायक संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए वहाँ के शासक को विवश किया।

कुछ ही दिनों बाद वहाँ के पूरे शासन को उसने हड़प लिया तथा राजा को ४० हजार पौंड सालाना की पेंशन दे दी गयी।

(३) अवध के नवाव से नयी संधि

अवध का शासन वहाँ के नवाबों के हाथों में दिनों दिन खराब होता जा रहा था। इसका लाभ उठा कर वेलेजली ने उसे अपने क्षेत्र में लाने का प्रयत्न किया। नवाव बहुत दिनों से अंग्रेजी कम्पनी का मित्र था और वह अपनी रक्षा के लिए अंग्रेजी सेना भी रखता था, जिसका खर्च वह चुकाता था। परन्तु अवध के संबंध में वेलेजली की नियत कुछ दूसरी ही थी। वह यह समझता था कि पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्तों को मराठों, सिखों और काबुल के बादशाह जमानशाह के आक्रमणों से रक्षा के लिए अवध को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया जाना आवश्यक है। उसने इसी बात को ध्यान में रखकर अपनी नीति का जाल अवध पर बिछाने की चेष्टा की परन्तु उसको कोई उपयुक्त बहाना नहीं मिला। तथापि अन्त में जमानशाह के आक्रमण के खतरे की बात बता कर उसने नवाव को डरा दिया। नवाव एक नयी संधि करने के लिए बाध्य किया गया। १८०१ ई० में हुई उस संधि के अनुसार नवाब को रुहेलखंड तथा गंगा और यमुना नदियों के बीच में पड़ने वाले निचले भागों को कम्पनी के हाथों सौंपना पड़ा। इस प्रकार कम्पनी की सीमायें उत्तर में बहुत दूर तक बढ़ गयीं और नवाव का क्षेत्र कम्पनी के क्षेत्रों से केवल उत्तर को छोड़कर तीन ओर से घिर गया। नवाब के प्रति इस निर्दयता का व्यवहार वेलेजली के लिये न्यायपूर्ण नहीं था, पर अंग्रेजी सरकार की भारतवर्ष में सीमावृद्धि के लिए उसने सब कुछ उचित समझा तथा नवाब को अपनी कमजोरी का मूल्य चुकाना पड़ा।

(४) टीपू सुल्तान और चौथा मैसूर-युद्ध

कार्नवालिस से हुई संधि से टीपू असन्तुष्ट था और सर जानशोर के कमजोर शासन-काल में उसने अपनी बहुत अधिक प्रतिष्ठा बढ़ा ली। उन दिनों अंग्रेजों के ऊपर, युरोप में, फ्रांस का आतंक चढ़ गया था। फ्रांसीसी राज्यक्रांति के युद्धों में अंग्रेज और फ्रांस एक दूसरे से लड़ रहे थे। नैपोलियन बोनापार्ट की सेनायें सारे युरोप को रौंदकर मिस्र की ओर बढ़ रही थीं और अंग्रेजों को यह डर था कि कहीं वे हिन्दुस्तान पर भी न चढ़ जायँ। ठीक इन्हीं दिनों टीपू फ्रांसीसियों से पत्र-व्यवहार करके उनसे अपनी मित्रता बढ़ा रहा था। इसके अतिरिक्त उसने काबुल और तुर्की में भी अपने दूतों को भेजा। जब

लार्ड वेलेजली भारत में आया तो टीपू की इन तैयारियों को देखकर उसकी मंशा समझ गया। उसने मैसूर पर तुरन्त प्रहार करने का विचार कर लिया। वह यह समझता था कि टीपू की शक्ति को ही समाप्त करके वह भारत में अंग्रेजी कम्पनी को फ्रांसीसियों के आक्रमणों से बचा सकता है। उसने अपनी ओर निजाम तथा मराठों को भी मिलाने का प्रयत्न किया तथा पेशवा को विजयों में बटवारे का प्रलोभन देकर उसने अपने प्रयत्न में सफलता पायी। वेलेजली ने जब अपनी तैयारियाँ पूरी कर लीं तो टीपूके पास अंग्रेजी कम्पनी के साथ सहायक-संधि करने के लिए उसने प्रस्ताव भेजा। उसकी अपमानजनक शर्तों को मानना टीपू के लिये असंभव था। इसीपर वेलेजली ने मैसूर पर आक्रमण कर दिया। युद्ध बहुत थोड़े दिनों चला। मद्रास और बम्बई दोनों ओर से अंग्रेजी सेनाओं ने निजाम और मराठों की मदद से टीपू पर प्रहार किया था और वह बहुत दिनों तक युद्ध चला सकने में असमर्थ था। जनरल हैरिस ने मलवल्ली और जनरल स्टुअर्ट ने सेदासीर नामक स्थानों पर टीपू की सेनाओं को हराया। सुल्तान ने अपनी राजधानी श्रीरंगपट्टम की रक्षा का प्रयत्न किया परन्तु उसमें वह असफल रहा। वह अन्त में अपने किले के सामने लड़ते-लड़ते मारा गया। अंग्रेजों ने टीपू के परिवार को कैद कर लिया और उसके सम्बन्धी कलकत्ता भेज दिये गये। अंग्रेजों के हाथ मैसूर आ जाने पर उन्होंने मराठों को कुछ भाग दिया परन्तु उन्होंने उसे अस्वीकार कर दिया। निजाम को भी कुछ भूमि उसकी सीमाओं के पास दी गयी और मैसूर का अधिकांश बचा हुआ भाग वेलेजली ने मद्रास की सरकार में मिला लिया। बहुत थोड़ा-सा भाग जो बच रहा उसे मैसूरराज्य के प्राचीन हिन्दू राजवंश के एक बालक को दे दिया गया और उसे राजा घोषित किया गया। उसी के पूर्वजों से हैदर अली ने मैसूरराज्य हड़प लिया था। यह नया हिन्दू राजवंश अंग्रेजों की कृपा पर रहने लगा।

इस प्रकार टीपू की हार के कारण मैसूर राज्य का अन्त हो गया। हैदर अली की कमाई को उसके पुत्र टीपू ने खो दिया। पर टीपू का चरित्र महान् था। वह धार्मिक विश्वास का व्यक्ति था। वह पढ़ा-लिखा तथा योग्यतापूर्वक फारसी, उर्दू और कन्नड़ भाषायें बोल सकता था। एक वीर सेनानी होने के साथ-साथ वह एक बुद्धिमान् राजनीतिज्ञ भी था। वह अंग्रेजों को अपना और हिन्दुस्तान का सबसे बड़ा शत्रु समझता था और उसकी यह समझ सही थी। उसके सामने अपनी और अपने देश की स्वतंत्रता सबसे बहुमूल्य निधि थी और उसकी रक्षा के प्रयत्न में उसने वीरतापूर्वक प्राण न्यौछावर कर दिया।

३. वेलेजली की मराठा नीति

(१) मराठों का गृह-कलह

मराठों के नेता नाना फड़नवीस तथा उनके प्रमुख तुकोजी होल्कर और महादाजी सिन्धिया के दिनों में उनकी शक्ति बहुत बढ़ गयी थी। वे बुद्धमानीपूर्वक इस शक्ति की रक्षा करते थे तथा अपने आपसी संबंधों को भी ठीक रखते थे। परन्तु कुछ ही दिनों बाद मराठा लोग आपस में ही लड़ने लगे और यहीं उनका पतन प्रारंभ हो गया। १७९५ में पेशवा द्वितीय माधवराव के मर जाने पर द्वितीय बाजीराव पेशवा बना परन्तु उसकी नाना फड़नवीस से बिल्कुल नहीं पटी। द्वितीय बाजीराव ने अन्य मराठा सरदारों में भी अपनी मूर्खतावश फूट का बीज बो दिया और दौलतराव सिंधिया तथा यशवन्तराव होल्कर आपस में लड़ने लगे। १८०० ई० में नाना फड़नवीस की भी मृत्यु हो गयी। उनके मर जाने से मराठों में कूटनीति, तीक्ष्णबुद्धि और संयम की कमी हो गयी। नाना साहब की गद्दी पूना में प्राप्त करने के लिए सिंधिया तथा होल्कर आपस में ही लड़ गये तथा पेशवा द्वितीय बाजीराव ने सिंधिया का पक्ष ग्रहण किया। परन्तु यशवंत राव होल्कर की कुशल सेनाओं के आगे सिंधिया को सफलता नहीं मिली और उसने पूना पर अधिकार कर लिया।

(२) अंग्रेजों का हस्तक्षेप

पेशवा ने पूना से भागकर बेसीन में अंग्रेजों के यहाँ शरण ली। अंग्रेज ऐसे मौके की ताक में थे। जब से वेलेजली ने भारतवर्ष का शासन लिया तभी से उसने मराठों को अपनी सहायक संधि के जाल में फाँसने का प्रयत्न किया था परन्तु अब तक उसको नाना फड़नवीस के रहते कोई सफलता नहीं मिली। ऐसी परिस्थिति में जब पेशवा ने उसके यहाँ शरण ली तो वह अवसर का तुरन्त लाभ उठाने को तैयार हो गया। पेशवा ने अंग्रेजों से सहायकसंधि करना स्वीकार कर लिया तथा ३१ दिसम्बर १८०२ ई० को बेसीन में संधिपत्र पर हस्ताक्षर कर दिया।

(३) बेसीन की संधि

संधि की शर्तों के अनुसार पेशवा ने ६ हजार की सहायक सेना रखना स्वीकार किया, जिसमें युरोपीय (अंग्रेजी) लोगों की संख्या काफी थी। उसके खर्च के लिए २६ लाख रुपयों की आय वाली भूमि देना उसने माना। उसकी पर-राष्ट्रीय नीति पर कम्पनी का अधिकार हो गया। उसके निजाम तथा

गायकवाड़ से जो भी झगड़े थे उसमें अंग्रेज मध्यस्थ नियुक्त किये गये। इसके अलावा पेशवा की सेना में जो भी विरोधी युरोपीय थे उन्हें उसने निकाल देने का वचन दिया। इस प्रकार पेशवा ने अपनी रक्षा के लिए अपनी स्वतंत्रता बेच दी। लार्ड वेलेजली ने अपने छोटे भाई आर्थर वेलेजली को यह आज्ञा दी कि वह पेशवा को पूना की गद्दी पर पुनः बैठा दे तथा उसने उस कार्य को १८०३ ई० की १३ मई को पूरा कर दिया।

(४) मराठों से युद्ध

मराठा सरदारों के अपमान और क्रोध की सीमा न रही। अंग्रेजों से उनका युद्ध आवश्यम्भावी हो गया। दौलतराव सिंधिया तथा बरार के रघुजी भोंसले ने तुरंत एका कर लिया। उन्होंने यशवंतराव होल्कर से भी बातचीत की, परंतु उसने राष्ट्रीय संकट के उस अवसर पर उनकी मित्रता स्वीकार नहीं की। उपयुक्त अवसर पर अन्य मराठा सरदारों का साथ न देकर वह तमाशा देखता रहा और अन्त में जब युद्ध में कूदा भी तो अंग्रेज अपनी अन्य स्थानों की विजयों के फलस्वरूप उसकी शक्ति तोड़ने के लिए सबल हो चुके थे। वेलेजली युद्ध के लिये पूर्णरूप से तैयार था और जब १८०३ ई० में युद्ध छिड़ गया तो उसने चौतरफा लड़ाई शुरू कर दी। दक्षिण की सेनाओं ने आर्थर वेलेजली तथा उत्तर की सेनाओं ने जनरल लेक के नेतृत्व में लड़ना प्रारंभ किया। इसके अतिरिक्तगुजरात उड़ीसा और बुन्देलखंड में भी युद्ध छिड़ गया। आर्थर वेलेजली ने अहमदनगर के किले को लेकर असाई की लड़ाई में सिंधिया और भोंसले की संयुक्त सेना को हरा दिया। आरगाँव की लड़ाई में भोंसले की बची-खुची सेना भी कुचल दी गयी। अंग्रेजों ने असीर, बुरहानपुर तथा गवीलगढ़ के किले पर कब्जा कर लिया। जनरल लेक की सेनाओं ने उत्तर में दिल्ली और आगरे को जीत कर सिंधिया की सेनाओं को कई स्थानों पर हराया। गोरिल्ला युद्ध की प्रथाओं को छोड़ देने के कारण मराठों को अब अपने विदेशी सेनापतियों और सैनिकों पर निर्भर रहना पड़ता था और अक्सर उन्होंने उनका साथ छोड़ दिया। उनके अफसर फ्रांसीसी थे जो कम्पनी की भाँति मराठों की सेना का संगठन नहीं कर पाये थे। अन्त में मराठों की आपसी फूट भी थी। इन सबका फल यह हुआ कि अंग्रेजों के मुकाबिले इन युद्धों में मराठा लोग हार गये और उनको संधि के लिए बाध्य होना पड़ा।

(५) भोंसला और सिंधिया

भोंसला ने अंग्रेजों के साथ देवगाँव की संधि कर ली। उसने कटक (उड़ीसा) का प्रान्त जिसमें बालासोर भी शामिल था तथा वर्धा नदी के

पश्चिम का अपना सारा क्षेत्र अंग्रेजों को दे दिया। इससे मद्रास और बंगाल वाले कम्पनी के क्षेत्र एक-दूसरे से मिल गये। नागपुर में उसने अंग्रेजी रेजिडेण्ट भी रखना स्वीकार कर लिया तथा वेलेजली ने एलफिंस्टन को वहाँ भेजा।

दौलतराव सिंधिया ने भी सुरजी अर्जुनगाँव की संधि कर ली जिसके अनुसार उसे विजयी अंग्रेजों को गंगा और यमुना नदियों के बीचवाला अपना सभी भाग देना पड़ा। जयपुर और जोधपुर के उत्तर उसके जितने किले थे, सब अंग्रेजी कम्पनी ने ले लिये। इसके अतिरिक्त अहमदनगर और अजन्ता की पहाड़ियों के पश्चिम वाले सभी क्षेत्र भी उसे अंग्रेजों को देने पड़े। उसकी सेना में अंग्रेजों को छोड़कर और किसी विदेशी को नौकरी नहीं मिलेगी इसका भी उसने वचन दिया। उसके दरबार में सर जान मैलकम रेजिडेन्ट बनाकर भेजा गया। १८०४ की एक दूसरी संधि के अनुसार उसने सहायक संधि को भी मान लिया और उसके राज्य में एक अंग्रेजी सेना रहने लगी। इसके अतिरिक्त भोंसला तथा सिंधिया ने अंग्रेजों के साथ हुई पेशवा की बेसीन वाली संधि को भी स्वीकार कर लिया।

मराठों की हार का भारतवर्ष के इतिहास पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। वे अब बिल्कुल ही दुर्बल बना दिये गये तथा सहायक संधि को मान लेने से उनमें पुनरुत्थान की अब शक्ति ही नहीं रही।

(६) होल्कर से युद्ध

सिंधिया और भोंसला से अंग्रेजों की संधि तो हो गयी परन्तु होल्कर से युद्ध छिड़ जाने के कारण उसका तुरन्त कोई प्रभाव नहीं पड़ा। मराठों से अंग्रेजी कम्पनी का युद्ध चलता रहा। यशवंतराव होल्कर की सेनाओं ने कर्नल मानसन को राजपूताने में हराकर आगरे लौट जाने को बाध्य किया। होल्कर ने १८०४ में दिल्ली पर आक्रमण किया किन्तु उसे जीत नहीं सका। उधर जनरल लेक ने १८०५ ई० में भरतपुर के किले पर आक्रमण किया परन्तु वहाँ करारी हार हुई। इससे अंग्रेजों की सैनिक प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का लगा तथा वेलेजली की नीति से इंगलैंड के अधिकारी असन्तुष्ट हो गये। १८०५ ई० में उसने त्यागपत्र दे दिया और इंगलैण्ड लौट गया। होल्कर ने मराठों की पुरानी युद्ध-कला का अनुसरण करते हुए अंग्रेजों को अनेक लड़ाइयों में पछाड़ा परन्तु १८०५ ई० में उसकी भी सैनिक स्थिति कमजोर हो गयी। ऐसी स्थिति में दोनों दल शांति चाहने लगे। इंगलैण्ड से कार्नवालिस, जो अब बहुत ही बूढ़ा हो गया था; हिन्दुस्तान में गवर्नर जनरल बनाकर भेजा गया परंतु वह कुछ

कर नहीं सका और ५अक्टूबर सन १८०४ ई० को गाजीपुर में उसकी मृत्यु हो गई। उसके उत्तराधिकारी वार्लो ने मराठों से संधि कर ली।

(७) सिंधिया से पुनः संधि

१८०५ ई० में सिंधिया से अंग्रेजों ने दुवारा संधि कर ली तथा उसको ग्वालियर और गोहद लौटा दिया। उन दोनों के बीच चम्बल नदी सीमा मान ली गयी। १८०६ ई० होल्कर ने भी अंग्रेजों से संधि कर ली तथा चम्बल नदी के उत्तर की ओर पड़नेवाले अपने राज्य के सभी भागों को अंग्रेजों को दे दिया। राजपूताना और बुन्देलखंड पर उसने अपना सारा दावा छोड़ दिया, परन्तु इसके बदले उससे जीता हुआ बहुत बड़ा भाग वार्लो ने उसे लौटा दिया।

(८) मराठों का अंतिम पतन

वेलेजली के साथ होनेवाले युद्धों में मुख्य मराठा सरदारों को अंग्रेज अपनी सैनिक शक्ति से दवा सकने में सफल तो हुए, परन्तु उन पर कम्पनी की पूरी प्रभुसत्ता नहीं स्थापित हो सकी। भारतवर्ष में कार्नवालिस के बाद जो भी गवर्नर जनरल आये उनके सामने मराठों की समस्या बनी रही। यद्यपि मुख्य मराठा सरदारों में आपस में सर्वदा संबंध अच्छे नहीं रहते थे परन्तु अंग्रेजों को हमेशां यह भय रहता था कि कहीं पुनः मिलकर उन्हें देश से बाहर निकालने का वे प्रयत्न न करें। लार्ड कार्नवालिस के बाद सर जान वार्लो, जो कौंसिल का सर्वप्रधान सदस्य था, गवर्नर जनरल बनाया गया और अपने दो वर्षों के शासन-काल में (१८०५ से १८०७ तक) उसने देशी राज्यों के मामले में हस्तक्षेप न करने की नीति अपनायी। उसके काल में कोई मुख्य घटना नहीं हुई। उसके बाद लार्ड मिण्टो गवर्नर जनरल होकर आया, जो १८१३ तक रहा; परन्तु वह मराठों से होने वाली संधि को बनाये रखना चाहता था। उसका सारा समय ईरान, अफगानिस्तान तथा सिखों के यहाँ दूतों के भेजने और मित्रता की संधियों की बातचीत में ही बीता। परन्तु जब १८१३ ई० में लार्ड हेस्टिंग्स गवर्नर जनरल बनाकर भेजा गया तो, उसने मराठों से एक बार फिर संघर्ष करना आवश्यक समझा।

मराठा सरदारों में सर्वमुख्य पेशवा द्वितीय बाजीराव था। १८०३ई० में किस प्रकार वह अंग्रेजों का कृपापात्र होकर पूना की गद्दी पर बैठाया गया था, इसको ऊपर हम देख चुके हैं। परन्तु वह अंग्रेजों की मित्रता से संतुष्ट नहीं था और सहायक संधि से मुक्त होकर पुनः एक बार स्वतंत्र होना चाहता था। उसका मंत्री त्र्यंबकजी भी उसी की तरह सोचता था और वह यह चाहता था कि मराठों का पुनः एक मित्र-संघ स्थापित किया जाय जो अंग्रेजों से लोहा

लेने में सफल हो सके। पेशवा का गायकवाड़ से कुछ झगड़ा था। गायकवाड़ के मंत्री गंगाधर शास्त्री जो अंग्रेजों के मित्र थे उस झगड़े को निपटाने के लिए १८१४ ई० में पूना गये। परंतु बाजीराव ने अपनी दुष्टता का परिचय दिया और त्र्यम्बक जी की राय से गंगाधर शास्त्री का वध करा डाला। इसपर पूना में रहने वाला अंग्रेजी रेजिडेन्ट एलफिंस्टन नाराज हो गया तथा उसने द्वितीय बाजीराव को अपने मंत्री त्र्यम्बक जी को अंग्रेजों के हाथों सुपुर्द कर देने को बाध्य किया। त्र्यम्बकजी थाना के किले में अंग्रेजों द्वारा कैद कर लिए गए परन्तु साल भर के भीतर ही वहाँ से भाग गये। अंग्रेजों ने उनके भागने में पेशवा का हाथ समझा और अविश्वास तथा संदेह बढ़ता ही गया। पेशवा ने युद्ध की तैयारी शुरू कर दी तथा अन्य मराठा सरदारों को भी अपनी ओर से लड़ने का उसने आवाहन किया। उसने पठानों के सरदार अमीरखाँ तथा पिण्डारियों के नेताओं को भी अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया।

(अ) लार्ड हेस्टिंग्स और मराठों से युद्ध

लार्ड हेस्टिंग्स जो १८१३ ई० में गवर्नर जनरल होकर आया, स्वयं एक सैनिक पुरुष था। वह मराठों के दबाने के लिये अवसर ढूँढ़ रहा था। उसकी नीति यह थी कि मराठों का सारा क्षेत्र यदि नामतः नहीं तो तत्त्वतः अवश्य ही अंग्रेजी प्रभुता के भीतर आ जाय। अंग्रेज लोग मराठों के साथ होने वाले द्वितीय युद्ध के फलों से संतुष्ट नहीं थे और वे उसका पूरा लाभ नहीं उठा सके थे। उत्तर भारत की ही तरह वे दक्षिण भारत में भी अपनी प्रभुता स्थापित करना चाहते थे तथा कर वसूल करने और व्यापारिक सुविधाओं की आवश्यकता वे अनुभव करते थे। मराठा-संघ की रीढ़ टूटी हुई थी और वे अपनी कूटनीति के द्वारा उसे छिन्न-भिन्न करके पूरा लाभ उठाना चाहते थे। ऐसी परिस्थिति में हेस्टिंग्स ने पेशवा को घेर लिया। उसने पेशवा तथा दौलतराव सिंधिया को १८१७ ई० में क्रमशः पूना की तथा ग्वालियर की संधि करने को विवश किया। नागपुर के भोंसला राज्य में रघुजी भोंसला के मर जाने पर उनके पुत्र परसोजी भोंसला और अप्पाजी में उत्तराधिकार के लिए होने वाले झगड़ों में अंग्रेजों ने अप्पाजी का साथ दिया और उसमें सहायक संधि स्वीकृत करा लिया। परन्तु इन सन्धियों से उपयुक्त मराठा सरदारों में से कोई भी संतुष्ट नहीं हुआ और वे युद्ध करने पर तुल गये। पेशवा द्वितीय बाजीराव ने पूना में अंग्रेजों की रेजिडेन्सी को फूँक दिया तथा किरकी में रहनेवाली अंग्रेजी टुकड़ी पर आक्रमण कर दिया, परन्तु वहाँ उसकी हार हुई। नागपुर के अप्पा साहब भोंसले की सेनाओं को भी अंग्रेजों ने सीता बेल्दी के युद्ध में

हराया तथा मल्हारराव होल्कर की सेनाओं को हिसलाय ने महीदपुर में हराया।

(आ) मराठों की अन्तिम सन्धि

अप्पा साहब भोंसला हारकर पंजाब की ओर भाग गया। उसके राज्य का नर्मदा नदी के उत्तरवाला पूरा भाग अंग्रेजों ने अपने राज्य में मिला लिया और जो थोड़ा-सा भाग बचा उस पर रघुजी भोंसला का एक पौत्र शासक बनाया गया। मल्हारराव होल्कर ने मन्दसौर की सन्धि कर ली जिसके द्वारा नर्मदा

केदक्षिण का अपना सारा क्षेत्र अंग्रेजों को दे दिया। उसने एक सहायक सेना भी रख ली तथा अपनी विदेशी नीति को अंग्रेजों के हवाले कर दिया। पेशवा भी कई युद्धों में हारने के कारण अन्त में संधि करने को बाध्य हुआ। अंग्रेजों ने उसे ८ लाख सालाना की पेन्शन देकर कानपुर के पास विठूर में रहने के लिए विवश कर दिया। पेशवा की गद्दी खत्म कर दी गयी। तथा उसका राज्य हेस्टिंग्स ने कम्पनी के लिये हड़प लिया। केवल सतारा के छोटे से भाग पर प्रतापसिंह नामक शिवाजी का एक वंशज बैठा दिया गया। इन संधियों से मराठे सर्वदा के लिये कुचल दिये गये और अंग्रेजों की प्रभुता स्थापित हो गयी। मराठा सरदारों के पास जो भी थोड़ी-बहुत शक्ति बची, वह उनके द्वारा सहायक सन्धियों को मान लेने से किसी काम की नहीं रही।

(९) मराठों के पतन के कारण

शिवाजी ने १७वीं शताब्दि के तीसरे चरण में मराठा शक्ति को जन्म दिया। उन्होंने तथा उनके वंशजों ने युद्ध के अवसरों पर वीरता तो प्रायः दिखाई, परन्तु शान्ति के कार्यों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। किसी भी राजनैतिक शक्ति के टिकने के लिये यह आवश्यक है कि उसके पीछे एक सुदृढ़ आर्थिक और शासन-सम्बन्धी व्यवस्था हो। अंग्रेजों के मुकाबिले जितने भी मराठा सरदार १८वीं शती के अन्त में तथा १९वीं शती के आरम्भ में उठे उन्होंने अपने शासन की ओर ध्यान नहीं दिया। धन के लिए वे चौथ और सरदेशमुखी जैसी लूट की आय पर निर्भर करते थे। खेती की उन्नति तथा व्यापार के विकास की ओर कम ध्यान दिया गया। इसके दो बुरे परिणाम हुए। एक तो यह कि उनकी अपनी प्रजा निर्धन बनी रही और दूसरा यह कि मराठी सेनायें जहाँ भी गयीं, वहाँ के लोग उन्हें लुटेरा समझने लगे और उनसे आतंकित रहने लगे। जागीरदारी की प्रथा ने भी विघटन की प्रवृत्तियों को उत्साहित किया तथा जितने भी जागीरदार थे सब अपने ही स्वार्थ की बात सोचने लगे। दुर्भाग्यवश मराठोंके जितने सरदार हुए वे सभी राजनीति की दृष्टि से बुद्धिमान नहीं हुए। नाना फड़नवीस, महादाजी सिंधिया तथा प्रथम बाजीराव जैसे नेता जब तक शासनसूत्र सँभालते रहे तब तक तो उनके शत्रुओं की एक भी न चली। वे एक होकर मराठा-शक्ति को बढ़ाने में विश्वास करते थे। परन्तु ज्योंही उनकी मृत्यु हुई, मराठों से कूटनीति और संयम उठ गया तथा वे आपस में ही लड़ने लगे। जब वे एक हुए भी तो उसका कुछ प्रभाव नहीं हो सका और वे अक्सर अंग्रेजों के मुकाबिले असफल रहे। सैनिक दृष्टि से मराठों ने युरोप की प्रणाली की चकाचौंध में अपनी पुरानी रणशैली को छोड़

दिया और विदेशियों की सेना पर निर्भर रहने लगे। वे विदेशी लोग उनको अक्सर अधर में छोड़ देते थे अथवा समय पर विश्वासघात कर जाते थे। पहाड़ियों में छिपकर लड़ने वाली शैली के बदले जब आमने-सामने अंग्रेजों से युद्ध किया, तो वे उनकी पूरी शैली न अपना सकने के कारण असफल रहे। इसके अतिरिक्त मराठों ने तत्कालीन समाज-विरोधी शक्तियों का साथ दिया। पिण्डारियों की मदद करने तथा उनका साथ देने से साधारण जनता उनसे चिढ़ गयी और उसकी सहानुभूति नहीं रही। ऐसी परिस्थितियों में अंग्रेजों की संगठित शासन-शक्ति और आर्थिक दृढ़ता पर आधारित कूटनीति और कुशल एवं दृढ़ सैनिक शक्ति के सामने मराठों को झुक जाना पड़ा। अंग्रेजों की प्रभुशक्ति उन पर पूरी स्थापित हो गयी और मराठों का केवल नाममात्र ही बच रहा।

४. गोरखों से संघर्ष

(१) युद्ध

नेपाल की पहाड़ियों में गोरखों ने १८वीं शती के मध्य में एक राज्य स्थापित कर लिया था। धीरे-धीरे उन्होंने पर्याप्त शक्ति अर्जित करली तथा अपना राज्य-विस्तार करने लगे। १८०१ ई० के लगभग गोरखपुर के आसपास के प्रदेश जब अंग्रेजी कम्पनी के अधिकार में आ गये तब गोरखों के राज्य की सीमा कम्पनी के राज्य की सीमा से मिल गई। परन्तु इन दोनों के बीच तराई का पूर्व से पश्चिम की ओर हिमालय की तलहटी पर लटकता हुआ भाग था, जिसमें निश्चित रूप से गोरखों और अंग्रेजों के राज्यवाले भाग तय नहीं हो सके थे। इस प्रदेश पर आँखें दोनों की थीं। गोरखे दक्षिण की ओर विस्तार चाहते थे और १८१४ ई० में उन्होंने बुटवल पर आक्रमण कर दिया। लार्ड हेस्टिंग्स ने अंग्रेजी राज्य को उत्तर में विस्तृत करने का अच्छा मौका देखा तथा उसने गोरखोंके विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। नेपाल पर चारों ओर से एक ही बार आक्रमण करके गोरखों को झुका देने की योजना बनायी और आक्रमण शुरू कर दिया। परन्तु हिमालय के उन पहाड़ी प्रदेशों पर अंग्रेजों के लिए लड़ना आसान न था। वीरभद्र के सेनापतित्व में गोरखों की वीरता, उनका रण-कौशल, पहाड़ी प्रदेशों में लड़ने की उनकी विशेष कला तथा अपने राज्य और राजाके प्रति अद्भुत भक्ति गोरखों के महान् अस्त्र थे, जिसके सामने अंग्रेजी टुकड़ियों की कठिनाइयाँ बहुत ही बढ़ गयीं। जनरल आक्टरलोनी को छोड़कर प्रायः प्रत्येक अंग्रेजी सेनापति को हार का सामना करना पड़ा। जनरल जिलेस्पी कलंग के किले पर आक्रमण करते हुए गोरखों के द्वारा मार

डाला गया और जैक के किले के सामने मार्टिनडेल हरा दिया गया। परन्तु अंग्रेजों ने अलमोड़ा जीत लिया और आक्टरलोनी अमरसिंह नामक गोरखा सेनापति को हराने में सफल रहा। आक्टरलोनी की सफलता से अंग्रेजों को आगे बढ़ने में सुविधा होने लगी परन्तु इसी बीच सन्धि की चर्चा होने लगी और दोनों पक्षों ने सिगौली नामक स्थान पर संधिपत्र पर हस्ताक्षर कर दिया।

(२) सिगौली की संधि

१८१६ ई० में नेपाल सरकार ने युद्ध में असफल होने पर सिगौली की संधि स्वीकार कर ली। उसके अनुसार उसने तराई पर अपना अधिकार छोड़ दिया और कुमायूँ पर अंग्रेजों का अधिकार मान लिया। नेपाल ने सिक्कम पर भी अपने अधिकार को छोड़ दिया। नेपाल की राजधानी काठमाण्डू में एक अंग्रेज रेजिडेण्ट को रहने की आज्ञा मिल गयी। इस संधि से अंग्रेजों को बड़ा लाभ हुआ। नेपाल की आक्रमण-प्रवृत्ति समाप्त हो गयी और अंग्रेजी कम्पनी को मध्य-एशिया से संबंध स्थापित करने के लिये मार्ग मिल गये। संधि के फल-स्वरूप जो पहाड़ी प्रदेश मिले उसमें अंग्रेजों ने शिमला, नैनीताल, मसूरी और रानीखेत जैसे सुन्दर नगरों को बसाया।

५. पिण्डारियों और पठानों का दमन

मुगल-साम्राज्यके अवनति के दिनों में जब शासन और व्यवस्था का बल कम हो गया, पिण्डारियों का दक्षिण भारत में उदय हुआ। परन्तु १८वीं शताब्दि में धीरे-धीरे उनकी संख्या बढ़ती गयी और उन्होंने सारे मध्य-भारत में उपद्रव मचाना शुरू कर दिया। इन पिण्डारियों की कोई एक जाति अथवा इनका एक धर्म नहीं था। इनमें विशेषकर पठान, राजपूत और मराठा लोग थे जिन्होंने राजपूताने और मध्य-भारत के राज्यों की अवनति के दिनों में राजकीय सेनाओं में नौकरी न पा सकने की दशा में लूट और डकैती को अपना पेशा बना लिया था। खुलकर ये कभी युद्ध नहीं करते थे और अक्सर लूट से ही अपना काम चलाते थे। धीरे-धीरे इनका आतंक इतना बढ़ गया कि इनके द्वारा उपद्रवग्रस्त भागों में सर्वसाधारण की जीविका भी दूभर हो गयी। इनके अनेक नेता हो गये जिनमें चीतू, वसील मुहम्मद और करीम खाँ मुख्य थे। धीरे-धीरे इन्होंने मराठों से भी गठबंधन कर लिया तथा डकैतियों में दोनों ही भाग लेने लगे। सिंधिया और होल्कर ने अनेक पिण्डारियों को अपनी सेनाओं में रख लिया और उन्हें अंग्रेजी राज्य पर छापा मारने पर उत्साहित किया। ऐसी दशा में जब अंग्रेज अपनी प्रभुता मध्य-भारत और

उत्तरी भारत में विस्तृत करना चाहते थे, अशांति और लूट उनके लिये असह्य थी। उन्होंने पिण्डारियों को दबाना आवश्यक समझा। परन्तु उनका असली रोष तो मराठों पर था। पिण्डारी बीच में एक बहाना मात्र बने।

गोरखा-युद्धके बाद लार्ड हेस्टिंग्सने पिण्डारियों को दबाने का उपक्रम किया और अपनी सरकार से उस कार्य के लिये १८१६ ई० में अनुमति प्राप्त कर ली। पिण्डारियों को दबाने के पहले उसने प्रमुख मराठा राज्यों से संधि करके पण्डारियों की सहायता करने से उन्हें विरत कर दिया। उसके बाद चारों ओर घेरकर पिण्डारियों के दमन की योजना उसने तैयार की और उसका व्यवहार किया। १ लाख १३ हजार की सेना तैयार की गयी तथा वह ३०० तोपों से लैस करके दो भागों में बाँट दी गयीं। दक्षिण की ओर से टामस हिसलाप तथा उत्तर की ओर से लार्ड हेस्टिंग्स ने स्वयं युद्ध प्रारंभ किया। १८१७ ई० के अन्त तक पिण्डारियों को मालवा से खदेड़ दिया गया और थोड़े ही दिनों बाद वे प्रायः बिल्कुल दबा दिये गये। करीमखाँ ने आत्मसमर्पण कर दिया और उसे आधुनिक उत्तरप्रदेश में एक छोटी-सी जागीर दे दी गयी। वसील मुहम्मद कैद कर लिया गया और गाजीपुर जेल में उसकी मृत्यु हो गई। चीतू मालवा के जंगलों में भाग गया तथा सर जान मालकम ने उसका बहुत दूर तक पीछा किया। बाद में जंगल में उसको चीते ने मार डाला। इस तरह जब पिण्डारियों के नेताओं का अंत हो गया तो उनके साधारण अनुयायी लूटमार का पेशा छोड़कर खेती-बारी के काम में लग गये।

पिण्डारियों की ही तरह पठानों ने पश्चिमोत्तर भारत में बहुत उपद्रव मचा रखा था। ये छोटे-छोटे राज्यों पर भी आक्रमण करते थे और उन्हें बाध्य करके धन उगाहते थे। उनके नेताओं में अमीरखाँ मुख्य था जिसने मराठा और राजपूत सरदारों से मित्रता कर ली थी। होल्कर सरकार से उसकी घनिष्ठता हो गयी और फलस्वरूप उसका आतंक बहुत ही बढ़ गया। उसे दबाने में अंग्रेजी सरकार ने कूटनीति का परिचय दिया तथा लालच देकर मराठों के प्रभाव से हटा दिया। वह अंत में टोंक का नवाब बना दिया गया जिसे मल्हारराव होल्करने भी स्वीकार कर लिया। इस तरह अमीरखाँको भी अपनी प्रभुता के भीतर लाकर लार्ड हेस्टिंग्स ने पठानों के उपद्रव को शांत किया।

३५ अध्याय

कम्पनी की सीमान्त-नीति : खंडहरों की सफ़ाई और साम्राज्य का पुष्टीकरण

१. आधार

लार्ड हेस्टिंग्स की विजयों से भारतवर्ष के एक विस्तृत भाग पर अंग्रेजों की प्रभुता तो स्थापित हो गयी, परन्तु साम्राज्य की पूर्ण स्थापना के लिये इस देश की सीमाओं पर अधिकार आवश्यक था। उत्तर-पूर्व की ओर कम्पनी की सीमायें बरमा की सीमाओं से मिली हुई थीं। बरमा के शासकों ने धीरे-धीरे अपनी सीमाओं को विस्तृत करना अपनी नीति बना लिया था तथा १९वीं शती के प्रारम्भिक वर्षों में वे अंग्रेजों की टक्कर में आने लगे। इधर उत्तर-पश्चिम में भी सिक्खों ने रणजीतसिंह के नेतृत्व में एक शक्ति-शाली राज्य स्थापित कर लिया था, जो अंग्रेजी प्रभुता के विस्तार में एक दीवार-सा बन गया था। अफ़गानिस्तान का, जो भारतवर्ष का उत्तरी-पश्चिमी दरवाजा था, महत्व बहुत अधिक था और उससे अंग्रेजों को इस कारण डर था कि वहाँ धीरे-धीरे रूसियों का प्रभाव बढ़ रहा था। फ्रांस की शक्ति नेपोलियन के हार जाने से तो समाप्त हो गयी और उधर से अंग्रेजों को कोई डर नहीं रहा परन्तु रूस का एक नया भूत उनके सिर पर सवार हो गया। इन सबका फल यह हुआ कि लार्ड हेस्टिंग्स के चले जाने के बाद अंग्रेजी कम्पनी लगभग ३० वर्षों तक भारतवर्ष की सीमाओं पर अधिकार करने के प्रयत्न में लगी रही और उसको अनेक युद्ध लड़ने पड़े। इन युद्धों में सफलता मिलने के कारण अंग्रेजी साम्राज्य पूर्व तथा पश्चिमोत्तर में काफी बढ़ गया। भारत के भीतर पुराने राज्यों के जो खंडहर बचे थे उनको लार्ड डलहौजी ने पुनरावर्तन के सिद्धान्त से साफ कर दिया।

२. लार्ड एमहर्स्ट और प्रथम बरमा-युद्ध

लार्ड एमहर्स्ट १८२३ ई० के अगस्त मास में भारतवर्ष का गवर्नर जनरल होकर आया। उसे आते ही बरमा की आक्रामक प्रवृत्तियों का सामना करना पड़ा। बरमा के राजा ने १८१३ ई० में मणिपुर जीत लिया था तथा उसके बाद वह आसाम के उन भागों की ओर बढ़ता ही गया जहाँ बरमा और कम्पनी की सीमायें स्पष्ट रूप से तय नहीं हो पायी थीं। उसने १८२३ में

चटगाँव में पड़नेवाले अंग्रेजी कम्पनी के कुछ भागों पर भी अधिकार कर लिया। ऐसी परिस्थिति में लार्ड एमहर्स्ट ने बरमा के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। ११हजार सिपाहियोंका नेतृत्व करता हुआ अंग्रेजी कमाण्डर कैम्पबेल बरमा की ओर चल पड़ा और उसकी सेनाओं ने बरमावालों को आसाम से खदेड़ दिया। जनरल बन्दुला बरमा वालों की ओर से बड़ी वीरतापूर्वक लड़ा, परन्तु वह अंग्रेजी सेनाओं को बहुत देरतक रोक नहीं सका और अंग्रेजों ने रंगून पर चढ़ाई कर दी और उसे १८२४ ई० में जीत लिया। बरमावाले पहाड़ों और जंगलों में घुस गये। इसी बीच वर्षाऋतु आ गयी और कैम्पबेल को रंगून में ही रुक जाना पड़ा। बन्दुला के नेतृत्व में बरमावालों ने एक बड़ी सेना लेकर रंगून को वापस जीतने के लिये प्रयत्न किया, परन्तु वे असफल रहे। १८२५ ई० में संयोगवश बन्दुला मार डाला गया और कैम्पबेल ने प्रोम पर भी अधिकार कर लिया। प्रोम निचले बरमा की राजधानी थी। अंग्रेजी सेनायें यांडबू तक बढ़ गयीं और जब बरमा की राजधानी पर खतरा उपस्थित हो गया तब बरमा निवासियों ने संधि कर ली। संधि-पत्र पर २४ फरवरी १८२६ ई० को दोनों दलों ने हस्ताक्षर कर दिया और कैम्पबेल की मनमानी शर्तों को बरमा निवासियों ने विवश होकर स्वीकार कर लिया। उसके अनुसार बरमावालों ने १ करोड़ रुपया युद्ध के हर्जाने के फलस्वरूप अंग्रेजों को दिया तथा अराकान और तेनासरीम के जिलों को भी उनके हवाले कर दिया। मणिपुर एक स्वतंत्र रियासत मान ली गयी तथा आसाम, कछार और जयन्तिया की ओर न बढ़ने का उन्होंने आश्वासन दिया। अंग्रेजों के एक प्रतिनिधि को भी बरमा की राजधानीमें रहने की स्वीकृति मिल गयी। इस संधि से अंग्रेजों का बड़ा लाभ हुआ। उन्हें पूरा समुद्री किनारा मिल गया और उनकी पूर्वी सीमायें सुरक्षित हो गयीं।

३. द्वितीय बरमा-युद्ध (१८५२)

बरमा की पहली लड़ाई के बाद होनेवाली यांडबू की संधि की शर्तों का पालन बराबर नहीं किया गया। बरमा के नये राजा थरवड्डी ने उन शर्तों को बहुत कड़ा समझकर उनको मानने से इनकार कर दिया। अंग्रेजी सौदागरों की अनेक सुविधायें बन्द कर दी गयीं तथा अवा में रहनेवाले अंगरेजी दूत का भी तिरस्कार किया गया। ऐसी परिस्थिति में लार्ड डलहौजी ने, जो भारतवर्ष में उन दिनों गवर्नर जनरल था, बरमा को डराने की तैयारी शुरू कर दी। उसने अंग्रेजी सौदागरों पर हुए अत्याचारों की जाँच और अत्याचारियों को दण्ड देने के लिये नौसेना की एक टुकड़ी भेजी। बरमा के राजा

ने शांति की नीति बरतनी चाही, परन्तु लार्ड डलहौजी के सैनिक दलों ने अशिष्टता का व्यवहार किया तथा रंगून में चलनेवाली संधि की वार्ता समाप्त हो गयी। अंग्रेजों ने रंगून घेर लिया तथा डलहौजी ने पूरी तैयारी करके युद्ध शुरू कर दिया। उसने बरमा सरकार को एक अंतिम चेतावनी दी कि वह १ अप्रैल १८५२ ई० तक १ लाख पौंड का हर्जाना दे दे। बरमा ने उसको नहीं माना और युद्ध शुरू हो गया। अंग्रेजों की तैयारी पूरी थी तथा उन्होंने बड़ी आसानी से रंगून, प्रोम, पीगू और बरमा का निचला भाग जीत लिया। डलहौजी यह नहीं चाहता था कि ऊपरी बरमा पर भी अंग्रेजों का अधिकार हो जाय और उसने बरमा के राजा के पास यह संदेश भेजा कि वह अंग्रेजों की विजयों को स्वीकार कर ले, परन्तु उसके अस्वीकार करने पर गवर्नर जनरल ने स्वयं एक घोषणा के द्वारा निचले बरमा को अंग्रेजी शासन के भीतर ले लिया। इसके फलस्वरूप बरमा का राज्य बहुत छोटा रह गया और उसकी शक्ति क्षीण हो गयी। बंगाल की खाड़ी का पूर्वी भाग अंग्रेजों के हाथ में आ जाने से उनको उधर से कोई खतरा नहीं रहा तथा बरमा का समुद्र से संबंध टूट गया, जो अंग्रेजों के व्यापार की उन्नति तथा साम्राज्य की रक्षा में बहुत अधिक सहायक हुआ।

४. अफगानिस्तान पर चढ़ाई

अवध पर राजनैतिक प्रभाव स्थापित हो जाने के बाद अंग्रेजों की पश्चिमोत्तर सीमान्त नीति प्रारंभ हुई। उन्हें काबुल के शासक जमानशाह से हमेशा डर रहता था कि कहीं वह हिन्दुस्तान में अंग्रेजों के राज्य पर आक्रमण न कर दे। उसके बाद भी काबुल में जितने अमीर हुए, सबसे अंग्रेज सावधान रहते थे। अफगानिस्तान से उनके भय का दूसरा कारण यह था कि वह छोटा-सा देश एक ऐसे भौगोलिक महत्त्व के स्थान पर बसा था, जो विरोधी हो जो जाने पर अंग्रेजों के युरोपीय शत्रुओं को बड़ी आसानी से हिन्दुस्तान पर आक्रमण का साधन उपस्थित कर सकता था। पहले अंग्रेजों को फ्रांस से भय था परन्तु १८१५ में नेपोलियन के हार जाने के बाद फ्रांस शक्तिहीन कर दिया गया। परन्तु उसके बाद रूस के विस्तार से अंग्रेजों को डर होने लगा। रूस का प्रभाव फारस के दरबार में बढ़ने लगा जो अंग्रेजों को खतरा लगने लगा। फारस में रूसियों के प्रभाव को खतम करने के लिये हिस्तुस्तान में अंग्रेजी कम्पनी की सरकार ने कई दूतोंको भेजा जिसमें सर जान मालकम अपने प्रयत्नों में सफल हुआ और फारस से अंग्रेजों की १८१४ ई० में एक संधि हो गयी जिसके अनुसार फारस के दरबार में अंग्रेजी सरकार के जितने

भी विरोधी थे, वे निकाल दिये गये। परन्तु यह संधि टिकाऊ नहीं हुई और रूसियों का फिर वहाँ प्रभाव हो गया। रूसियों के प्रभाव में आकर फारसवालों ने अफगानिस्तान के राज्य में पड़नेवाले हिरात पर आक्रमण कर दिया। सौभाग्यवश दोस्त मुहम्मद की सेनाओं ने कुछ अंग्रेजों की सहायता से उस आक्रमण को विफल किया। परन्तु अफगानिस्तान को दूसरी ओर से महाराजा रणजीतसिंह दबा रहे थे और १८३४ ई० में सिखों ने पेशावर ले लिया था। यही नहीं शाहशुजा जो अहमदशाह अब्दाली का वंशज था, अपने को अफगानिस्तान का वास्तविक स्वामी समझता था और वह वहाँ के अमीर दोस्त मुहम्मद को गद्दी से हटाकर अमीर बनना चाहता था। उसने रणजीत सिंह से मित्रता कर ली थी। अंग्रेज भी छिपे-छिपे उसकी मदद करते रहे। इतना होते हुए भी दोस्त मुहम्मद अंग्रेजों की मित्रता चाहता था और १८३६ई० में जब लार्ड आकलैण्ड भारत में गवर्नर जनरल होकर आया तो उसके पास बधाई के सन्देश के साथ मित्रता का प्रस्ताव उसने भेजा। दोस्त मुहम्मद यह चाहता था कि अंग्रेज उसकी रणजीतसिंह से पेशावर वापस लेने में सहायता करें तथा रणजीतसिंह पर वे यह प्रभाव डालें कि वह शाहशुजा की मदद करना छोड़ दे। इसके बदले अंग्रेजों की फारसवालों और रूसियों के विरुद्ध मदद करने को वह तैयार था। परन्तु लार्ड आकलैण्ड ने यह कहकर कि वह दूसरों के मामलों में हस्तक्षेप करना नहीं चाहता, दोस्त मुहम्मद के उस प्रस्ताव को मूर्खतापूर्ण ढंग से ठुकरा दिया। इस पर दोस्त मुहम्मद रूस की ओर झुका जो गवर्नर जनरल के लिये एक सरदर्द हो गया। उसने तुरन्त कप्तान बर्न्स को व्यापारिक संधि करने के बहाने काबुल भेजा। अब भी अमीर अंग्रेजों की मित्रता का इच्छुक था परन्तु उसकी शर्तें वे ही पुरानी शर्तें थीं। लार्ड आकलैण्ड ने क्रुद्ध होकर अफगानिस्तान पर आक्रमण करने की तैयारी शुरू कर दी। उसने रणजीतसिंह और शाहशुजा से दोस्त मुहम्मद के खिलाफ संधि कर ली तथा उनकी मदद से अफगानिस्तान पर आक्रमण कर दिया। यह आक्रमण गवर्नर जनरल की तथाकथित अहस्तक्षेप की नीति के विरुद्ध तथा मूर्खतापूर्ण था। कुशल शासक दोस्त मुहम्मद को गद्दी से हटाकर शाहशुजा को काबुल की गद्दी पर बैठाना संधि की शर्तों में एक थी। इसके द्वारा अफगानिस्तान के निवासियों के विद्रोह और उसके बाद की अव्यवस्था का होना निश्चित था। इस तरह आकलैण्ड का यह प्रस्थान नीति, न्याय अथवा बुद्धि, किसी भी कसौटी पर खरा नहीं था।

युद्ध—मित्रता और सहायता की संधि के होते हुए भी रणजीतसिंह ने अंग्रेजी सेनाको पंजाब से होकर अफगानिस्तान जाने से रोक दिया। फलस्वरूप

अंग्रेजी सेनायें सिंध और बलोचिस्तान के अमीरों के क्षेत्र से गयीं जो अंग्रेजों के साथ हुई उनकी संधि की शर्तों के विपरीत था। **जनरल कीन** के नेतृत्व में सेना १८३९ ई० में अफगानिस्तान पहुँच गयी और शाहशुजा काबुल की गद्दी पर अंग्रेजी शस्त्रबल से बैठा दिया गया। अंग्रेजी सेनाओं ने काबुल, गजनी तथा अन्य मुख्य सामरिक स्थानों पर कब्जा कर लिया। दोस्त मुहम्मद कैद करके कलकत्ता भेज दिया गया और ऐसा प्रतीत होने लगा कि सारा अफगानिस्तान अंग्रेजों और उनकी कठपुतली शाहशुजा के हाथों में आ गया। परन्तु स्वतंत्र और वीर अफगानियों ने कायर और अंग्रेजों के गुलाम शाहशुजा को हृदय से अपना अमीर नहीं माना। उसको वहाँ बनाये रखने के लिये अफगानिस्तान में अंग्रेजी सेना का रहना आवश्यक हो गया और फलस्वरूप सेना का खर्च बहुत अधिक बढ़ गया और वहाँ महँगी फैल गयी। खर्च में कमी के लिये अफगान सरदारों की पेंशनें घटा दी गयीं परन्तु इसका बुरा प्रभाव पड़ा। **अकबर खाँ** के नेतृत्व में अफगान एक बार फिर अंग्रेजों के विरुद्ध खड़े हो गये। **जनरल एलफिंसटन** की अयोग्यता के कारण अंग्रेजों ने आनेवाली विपत्ति को पूरा-पूरा नहीं समझा और धीरे-धीरे अफगानों ने कई स्थानों पर कब्जा कर लिया। आचरणभ्रष्टता के कारण कप्तान बर्न्स की कुछ क्रुद्ध अफगानिस्तानियों ने बोटी-बोटी काट डाली तथा अकबर खाँ ने एलफिंसटन को विवश करके एक संधि पर हस्ताक्षर करने को बाध्य किया, परन्तु उसके विश्वासघात करने पर अफगानियों ने उसे भी मार डाला। अंग्रेजों ने यहाँ अभूतपूर्व कायरता का परिचय दिया तथा १८४२ ई० की १ ली जनवरी को आत्मसमर्पण कर दिया। उन्होंने अफगानिस्तान खाली कर देने का भी वचन दिया परन्तु हिन्दुस्तान वापस आते समय १६ हजार अंग्रेज सैनिकों में से केवल १२० बचे। क्रुद्ध अफगानों ने प्रायः सबका वध कर डाला। लार्ड आकलैण्ड की नीति का इस प्रकार दिवाला होने पर उसे विवश होकर त्यागपत्र दे देना पड़ा और १८४२ ई० में **एलेनबरा** भारतवर्ष का गवर्नर जनरल होकर आया।

जनरल एलफिंसटन की अयोग्यता तथा कायरता के होते हुए भी **जनरल पोलक** और **जनरल नाट** हिन्दुस्तान से नयी सहायता प्राप्त होने की आशा में अफगानिस्तान में युद्ध चलाते रहे। परन्तु जब लार्ड एलेनबरा गवर्नर जनरल होकर आया, तो उसने तुरंत उन्हें भारत लौट आने की आज्ञा दी। उसने शाहशुजा तथा सिक्खों के साथ हुई अंग्रेजों की संधि के अंत की घोषणा कर दी। अंगरेजी सेना गजनी और काबुल में पुनः एक बार विजयी हुई और उसने बड़ा अत्याचार भी किया। काबुल के बाजार को

अंग्रेजी सिपाहियों ने मनमाना लूटा और बूढ़े तथा बच्चों को भी तलवार के घाट उतार दिया गया। गजनी से जनरल नाट ने लार्ड एलेनबरा की आज्ञा के अनुसार गजनी से प्रसिद्ध **सोमनाथ के मंदिर के उस फाटक को जिसे महमूद गजनवी १०२५ ई० में उठा ले गया था,** वापस लिया। परन्तु यह प्राचीन फाटक नहीं था अपितु उसकी नकल पर बाद में बना था और लार्ड एलेनबरा का उस सम्बन्ध में घमण्ड झूठा था। इस प्रकार अंग्रेजों की थोड़ी-बहुत सैनिक प्रतिष्ठा तो स्थापित हो गयी परन्तु राजनैतिक दृष्टि से उनका बड़ा अपमान हुआ। दोस्तमुहम्मद अफगानिस्तान का फिर अमीर हो गया और अंग्रेजी सेना खाली हाथों वहाँ से लौट आयी। अंगरेजों को इस असफल युद्ध में अपनी प्रतिष्ठा के साथ साथ २० हजार सैनिकों के प्राण तथा १॥ करोड़ रुपये गँवाने पड़े।

५. सिन्ध की हड़प

सिन्ध बहुत दिनों तक अहमदाबाद दुर्रानी के साम्राज्य में शामिल था परन्तु १८वीं शती के अन्त तक वहां तालपुर जाति के छोटे सरदारों ने अपनी स्वतंत्रता स्थापित कर ली थी। वे **अमीर** कहलाते थे तथा हैदराबाद, खैरपुर और मीरपुर के अमीर उनमें मुख्य थे। अंग्रेजों ने जब अपनी साम्राज्य-वादी दृष्टि उत्तर-पश्चिम की ओर डाली तो सिन्ध पर लालच करना उनके लिये स्वाभाविक था। सिन्ध नदी तथा उसकी घाटी में अंग्रेजों का आर्थिक और व्यापारिक स्वार्थ भी था। रणजीतसिंह के नेतृत्व में सिख जाति भी सिन्ध को अपने साम्राज्यवादी विस्तार का द्वार मानती थी। परन्तु उसके इस प्रयत्न को अंग्रेजों ने बराबर रोका। फ्रान्सीसियों की शक्ति और उनके प्रभाव को कम करने लिये भी उन्होंने सिन्ध के अमीरों से कई बार संधि की। परन्तु उनका अंतिम उद्देश्य यह था कि सिन्ध अंग्रेजी साम्राज्य में मिला लिया जाय। सिन्धी भी इसे समझते थे और १८३१ ई० में जब लार्ड विलियम बेंटिंक की आज्ञानुसार **अलेक्जण्डर बर्न्स** ने सिन्धु नदी का नावों द्वारा सर्वेक्षण किया तो एक सैयद ने अफसोस करते हुये कहा कि सिन्ध अंग्रेजों के हाथ में चला गया क्योंकि उन्होंने सिन्ध को देख लिया। आगे यह सही निकला। सिखों से डरकर सिन्ध के अमीरों ने १८३२ ई० में अंग्रेजों से संधि कर ली जिसके अनुसार उन्होंने सिन्धु नदी को अंग्रेजों के लिये खोल दिया परन्तु उससे होकर सेना ले जाने की आज्ञा नहीं दी गयी। लेकिन १८३९ ई० में जब लार्ड आकलैण्ड ने अफगानिस्तान पर चढ़ाई की तो सारी अंग्रेजी सेना सिन्धु नदी और सिन्ध के मार्ग से होकर बलोचिस्तान

और अफगानीस्तान गयी। अंग्रेजों ने उस समय निश्चित रूप से अमीरों के साथ हुई संधि का उल्लंघन किया तथापि सिन्धियों ने उनकी धौंस में आकर उनकी मदद की। यही नहीं आकलैण्डने सिन्धियों को डराकर उन्हें बाध्य कर दिया कि वे सिन्ध की रक्षाके लिये एक अंग्रेजी सेना रखें। वहाँ अंग्रेजी सेना तो थी ही और अमीरों ने विवश होकर उसे स्वीकार कर लिया तथा ३ लाख रुपया सालाना उस सेना को खर्चा के लिये देना उन्होंने मान लिया। लार्ड आकलैण्ड (१८३६ से १८४३ ई०) के बाद लार्ड एलेनवरा (१८४२ ई० से १८४४ ई०) गवर्नर जनरल होकर आया, तो उसने सिन्ध के साथ और भी जबरदस्ती का व्यवहार किया। उसकी नियत यह थी कि सिन्ध अंग्रेजी साम्राज्य में मिला लिया जाय और उसने सिन्ध के अमीरों पर, उनकी अंग्रेजों के प्रति सारी भक्ति को भूलकर, यह दोष लगाया कि वे षड्यंत्र और विद्रोह का जाल बिछा रहे हैं। उसने सर चार्ल्स नेपियर को सिन्ध में अंग्रेजी रेजिमेण्ट बनाकर भेजा। नेपियर भी सिन्ध को जबरदस्ती हड़पने में ही विश्वास करता था। उसने स्थानीय झगड़ों में भाग लिया और अमीरों के विरुद्ध अनेक प्रकार के दोष लगाये गये। उन्हें डराकर नेपियर ने एक संधि पर हस्ताक्षर करा लिया जिसके द्वारा संरक्षक-सेना के व्ययस्वरूप मिलनेवाले तीन लाख रुपयों के बदले सिन्ध का कुछ भाग अंग्रेजों के लिये ले लिया। परन्तु उसे इतने से ही संतोष नहीं हुआ और बड़ी निर्लज्जतापूर्वक और जबरदस्ती उसने संधि के द्वारा प्राप्त स्थानों के अतिरिक्त दूसरे स्थानों पर भी कब्जा कर लिया। इस पर अमीर क्रुद्ध हो गये और उन्होंने अंग्रेजों पर प्रहार करना शुरू कर दिया। नेपियर ने जान-बूझकर ऐसी परिस्थिति को उत्पन्न कर लिया था और उसने युद्ध की घोषणा करके सभी प्रमुख स्थानों पर कब्जा कर लिया तथा निर्लज्ज गर्व के साथ उसने गवर्नर जनरल को लिख भेजा कि सिन्ध उसके अधिकार में है। सभी अमीर सिन्ध से निकाल दिये गये और सारा सिन्ध अंग्रेजी साम्राज्य में मिला लिया गया। नेपियर ने सिन्ध की लूट का बहुत बड़ा हिस्सा अपने लिये भी लिया। अंग्रेजों की हर समय सहायता करनेवाले तथा उनके साथ मित्रता निभाने वाले सिन्ध के अमीरों पर साम्राज्य विस्तार की इच्छा से लार्ड एलेनवरा का प्रहार करना नैतिक दृष्टि से एक अनुचित कार्य था और प्रायः प्रत्येक इतिहासकार ने उसकी निन्दा की है।

६. सिक्ख शक्ति का उदय और उससे अंग्रेजों का संघर्ष

मुगल साम्राज्य की अवनति के दिनों में सिक्खों का जोर बढ़ने लगा। नादिरशाह और अहमदशाह दुर्रानी के आक्रमणों के कारण जो अव्यवस्था

उत्पन्न हुई, उसका सिक्खों ने खूब लाभ उठाया और वे अपनी शक्ति धीरे-धीरे बढ़ाने लगे। १७६४ ई० में उन्होंने लाहौर पर अधिकार कर लिया तथा झेलम और सतलज नदियों के बीच का सारा प्रदेश उनके राज्य में आ गया। परन्तु सिक्ख अभी एक राजनीतिक शक्ति के रूप में संगठित नहीं थे। वे बारह मिसलों में बँटे हुए थे। हर एक मिसल का एक अलग सरदार होता था। पंजाब के एक विस्तृत भाग पर कब्जा होते हुए भी सिक्खों के सभी मिसल अलग-अलग थे। वे अक्सर अपने अलग-अलग स्वार्थों के लिये आपस में ही लड़ा करते थे। सौभाग्यवश उनका एक नेता उत्पन्न हुआ जिसने उन सबको एक सूत्र में बाँधकर एक सिक्ख राज्य का निर्माण किया। उनके उस नेता का नाम रणजीत सिंह था।

(१) रणजीत सिंह

रणजीतसिंह का जन्म सुखेर चकिया मिसल में १७८० ई० में हुआ था। वे महासिंह के पुत्र थे। जब वे केवल १२ वर्ष के थे तो उनके पिता की मृत्यु हो गयी और ऐसा प्रतीत होता था कि दूसरे शक्तिशाली मिसलों के सरदार उन्हें दबा देंगे। परन्तु उन्हीं दिनों काबुल के शासक जमानशाह का आक्रमण हिन्दुस्तान पर हो रहा था। जमानशाह की मित्रता से रणजीतसिंह ने अपनी शक्ति बढ़ा ली तथा उसकी ओर से सन् १७९८ ई० में वे राजा की उपाधि के साथ लाहौर के गवर्नर बना दिये गये। अब रणजीतसिंह को अपनी शक्ति बढ़ाने का और अधिक अवसर मिला। उन्होंने सभी सिक्ख मिसलों को एक सूत्र में बाँधना आवश्यक समझा और उस ओर प्रयत्न करने लगे। उन्होंने अनेक मिसलों के आपसी झगड़ों को निपटाया और अपना प्रभाव उनमें बढ़ा लिया।

राजा रणजित सिंह

अनेक मिसलों के क्षेत्रों को उन्होंने अपने राज्य में मिला लिया। इन उपायों से सभी मिसलों को एक करके उन्होंने खालसा की स्थापना की। धीरे-धीरे उन्होंने अपना राज्य सतलज के पार यमुना नदी की ओर भी बढ़ाने का प्रयत्न किया परन्तु इसमें उनको अंगरेजों के विरोध के कारण सफलता नहीं मिली। भारतवर्ष में अंगरेजी सरकार भी रणजीतसिंह की बढ़ती हुई शक्ति से भयभीत थी परन्तु वह उन्हें अपना शत्रु बनाना नहीं चाहती थी। उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर अंगरेजों को एक मित्र राज्य की आवश्यकता थी और

१८०९ ई० में अमृतसर में अंगरेजों और रणजीतसिंह में मित्रता की संधि हो गयी। रणजीतसिंह का राज्य सतलज के दक्षिण भाग की ओर मान लिया गया परन्तु उनका सतलज और यमुना नदी के बीच की ओर बढ़ाव रुक गया। अब उन्होंने उत्तर तथा पश्चिम की ओर अपना राज्य बढ़ाना प्रारंभ कर दिया। उन्होंने गुरखों से कांगड़ा जिला ले लिया तथा अफगानिस्तान की ओर भी अटक को जीतकर अपना राज्यविस्तार प्रारंभ कर दिया। जब वहाँ के शासक शाहशुजा से दोस्तमुहम्मद ने काबुल की गद्दी छीन ली तो उसने रणजीतसिंह की शरण ली और सहायता के बदले बहुमूल्य रत्न कोहेनूर उन्हें दे दिया। १८३४ ई० में सिक्ख सेनापति हरिसिंह नलवा ने पेशावर भी जीत लिया। इसके पहले कश्मीर पर रणजीतसिंह का अधिकार हो गया था। इस तरह उनका राज्य नेपाल और अफगानिस्तान की सीमाओं तक पहुँच गया। उन्होंने एक विशाल सेना का संगठन किया तथा उसमें युरोपीय अफसरों को रखकर शिक्षण के द्वारा उसे पूरी तरह समर्थ किया। परन्तु इन सैनिक प्रवृत्तियों के होते हुए भी वे दयालु थे और व्यर्थ रक्त बहाना नहीं चाहते थे।

(२) प्रथम सिक्ख-युद्ध

रणजीतसिंह की १८३९ ई० में मृत्यु हो जाने पर सिक्ख राज्य पर कोई उनके समान शक्तिशाली शासक नहीं बैठा। १८४३ ई० में उनका पुत्र दलीपसिंह गद्दी पर बैठा परन्तु उसके नाबालिग होने के कारण उसकी माँ रानी झिन्दा उसकी संरक्षिका बनी। उसके दुर्बल शासन में सेनापतियों की शक्ति बहुत अधिक बढ़ गयी और वे दरबार में झगड़ों में भाग लेने लगे। भीतर ही भीतर सिक्ख राज्य की शक्ति कमजोर होने लगी। सिक्ख दरबार ने सेनापतियों के हस्तक्षेप से छुटकारा पाने के लिये उन्हें सैनिक आक्रमणों के लिये प्रेरित किया। अंग्रेज सिक्खों की विस्तार प्रवृत्ति से परिचित थे, परन्तु स्वयं हिन्दुस्तान की अंग्रेजी सरकारने ही सिक्खोंको आक्रमण करनेका मौका दिया। अंग्रेज सिक्खों के प्रांतों पर भी अपना अधिकार चाहते थे और उन्होंने सतलज में पुल बाँधना प्रारम्भ कर दिया। इसपर अंग्रेजी सेना के आक्रमण की चिन्ता से डरकर सिक्ख सेना ने स्वयं सतलज को पार करके १८४५ ई० के दिसम्बर माह में अंग्रेजी भूमि पर आक्रमण कर दिया। उस समय हिन्दुस्तान में हार्डिंज अंग्रेजी कम्पनी का गवर्नर जनरल था और उसने युद्ध की तैयारी पहले से ही कर ली थी। उसने युद्ध घोषित कर दिया तथा अंग्रेजी सेनापति ह्यूगफ को सिखों से लोहा लेने को भेजा। मुदकी नामक स्थान पर। जो फिरोजपुर से

२० मील दक्षिण-पूर्व था, युद्ध हुआ। सिक्ख सेना बड़ी वीरतापूर्वक लड़ी परन्तु अन्त में वह हार गयी। इसके बाद अंग्रेजी सेना का सिक्खों से युद्ध सतलज के किनारे सुबराँवनामक स्थान पर हुआ, परन्तु सिक्ख सेनापतियों ने अन्त में अपने उत्साह में कमी कर दी और वे हार गये। इसका फल यह हुआ कि ह्यूगफ की सेनायें लाहौर तक चढ़ गयीं और सिक्खों को संधि के लिये विवश कर दिया। गवर्नर जनरल हार्डिंज स्वयं वहाँ पहुँचा और उसने ९ मार्च सन् १८४६ ई० को सिक्खों से संधि-पत्र पर हस्ताक्षर करा लिया। सिक्खों को सतलज के बायें भाग वाली अपने राज्य की सारी भूमि अंग्रेजों को देनी पड़ी जिसमें जालन्धर का दोआब भी शामिल था। उन्हें १॥ करोड़ रुपया युद्ध का हर्जाना भी देना पड़ा। सिक्ख सेना की संख्या घटा दी गयी तथा हेनरी लारेन्स लाहौर दरबार में अंगरेजी रेजिडेन्ट नियुक्त किया गया। दलीपसिंह लाहौर में सिक्खों का शासक मान लिया गया परन्तु थोड़े ही दिनों में अंगरेजों ने पुनः हस्तक्षेप करके ८ सिक्ख सरदारों की एक संरक्षक-समिति उसके लिये नियुक्त कर दी।

(३) द्वितीय सिक्ख युद्ध

सिक्ख-जाति अंगरेजों के हाथों हुए अपने अपमान को भूलनेवाली नहीं थी। अपनी हार का कारण वह अपने सेनापतियों का प्रमाद और विश्वासघात समझती थी न कि अपनी कमजोरी। अंगरेजों ने जब रानी झिन्दा को षड्यंत्र में भाग लेने का दोष लगाकर हटा दिया तो उनका असंतोष बहुत ही बढ़ गया। इतने में एक घटना हो गयी जिसने युद्ध की आग के लिये चिनगारी का काम किया। मूलराज, जो मुलतान का गवर्नर था, लाहौर दरबार की १० लाख पौण्ड की माँग को पूरा नहीं कर सका और अधिक दबाये जाने पर उसने त्यागपत्र दे दिया। पीछे उसने विद्रोह कर दिया और कुछ अंगरेजों को मार डाला। शेरसिंह जो उसको दबाने के लिये भेजा गया, जो उसी की ओर मिल गया तथा उसे रानी झिन्दा से भी मदद मिलने लगी। धीरे-धीरे मुलतान का विद्रोह सिक्खों का राष्ट्रीय और जातीय विद्रोह हो गया। लाहौर का दरबार और वहाँ रहने वाले अंगरेज उसे नहीं दबा सके। सिक्खों ने इस बार पेशावर की लालच देकर अफगानिस्तान को भी अपनी ओर मिला लिया। ऐसी दशा में लार्ड डलहौजी ने, जो उस समय हिन्दुस्तान में अंगरेजी कम्पनी का गवर्नर जनरल था, १८४८ ई० के अक्टूबर महीने में युद्ध शुरू कर दिया। लार्ड ह्यूगफ ने रावी नदी को पार करके चिलियानवाला नामक स्थान पर होनेवाले युद्ध में विजय पायी परन्तु उसकी बड़ी हानि हुई। अंग्रेजी सेना ने

मुल्तान पर भी विजय पा ली और मूलराज पकड़ लिया गया। परन्तु अंग्रेजों के लिये सबसे मुख्य युद्ध गुजरात का हुआ जहाँ सिक्ख बड़ी वीरतापूर्वक लड़े। उस लड़ाई में बन्दूकों का बहुत अधिक प्रयोग हुआ और उसे बन्दूकों का युद्ध कहते हैं। परन्तु सिक्ख सिपाहियों की वीरता के होते हुए भी सेनापतित्व की कमी से वे हार गये। सिक्ख सेना उसके बाद नहीं टिक सकी।

(४) पंजाब अंग्रेजी राज्य में

सिक्खों पर पूरी विजय पा जाने पर डलहौजी जैसे साम्राज्यवादी के लिये पंजाब को छोड़ना असम्भव था। उसने एक घोषणा के द्वारा पंजाब को अंगरेजी

राज्य में मिला लिया। कम्पनी के साम्राज्य की सीमा अब पहाड़ों तक तथा अफगानिस्तान की सीमा तक पहुँच गयी। दलीपसिंह को सालाना ५ लाख रुपयों की पेंशन दे दी गयी और वे इंगलैण्ड भेज दिये गये। इस तरह रणजीतसिंह के द्वारा स्थापित किया हुआ एक विशाल राज्य उनके उत्तराधिकारियों की दुर्बलता से उनके हाथों से चला गया और अंग्रेजों के साम्राज्य की एक कड़ी बन गया।

७. खंडहरों की सफाई : पुनरावर्त्तन का सिद्धान्त

लार्ड डलहौजी १८४८ ई० में भारतवर्ष का गवर्नर जनरल होकर आया। वह घोर साम्राज्यवादी था और उसकी नीति यह थी कि जहाँ तक हो सके भारतवर्ष में बचे हुए छोटे-छोटे देशी राज्यों को खतम करके अंग्रेजी राज्य को पुष्ट किया जाय। अपना उद्देश्य पूरा करने के लिये उसने पुनरावर्त्तन का सिद्धान्त (डॉक्ट्रिन आफ लैप्स) अपनाया। यह सिद्धान्त बहुत पुराना था। इसके अनुसार उसने देशी राज्यों को दो भागों में बाँट दिया। एक तो अधीनस्थ राज्य थे जो अंग्रेजी सरकार की कृपा पर निर्भर थे; दूसरे संरक्षित मित्र राज्य। उसने यह घोषित किया कि अधीनस्थ राजाओं को अपने औरस उत्तराधिकारियों के अभाव में गोद लेने का अधिकार नहीं है और ऐसी दशा में वे राज्य अंग्रेजी सरकार को लौट जायेंगे। उसने संरक्षित अथवा स्वतंत्र राज्यों पर कोई प्रहार नहीं किया। पुनरावर्तन के सिद्धान्त के अनुसार उसने अनेक देशी शासकों को गोद लेने के अधिकार से वंचित कर दिया और सतारा, तेजपुर, सम्भलपुर, नागपुर और झांसी के राज्यों को हड़प कर अंग्रेजी राज्य में मिला लिया। यह सिद्धान्त उसने पदों तथा उपाधियों पर भी लगाया तथा कर्नाटक के नवाब और तंजौर के राजा की पदवियाँ छीन ली गयीं। डलहौजी का यह कार्य कानूनी और नैतिक दृष्टि से अनुचित और गलत था। प्रत्येक हिन्दू राजा को निस्संतान होने पर हिन्दू धर्मशास्त्र के अनुसार गोद लेने का अधिकार था। इसके अतिरिक्त जिन राज्यों को उसने अंग्रेजी राज्य में मिलाया, वे किसी प्रकार से अंग्रेजों के द्वारा वहाँ के राजाओं को प्राप्त नहीं हुए थे। परन्तु डलहौजी इन तर्कों से कायल होने वाला नहीं था। उसके सामने तो अंग्रेजी राज्य के विस्तार की बात मुख्य थी।

इतना ही नहीं, जब द्वितीय बाजीराव पेशवा १८५५ ई० में मर गया तो उसे मिलनेवाली ८ लाख सालाना की पेंशन उसके पुत्र धुन्धुपन्त को यह कहकर इनकार कर दी गई कि वह व्यक्तिगत रूप से पेशवा को दी गई थी।

इसका पेशवा के पुत्र पर बड़ा बुरा प्रभाव हुआ और आगे चलकर राष्ट्रीय विप्लव में नाना साहब के नाम से उसने अंग्रेजों के विरुद्ध विप्लवकारियों का मोर्चा बनाया। अवध का राज्य भी, यह कहकर कि वहाँ का शासन ठीक नहीं है, जबरदस्ती अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया। वहाँ का शासक वाजिद-अलीशाह गद्दी से उतार दिया गया और उसे १२ लाख सालाना की पेंशन देकर कलकत्ता भेज दिया गया। डलहौजी का यह कार्य अन्तर्राष्ट्रीय नीति के विरुद्ध था। अवध का शासन यदि खराब भी था, तो उसका बहुत बड़ा कारण अंग्रेजों का वहाँ शासन में हस्तक्षेप था। इसके अतिरिक्त अवध राज्य अंग्रेजों का हमेशा से मित्र था और उस सम्बन्ध में उससे अंग्रेजों की संधि भी थी। उसके साथ इस तरह की जबरदस्ती करना अन्यायपूर्ण तो था ही, संधि के शर्तों के विरुद्ध भी था।

८. डलहौजी का शासन-सुधार : साम्राज्य की पुष्टि

डलहौजी ने शासन के क्षेत्र में अनेक प्रकार के सुधार किये। सेना की अलग-अलग पलटनें बनायी गयीं, जिनमें गोरखों और सिक्खों की पलटनें मुख्य थीं। सैनिकों के स्वास्थ्य और आराम का भी विशेष ख्याल किया गया तथा युरोपीय सेना बढ़ायी गयी। उसने अर्थ-विभाग का भी पुनःसंगठन किया और उसके सुधारों के द्वारा अंग्रेजी सरकार की आमदनी बहुत बढ़ गयी। १८५४ ई० में उसने **सार्वजनिक निर्माण-विभाग** (पी० डब्ल्यू० डी०) स्थापित किया। इस विभाग के अधीन नहरों, सड़कों और रेलों का निर्माण कार्य रखा गया परन्तु बाद में ये सभी कार्य अलग-अलग विभागों के अधीन कर दिये गये। डलहोजी के ही शासन-काल में सबसे पहले बम्बई और थाना के बीच **रेलगाड़ी** भी चली। उसने **तार** भी लगवाया और देश में दूर-दूर तक तार जाने लगे। डलहौजी ने **डाक-विभाग** को भी नये सिरे से सुसंगठित किया और नये-नये डाकघर खोले गये। आध आने में दूर-दूर तक पत्र जाने लगे। इन सुधारों से देश में पत्र-व्यवहार और यातायात की असुविधायें कम हो गयीं। उसी के समय **शिक्षा-सुधार** के लिये एक प्रसिद्ध आयोग बैठाया गया जो उसके नेता **सर चार्ल्स वुड** के नाम पर **वुड आयोग** कहलाया तथा जिसकी सिफारिशों के आधार पर आधुनिक शिक्षा की नींव पड़ी।

लार्ड डलहौजी के सुधारों का फल यह हुआ कि देश में एक नया जीवन आया जिससे अंग्रेजों के शासन को बड़ा बल मिला परन्तु उसके साथ ही साथ उसका पहला प्रभाव यहाँ के लोगों पर बुरा पड़ा और उनकी प्रतिक्रिया १८५७ ई० के राष्ट्रीय विप्लव में देखने को मिली।

३६ अध्याय

कम्पनी के समय में शासन-प्रबन्ध

अंग्रेजी कम्पनी की भारतवर्ष में ज्यों-ज्यों राजनैतिक प्रभुता बढ़ती गयी, त्यों-त्यों उसके सामने शासन-सम्बन्धी आवश्यकतायें भी उपस्थित होने लगीं। क्लाइव ने, जो बंगाल का गवर्नर था सबसे पहले शासन सुधारने का प्रयत्न किया। कम्पनी के नौकरों में बढ़ते हुए भ्रष्टाचार, घूसखोरी और स्वार्थपरता को उसने दूर करना चाहा परन्तु उसकी सफलता बहुत अल्पकालिक हुई। इंगलैण्ड में इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ा और वहाँ की सरकार ने कम्पनी के भारतीय मामलों में हस्तक्षेप करना और नियंत्रण रखना आवश्यक समझा।

१. प्रशासन

(१) रेग्यूलेटिंग ऐक्ट

इंगलैण्ड की पार्लियामेन्ट ने बहुत बहस के बाद १७७३ ई० में रेग्यूलेटिंग ऐक्ट पास किया। इसके अनुसार कम्पनी के डाइरेक्टरों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे भारतवर्ष से सम्बन्धित प्रत्येक पत्र-व्यवहार अंग्रेजी सरकार के सामने रखे। भारत में बंगाल का गवर्नर सारे भारतवर्ष का गवर्नर जनरल बना दिया गया और उसकी सहायता के लिए चार सदस्यों की एक कौंसिल बना दी गयी जिसमें बहुमत का निर्णय मान्य होता था। परन्तु इससे गवर्नर जनरल की शक्ति कम हो गयी। बम्बई और मद्रास की सरकारों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे युद्ध और संधि के मामलों में गवर्नर जनरल तथा उसकी कौंसिल की सलाह माने परन्तु यह व्यवस्था बहुत दिनों तक नहीं चली। कौंसिल के सदस्यों में दलबंदी थी और ऐक्ट के अनुसार प्रथम गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स को शासन सम्बन्धी नियमों में बड़े विरोध का सामना करना पड़ा।

(२) पिट्स इण्डिया ऐक्ट

१७८४ ई० में पिट्स इण्डिया ऐक्ट पास हुआ जिसके द्वारा रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया गया। एक कंट्रोल बोर्ड की स्थापना हुई जो कम्पनी के भारतीय शासन पर नियंत्रण रखने लगा।

गवर्नर जनरल की कौंसिल के सदस्यों की संख्या घटाकर तीन कर दी गयी तथा मद्रास और बम्बई की सरकारों पर गवर्नर जनरल का नियंत्रण बढ़ा दिया गया। १७८६ ई० में इस कानून में एक संशोधन उपस्थित किया गया जिसके द्वारा जवर्नर जनरल को यह अधिकार दिया गया कि वह कौंसिल के बहुमत के निर्णय को भी रद्द कर सकता है। वह भारतवर्ष में मुख्य सेनापति भी बना दिया गया। पिट्स इण्डिया ऐक्ट ने यह स्पष्ट रूप से घोषित किया कि कम्पनी भारतीय राज्यों के आपसी झगड़ों में हस्तक्षेप नहीं करेगी परन्तु आगे चलकर १७९८ ई० में जब वेलेजली भारतवर्ष में गवर्नर जनरल होकर आया तो उसने इसे बिल्कुल नहीं माना।

(३) कार्नवालिस का शासन-सुधार

कार्नवालिस जब इंगलैंड में था तो उसने भारतवर्ष में कम्पनी के नौकरों में फैले हुए भ्रष्टाचार की कहानियाँ सुन रखी थीं और जब उसे गवर्नर जनरल का पद मिला तो उसने इन बुराइयों के अन्त के लिए प्रयत्न किया। कम्पनी के नौकर अपने व्यक्तिगत व्यापार के बढ़ाने की दृष्टि से अनेक अनुचित उपायों का प्रयोग करते थे। घूसखोरी और पक्षपात खूब बढ़ा हुआ था। कार्नवालिस ने इन बुराइयों को दूर करने के उद्देश्य से कर्मचारियों का वेतन निश्चित कर दिया तथा जिनको कम वेतन मिलता था उसे बढ़ाया गया। कमीशन देने की प्रथा बंद कर दी गयी। परन्तु कार्नवालिस ने अंग्रेजों का अनुचित पक्षपात किया और भारतीयों की ईमानदारी और योग्यता में विश्वास न करके उन्हें सरकारी नौकरियों से अलग रखा। यह व्यवस्था स्वार्थमय और अन्यायपूर्ण थी। आगे चलकर १८२८ ई० में जब विलियम बेंटिंक गवर्नर जनरल हुआ तो उसने इस अन्याय को दूर कर दिया और भारतीयों को भी बड़े पद मिलने लगे।

(४) कम्पनी को आज्ञापत्र

कम्पनी को भारतवर्ष के व्यापार और शासन के सम्बन्ध में समय-समय पर अंग्रेजी सरकार की ओर से आज्ञा-पत्र मिलते रहे। १८१३ ई० के आज्ञापत्र में उसको व्यापार का एकाधिकार नहीं रहा और १८३३ ई० में उसका बचा हुआ भी व्यापारिक अधिकार ले लिया गया। १८३३ ई० तक मद्रास और बम्बई की सरकार के पास कुछ कानून आदि बनने के सम्बन्ध में स्वतंत्रता थी परन्तु उसके बाद गवर्नर जनरल और उसकी कौंसिल का उन अहातों पर पूरा अधिकार हो गया। कानून तथा शासन में उन्हें अब बिल्कुल गवर्नर जनरल के अधीन कर दिया गया और उसकी कौंसिल में एक कानून

का सदस्य बढ़ा दिया गया। सर्वप्रथम मैकाले इस पद पर नियुक्त हुआ। गवर्नर जनरल की कौंसिल के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गयी और उसमें ६ और नये सदस्य हो गये। चार सदस्य बंगाल, मद्रास, बम्बई और सीमाप्रांत का प्रतिनिधित्व करते थे। पाँचवाँ सुप्रीम कोर्ट का मुख्य न्यायमूर्ति तथा उसका एक प्यूनी जज छठवाँ सदस्य होता था। १८५३ ई० के आज्ञापत्र के द्वारा नियंत्रकों के बोर्ड में अनेक परिवर्तन किये गये। उनकी संख्या घटा दी गयी और वे राज्य द्वारा नियुक्त किये जाने लगे।

२. माल

(१) वारेन हेस्टिंग्स का सुधार

क्लाइव के दोहरे शासन-प्रबंध का फल यह हुआ कि बंगाल में कम्पनी के नौकर व्यक्तिगत लाभ की ओर अधिक ध्यान देने लगे। वारेन हेस्टिंग्स ने इसका सुधार किया और मालगुजारी की वसूली के साथ-साथ शासन भी अपने हाथ में लिया। बंगाल और बिहार के उपनवाबों का पद तोड़ दिया गया और खजाना मुर्शिदाबाद से कलकत्ता ले जाया गया। नवाब की पेन्शन ३२ लाख से घटाकर १६ लाख सालाना कर दी गई और इस प्रकार खर्चे में कमी की गयी। मालगुजारी की वसूली तथा तत्सम्बन्धी मामलों के लिये रेवेन्यू बोर्ड की स्थापना की गयी। मालगुजारी वसूल करने के लिए अंग्रेज कलक्टर नियुक्त किये गये। इसके अलावा मालगुजारी से सम्बन्धित कागज-पत्रों के रखने की भी व्यवस्था की गयी। लगान की वसूली का वार्षिक प्रबंध भी हुआ।

(२) कार्नवालिस का स्थायी भूमि-प्रबन्ध

कार्नवालिस ने भूमि का स्थायी प्रबंध किया। इसके द्वारा जमींदारों को भूमि का स्थायी मालिक बना दिया गया तथा उसके प्रबंध में उन्हें स्वतंत्र छोड़ दिया गया। भूमि का नाप करके तथा उसकी उपज का ध्यान रखकर स्थायी रूप से मालगुजारी तय कर दी गयी। इससे जमींदारों को बड़ा लाभ हुआ और आर्थिक दृष्टि से वे मुनाफे में रहे। बहुतों ने खेती में पूरी रुचि और उसकी उन्नति की परन्तु उसके आधीन जो किसान थे उनकी हालत बिगड़ गयी। उनसे जमींदारों ने मनमाना लगान वसूल किया और जमीन पर अधिकार न होने के नाते वे खेती की बहुत उन्नति न कर सके। इस प्रकार कम्पनी को यह लाभ हुआ कि जमींदार उनके मित्र हो गये और सालाना अथवा समय-समय से भूमि प्रबंध की झंझट छूट गयी। कम माल-

गुजारी मिलने पर भी अन्त में सरकार को लाभ ही हुआ। यह प्रबन्ध केवल बंगाल तक ही सीमित रहा। कार्नवालिस का यह स्थायी भूमि-प्रबंध बहुत दिनों तक हेरफेर के साथ चलता रहा और दोषों को दूर करने के लिए सन् १८५९ ई० में बंगाल टिनैन्सी ऐक्ट पास किया गया।

(३) रैयतवारी

मद्रास में मीरासदारी और रैयतवारी नाम के दो प्रबन्ध प्रचलित थे, परन्तु अधिकतर टामस मनरो द्वारा किया हुआ रैयतवारी प्रबन्ध ही लागू था। इसमें रैयतों से समय-समय पर भूमि-प्रबन्ध किया जाता था। बाद में बंगाल की भूमि-व्यवस्था मद्रास में भी लागू की गयी, परन्तु पूरे मद्रास में ऐसा नहीं हुआ और रैयतवारी प्रबन्ध की मुख्यता अब भी बनी रही। रैयतवारी प्रबंध बम्बई और सीमाप्रांत में भी लागू किया गया। सीमाप्रांत में आजकल उत्तरप्रदेश और पंजाब तथा राजस्थान के कुछ हिस्से शामिल थे। इन स्थानों में समय-समय से गाँव के मुख्य-मुख्य लोगों से भूमि का प्रबंध किया जाता था और उनकी मालगुजारी नियत कर दी जाती थी।

३. न्याय

सन् १७७२ ई० में वारेन हेस्टिंग्स ने हर एक जिले में क्रमशः दीवानी और फौजदारी के मामलों के लिये एक-एक दीवानी अदालत और निजामत अदालत की स्थापना की। इसके अलावा कलकत्ता में अपील के लिये सदर दीवानी और सदर निजामत अदालतें स्थापित की गयीं। दीवानी अदालतों में अंग्रेज कलक्टर बैठते थे, लेकिन सदर निजाम अदालत में भारतीय न्यायाधीश बैठते थे। १७७४ ई० के रेग्यूलेटिंग एक्ट के द्वारा कलकत्ते में एक सुप्रीम-कोर्ट की स्थापना की गयी। इसका सभी लोगों और सभी अदालतों पर अधिकार हो गया। सर एलिजा एम्पी इसका प्रधान न्यायमूर्ति नियुक्त हुआ और उसकी सहायता के लिये तीन और न्यायाधीश भी रखे गये। परन्तु इस अदालत की एक कमी यह थी कि इसमें भारतीयों के भी मुकदमों का फैसला अंगरेजी कानूनों के द्वारा होता था। यह नन्दकुमार को दी गई फाँसी से स्पष्ट हो गया। उसकी फाँसी भारतीय विधि के प्रतिकूल थी और उसमें वारेनहेस्टिंग्स तथा एम्पी दोनों की बदनामी हुई। इसके अतिरिक्त सुप्रीम कोर्ट और गवर्नर जनरल की कौंसिल के अधिकारी की अलग-अलग व्याख्या नहीं की गयी जिससे दोनों में झगड़ा होता था। १७८१ ई० में अदालतों के नियमों में संशोधन किया गया और मालगुजारी सम्बन्धी

मामलों पर सुप्रीमकोर्ट का बिलकुल अधिकार नहीं रहा। १७९३ ई० में कार्नवालिस कोड पास हुआ जिसके द्वारा हर जिले में एक न्यायाधीश नियुक्त किया गया तथा कलक्टरों के हाथ से न्याय का काम छीन लिया गया। परन्तु कार्नवालिस ने एक बहुत बड़ा अन्याय यह किया कि उसने भारतीयों पर विश्वास न करके उन्हें न्याय के बड़े-बड़े पदों से अलग रखा। यह अन्याय विलियम वेंटिक के समय में १८३३ ई० के कम्पनी के आज्ञापत्र के द्वारा दूर किया गया। इन अदालतों में उत्तराधिकार, दाय और समझौतों के सम्बन्ध में हिन्दुओं और मुसलमानों को उन्हीं की विधियों के द्वारा न्याय वितरित किया जाता था। लार्ड विलियम वेंटिक के समय में अदालतों की भाषा फारसी की जगह उर्दू कर दी गयी।

४. सामाजिक सुधार

अंग्रेजों ने भारतवर्ष में धार्मिक मामलों में कभी सीधे हस्तक्षेप नहीं किया। फिर भी कई बार यहाँ की कुप्रथाओं और सामाजिक दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया। इस कार्य में लार्ड विलियम वेंटिक ने सबसे आगे हाथ बढ़ाया। १८२९ ई० में एक कानून पास किया गया जिसके द्वारा सती की प्रथा को वन्द कर दिया गया। भारतवर्ष में, विशेषतः राजस्थान में यह प्रथा प्रचलित थी कि पतियों के मरने पर स्त्रियाँ उन्हीं के साथ चिता में जलकर सती हो जाती थीं। परन्तु कभी-कभी अनिच्छुक स्त्रियों को भी सती होने के लिये वाध्य किया जाता था। परन्तु वेंटिक ने राजा राममोहन राय की सहायता से इस प्रथा का अन्त कर दिया। वेंटिक के बहुत पहले शिशु-हत्या को भी बन्द करने का प्रयत्न किया गया था परन्तु उसमें विशेष सफलता नहीं मिली थी और उसने शिशु-हत्या-सम्बन्धी कानूनों का कड़ाई से पालन कराया और शिशु-हत्या करनेवालों को कड़े-कड़े दण्ड दिये गये। उसने राजस्थान, अजमेर तथा दक्षिण में प्रचलित नर-हत्या को भी दूर करने की कोशिश की तथा उस सम्बन्ध में कानून पास करने के अतिरिक्त अफसरों की नियुक्ति के द्वारा लोगों को यह भी दिखाया कि नर-हत्या जघन्य पाप है। १८४३ ई० में एक कानून पास करके दास-प्रथा का भी अन्त कर दिया गया।

लार्ड विलियम वेंटिक

ठगी का अन्त—बेंटिक के सुधारों में ठगी का अन्त भी मुख्य था। ठगों के समूह में सभी धर्म और सभी जातियों के लोग शामिल थे और वे सारे भारतवर्ष में फैले हुये थे। वे काली की पूजा करते थे और उनका ऐसा विश्वास था कि उनके जघन्य कार्यों में काली का भी आशीर्वाद प्राप्त है। वे निर्जन स्थानों में लोगों को ले जाकर, विशेषतः यात्रियों को बहकाकर, उनका गला घोंट देते तथा उनका सारा समान लेकर चम्पत हो जाते थे। उनकी अपनी संकेत-भाषा होती थी जिसके द्वारा वे ठगों को बुलाते थे और ठगी करते थे। इस अराजकता को दूर करने के लिये बेंटिक ने अफसरों की नियुक्ति की जिनका मुखिया सर विलियम स्लीमैन हुआ। अनेक कानूनों के द्वारा उनकी गतिविधि को नियंत्रण में रखा गया। १८३१ से १८३७ ई० के बीच में तीन हजार ठगों को पकड़ा गया तथा धीरे-धीरे देश ठगों के आतंक से मुक्त हो गया।

५. शिक्षा

कम्पनी के शासन-काल में शिक्षा की प्रगति भी हुई। युरोपीय पादरियों ने भारतवर्ष में ईसाई धर्म के प्रसार के लिये तो प्रयत्न किया ही, साथ ही साथ उन्होंने यहाँ अंग्रेजी शिक्षा का भी प्रचार किया। इन्होंने बंगाल, मद्रास तथा बम्बई में अंग्रेजी स्कूलों की स्थापना की। भारतवर्ष में भी अनेक ऐसे महापुरुष हुये जिन्होंने सांस्कृतिक उत्थान की ओर विशेष ध्यान दिया। इनमें सर्वमुख्य राजा राममोहनराय थे। उन्होंने समाजसुधार के साथ-साथ शिक्षा के लिये भी बड़ा प्रयत्न किया। उन्हीं की सहायता से १८१६ ई० में कलकत्ते में हिन्दू कालेज खोला गया जो बाद में प्रेसिडेन्सी कालेज के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसमें युरोपीय साहित्य और विज्ञान पढ़ाये जाते थे। सीरामपुर के पादरियों ने भी वहाँ एक कालेज की स्थापना की तथा वहाँ से १७१८ ई० में समाचार-दर्पण नाम का पत्र निकाला गया। परन्तु अंगरेजी शिक्षा को सबसे बड़ा प्रोत्साहन लार्ड विलियम बेंटिक के समय में मिला। लार्ड मैकॉले ने, जो उसकी कौंसिल का कानूनी सदस्य था, अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के लिये बड़ी बहस की और उसके सुझाव पर सभी प्रकार की शिक्षाओं के लिये अंग्रेजी भाषा माध्यम बना दी गयी। इसका फल यह हुआ कि अंग्रेजी पाठशालाओं की बड़ी जल्दी वृद्धि हुई और १८४४ई० में लार्ड डलहौजी के आज्ञानुसार शासकीय नौकरियों में सरकारी अंग्रेजी स्कूलों से पढ़े हुये लोगों को प्राथमिकता दी जाने लगी। परन्तु

अंग्रेजी शिक्षा से जहाँ एक तरफ भारतीय विद्यार्थियों ने पश्चिमीय ज्ञान और दर्शन को सीखा, वहाँ वे अन्धाधुन्ध नकल करके भारतीयता से दूर होते गये।

६. समाचार-पत्र

सर चार्ल्स मेटकाफ के शासन-काल में समाचार-पत्रों को स्वतन्त्रता मिल गई और १८३५ ई० के एक कानून के द्वारा उनपर लगे सभी बन्धन हटा दिये गये। इस सुविधा से भारतीय भाषाओं में अनेक पत्र निकले और जागरण तथा ज्ञान की वृद्धि हुई।

३७ अध्याय

राष्ट्रीय विप्लव

१. विप्लव के कारण

अठारह सौ सत्तावन का राष्ट्रीय विप्लव कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। इसकी आग पहले से धीरे-धीरे सुलग रही थी। विप्लव के कई वर्षों पहले से भारत में अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध आन्दोलन हो रहे थे। परन्तु १८५७ ई० के विप्लव की विशेषता यह थी कि वह भारत को विदेशियों की दासता से मुक्त करने के लिये सबसे पहला सुसंगठित तथा हिन्दू और मुसलमानों की एकता से संचालित विप्लव था। उसके अनेक कारण थे जिनका संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है :

(१) राजनीतिक कारण—भारत में अंग्रेजी राज्य के विस्तार के साथ साथ बहुत से राजवंश, उनके कर्मचारी और सैनिक बेकार हो गये। अपना पद, सम्मान और जीविका छिन जाने से सभी असंतुष्ट थे। लार्ड डलहौजी की राजनीतिक धाँधलियों का फल उसके उत्तराधिकारी लार्ड कैनिंग को भोगना पड़ा। पुनरावर्त्तन के सिद्धान्त के प्रयोग का फल यह हुआ था कि झाँसी, सतारा, नागपुर तथा सम्भलपुर आदि सभी राज्यों के शासक अपने अपने राज्यों के छिन जाने से असन्तुष्ट हो गये थे और वे अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध मोर्चा बनाने लगे थे। अवध का नवाब तथा उसके सहायक भी उसी प्रकार असन्तुष्ट थे। नाना साहब की पेंशन बन्द हो जाने तथा दिल्ली के मुगल सम्राट बहादुरशाह की गद्दी छिन जाने से उनके भी क्रोधकी सीमा नहीं रही। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान सभी असन्तुष्ट थे और उन्होंने विप्लव में खुलकर योग दिया।

(२) सामाजिक और धार्मिक कारण—देश की साधारण जनता, विशेषतः हिन्दू, अंग्रेजी शासन में कानून के द्वारा किये गये सुधारों से बड़ी ही असन्तुष्ट थी। सती की प्रथा का अन्त, विधवाओं को विवाह करने की कानूनी सुविधा तथा हिन्दू धर्म छोड़कर दूसरे धर्मों को स्वीकार करनेवाले लोगों की कानूनी रक्षा का जो प्रयत्न अंगरेजी शासन ने किया उससे हिन्दू जनता अत्यन्त आशंकित हो गयी। हिन्दू समझने लगे कि अंग्रेज भारतवर्ष के समाज और धर्म को मिटाने पर तुल गये हैं। यही नहीं, लार्ड डलहौजी के समय में जो रेल, तार और डाक का प्रयोग प्रारम्भ हुआ उसमें कट्टर

भारतीयों को यहां की सभ्यता नष्ट करने की अंगरेजों की चाल दिखाई दी। ईसाई पादरियों के अशिष्ट व्यवहार तथा ईसाई धर्म फैलाने की प्रवृत्ति से भी लोग आशंकित हो गये थे। लार्ड डलहौजी ने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त लोगों को जो नौकरियों में प्राथमिकता देनी शुरू की उससे भी यहाँ यह डर हुआ कि भारतीय धर्म और भाषा को अंग्रेज मिटाना चाहते हैं। इन सबका फल यह हुआ कि असन्तुष्ट जनता ने विप्लवकारियों का साथ दिया।

(३) आर्थिक कारण—कम्पनी के शासन-काल में भारतवर्ष की आर्थिक दशा दिनोंदिन खराब हो रही थी। देशी राज्यों को एक-एक करके जो अँग्रेजी सरकार ने हड़पा, तो धीरे-धीरे उन राज्यों के कर्मचारियों की भी दशा बिगड़ती गई। अधिकांश कर्मचारी और सैनिक नौकरियों से निकाल दिये गये और उनको रोटी के लाले पड़ने लगे। नये भूमि-प्रबन्धों में अनेक जमींदारों की जमीनें छीन ली गयीं और वे बेरोजगार हो गये। बेचारे रईस अपनी मर्यादा निबाहने में असमर्थ होने लगे। नये-नये कानूनों के प्रयोग से किसानों की भी दशा शोचनीय हो गयी और वे अँग्रेज कलक्टरों तथा नये कर्मचारियों की जबरदस्ती से पिसने लगे। लगान वसूली की कड़ाई भी कम नहीं थी। इसके अतिरिक्त भारतीय व्यापार और शिल्प भी चौपट हो रहा था। अँग्रेजी शासन का यह ध्येय हो गया था कि भारत से अधिक से अधिक कच्चा माल इङ्गलैण्ड की मिलों को भेजा जाय और उनके बने हुये सामान इस देश में खपाये जायँ। इसी ध्येय से अँग्रेजों ने यहां का सारा शिल्प, उद्योग और व्यापार चौपट कर दिया और भारतवर्ष से अधिक से अधिक धन इंगलैण्ड जाने लगा। देश निर्धन हो गया और गरीबी का असन्तोष राष्ट्रीय विप्लव के रूप में देखने को मिला।

(४) सैनिक कारण—कम्पनी के भारतीय सिपाही भी असन्तुष्ट थे। उन्हें देश के भीतर तथा बाहर दोनों जगह दूर-दूर तक लड़ाइयों के लिये जाना पड़ता था, परन्तु उसके लिये उन्हें कोई अतिरिक्त भत्ता नहीं मिलता था। अँग्रेज सिपाही हिन्दुस्तानी सिपाहियों का अनादर करते थे। यहां के सिपाहियों में यह भी डर था कि नये-नये सुधारों तथा कानूनों से अँग्रेज उनका धर्म मिटाना चाहते हैं। लार्ड कैनिंग के १८५६ ई० के एक कानून से सेना में जाति-पांति का सभी भेद मिटा दिया गया जिससे सिपाहियों में बड़ा असन्तोष फैला। इन सबके ऊपर कारतूसोंवाली घटना थी जिसने विप्लव की सुलगती हुई आग को भड़का दिया। सिपाहियों को ऐसी कारतूस दी गयी जिसे गाय और सूअर की चर्बी से चिकना किया गया था और उसकी परत

को दांत से काटना पड़ता था। यह हिन्दू और मुसलमान दोनों ही के लिये असह्य था और उन्होंने स्थान-स्थान पर विद्रोह कर दिया।

२. विप्लव की तैयारी

विप्लव सिपाहियों का आकस्मिक विद्रोह हो ऐसी बात नहीं है। उसकी तैयारी बहुत दिनों से हो रही थी। नाना साहब, बहादुरशाह, वाजिद-अली शाह तथा जगदीशपुर के राजा कुंवर सिंह के गुप्तचर उनकी योजनाओं को लेकर सिपाहियों में पूरा प्रचार कर रहे थे। सभी मुख्य-मुख्य राज्यों में तथा जातियों में स्वातंत्र्य-युद्ध का निमंत्रण बाँटा जा रहा था और ऐसी योजना थी कि मई, सन् १८५७ ई० की ३१ तारीख को चारों तरफ एक ही वार विप्लव प्रारंभ किया जाय और अँग्रेजी शासन को समाप्त करके देश को स्वतंत्र घोषित किया जाय।

कुंवर सिंह

३. विप्लव की घटनायें

विप्लव की योजना अभी पूरी भी नहीं हो पायी थी कि उतावले और नयी कारतूसों से असन्तुष्ट सिपाहियों ने विद्रोह कर दिया। २९ मार्च १९५७ ई० को बंगाल की एक टुकड़ी ने बारकपुर में मंगल पाण्डे के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया परन्तु उसे अँग्रेजों ने दबा दिया। मंगल पाण्डे को फांसी दी गयी। इसके बाद अँग्रेज विद्रोही सिपाहियों को पांडे कहने लगे। १० मई सन् १८५७ ई० को मेरठ में एक हिन्दुस्तानी टुकड़ी ने विद्रोह किया। उनके कुछ साथी जो कैद में डाल दिये गये थे, जेल में से जबरदस्ती बाहर निकाल लिये गये। कुछ युरोपीय अफसरों का वध करके मेरठ पर उन्होंने पूरा कब्जा पा लिया तथा वे दिल्ली की ओर बढ़ गये। यहां से विप्लव प्रारंभ हो गया। उन्होंने दिल्ली जाकर वहाँ की सेना को भी अपनी ओर मिला लिया। दिल्ली पर अधिकार करके वहां बूढ़े मुगल बादशाह बहादुरशाह को भारतीय सम्राट् घोषित कर दिया गया। बहादुरशाह की बेगम जीनतमहल ने उनका

पूरा साथ दिया। इसके बाद अत्यंत शीघ्र ही विद्रोह रुहेलखण्ड, मध्यभारत, तथा अवध में फैल गया। परन्तु इसकी सबसे भयंकर ज्वाला अवध, कानपुर,

लखनऊ तथा बनारस में भड़की। भारतीय सिपाहियों ने सब जगह अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध शुरू कर दिया। बुन्देलखण्ड में झाँसी की रानी ने विद्रोहियों का नेतृत्व करते हुये अँग्रेजों का कड़ा मुकाबला किया। बहुत से अँगरेज मार डाले गये। परन्तु सबसे भयंकर घटना कानपुर में हुई। वहां नाना साहब की आज्ञा से अँग्रेज घेर लिये गये थे। अवध में अँग्रेजी सेनापतियों के अत्याचार तथा बाल-वृद्ध सबकी हत्याओं से ऊबकर प्रतिशोध की भावना से उतावले

बहादुरशाह

जीनत महल

हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने कुछ अँग्रेज परिवारों का वध करा दिया। विद्रोहियों ने लखनऊ की रेजीडेन्सी पर भी अधिकार कर लिया।

दिल्ली से लेकर अवध तक विद्रोहियों का पूरा अधिकार हो गया। दिल्ली में हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने बड़ी वीरता दिखायी और अंग्रेजों की ३० हजार सेना के बावजूद वे वहाँ डटे रहे। परन्तु पंजाब के सिक्खों से अंग्रेजों को बड़ी मदद मिली और निकल्सन की बहादुरी से वे दिल्ली पर पुनः चढ़ आये। कश्मीरी दरवाजा उड़ा दिया गया तथा शहर पर अधिकार हो जाने के बाद अंग्रेजी सेना ने विद्रोहियों के साथ हजारों निरीह लोगों का वध कर दिया। बहादुरशाह और उसके लड़के कैद कर लिये गये। बहादुरशाह पर मुकदमा चलाया गया तथा उसे कैद करके रंगून भेज दिया गया, जहाँ वह कैद में ही १८६२ ई० में मर गया। उसके लड़कों को अंग्रेजों ने मार डाला।

दिल्ली पर अधिकार हो जाने के बाद अंग्रेजी सेनाओं ने धीरे-धीरे बिहार, बनारस, इलाहाबाद, लखनऊ, और कानपुर आदि स्थानों पर भी अधिकार पा लिया। विद्रोहियों ने अंत में मध्यभारत और बुन्देलखण्ड में अपना अड्डा

तात्या टोपे

रानी लक्ष्मीबाई

जमाया और तात्या टोपे तथा झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने वीरतापूर्ण युद्ध किया परन्तु अंत में सिंधिया की सेनाओं ने अंग्रेजों की मदद की और वे हार

गये। नर्मदा नदी के दक्षिण विद्रोह की भावना नहीं फैल पायी थी। साल भर के भीतर विद्रोह बिल्कुल दबा दिया गया। झाँसी की रानी वीरतापूर्वक लड़ती हुई युद्ध में काम आयी। तात्याँ टोपे को अंग्रेजों ने प्राणदण्ड दे दिया तथा नाना साहब को विवश होकर नेपाल की ओर भाग जाना पड़ा। अंग्रेज विप्लव को पूर्ण रूप से दबा सकने में सफल हुये।

४. विप्लव की असफलता के कारण

(१) विप्लव का देशव्यापी न होना—सन् १८५७ के राष्ट्रीय विप्लव की असफलता के अनेक कारण थे। विप्लव पूर्ण रूप से देशव्यापी नहीं था। वह देश के कुछ भागों में ही सीमित रहा। बंगाल, पंजाब तथा दक्षिण में सेनायें बिल्कुल शांत रहीं। बम्बई और मद्रास में विप्लव का जोर नहीं हुआ। भारत के अनुगृहीत राजाओं ने अंग्रेजी सरकार का साथ दिया और उनकी राजभक्ति ने अंग्रेजी साम्राज्य को नष्ट होने से बचाया। ग्वालियर के राजमंत्री दिनकरराव ने अंग्रेजों की पूरी मदद की। हैदराबाद के सालार जंग ने भी अंग्रेजों की सहायता की। उनके अलावा पंजाब के सिक्खों ने विप्लव की महत्ता को नहीं समझा। उन्होंने अपनी हाल की हार को भी भुला दिया और अंग्रेजों के मित्र बने रहे। नेपाल के शासक जङ्गबहादुर ने भी अंग्रेजों की ही मदद की। उधर अफगानिस्तान के अमीर दोस्त मुहम्मद ने अंग्रेजों से अपनी मित्रता निभायी और उत्तरी-पश्चिमी दिशा से अंग्रेजी साम्राज्य को कोई भी भय नहीं रहा। ऐसी परिस्थिति में विप्लव बहुत दिन चलता अथवा सफल होता यह असंभव था।

(२) योजनाओं की कमी—एक तो कोई पूरी योजना तैयार न थी, दूसरे विप्लव की योजनाओं के कार्यान्वय में भी गलती हुई। मेरठ के सिपाहियों ने उतावलेपन का परिचय दिया। प्रथम योजना यह थी कि विप्लव ३१ मई १८५७ ई० को प्रारंभ किया जाय; परन्तु उसे सिपाहियों ने अपने विद्रोह के द्वारा १० मई को ही प्रारम्भ कर दिया। अभी और भी तैयारियां करनी थीं जो पूरी न हो सकीं और फलतः विद्रोहियों की योजनाओं में एकता का अभाव हो गया।

(३) नेतृत्व और युद्ध-सामग्री की कमी—विद्रोहियों के पास योग्य नेतृत्व और युद्ध की सामग्रियों का अभाव रहा। जहाँ एक ओर अंग्रेजों को लारेंस, निकल्सन, आउटरैम, हैवलाक और नील जैसे सेनापतियों की सेवायें प्राप्त थीं, वहाँ विप्लवकारी दल में उनकी बराबरी करने वाले लोगों की कमी थी। छिटफुट वीरता तो अवश्य थी परन्तु आधुनिक युद्ध के लिए

योजनापूर्ण कौशल का अभाव खटकने की बात थी। यही नहीं, युद्ध की सामग्रियों की भी उनके पास कमी थी। आधुनिक युद्ध की आवश्यकतायें क्या हैं यह उन्हें मालूम नहीं था। अंग्रेजों ने तोप, गोले और बारूदों का सफलतापूर्वक प्रयोग किया और आधुनिक विज्ञान की वस्तुओं—रेल, तार और डाक से पूरा लाभ उठाया। विद्रोहियों ने उपयुक्त सामग्रियों की विशेषता की ओर ध्यान न देकर अपने पुरने हथियारों पर ही भरोसा किया, जो घातक सिद्ध हुआ। उन्होंने किसी विदेशी शक्ति को अपनी ओर मिलाकर उससे सहायता लेने का प्रयत्न भी नहीं किया।

(४) **व्यवस्था का अभाव**—आंदोलनकारियों के द्वारा विजित प्रदेशों पर सुव्यवस्था और शासन स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया गया। इससे जनता में विश्वास की कमी हो गयी। परन्तु यह कहना बिल्कुल सही नहीं है कि उन्होंने युद्ध में बर्बरता बरती। अंग्रेज स्वयं भी उसमें उनसे पीछे नहीं थे। इतना अवश्य है कि लार्ड कैनिंग और जान लारेंस की उदार नीति का कुछ प्रभाव हुआ और उन्होंने प्रतिकार और बदला न लेकर शांति की जल्दी स्थापना में योग दिया। साधारण जनता शांति ही चाहती है और अंग्रेजी शासन ने बुद्धिमानी से उन्हें अपनी ओर कर लिया।

५. विप्लव के परिणाम

(१) **विप्लव के महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए।** भारतीयों ने स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए शस्त्र का प्रयोग किया। उसमें असफल होने के कारण उनका विचार बदला और वे संवैधानिक प्रणालियों की ओर झुके, शांतिपूर्ण उपायों से अपनी मांगों को अंग्रेजी सरकार के सामने रखना और संवैधानिक आन्दोलन को उन्होंने अपना साधन बनाया। अंग्रेजी सरकार ने भी दमन-नीति को छोड़कर शासन के क्षेत्र में भारतीयों का सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया। जितना साम्राज्य वे बढ़ा चुके थे उसी से संतोष करना उन्होंने उचित समझा और देशी राज्यों की रही-सही शक्ति को नष्ट करना बंद कर दिया। सबका सहयोग प्राप्त करने के लिए अंग्रेजी सरकार ने आनेवाले दशकों में कौसिलों में गैरसरकारी भारतीयों को रखा।

(२) **कम्पनी का अंत**—विप्लव से इंगलैण्ड की अंग्रेजी सरकार की आँखें खुल गईं। वहाँ कम्पनी के विशाल साम्राज्य का महत्व समझा जाने लगा और यह आवाज उठने लगी कि जिम्मेदारी सभांलने की शक्ति उसमें नहीं है। फलतः कम्पनी को भारतवर्ष के शासन के लिए नया आज्ञापत्र

नहीं दिया गया। यहाँ का शासन सीधे अंग्रेजी राजमुकुट के आधिपत्य ले लिया गया। महारानी विक्टोरिया की घोषणा के द्वारा कम्पनी का अंत कर दिया गया तथा 'कण्ट्रोल-बोर्ड' को तोड़ दिया गया। ब्रिटिश मंत्रिमंडल में एक भारतमंत्री की व्यवस्था की गयी, जिसे भारतवर्ष के शासन को चलाने का अधिकार दिया गया। उसको परामर्श देने के लिए १५ व्यक्तियों की एक समिति नियुक्त की गयी। भारतवर्ष के गवर्नर जनरल को वाइसराय की उपाधि दी गयी और वह भारतमंत्री की राय से भारत को शासन चलाने लगा। प्रथम वाइसराय लार्ड कैनिंग ने इलाहाबाद में एक दरबार करके महारानी विक्टोरिया का घोषणा-पत्र सुनाया। उसमें यह विश्वास दिलाया गया कि जाति, धर्म और रंग के कारण भेद न कर सबको समान अवसर दिया जायेगा।

३८ अध्याय

सांविधानिक विकास

१. पार्ल्यामेंट का अधिकार

१८५७ ई० के राष्ट्रीय विप्लव के बाद ईस्ट इंण्डिया कम्पनी भारतवर्ष की शासक न रही। सम्राज्ञी विक्टोरिया ने यहां का शासन अपने हाथों में ले लिया और उनकी ओर से पार्ल्यामेंन्ट का पूरा अधिकार इस देश पर स्थापित हो गया। भारतसंबंधी मामलों के लिए अंग्रेजी मंत्रिमंडल में एक भारत-मंत्री नियुक्त किया गया तथा गवर्नर जंनरल को वाइसरायकी उपाधिं मिली।

२. इण्डिया कौंसिल एक्ट (१८६१ ई०)

कम्पनी के काल में भारतवर्ष के शासन को चलाने का मुख्य भार अंग्रेजों के ही ऊपर था और भारतीयों को कोई भी अधिकार नहीं थे। परंतु राष्ट्रीय विप्लव से यह स्पष्ट हो गया कि अंग्रेज भारतीयों की राय जाने बिना सफलता-पूर्वक यहां शासन नहीं कर सकते। इस कमी को पूरा करने के लिये १८६१ ई० में एक **कौंसिल एक्ट** पास किया गया। इसके द्वारा गवर्नर जनरल की कौंसिल के सदस्य की संख्या चार से पांच कर दी गयी तथा उसके अधिकारों में वृद्धि की गयी। भारतवर्ष पर लागू होने वाले कानूनों को बनाने के लिए गवर्नर जनरल को यह अधिकार दिया गया कि वह कम से कम और अधिक से अधिक बारह सदस्यों को मनोनीत करे। इसमें कम से कम आधे व्यक्ति गैरसरकारी हों, ऐसी व्यवस्था की गयी। परन्तु गैरसरकारी सदस्यों को केवल सुझाव देने का अधिकार था अतः उनका विशेष प्रभाव होना कठिन था। इस ऐक्ट के अनुसार बम्बई और मद्रास की सरकारों को भी कानून बनाने का अधिकार मिला और वहां की कौंसिलों में भी गैरसरकारी सदस्यों को मनोनीत करने की व्यवस्था की गयी। परन्तु उनका अधिकार बहुत सीमित था और गवर्नर जनरल की अनुमति के बिना वहां की सरकारें कोई भी कानून नहीं बना सकती थीं।

३. इण्डियन कौंसिल एक्ट (१८९२ ई०)

१८६१ ई० के कौंसिल ऐक्ट के द्वारा गवर्नर जनरल की कौंसिल को जो अधिकार मिला उसके द्वारा यहां शासन संबंधी अनेक कानून पास किये

गये। परन्तु उनका कभी-कभी भारतीयों की राजनीतिक चेतना दवाने के लिए भी उपयोग किया गया। इन दमनकारी कानूनों के विरुद्ध तथा शासन में भारतीयों के लिए और अधिक भाग प्राप्त करने के हेतु यहां आवाज उठ रही थी। १८८५ ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हो चुका था और उसके नेता सुधारों के लिए प्रयत्न कर रहे थे। इन वातों का ध्यान करके १८९२ ई० में कौंसिल ऐक्ट पास किया गया। उसके अनुसार भारतीय और प्रांतीय व्यवस्थापक-सभाओं की सदस्य-संख्या बढ़ा दी गयी। गवर्नर जनरल को यह अधिकार दिया गया कि वे आवश्यकता अनुसार सदस्यों को मनोनीत करने के संबंध में कानून वना सकते हैं और निर्वाचन भी करा सकते हैं। फलस्वरूप लार्ड लैंसडाउन के समय में अप्रत्यक्ष निर्वाचन की प्रणाली चलायी गयी। कौंसिल के सदस्यों को आय-व्यय पर वहस करने का भी अधिकार दिया गया, परन्तु उसपर वे मतदान नहीं कर सकते थे। कौंसिल के सदस्य शासन संवंधी प्रश्न पूछ सकते थे। परन्तु इस सुधार कानून से भारतीयों को पूरी संतुष्टि नहीं हुई और राजनीतिक आंदोलन उग्र रूप पकड़ने लगा।

४. मार्ले-मिण्टो सुधार (१९०९ ई०)

ऊपर कहा जा चुका है कि १८९२ ई० के कौंसिल-ऐक्ट से भारतीयों को संतोष नहीं हुआ। यद्यपि राष्ट्रीय कांग्रेस का नरम दल उसे स्वीकार करके आगे चलने के पक्ष में था, परन्तु दूसरी ओर गरम दल के कुछ ऐसे लोग थे जिन्होंने उसे पूरा-पूरा ठुकरा दिया और उग्र आंदोलन की चर्चा होने लगी। इसी बीच लार्ड कर्जन भारतवर्ष के गवर्नर जनरल और वाइसराय होकर आये और उन्होंने अपने कार्यों से भारतीय जनता को वहुत काफी भड़का दिया। उनके शासन कार्यों में सबसे मुख्य बंगाल का विभाजन था, जिसे उन्होंने हिन्दू और मुसलमानों को विभक्त करने की दृष्टि से किया था। अंग्रेजों की यह नीति हो गयी थी कि भारतवर्ष में सम्प्रदायवाद को प्रोत्सा-हन देकर वन्दर-बाँट की नीति से शासन किया जाय। सर सैयद अहमद और आगाखाँ ने उनका साथ दिया। इन कुकृत्यों के फलस्वरूप यहाँ बड़ा उग्र आंदोलन छिड़ गया। ऐसी परिस्थिति में अंग्रेजी सरकार ने पुनः कुछ सुधारों के द्वारा भारतीय जनता को संतुष्ट करना चाहा और १९०९ ई० में मॉर्ले-मिण्टो सुधार कानून पास किया गया। लार्ड मिण्टो उन दिनों भारतवर्ष के गवर्नर जनरल थे और उनकी सिफारिशों पर लार्ड मॉर्ले ने जो भारतमंत्री थे सुधारों की व्यवस्था की। इसी कारण से इस सुधार को मॉर्ले-मिण्टो

सुधार कहते हैं। इस सुधार कानून के द्वारा यहां शासन स्वरूप में अनेक परिवर्तन किये गये। भारतवर्ष के लोग भारतीय कौंसिल तथा गवर्नर जनरल की कौंसिल के सदस्य-नियुक्त किये जाने लगे। भारतीय और प्रांतीय व्यवस्थापक सभाओं की सदस्य-संख्या बढ़ा दी गयी। प्रांतीय व्यवस्थापक-सभाओं में गैरसरकारी सदस्यों की संख्या अधिक कर दी गयी। गैरसरकारी सदस्यों में कुछ तो चुने जाते थे और कुछ मनोनीत किये जाते थे। परन्तु इस ऐक्ट की सबसे बड़ी कमी यह थी कि इसमें सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त मान लिया गया तथा हिन्दू और मुसलमानों के प्रतिनिधियों को अलग-अलग चुनने की व्यवस्था की गयी। स्थिर स्वार्थ के लोगों को भी प्रतिनिधित्व दिया गया। इसका फल यह हुआ कि देश की एकता धीरे-धीरे नष्ट हो गयी और मुसलमान अपने को हिन्दुओं से बिलकुल अलग समझने लगे। भारतवर्ष के नरम दलीय राजनीतिज्ञों ने तो इस सुधार-कानून का स्वागत किया, परन्तु गरम दलीय लोगों ने इसे अपर्याप्त मानकर इसे ठुकरा दिया। देश में आतंकवादियों का जोर बढ़ गया और सरकारी अफसरों की, विशेषतः पंजाब और बंगाल में, हत्यायें होने लगीं। उनको दबाने के लिए अनेक दमनकारी कानून बनाये गये। इसी बीच १९१४ ई० में प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ जाने से परिस्थिति और भी कठिन हो गयी। नरम दल के नेता अंग्रेजी सरकार को युद्ध के दिनों में तंग करना नहीं चाहते थे और अपनी राजभक्ति प्रकट करने के लिए उन्होंने युद्ध में उनका साथ भी दिया परन्तु गरम दल के नेता अंग्रेजी सरकार की सहायता करते हुए भी यह चाहते थे कि भारतवर्ष को स्वराज्य प्राप्त हो जाय। अंग्रेजी सरकार भी यह चाहने लगी कि युद्ध में भारतीयों का पूर्णरूप से सहयोग प्राप्त किया जाय और पुनः एक बार १९१७ ई० में भारतमंत्री माण्टेग्यू महाशय ने सुधार की चर्चा प्रारंभ की। वे भारतवर्ष के गवर्नर जनरल चेम्सफोर्ड के निमंत्रण पर यहां आये और उनसे परामर्श करके लौट गये। सन् १९१९ ई० में माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड ऐक्ट पास हुआ।

५. माण्टेग्यू-चेम्सफोड सुधार (१९१९ ई०)

इस सुधार-कानून के द्वारा शासन सम्बन्धी विषयों के दो भाग किये गए। परराष्ट्रनीति, सेना और वार्तावहन के साधन केन्द्रीय विषय माने गये और पुलिस, जेल, स्थानीय स्वराज्य तथा शिक्षा आदि प्रांतीय विषय स्वीकृत किये गये। इस ऐक्ट के द्वारा भारतवर्ष में केन्द्रीय शासन-सम्बन्धी कोई बड़ा परिवर्तन नहीं किया गया। गवर्नर जनरल और उसकी कौंसिल के द्वारा अब

भी शासन होता रहा। केन्द्रीय व्यवस्थापक-मण्डल की अब तक एक ही सभा थी, अब उसकी दो सभायें कर दी गयीं। छोटी सभा का नाम राज्य-परिषद् (कौंसिल ऑफ़ स्टेट) और बड़ी सभा का नाम **व्यवस्थापिका-सभा** (लेजिस्लेटिव एसेम्बली) रखा गया। इनके सदस्यों की संख्या क्रमशः ६० और १४४ रखी गयी। निर्वाचित सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गयी, परन्तु सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व की प्रथा अब भी बनी रही।

१९१९ ई० के सुधार-कानून के द्वारा प्रान्तों में उत्तरदायी सरकार को जन्म दिया गया। प्रान्तीय विषयों में भी दो भाग किये गए। कुछ विषय ऐसे थे जिन्हें **'संरक्षित'** (रिजर्व्ड) संज्ञा दी गयी, जैसे—कोष, पुलिस और जेल आदि। इनका शासन प्रान्तीय गवर्नर अपनी कौंसिल की सहायता से चलाता था। दूसरे विषय थे जिन्हें **'हस्तान्तरित'** (ट्रांस्फर्ड) कहा जाता था। शिक्षा, आबकारी और स्थानीय स्वराज्य आदि हस्तान्तरित विषय माने गये। इनका शासन उत्तरदायी मंत्रियों की राय से गवर्नर चलाता था। मंत्री लोग प्रान्तीय व्यवस्थापक सभाओं के प्रति अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी होते थे। प्रान्तों में इस प्रकार की प्रचलित शासन-प्रणाली को **द्वैध शासन-प्रणाली** कहा गया और इसके कई दोष थे। सबसे मुख्य बात यही थी कि उत्तर-दायित्व और अधिकार के पद मंत्रियों को नहीं दिये गये और उनपर अंग्रेजी गवर्नरों का अधिकार बना रहा। मंत्रियों को केवल वे ही विषय दिये गये जो व्ययशील तथा अधिकारहीन थे और इस प्रकार यह उत्तरदायी शासन की देन झूठी साबित हुई।

६. संघ शासन-विधान (१९३५ ई०)

१९१९ ई० के सुधारों से भारतीयों को बिलकुल संतोष नहीं हुआ और उसके बाद लगभग १५ वर्षोंतक **महात्मागांधी** के नेतृत्व में देशमें उग्र आन्दोलन होता रहा। अंग्रेजी सरकार एक तरफ अध्यादेशों और दमनकारी कानूनों द्वारा आन्दोलन को दबाती रहीं परन्तु दूसरी ओर भारतीयों को प्रसन्न करने के लिए कुछ सुधारों की भी योजना बनाती रही। अनेक गोलमेज परिषदों तथा अंग्रेजी सरकार के प्रयत्नों के फलस्वरूप १९३५ ई० में **संघ-विधान** अंग्रेजी पार्ल्यामेण्ट ने पास किया। सरकार की ओर से कुछ आश्वासनों के मिलने पर कांग्रेस ने भी इस विधान को स्वीकार कर लिया तथा उस पर अमल करने का वचन दिया। १९३७ ई० से उस विधान का बहुत बड़ा भाग लागू भी हो गया। इस संघ-विधान की अनेक विशेषतायें हैं। १९१९ ई० के सुधार विधानों तक केवल अंग्रेजी भारत की ही चर्चा की जाती थी

और जो भी कानून पास होते थे, वे वहीं लागू होते थे। परन्तु अब देशी राज्यों के सम्बन्ध में भी सोचा जाने लगा और यह विचार जोर पकड़ता गया कि सारे देश का एक संघ-शासन-विधान तैयार किया जाय। उसके परिणाम स्वरूप यह विधान तैयार हुआ और उसमें देशी रियासतों को भी शामिल करने का प्रयत्न किया गया। अंग्रेजी भारत के गवर्नरों के प्रान्त इस विधान में भारतीय संघ की इकाई माने गये। कुछ मुख्य विषय केन्द्रीय सरकार के अधिकार में रखे गये परन्तु कई विषयों में प्रान्तों को स्वतंत्रता दी गयी। यद्यपि केन्द्र में उत्तरदायी शासन नहीं स्थापित किया गया परन्तु प्रान्तों में उत्तरदायी शासन की व्यवस्था की गयी। भारतवर्ष के प्रायः सभी मुख्य राजनीतिक दलों ने चुनाव में भाग लिया और अनेक प्रान्तों में उत्तरदायी मंत्रिमण्डल बने जो अधिकांशतः कांग्रेस के हाथ में रहे। इस बातों के अलावा सारे देश में उच्च न्यायालयों की अपीलों को सुनते तथा शासन सम्बन्धी विवादों के निपटारे के लिये एक **संघीय न्यायालय** (फेडरल कोर्ट) की भी स्थापना की गयी। अपीलों को सुनने के अधिकार के अलावा संघीय न्यायालय का मौलिक अधिकार-क्षेत्र भी था।

१९३७ ई० में भारतीय संघ-विधान के अनुसार प्रान्तों में मंत्रियों के द्वारा जो उत्तरदायी शासन प्रारम्भ हुआ वह बहुत दिनों तक नहीं चल सका। कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने स्वतंत्रता की नीति वरतना प्रारम्भ किया और कई अवसरों पर गवर्नर के विशेषाधिकारों से उनकी मुठभेड़ हुई। फलस्वरूप आये दिन वैधानिक संकट उपस्थित होते रहते थे और मंत्रिमंडल त्यागपत्र देने पर तुल जाते थे। परन्तु गवर्नरों की प्रवृत्ति धीरे-धीरे जनमत को मानने की ओर हो गयी और १९३९ ई० तक उत्तरदायी मंत्रिमंडल प्रान्तों में चलते रहे। उस वर्ष जब **द्वितीय विश्वयुद्ध** छिड़ गया और अंग्रेजी सरकार ने भारतवर्ष की राय जाने बिना भी जब इस देश को युद्धरत घोषित कर दिया तो देश के अनेक प्रांतीय कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने महात्मा गांधी की राय पर अपना त्यागपत्र गवर्नरों के सम्मुख उपस्थित कर दिया। महात्मा गान्धी ने भारतवर्ष को युद्ध में जबरदस्ती खींचने का विरोध किया और धीरे-धीरे कांग्रेस आन्दोलन की ओर उन्मुख होने लगा।

उधर **मुसलिम लीग** और **मुहम्मदअली जिन्ना** के नेतृत्व में अधिकांश मुसलमान देश के बटवारे और पाकिस्तान की स्थापना की मांग उठाने लगे। देश में साम्प्रदायिकता का जोर इतना अधिक बढ़ गया कि सर्वत्र हिन्दू-मुसलमानों के आपसी दंगे होने लगे। देश की राजनीतिक परिस्थित हर प्रकार से उलझ गयी। परन्तु अंग्रेजी सरकार युद्ध में भारतवर्ष की हर प्रकार

से सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगी और १९४० ई० में सर स्टैफर्ड क्रिप्स इंगलैण्ड से भारतवर्ष समझौते का मार्ग ढूँढ़ने के लिये भेजे गये। उन्होंने कांग्रेस, मुसलिम-लीग तथा सिक्खों से महीनों परामर्श किया परन्तु समझौते का कोई मार्ग नहीं निकल सका। उन्होंने भारतीय संघ की एक अपनी भी योजना प्रस्तुत की, परन्तु उसे हिन्दुस्तान के किसी भी प्रमुख राजनीतिक दल ने स्वीकार नहीं किया। सर स्टैफर्ड क्रिप्स खाली हाथों इंगलैण्ड लौट गये और भारतवर्ष की राजनीति उलझी ही रही।

महात्मा गांधी ने धीरे-धीरे देश को आन्दोलन के लिये प्रस्तुत करना प्रारंभ कर दिया और १९४२ ई० में उन्होंने 'भारत छोड़ो' का नारा उठाया। अगस्त के प्रथम सप्ताह के अन्तिम दिनों में बम्बई में कांग्रेस की अखिलभारतीय समिति की उत्तेजनापूर्ण बैठकें हुईं और अंग्रेजी नौकरशाही ने भावी भय की चिन्ता से महात्मा गांधी के साथ सभी कांग्रेसी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। सारे देश में इन गिरफ्तारियों के प्रतिक्रिया-स्वरूप आन्दोलन छिड़ गये और कहीं-कहीं अनुचित रक्तपात, हिंसा और लूटमार भी हुई। लार्ड लिनलिथगो ने जो उन दिनों भारतवर्ष के गवर्नर जनरल थे, आन्दोलन को बड़ी बर्बरता से दबाया और दो वर्षों तक दमन चलता रहा। १९४४ ई० में लार्ड वावेल भारतवर्ष के गवर्नर जनरल बनाकर भेजे गये और उन्होंने पुनः समझौते का प्रयत्न शुरू किया। कांग्रेस के नेता जेलों से छोड़ दिये गये। नेताओं और प्रमुख राजनीतिक दलों की अनेक सभायें की गयीं जिनमें शिमला की सभा सबसे मुख्य रही परन्तु कोई समझौता नहीं हो सका।

इंगलैण्ड की मजदूर-सरकार ने पार्ल्यामेण्ट के १० सदस्यों का एक मंडल भी भारतवर्ष भेजा, जिसने यह राय दी कि भारतवर्ष पूर्ण रूप से स्वतंत्रता के योग्य है। अंत में अंग्रेजी मन्त्रिमंडल के ३ सदस्यों का एक प्रतिनिधि-मंडल भारत मंत्री लार्ड पेथिक लारेंस के नेतृत्व में भारत आया जिसने कुछ आधारों के साथ भारतवर्ष का संविधान बनाने के लिए एक संविधान सभा की योजना प्रस्तुत की। 'कैबिनेट-मिशन' की सिफारिशों को यहाँ के राजनीतिक दलों ने पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया, परन्तु कांग्रेस ने संविधान-सभा में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया और १९४६ ई० में डा० राजेन्द्रप्रसाद की अध्यक्षता में संविधान की बैठकें भी प्रारंभ हो गयीं। मुस्लिम लीगने उसमें हिस्सा नहीं लिया और जिन्ना महोदय पाकिस्तान की माँग पर अड़े रहे। ऐसा स्पष्ट हो गया कि देश का बँटवारा होकर ही रहेगा।

७ भारतीय स्वतंत्रता का विधान

(ऐक्ट आफ इण्डिया इण्डिपेण्डेन्स; १९४७ ई०)

जुलाई सन् १९४७ ई० में अंग्रेजी पार्ल्यामेण्ट ने भारतवर्ष की स्वतंत्रता के लिये विधान पास किया। उसके द्वारा १४ अगस्त सन् १९४७ ई० को भारतवर्ष में अंग्रेजी सत्ता का अंतिम दिन मान लिया गया और १५ अगस्त को सत्ता हस्तान्तरण की तिथि घोषित की गयी। भारतवर्ष का बँटवारा भी स्वीकृत हुआ और भारत तथा पाकिस्तान नामक दो देशों की स्वतंत्रता स्वीकार करते हुए उन दोनों को 'डोमिनियन' (उपनिवेश) का पद दिया गया। दोनों नये देशों के नये संविधान बनाने के लिए संविधान-सभाओं को पूर्ण अधिकार दिये गये। उन्हें यह स्वतंत्रता दी गयी कि वे चाहे अंग्रेजी कामनवेल्थ (राष्ट्रमण्डल) में रहें अथवा पूर्ण स्वतंत्र हो जायँ। अंग्रेजी पार्ल्यामेण्टको भारत के लिये कानून बनाने का अधिकार अब नहीं रहा और उस कार्य के लिये भारतीय विधान-सभा प्रभुसंस्था मानी गयी। भारतवर्ष में अंग्रेजी भारत तथा देशी राज्यों पर से अंग्रेजी सरकार की सत्ता उठ गयी। जब तक नया संविधान बन न जाय तब तक के अंतरिम कालमें १९३५ ई० के विधान को ही लागू माना जाय ऐसी व्यवस्था की गयी। हां, उसमें भारतीय स्वतंत्रता के इस संविधान (१९४७ ई०) के कारण होने वाले परिवर्तनों को मान लिया गया तथा गवर्नर जनरल और प्रान्तीय गवर्नरों के विशेषाधिकारों और निषेधाधिकारों का अंत कर दिया गया। इस तरह इस विधान से भारतवर्ष की स्वतंत्रता को वैधानिक रूप मिल गया। १५ अगस्त को ब्रिटिश पार्ल्यामेण्ट ने भारत को शासन का पूर्ण अधिकार सौंप दिया।

लार्ड माउन्टबेटन भारतवर्ष के प्रथम गवर्नर जनरल बनाये गये। केन्द्र में उत्तरदायी मंत्रिमंडल स्थापित हुआ और **पंडित जवाहरलाल नेहरू** स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री बने। प्रांतों में भी उत्तरदायी कांग्रेसी मंत्रिमंडल की स्थापना हुई। केन्द्रीय संविधान-सभा ही केन्द्र के लिये धारा-सभा मानी गयी और प्रांतीय धारा-सभायें वही रहीं, जिनका १९४६ ई० में चुनाव हो चुका था। देशी राज्यों को बटवारे के समय यह स्वतंत्रता दे दी गयी थी कि वे चाहे हिन्दुस्तान अथवा पाकिस्तान से मिल जायँ। भारतवर्ष की भूमि से घिरे हुए और हिन्दू बहुल जनता वाले राज्यों ने भारत से मिलने में देर नहीं की। परन्तु हैदराबाद के निजाम ने मुसलिम रजाकारों के प्रभाव में आकर भारत से मिलने में बहुत दिनों तक आनाकानी की और तर्क तथा बुद्धि का दुरुपयोग कर हठवादिता दिखायी। फलतः १३ सितंबर १९४८ को **सरदार पटेल** ने, जो उन दिनों भारत सरकार के

उपप्रधान मंत्री और राज्य-मंत्री थे, हैदराबाद पर पुलिस कारवाई की आज्ञा दे दी और निज़ाम को घुटने टेकने पड़े। मेजर जनरल चौधरी की प्रधानता में वहाँ कुछ दिनों तक सैनिक शासन चला, परंतु अंतमें वहां भी उत्तरदायी शासन हो गया। हैदराबाद के अलावा पाकिस्तान ने काश्मीर के संबंध में भी एक प्रश्न खड़ा कर दिया। काश्मीर को हड़पने की नीयत से पाकिस्तान ने कबायलियों की आड़ में उस पर आक्रमण कर दिया, परन्तु २४ अक्टूबर सन् १९४७ ई० को वहां के राजा ने भारत से संधि कर ली और भारत ने उसकी रक्षा के लिये भारतीय सेनाओं को भेजा। कुछ ही दिनों में भारत ने गवर्नर जनरल माउन्टबेटन की राय से पाकिस्तान के विरुद्ध संयुक्त-राष्ट्र-संघ में शिकायत की। इस विश्व-संस्था की सुरक्षा-समिति की ओर से काश्मीर समस्या की वास्तविक स्थिति की जानकारी और उसे हल करने के उपायों पर विचार करने के लिये अनेक आयोग आये परन्तु उनके प्रतिवेदनों का अबतक कोई परिणाम नहीं निकला है। पाकिस्तान का काश्मीर के लगभग एक तिहाई भाग पर अब भी सैनिक कब्जा है और मुख्यतः इसी कारण काश्मीर के संबंध में दोनों देशों के द्वारा मान्य कोई समझौता अब तक नहीं हो सका है। वस्तुतः काश्मीर भारतीय गणतंत्र के अनेक राज्यों की तरह ही एक राज्य हो गया है और वहाँ भारतीय संविधान लागू है।

प्रभुसत्तात्मक गणतंत्रीय भारत का संविधान (जनवरी १९५० ई०)

(१) गणतंत्र

यद्यपि ब्रिटिश पार्ल्यामेण्ट के ऐक्ट के द्वारा १५ अगस्त १९४७ को भारतवर्ष को स्वतंत्रता मिल तो गयी, परंतु स्वतंत्रता अभी पूरी नहीं थी। भारत 'कामनवेल्थ' के भीतर एक 'डोमिनियन' (उपनिवेश) ही था और उसे केवल औपनिवेशिक पद ही प्राप्त था। भारतवर्ष के लाखों नर-नारी औपनिवोशिक पद की लाक्षणिक परतंत्रता से भी मुक्त होना चाहते थे और अखिल भारतीय कांग्रेस ने उनका पथ-प्रदर्शन करते हुए उस कार्य को भी पूरा किया। दिल्ली में जिस संविधान-सभा की बैठकें १९४६ ई० से ही हो रहीं थीं, उसने संविधान निर्माण का कार्य किया और २६ जनवरी १९५० ई० को नये संविधान के द्वारा प्रभुसत्तात्मक भारतीय गणतंत्र की घोषणा की गयी। उसी तारीख से भारतवर्ष का नया संविधान पूर्ण रूप से लागू हुआ और अब शासन का सभी कार्य उसी के अनुसार होता है। परंतु भारतवर्ष गणतंत्र हो जाने पर भी 'कामनवेल्थ' अर्थात् राष्ट्रमण्डल से अलग नहीं हुआ।

१९४८ ई० में ही भारतवर्ष ने राष्ट्रमंडल में एक स्वतंत्र गणतंत्र की हैसियत से रहना स्वीकार कर लिया और उसे अंग्रेजी सरकार ने भी मान लिया। अंग्रेजी राष्ट्रमंडल तब से केवल राष्ट्रमंडल रह गया और भारतवर्ष अपनी स्वेच्छा, स्वतंत्रता और समता से उसका सदस्य बना हुआ है।

(२) नागरिकों के मौलिक अधिकार

भारतीय संविधान में नागरिकों के मौलिक अधिकारों की विशद व्याख्या की गयी है। इसकी दृष्टि में प्रत्येक नागरिक कानून के सामने समान है

डा० राजेन्द्र प्रसाद

और सब की उसमें रक्षा हो सकेगी। धर्म, जाति, रंग अथवा लिङ्ग का भेद कानूनी दृष्टि में नहीं होगा और सबको सरकारी पदों को प्राप्त करने का

समान अवसर रहेगा। अस्पृश्यता को इस संविधान ने मिटा दिया है और कानून उसे नहीं मानता। प्रत्येक नागरिक को अपने विचारों को व्यक्त करने शांतिपूर्वक मिलने, सभा और संगठन करने, सारे भारतवर्ष में घूमने, धन-संपत्ति रखने तथा व्यवसाय और रोगजार करने का अधिकार है। प्रत्येक नागरिक अथवा नागरिक समुदाय को अपनी भाषा, धर्म, संस्कृति तथा आचार-व्यवहार की रक्षा करने का अधिकार है। अल्पसंख्यकों को अपनी धार्मिक संस्थाओं की स्थापना और व्यवस्था का अधिकार है। किसी की संपत्ति जबरदस्ती बिना किसी मुआवजे के नहीं छीनी जा सकती।

(३) केन्द्रीय शासन-विधान

नये संविधान के अनुसार भारतीय गणतंत्र एक संघ-राज्य है तथा उसका एक अध्यक्ष है जिसे राष्ट्रपति कहते हैं। स्वतंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद थे। राष्ट्रपति के विस्तृत अधिकार होते हैं। प्रधान मंत्री की नियुक्ति करना, संसद के अधिवेशनों को बुलाना, तथा उसकी प्रथम बैठक में उद्घाटन भाषण देकर अपनी सरकार की नीति बतलाना उसकी अधिकार सीमा के भीतर है। युद्ध के समय, बाहरी आक्रमणों की दशा में अथवा संकट के समय में राज्य का सारा कार्य देखना उसका विशेष अधिकार और कर्तव्य है। राष्ट्रपति को विशेष कैदियों तथा अभियुक्तों को मुक्त करने का अथवा उनका दण्ड घटाने का भी अधिकार होता है। संसद के अवकाश के दिनों में राष्ट्रपति को अध्यादेश लागू करने का भी अधिकार होता है, परन्तु संसद की बैठक प्रारंभ होते ही अध्यादेश स्वीकृति के लिये उपस्थित किया जाता है। राष्ट्रपति का कार्यकाल पांच वर्ष का होता है। राष्ट्रपति के बाद उपराष्ट्रपति होते हैं। उपराष्ट्रपति के पद को सर्वप्रथम अपने ही देश के नहीं अपितु विश्व के प्रसिद्ध दार्शनिक डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने सुशोभित किया जो अब, राष्ट्रपति हैं। उपराष्ट्रपति पदेन केन्द्रीय राज्य-परिषद का अध्यक्ष होता है और राष्ट्रपति के न होने पर उसके कार्यों को संभालता है। उपराष्ट्रपति का भी कार्यकाल ५ वर्ष होता है। राष्ट्रपति को अपने कर्तव्यों के पालन में राय देने के लिये एक मंत्रिमंडल है जिसका एक प्रधानमंत्री होता है। भारत के प्रथम प्रधान-

डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन

मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू हैं। संघ के लिये एक संसद है, जिसकी दो सभायें हैं—एक लोकसभा और दूसरी राज्य-सभा। लोकसभा के बहुमत दल का नेता सभा का नेता होता है और उसे राष्ट्रपति प्रधानमंत्री नियुक्त करते हैं। मंत्रिमंडल के अन्य सदस्यों को राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की राय

पंडित जवाहरलाल नेहरू
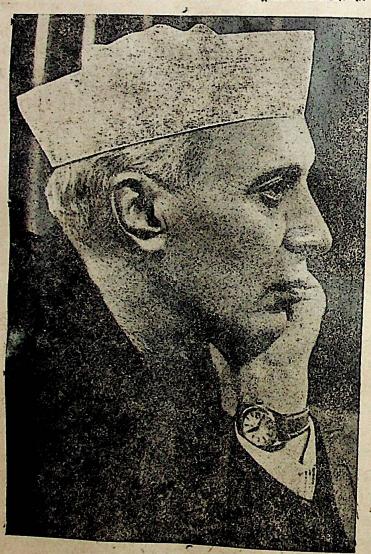
से नियुक्त करते हैं। लोकसभा की सदस्य संख्या ५०० तथा राज्य-सभा की संख्या २५० होती है। लोक-सभा की अवधि पांच साल की होती है और

राज्य-सभा के एक तिहाई सदस्य प्रति दूसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करते हैं। लोक-सभा तथा राज्य-सभा की बैठकों की अध्यक्षता क्रमशः **स्पीकर** (प्रमुख) और **चेयरमैन** अथवा **अध्यक्ष** करते हैं। राज्य-सभा का अध्यक्षपद उपराष्ट्रपति पदेन ग्रहण करता है। लोक-सभा द्वारा पास किये हुए विधेयक राष्ट्रपति के हस्ताक्षर से ही विधि बन सकते हैं। **अर्थविधेयक** केवल लोकसभा में ही प्रस्तुत किये जा सकते हैं। **संघ-संसद्** के अनेक अधिकार होते हैं, जिनमें देश की रक्षा तथा जनता की भलाई के लिये कानून पास करना, मंत्रिमंडल पर नियंत्रण रखना, आय-व्ययक पर बहस करना और उसे पास करना तथा शासन-संबन्धी प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछना मुख्य हैं।

(४) उच्चतम न्यायालय

भारतीय संविधान के अनुसार भारतीय संघ का एक **उच्चतम न्यायालय** (**सुप्रीम कोर्ट**) स्थापित किया गया है। उसके प्रधान विचारपति (एक) और अन्य विचारपतियों (सात) की राष्ट्रपति नियुक्त करते हैं। विचारपतियों की अवस्था कम से कम ३५ वर्ष की होनी चाहिये। उच्चतम न्यायालय को उच्च न्यायालयों की अपीलों को सुनने के अतिरिक्त प्रारंभिक मुकदमों को देखने का भी अधिकार है। भारतीय उच्चतम न्यायालय नागरिकों के व्यक्ति-स्वातंत्र्य और मूल अधिकारों की रक्षा का मूल साधन है।

(५) संघ का निर्माण

भारतीय संघ का निर्माण भारतीय राज्यों के मिलने से हुआ है। राज्यों में आसाम, काश्मीर, बिहार, बम्बई, गुजरात मध्यप्रदेश, मद्रास, उड़ीसा, पूर्वी पंजाब, उत्तरप्रदेश, पश्चिमी बंगाल, राजस्थान, मैसूर, केरल और आंध्रप्रदेश हैं। राज्यों के प्रधान **राज्यपाल** (**गवर्नर**) कहलाते हैं और उनको परामर्श देने के लिये एक मंत्रिमंडल होता है। राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति की आज्ञा से होती है। राज्यों में **मुख्यमंत्री** को राज्यपाल नियुक्त करता है और वही मुख्यमंत्री की राय से मंत्रिमंडल के दूसरे सदस्यों को भी नियुक्त करता है। विधान-सभा के बहुमत दल के नेता को राज्यपाल मुख्यमंत्रित्व स्वीकार करने और अपना मंत्रिमंडल बनाने के लिये आमंत्रित करता है। बिहार, बम्बई, पंजाब, उत्तरप्रदेश, आंध्रप्रदेश तथा पश्चिमी बंगाल में विधान-सभा के दो भवन होते हैं। शेष राज्यों में विधान सभायें केवल एक हो भवन की हैं। राज्यीय विधान-सभायें, यदि पहले ही भंग न कर दी जायँ, ५ वर्षों तक कार्य करती हैं। उनकी प्रत्येक वर्ष में कम से कम दो बैठकें अनिवार्य होती हैं तथा दो बैठकों के बीच का अवकाश ६ मास से अधिक नहीं हो सकता। केन्द्र की

ही तरह राज्यीय विधान-सभा और विधान-परिषदों के कार्यों को चलाने के लिये प्रमुख और अध्यक्ष होते हैं। जब उनकी बैठकों का अवसर न हो, तो राज्यपाल आवश्यकतानुसार अध्यादेश निकाल सकता है। पारित विधेयकों को विधि का रूप देने के लिये राज्यपाल का हस्ताक्षर आवश्यक होता है। राज्य का सारा कार्य उसी के नाम से है, परन्तु वह वैधानिक शासक ही होता है।

प्रत्येक राज्य के लिये उच्च न्यायालय (हाईकोर्ट) होता है। हाईकोर्ट को छोटे न्यायालयों की अपील सुनने के अलावा प्रारंभिक मुकदमों को सुनने का अधिकार है। उच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीशों को राष्ट्रपति नियुक्त करता है और सदाचरण पर्यन्त या अवकाश ग्रहण की अवस्था (६० वर्ष) तक वे अपने पदों पर विद्यमान रहते हैं।

राज्यों में विधान सभा और विधान-परिषदों के होने का यह अर्थ नहीं है कि वे सार्वभौम हैं। उनके क्षेत्र सीमित हैं और वे केवल राज्यीय विषयों पर ही शासनाधिकारी हैं। केन्द्रीय संसद का अधिकार राज्यों के अधिकार और विषय-सूची में वर्णित विषयों के अतिरिक्त सभी विषयों पर है। देश की रक्षा, विदेशी नीति और संवाद-वहन संबंधी विषयों पर केन्द्र को पूर्ण अधिकार है। राज्यीय विधान-परिषदें केन्द्रीय विधान परिषदों के द्वारा निर्मित विधि के विरुद्ध कोई कानून नहीं बना सकतीं।

केन्द्र प्रशासित क्षेत्र—राज्यों के अतिरिक्त कुछ ऐसे क्षेत्र भी हैं जहाँ का प्रशासन केन्द्र के द्वारा संचालित होता है। इनमें दिल्ली, हिमांचल-प्रदेश त्रिपुरा, पांडीचेरी, गोआ, अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह और लकादिव द्वीप समूह प्रमुख हैं। उसके प्रधान शासक चीफ कमिश्नर कहलाते हैं और कार्यपालिका के सारे अधिकार उन्हीं के हाथों में होते हैं। चीफ कमिश्नरों को परामर्श देने तथा जनता के विचारों को प्रतिनिधित्व देने के लिये दिल्ली में महापालिका (कारपोरेशन) और पांडीचेरी में एक कौंसिल की भी व्यवस्था है। चीफ कमिश्नरों की नियुक्ति केन्द्रीय गृह-मंत्रालय की सिफारिश पर होती है।

(६) लोकसेवा-आयोग

केन्द्र तथा राज्यों में नौकरियों की व्यवस्था करने के लिये संविधान द्वारा लोकसेवा आयोगों (पब्लिक सर्विस कमीशन) की स्थापना की गयी है। प्रत्येक लोकसेवा-आयोग अपने क्षेत्र के भीतर हर एक प्रशासकीय, न्याय सम्बन्धी, विदेशी नीति संबंधी, पुलिस संबंधी, यातायात अथवा संवाद-वहन

संवंधी तथा अर्थ संवंधी आदि नौकरियों के लिये योग्य व्यक्तियों का चुनाव करता है और आवश्यकतानुसार परीक्षायें भी लेता है। इन आयोगों के सदस्यों की नियुक्ति, कार्यकाल, वेतन और कानूनी स्थिति का वर्णन संविधान में दिया हुआ है।

अंत में यह कहना आवश्यक है कि भारतीय गणतंत्र के संविधान की अपनी कई विशेषतायें हैं। यह भारतीय जनता का वनाया हुआ अपना ही संविधान है। यह देश की मौलिक एकता का द्योतक है तथा इसमें किसी प्रकार के साम्प्रदायिक, धार्मिक, अथवा सामाजिक भेद-भाव का विल्कुल अभाव है। इसमें प्रत्येक भारतवासी को समान अधिकार दिये गये हैं और यह जनता की भावनाओं का प्रतीक है। देश के प्रत्येक नागरिक को जीविका देना, सवकी समान रूप से सेवा करते हुए शोषण को मिटाना, पूँजी को समान हित में प्रेरित करना, पंचायती शासन स्थापित करना, व्यक्तित्व के विकास में हर प्रकार का योग देना, सवके लिये शिक्षा का प्रवन्ध करना, समाज के कमजोर अंगों (जैसे परिगणित जातियों) को ऊपर उठाना, राष्ट्रीय महत्त्व के स्मारकों और ऐतिहासिक वस्तुओं की रक्षा करना तथा अन्तर-राष्ट्रीय मित्रता और शान्ति के लिये प्रयत्न करना भारतीय संविधान के प्रशंसनीय उद्देश्य हैं।

३९ अध्याय

स्थानीय स्वराज्य का विकास

१. प्रारम्भिक

भारतवर्ष में अंग्रेजी कम्पनी की शासन सम्बन्धी नीति बहुत दिनों तक केन्द्रीकरण की ओर ही प्रवृत्त रही। परन्तु उसके बढ़ते हुए साम्राज्य में यह नीति दोषयुक्त प्रतीत होने लगी और धीरे-धीरे अधिकारियों का ध्यान स्थानीय शासन-संस्थाओं को जन्म देने तथा उन्हें विकसित करने की ओर जाने लगा। स्थानीय स्वराज्य की दृष्टि से सन् १८४२ ई० का वर्ष महत्त्वपूर्ण है। उस वर्ष बंगाल के दसवें ऐक्ट के अनुसार स्थानीय स्वराज्य स्थापित करने की व्यवस्था की गयी। कई नयी नगरपालिकायें (म्युनिसपैलिटियाँ) बनायी गयीं। १८४२ ई० के पहले ही मद्रास, बम्बई, और कलकत्ता में निगमों (कारपोरेशन) के द्वारा स्थानीय स्वराज्य दिया जा चुका था। १८६३ ई० में नगरपालिकाओं को स्वास्थ्य सम्बन्धी बहुत से अधिकार दिये गये। १८७० ई० में लार्ड मेयो ने विकेन्द्रीकरण की नीति पर कार्य करते हुए स्थानीय संस्थाओं की संख्या, उपयोगिता और अधिकार बढ़ाने की ओर ध्यान दिया। उनका विचार था कि भारतीय और युरोपीय दोनों ही स्थानीय स्वराज्य की वृद्धि परस्पर सहयोग से करें।

२. लार्ड रिपन द्वारा विस्तार

परन्तु इस दिशामें सबसे मुख्य कार्य लार्ड रिपन ने किया। उन्हें भारत-निवासियों की योग्यता तथा ईमानदारी में पूरा भरोसा था और अपने उदार विचारों के द्वारा उन्होंने शासन के प्रत्येक भाग में भारतीयों को नियुक्त करने का प्रयत्न किया। १८८१ ई० में उन्होंने प्रांतीय सरकारों को स्थानीय संस्थाओं की वृद्धि के उपायों की जांच करने को कहा और जाँच के फलस्वरूप १८८२ई०में एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास किया गया। प्रस्ताव में यह सिफारिश की गयी कि जनता को शासन सम्बन्धी सुविधायें प्रदान करने के लिये तथा उन्हें राजनीतिक शिक्षा देने के लिये नगरों और देहातों में स्थानीय संस्थाओं की वृद्धि करनी चाहिये तथा उनके अधिकार बढ़ाये जाने चाहिये। स्थानीय संस्थाओं में जनता के प्रतिनिधियों के आधिक्य के लिये चुनाव की

लार्ड रिपन

पद्धति को अधिक से अधिक अपनाने की भी सिफारिश की गई और यह भी कहा गया कि जहाँ तक हो सके स्थानीय बोर्डों के सभापति चुने हुए लोग ही हों। इन प्रस्तावों के आधार पर १८८४ ई० के आसपास प्रायः सभी प्रान्तों में नये नये ऐक्ट पास किये गये और उनके अनुसार लगभग पचीस वर्षों तक काम होता रहा। परन्तु इन स्थानीय संस्थाओं, विशेषतः नगरपालिकाओं पर, केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों का भीतरी और बाहरी दोनों प्रकार का नियंत्रण था।

३. १९१८ ई० से १९३५ ई० तक विकास

स्थानीय स्वराज्य के सम्बन्ध में लार्ड रिपन के काल के बाद १९१८ ई० में पुनः विचार किया गया और कई बातों पर विशेष ध्यान दिया गया। यह प्रस्ताव किया गया कि नगरपालिकाओं और जिलाबोर्डों के निर्वाचित सदस्यों की संख्या कम से कम ७५ प्रतिशत हो। उनके अध्यक्ष निर्वाचित व्यक्ति हो तथा उनमें एक कार्याधिकारी (एकजीक्यूटिव ऑफिसर) की नियुक्ति की जाय। करों को वसूल करनेवाले उनके अधिकार बढ़ाये जायँ और अपने अधीन नियुक्त किये हुए व्यक्तियों पर उनका पूरा अधिकार हो। देहातों में ग्राम-पंचायतों तथा स्थानीय स्वराज्य सम्बन्धी एक नये विभाग की स्थापना के लिये भी प्रस्ताव किया गया। इन प्रस्तावों के आधार पर १९१९ ई० में पास होनेवाले भारतीय शासन-सुधार कानून में स्थानीय स्वराज्य के विकास की ओर निर्देश किया गया। स्थानीय स्वराज्य हस्तान्तरित विषय (ट्रान्सफर्ड-सब्जेक्ट) कर दिया गया और उसका शासन प्रांतीय मन्त्रियों द्वारा होने लगा। यह व्यवस्था की गयी कि स्थानीय संस्थाओं में सरकारी अधिकारी कम से कम हस्तक्षेप करें। १९३५ ई० के शासन-विधान तथा स्वतंत्र भारत के संविधान के अनुसार भी स्थानीय शासन प्रांतीय विषय है तथा उसका शासन और उत्तरदायित्व प्रांतीय मंत्रियों के अधीन है।

४. स्थानीय स्वराज्य की विविधता

स्थानीय संस्थाओं के नामों में सीमाओं और स्थानों की दृष्टि से अनेकता होती है। बम्बई, मद्रास, और कलकत्ते, दिल्ली, कटक, पटना, लखनऊ, आगरा, वाराणसी, कानपुर और इलाहाबाद जैसे भारत के अनेक प्रमुख नगरों की स्वायत्त शासन संस्थाओं को महापालिका (कारपोरेशन) कहते हैं और उनके अध्यक्ष मेयर (नगर प्रमुख) कहे जाते हैं। उत्तरप्रदेश में शहरी स्वायत्त संस्थाओं को नगर-पालिका (म्युनिस्पैलिटी) कहा जाता है तथा

उनके अध्यक्ष को प्रेसीडेण्ट। देहाती क्षेत्रों की उन्नति के लिये पहले प्रत्येक जिले में एक जिला-बोर्ड की व्यवस्था होती थी जिसका अध्यक्ष चेयरमैन कहलाता था। उनके स्थान पर अब डिस्ट्रिक कौंसिलें होती हैं, जिनकी अध्यक्षता जिलाधीश करता है। उन कस्बों में, जो गाँवों से बड़े हैं परन्तु नगरों से छोटे हैं, नोटीफाइड एरिया अथवा लोकल बोर्ड होते हैं। बड़े-बड़े शहरों के विस्तार तथा उनकी निर्माण सम्बन्धी सुन्दरता को बढ़ाने के लिये 'इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्टों' की भी स्थापना की गयी है। इसी प्रकार बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ते के बन्दरगाहों में 'पोर्ट ट्रस्ट' भी हैं, जिनका कार्य उन बन्दरगाहों के पास की बस्तियों की उन्नति की योजनायें बनाना और उन्हें कार्यान्वित करना है। परन्तु यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्टों और पोर्ट ट्रस्टों पर सरकारी नियंत्रण अन्य स्वायत्त संस्थाओं की अपेक्षा अधिक होता है।

५. कर्त्तव्य और अधिकार

ऊपर जितनी स्थानीय संस्थायें गिनायी गयी हैं, उन सबका कर्त्तव्य और अधिकार प्रायः एक ही प्रकार का होता है। सार्वजनिक स्वास्थ्य, सुविधा, यातायात, रक्षा, शिक्षा तथा प्रकाश का प्रबन्ध और जन्म-मरण का लेखा रखना ही स्थानीय स्वराज्य से सम्बद्ध संस्थाओं के कर्त्तव्य हैं। इसके अनुसार अपनी-अपनी सीमाओं के भीतर सड़कें, पुल तथा सार्वजनिक भवनों का निर्माण और उनकी मरम्मत कराना, अस्पताल और औषधालय खोलना और उन्हें चलाना तथा लोगों को छूत के रोगों से बचाना और उस हेतु टीका लगाना, सड़कों और सार्वजनिक स्थानों में सफाई और रोशनी का प्रबन्ध करना और लोगों की साधारण सुविधाओं का कार्य स्थानीय संस्थायें करती हैं। इन कर्त्तव्यों के पालन के लिये उन्हें सरकार की ओर से अधिकार भी दिये गये हैं। अपने क्षेत्र में ये संस्थायें अनेक प्रकार के कर लगा सकती हैं। शहरों में इनकी आय का मुख्य साधन मकानों पर लगने वाला कर है। जिला-बोर्डों को इस सुविधा से इसलिये वंचित रहना पड़ता है कि उसका सम्बन्ध मुख्य रूप से देहातों से होता है। परन्तु अन्य आय के साधन सबके समान हैं। इनमें निगमों, नगरपालिकाओं तथा जिला-बोर्डों के द्वारा लगाये जानेवाले कर और शुल्क, व्यापारका मुनाफा, व्यापार पर आयात और निर्यात कर, सरकारी सहायता और ऋण तथा मेलों, पुलों और घाटों आदि के प्रबन्ध से मिलनेवाली आय मुख्य होती है। मवेशी, सवारियों, बाजारों और अपनी जमीनों पर चुँगी लेने का भी इन्हें अधिकार प्राप्त होता है। नगरपालिकायें

पानी पर भी कर वसूल करती हैं। उपर्युक्त करों का प्रचलन साधारणतः सर्वत्र है, परन्तु अवस्थानुसार और स्थान भेद से उनमें भिन्नता भी हो सकती है।

स्थानीय संस्थायें अपना काम चलाने के लिए कई उपसमितियों में बँट जाती हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य, बाजार, भवन, चुंगी तथा यातायात आदि की दृष्टि से अनेक उपसमितियाँ बनायी जाती हैं और प्रत्येक एक अध्यक्ष की देखरेख में कार्य करती है। परन्तु सबके कार्यों की जांच और उनपर विचार करने का अधिकार सभी सदस्यों की साधारण सभा को होता है। स्थानीय संस्थाओं पर प्रांतीय सरकारों का नियंत्रण रहता है। वे उनके चुनावों की व्यवस्था करती हैं, उस सम्बन्ध में नियम बनाती हैं तथा मतदाताओं की सूची तैयार कराती हैं। स्थानीय संस्थाओं के कार्यों की जाँच प्रान्तीय सरकारों की ओर से जिले के अधिकारी, विशेषतः जिलाधीश करते रहते हैं। नगरपालिकाओं के आय-व्ययक को कार्यान्वित करने के लिये प्रांतीय सरकार द्वारा नियुक्त किसी अधिकारी की स्वीकृति आवश्यक होती है। इतना ही नहीं, अपने अधिकारों का दुरुपयोग करने, परस्पर दलबन्दी और झगड़ा करने तथा जनता के अप्रसन्न होने पर सरकार अध्यादेशों द्वारा इन स्थानीय संस्थाओं का भंग भी कर सकती है। इस तरह यह स्पष्ट है कि स्थानीय स्वराज्य की संस्थायें मनमाना व्यवहार नहीं कर सकतीं।

६. ग्राम पंचायतें

सन् १९०९ ई० के विकेन्द्रीकरण आयोग (डिसेन्ट्रलाइजेशन कमिशन) ने देहातों में ग्राम पंचायतों को स्थापित करने का सुझाव दिया। उसके बाद से ग्राम संस्थाओं के निर्माण और विकास की ओर ध्यान दिया जाने लगा। उत्तरप्रदेश में सन् १९३० के 'लोकल ऐक्ट' के द्वारा पंचायतों का संगठन किया गया; परन्तु उस ऐक्ट के होते हुए भी पंचायतों का जितना विकास होना चाहिये था, उतना नहीं हुआ। जब भारतवर्ष १९४७ ई० में स्वतन्त्र हो गया तो देश के नेताओं का ध्यान ग्राम विकास की ओर गया और उसके लिये यह आवश्यक समझा गया कि ग्राम का बहुत कुछ शासन ग्रामवासियों के ही हाथों में सौंप दिया जाय। इस विचार को कार्यान्वित करने में उत्तरप्रदेश अन्य सभी प्रान्तों से आगे रहा है और यहाँ १९४७ ई० में ही प्रान्तीय सरकार ने **पंचायत राज ऐक्ट** पास कर दिया। उसके द्वारा देहातों में पंचायत-राज को चलाने का भरपूर प्रयत्न किया जा रहा है। प्रत्येक गाँव में ग्राम-सभायें हैं, जिनका प्रत्येक वयस्क पुरुष अथवा स्त्री सदस्य होती है।

ग्राम-सभा का मुख्य ग्राम-सभापति कहलाता है। प्रत्येक ग्राम में ग्राम-सभा के अतिरिक्त एक ग्राम-पंचायत भी होती है, जिसमें ग्राम सम्बन्धी अभियोगों का निर्णय होता है। कुछ ग्राम-पंचायतों को मिलाकर, साधारणतः पांच की संख्या में से, पंचायती अदालतें बनती हैं, जिसके सरपंच और पंचों को ग्राम-सभायें चुनती हैं। पंचायती अदालतों को दीवानी और फौजदारी दोनों प्रकार के मुकदमों को निर्णय करने के सम्बन्ध में कुछ अधिकार होते हैं। पंचायतों के निर्णय किये हुए मुकदमों की कई अवस्थाओं में कोई अपील नहीं होती, परन्तु विशेष मुकदमों में जिले की बड़ी अदालतों में अपील की जा सकती है।

पंचायतें ग्रामोत्थान के लिने उत्तरदायी है। उत्तरप्रदेश में जमींदारी-उन्मूलन के बाद पंचायतों के अधिकार और कर्त्तव्य दोनों ही बहुत बढ़ गये हैं। कुओं, तालाबों तथा अन्य सिंचाई के साधनों की सफाई और उनकी मरम्मत कराना, छोटी-छोटी सड़कों, रास्तों और सार्वजनिक स्थानों की देखभाल और मरम्मत कराना, गावों में सफाई और रोशनी का प्रबन्ध करना तथा औषधालयों, स्कूलों और बाजारों आदि की देख-रेख करना और उनकी सहायता करना आदि कार्य पंचायतों को करने होते हैं। संक्षेप में पंचायतों का ध्येय ग्राम-स्वराज्य की स्थापना है। इस कार्य की पूर्ति के लिये प्रत्येक पंचायती अदालत के क्षेत्र में एक सचिव की नियुक्ति की गई है। सचिवों और पंचायतों के कार्यों की देखरेख के लिये सरकार की ओर से निरीक्षकों (इन्स्पेक्टरों) की नियुक्ति की गई है तथा उनके ऊपर प्रत्येक जिले में पंचायत अधिकारियों की भी व्यवस्था है। पंचायतों को अपना खर्च चलाने के लिये गाँवों के ऊपर अनेक करों को लगाने का अधिकार प्राप्त है तथा समय-समय पर इन्हें सरकारी सहायता भी मिलती रहती है।

उत्तरप्रदेश के अनुकरण पर भारत के प्रायः अन्य सभी राज्यों में पंचायतों की व्यवस्था की गयी है। हाँ इतना अवश्य है कि अलग-अलग राज्यों में उनके अधिकारों और उत्तरदायित्व में भिन्नता है। ग्राम-पंचायतों की यह स्थापना, प्रचार और विकास भारत के लिये कोई नयी बात नहीं है। यहाँ प्राचीन काल से ही पंचायतें बिना किसी प्रकार की विशेष सरकारी सहायता अथवा हस्तक्षेप के कार्य करती रही हैं। बीच में उनका महत्त्व कुछ कम हो गया था और अब पुनः यह आशा की जाती है कि स्वतंत्र भारत में वे अपना उचित स्थान ग्रहण करेंगी और सही रूपमें ग्राम-स्वराज्य स्थापित हो सकेगा।

४० अध्याय

शैक्षणिक और साहित्यिक प्रगति

१. शिक्षा-सम्बन्धी प्रगति

(१) प्रारम्भिक उदासीनता—भारतवर्ष में अँग्रेजी कम्पनी का राज्य प्रारम्भ हो जाने के बाद भी बहुत दिनों तक उसकी ओर से इस देश में शिक्षा की उन्नति के लिये कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया। प्रथमतः तो कम्पनी वैध अथवा अवैध उपायों द्वारा इस देश के धन की लूट में लगी रही; दूसरे बहुत दिनों तक उसे यह भी भय रहा कि भारत में किसी प्रकार के शिक्षा-कार्य से राजनीतिक जागरण अथवा कोई धार्मिक विद्रोह न हो जाय। ऐसी दशा में १८ वीं शती के अन्त तक यहाँ जो कुछ भी शिक्षा-कार्य हुए उसकी प्रेरक शक्ति कुछ व्यक्तियों से अथवा गैरसरकारी संस्थाओं से ही प्राप्त हुई।

(२) ईसाई धर्म-प्रचारकों के कार्य—ईसाई धर्म-प्रचारक इस देश में अँग्रेजी राज्य के स्थापन के पहले ही आ चुके थे। उन्होंने अपने धर्म के प्रचार के साथ-साथ यहां के लोगों को शिक्षित करने का भी प्रयत्न किया। वास्तव में नयी शिक्षा का प्रचार उनके धर्म और संस्कृति के प्रसार में सहायक था इन्होंने अनेक **मिशन स्कूलों** की स्थापना की और उसके द्वारा निःशुल्क शिक्षा देना प्रारम्भ किया। उन्होंने अपना केन्द्र कलकत्ते के पास **सीरामपुर** में स्थापित किया और वहाँ से समाचारपत्रों का प्रकाशन और बाइबिल का देशी भाषाओं में अनुवाद कर प्रचार करना शुरू किया। उन धर्म-प्रचारकों में **केरीटामस, मार्शमैन,** और **डेविड** प्रसिद्ध हुये तथा उनके प्रयत्नों से १८२० ई० में कलकत्ते में **विशप्स कालेज** की स्थापना हुई।

(३) प्रमुख अधिकारियों और व्यक्तियों के कार्य—ईसाई धर्म-प्रचारकों के अतिरिक्त भारतीय शिक्षा की प्रगति में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कुछ प्रमुख अधिकारियों ने भी महत्त्वपूर्ण प्रारम्भिक कार्य किये। वारेन हेस्टिंग्स ने १७८१ ई में **कलकत्ता मदरसा** की स्थापना की तथा उसने हिन्दू और मुसलमानी विधियों का अँगरेजी में अनुवाद भी कराया। उसके शासन के अन्तिम दिनों में कलकत्ता में **सुप्रीम कोर्ट** के प्रधान न्यायाधीश **सर विलियम जोन्स** ने **रायल एशियाटिक सोसायटी** की बंगाल शाखा की स्थापना की और भारतीय इतिहास की शोध को प्रोत्साहित किया। १७९१ ई० में अँगरेज रेजीडेण्ट **जोनाथन डन्कन** ने बनारस में **संस्कृत कालेज** की

स्थापना की। इसके अतिरिक्त कुछ भारतीय देशसेवियों और समाज-सुधारकों ने भी शिक्षा की ओर ध्यान दिया। राजा राममोहन राय, राधाकान्तदेव और जयनारायण घोषाल के नाम विशेष रूप से लिये जा सकते हैं। उन्होंने १८१६ ई० में कलकत्ता में हिन्दू कालेज की स्थापना की, जो धीरे-धीरे बढ़कर प्रेसीडेन्सी कालेज के रूप में परिणत हो गया।

(४) ईस्ट इण्डिया कम्पनी का भारत में शिक्षा-प्रगति की ओर झुकाव—भारतवर्ष में ज्यों ज्यों ईस्ट इण्डिया कम्पनीका राजनीतिक अधिकार क्षेत्र बढ़ता गया त्यों त्यों उसने यहाँ के निवासियों की सभ्यता और संस्कृति की प्रगति की ओर भी ध्यान दिया। उसके पीछे अंग्रेजी पार्ल्यामेण्ट की प्रेरक शक्ति थी और १८१३ ई० में कम्पनी को जो आज्ञापत्र मिला, उसमें भारतवर्ष की शिक्षा प्रगति का उत्तरदायित्प भी उसे सौंपा गया। प्रत्येक वर्ष शिक्षा की प्रगति के लिये एक लाख रुपया कम्पनी के लिये व्यय करना आवश्यक कर दिया गया। १८२३ ई० में इस धन से अनुदान की प्रथा प्रचलित की गई और उसके द्वारा कलकत्ता स्कूल बुक सोसाइटी और कलकत्ता स्कूल सोसाइटी को बहुत-सा धन मिला। उस धन के सही-सही व्यय की जांच के लिये एक कमेटी (कमिटी आफ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन) की भी स्थापना की गई। इस कमेटी ने संस्कृत शिक्षा को अपना ध्येय मानकर कलकत्ते और वाराणसी में संस्कृत महाविद्यालयों की स्थापना की।

(५) शिक्षा का अंग्रेजी माध्यम—धीरे-धीरे भारतवर्ष में शिक्षा की प्रगति पर अंग्रेजी कम्पनी काफी धन व्यय करने लगी थी। परन्तु अब भी यह तय नहीं था कि सरकारी सहायता प्राप्त करनेवाली संस्थाओं में शिक्षा का माध्यम कौन-सी भाषा हो? लार्ड विलियम वेंटिक का समय आते-आते यह प्रश्न एक बड़े मुख्य विवाद का विषय बन गया था। इस सम्बन्ध में में दो दल हो गये थे। एक दल देशी भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाना चाहता था परन्तु, दूसरा दल, जो संभवतः बहुमत में था तथा जिसका नेता गवर्नर जनरल की कौंसिल का विधि-सदस्य लार्ड मैकाले था, अँग्रेजी भाषा के पक्ष में। अंग्रेजी शासन के निचले स्तर को चलाने के लिये अंग्रेजी पढ़े-लिखे लेखकों और कर्मचारियों की आवश्यकता थी। फलस्वरूप १८३५ ई० में लार्ड विलियम बेंटिक ने मैकाले की राय मानकर अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम घोषित किया। इस कार्य में उसे राजा राममोहन राय से बहुत अधिक सहायता मिली।

लार्ड विलियम बेंटिक के उपर्युक्त निर्णय के फलस्वरूप सरकारी सहायता प्राप्त अंग्रेजी स्कूलों की विभिन्न स्थानों में स्थापना हुई। सन् १८३५ ई० में

कलकत्ता में एक मेडिकल कालेज भी स्थापित किया गया। सन् १८४५ ई० में जन शिक्षा-समिति (कमिटी आफ पब्लिक एजूकेशन) की जगह शिक्षा-परिषद (कौंसिल आफ एजूकेशन) की स्थापना हुई परन्तु इसका क्षेत्र अभी केवल बंगाल तक ही सीमित रहा। उत्तरप्रदेश में स्कूलों को चलाने के लिये जमींदारों को उनकी मालगुजारी पर एक प्रतिशत कर देना पड़ता था जिसे 'अव्वाब' कहते थे। इस प्रकार का प्रबन्ध बम्बई और मद्रास में भी किया गया।

(६) वुड-आयोग—भारतीय राष्ट्रीय विप्लव के कुछ ही दिनों पूर्व (१८५६ ई०) कम्पनी ने शिक्षा विकास की ओर कुछ विशेष ध्यान दिया। डलहौजी के शासन-काल में शिक्षा सम्बन्धी सुधारों की सिफारिश के लिये चार्ल्स वुड की अध्यक्षता में एक आयोग बैठाया जिसने कई सुधार प्रस्तावित किये। उसी के आधार पर प्रत्येक प्रांत में शिक्षा की उन्नति के लिये एक जन-शिक्षा-विभाग (डिपार्टमेण्ट आफ पब्लिक एजूकेशन) खोला गया और वह एक शिक्षा-संचालक (डाइरेक्टर आफ एजूकेशन) के अधीन रखा गया। शिक्षा-संचालक के नीचे जिला विद्यालय-निरीक्षक (डिस्ट्रिक्ट इन्सपेक्टर आफ स्कूल्स) की भी व्यवस्था की गई। आज तक शिक्षा-विभाग का यह ऊपरी ढांचा प्रायः प्रत्येक प्रान्त में बना हुआ है। वुड-आयोग ने शिक्षा के समुचित विकास और प्रचार के लिये यह भी सिफारिस की कि अध्यापकों के प्रशिक्षण (ट्रेनिंग), सरकारी अनुदानों की प्रथा को और बढ़ाने, विद्यार्थियों के लिये छात्रवृत्तियों के प्रबन्ध करने तथा देशी भाषा के स्कूलों को स्थापित करने की ओर भी ध्यान दिया जाय। उसमें यह विशेष रूप से कहा गया कि भारतीयों को अंग्रेजी भाषा के माध्यम से पाश्चात्य सभ्यता, विज्ञान, साहित्य और दर्शन का ज्ञान प्राप्त कराया जाय। प्रारम्भिक स्तरों में देशी भाषाओं को भी प्रोत्साहन देने की बात कही गयी।

उपर्युक्त आयोग की अधिकांश सिफारिशों पर कार्य लार्ड डलहौजी ने ही प्रारंभ कर दिया। १८५७ई० में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में विश्वविद्यालयों की स्थापना की गयी। १८८२ ई० में पंजाब विश्वविद्यालय लाहौर में स्थापित किया गया तथा १८८७ई० में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की नींव पड़ी। ये विश्वविद्यालय केवल परीक्षा लेने वाले विश्वविद्यालय थे और अध्यापन का कार्य उनसे सम्बद्ध महाविद्यालयों में होता था। उनके अधिकारी चांसलर (प्रायः प्रान्त के गवर्नर) और वाइस चांसलर होते थे जिनकी सहायता के लिये 'सिनेट' और 'सिंडीकेट' जैसी संस्थायें बनायी गयीं।

(७) हंटर-आयोग—लार्ड रिपन ने १८८२ ई० में हंटर महोदय की अध्यक्षता में एक आयोग शिक्षा जगत में वुड-आयोग की सिफारिशों को कार्यान्वित करने और उनकी सफलता की जाँच करने के लिये नियुक्त किया। इस आयोग ने प्रस्ताव किया कि जहाँ तक संभव हो, शिक्षा के क्षेत्र में कम से कम सरकारी हस्तक्षेप हो और शिक्षा संस्थाओं का प्रबन्ध गैरसरकारी समितियों के अधीन किया जाय; उन पर केवल सरकारी नियंत्रण मात्र हो, हस्तक्षेप न हो, ऐसी सिफारिश की गयी। इस आयोग ने देशीभाषाओं की उन्नति करने की भी राय दी। इन प्रस्तावों का बहुत हद तक पालन किया गया। नगरपालिकाओं के बन जाने के बाद अनेक प्राथमिक और माध्यमिक पाठशालायें उनके अधीन कर दी गयीं। इसके अतिरिक्त गैरसरकारी सहायता से भी अनेक स्कूलों की स्थापना हुई और देश में धनीमानी दाताओं के दान से स्कूलों का जाल बिछने लगा।

(८) शिक्षा-सुधारों का युग—लार्ड कर्जन ने शिक्षा के क्षेत्र में अनेक परिवर्त्तनों को लाना चाहा। उनकी नीति शासन के प्रत्येक क्षेत्र में केन्द्रीकरण की ओर प्रवृत्त रही और शिक्षा-क्षेत्र पर भी उन्होंने सरकारी नियंत्रण बढ़ाना चाहा। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर १९०४ ई० में **'इण्डियन युनिवर्सिटीज ऐक्ट'** पास किया गया और उससे विश्वविद्यालयों की आन्तरिक स्वतंत्रता कम करके उनपर सरकारी नियंत्रण बढ़ा दिया गया। शिक्षा-विभाग के संचालकों को विश्वविद्यालयों में हस्तक्षेप करने के अधिकार मिल गये। महाविद्यालयों की स्वीकृति के सम्बन्ध में अधिक कठोरता बरतने की नीति अपनायी गयी। इन परिवर्त्तनों से शिक्षासंस्थाओं के ऊपर एक प्रकार का ऐसा सरकारी घेरा हुआ, जिसका मुख्य उद्देश्य यह था कि विश्वविद्यालयों में स्वतंत्रता के बीज न पनपने पावें। देश में लार्ड कर्जन की शिक्षालयों पर इस कुदृष्टि का बड़ा विरोध हुआ और जगह-जगह सभायें की गयीं, जुलूस निकाले गये तथा परिवर्त्तनों के विरुद्ध प्रस्ताव पास किये गये।

१९०६ ई० में पासहोनेवाले एक कानून के द्वारा विश्वविद्यालय में विज्ञान की पढ़ाई की ओर कदम उठाया गया। गवर्नर जनरल की कौंसिल के एक सदस्य को १९१० ई० में शिक्षा-विभाग सौंपा गया और विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित लार्ड कर्जन के विधानों में कुछ संशोधन करके विश्वविद्यालयों को कुछ थोड़ी और स्वतंत्रता दी गयी। १९१३ ई० में शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष

सर हरकोर्ट बटलर ने शिक्षा देनेवाले विश्वविद्यालयों की स्थापना का सुझाव दिया। १९१६ ई० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालयकी स्थापना हुई। इस कार्य में देश के गण्य-मान्य नेता महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय के अदम्य उत्साह, अपूर्व साहस और महान् त्याग की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जा सकता। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय उन्हीं के कठिन परिश्रमों के फलस्वरूप स्थापित हो सका। सर सैयद अहमदखां के प्रयत्नों से अलीगढ़ का मुस्लिम कालेज भी मुस्लिम विश्वविद्यालय के रूप में परिणत हो गया। इसी प्रकार उच्चशिक्षा के लिये पटना, नागपुर, लखनऊ, ढाका, दिल्ली, वाल्टेयर, हैदराबाद और आगरा में भी विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई।

पण्डित मदनमोहन मालवीय

उपर्युक्त कई विश्वविद्यालयों की स्थापना और विकास में जातीय, धार्मिक और साम्प्रदायिक भावनाओं का भी जोर रहा। परन्तु श्री रविन्द्रनाथ ठाकुर के नेतृत्व और उनकी प्रेरणा से अखिल विश्व की शांति और भारतीय संस्कृति की रक्षा के उद्देश्य से शान्ति-निकेतन तथा महिलाओं की पढ़ाई के लिये पूना में 'इण्डियन वीमेन्स युनिवर्सिटी' जैसी संस्थाओं की भी स्थापना हुई।

श्री र वीन्द्रनाथ ठाकुर

(९) सैडलर-आयोग—१९१७ ई० में सैडलर-आयोग की नियुक्ति हुई। प्रथमतः तो यह केवल कलकत्ता विश्वविद्यालय के शिक्षा स्तर और क्रम में सुधार के लिये नियुक्त हुआ था; परन्तु बाद में इसके प्रस्तावों पर प्रायः भारतवर्ष के सभी विश्वविद्यालयों में विचार हुआ और शिक्षा सम्बन्धी अनेक

परिवर्त्तन किये गये। तदनुसार उच्चतर माध्यमिक (हाई स्कूल और इन्टर-मीडियेट) परीक्षाओं की अलग योजना बनी। उनका नियंत्रण और अध्यापन विश्वविद्यालयों से हटाकर प्रान्तीय बोर्डों के अधीन कर दिया गया। केवल शिक्षा देनेवाले विश्वविद्यालयों की भी स्थापना की गयी और परीक्षा लेनेवाले विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध अनेक महाविद्यालय खोले गये। इनमें से प्रायः प्रत्येक विद्यालय और महाविद्यालय को सरकारी मान्यता मिलने के साथ कुछ अनुदान भी मिलने लगा। **मांटेग्यु-चेम्सफोर्ड सुधारों** के द्वारा शिक्षा एक प्रांतीय विषय मान ली गयी और प्रत्येक प्रांत अपनी सीमा के भीतर शिक्षा की व्यवस्था अपने आप करने लगा। शिक्षा के 'हस्तान्तरित विषय' होने के नाते इसपर निर्वाचित मंत्रियों का अधिकार हो गया और सरकारी नियंत्रण कम हो गया।

(१०) विश्वविद्यालय-आयोग—देश में शिक्षा की बढ़ती हुई आवश्यकताओं के फलस्वरूप अनेक नये विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। कालान्तर में त्रावणकोर, नागपुर, उत्कल, सागर, राजस्थान, गोहाटी, पूना, रुड़की, काश्मीर, बड़ौदा, अन्नमलाई और गुजरात विश्वविद्यालयों का जन्म हुआ। परन्तु विश्वविद्यालयों की इस बढ़ती हुई संख्या से शिक्षा मात्रा में तो बढ़ी परन्तु गुण में नहीं बढ़ी। शिक्षा का स्तर धीरे-धीरे बिलकुल गिरता गया और प्रायः विश्वविद्यालयों से निकले हुये शिक्षा प्राप्त युवकों को नौकरियां मिलनी मुश्किल हो गयीं। द्वितीय विश्व-युद्धोत्तर काल में यह समस्या और भी जटिल हो गयी और स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद नेहरू सरकार का इस ओर ध्यान गया। फलस्वरूप शिक्षा-क्षेत्र (विश्वविद्यालय शिक्षा) की कमियों की जाँच के लिये तथा उसमें कैसा सुधार किया जाय, इस हेतु सिफारिश करने के लिये सुप्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री **डाक्टर सर्वपल्ली राधाकृष्णन** की अध्यक्षता में एक **विश्वविद्यालय-आयोग** (युनिवर्सिटी कमिशन) १९४९ई० में बैठाया गया। आयोग ने भारतवर्ष के सभी विश्वविद्यालयों का निरीक्षण करके अनेक सुझाव उपस्थित किये। उनमें शिक्षा के तत्त्वों का पूर्णरूपेण भारतीकरण, केवल योग्य विद्यार्थियों को ही विश्वविद्यालयों में प्रवेश की अनुमति देने और शेष को औद्योगिक शिक्षा देने, ग्रामीण विश्वविद्यालयों की स्थापना, हिन्दी के अनिवार्य अध्ययन, अध्यापकों की वेतन-वृद्धि, विश्वविद्यालयोंकी आवश्यकताओं को समझने और पूरा करने के लिये **विश्वविद्यालय अनुदान आयोग** (युनिवर्सिटी ग्रांटस कमिशन) की स्थापना तथा वर्त्तमान परीक्षा-प्रणालियों के बदले **ठोस परीक्षण** (आबजेक्टिव टेस्ट) आदि सुझाव विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। इनमें से अधिकांश सुझावों पर अमल किया गया है।

भारत सरकार उच्चशिक्षा की ओर क्रमशः अधिकाधिक ध्यान दे रही हैं और उसके अनुदान अब अधिक होने लगे है। अन्तर-विश्वविद्यालय बोर्ड (इन्टर यूनिवर्सिटी बोर्ड) तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के द्वारा उच्च शिक्षा की प्रगति, उसके स्तर के निर्वाह तथा उसमें एकरूपता लाने का प्रयत्न किया जा रहा है। विश्वविद्यालयों की संख्या भी बढ़ती जा रही है। नये विश्वविद्यालयों में बिहार, वेंकटेश्वर, गोरखपुर, जबलपुर, चण्डीगढ़ आदि प्रमुख हैं। संस्कृत साहित्य की रक्षा और उसके पठन-पाठन की पद्धति को बनाये रखने की दृष्टि से वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय तथा कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय की स्थापना हुई है और अन्य प्रांतों में भी इस प्रकार के विश्वविद्यालयों को खोलने की चर्चायें चल रही हैं।

(११) प्राथमिक-शिक्षा—१९०४ ई० में लार्ड कर्जन ने ही प्राथमिक शिक्षा का विस्तार और प्रचार राज्य का एक कर्त्तव्य मान लिया था। धीरे-धीरे प्राथमिक पाठशालाओं की वृद्धि हुई और १९२१ में नगरपालिकाओं और जिला-बोर्डों सम्बन्धी जो कानून बना उसके द्वारा प्राथमिक शिक्षा का भार उपर्युक्त स्थानीय संस्थाओं पर छोड़ दिया गया। इनकी सहायता के लिये प्रान्तीय सरकारें भी धन देने लगीं और अब तो स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद प्राथमिक शिक्षा अनेक स्थानों पर अनिवार्य कर दी गयी है। उसे अब निःशुल्क करने का भी प्रयत्न किया जा रहा है। प्राथमिक शिक्षा के विद्यालयों में प्रायः लड़के और लड़कियों की साथ साथ शिक्षा होती है।

(१२) माध्यमिक शिक्षा—१९१७ ई० में सैडलर-आयोग की सिफारिशों के अनुसार माध्यमिक शिक्षा विश्वविद्यालयों से अलग करके प्रान्तीय बोर्डों के अधीन कर दी गयी। इनमें दो प्रकार के स्कूल होते थे। एक तो 'मिडिल स्कूल' कहलाते थे, जिनमें हिन्दी, उर्दू अथवा और किसी देशी भाषा के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी। दूसरे 'हाईस्कूल' कहलाते थे जहाँ अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी। बाद में वहां भी हिन्दी अथवा किसी अन्य देशी भाषा को शिक्षा का माध्यम मान लिया गया। उत्तर-प्रदेश में कहीं कहीं हाईस्कूलों में 'इण्टरमीडियेट' की शिक्षा भी दी जाती थी। इन तीनों परीक्षाओं का नियंत्रण तथा तत्सम्बन्धी विद्यालयों की देख-रेख प्रांतीय सरकार की ओर से उत्तरप्रदेश में जन-शिक्षा-विभाग करता है, जिसका प्रधान शिक्षा-संचालक कहलाता है। काशी और अलीगढ़ के विश्वविद्यालयों की ओर से भी माध्यमिक शिक्षा का प्रबन्ध है। १९३९ ई० के बाद माध्यमिक शिक्षा-विद्यालयों की बड़ी वृद्धि हुईहै; पर शिक्षा का स्तर धीरे-धीरे गिरता गया है।

(१३) **स्त्री-शिक्षा तथा प्रौढ़-शिक्षा**—शिक्षा के क्षेत्र में स्त्रियों तथा प्रौढ़ों आदि की ओर भी ध्यान दिया गया। १९३४ ई० में कांग्रेसी मंत्रि-मण्डलों ने उस हेतु अनेक पाठशालायें खोलीं पर अर्थाभाव के कारण पौढ़ों की पाठशालायें प्रायः टूटती गयीं। **आधारिक शिक्षा** (बेसिक एजूकेशन) की ओर भी ध्यान दिया गया और प्राथमिक पाठशालाओं में अनेक को उस दिशा में अग्रसर किया गया। इस सम्बन्ध में महात्मा गांधी के विचार बड़े स्पष्ट थे और वे सारे देश में आधारिक पाठशालाओं का जाल बिछा देना चाहते थे। युद्ध-काल में भारतीय सरकार के शिक्षा-सलाहकार **सर जान सारजेण्ट** ने भी एक शिक्षा-योजना प्रस्तुत की जिसमें आधारिक शिक्षा पर जोर दिया गया। परन्तु धनाभाव के कारण उस योजना का कार्यान्वय नहीं हो सका। तथापि माध्यमिक शिक्षा में कताई, बुनाई, रंगाई, उद्योगधंधों के सिखाने तथा अन्य दस्तकारियों की शिक्षा को कई विद्यालयों में स्थान दिया गया। परन्तु अभी तक भारतवर्ष में प्रायः प्रत्येक प्रान्त में केवल प्रयोग ही किये जा रहे हैं और कोई सर्वमान्य योजना अभी सामने नहीं आयी है। स्वतंत्र भारत की सरकार ने भी उच्च माध्यमिक शिक्षा के सुधार के लिये **डॉ० लक्ष्मण स्वामी मुदालियर** की अध्यक्षता में एक आयोग बैठाया। उसके सुझावों पर धीरे-धीरे कार्यान्वय भी शुरू हो गया है।

भारतीय शिक्षा-पद्धति का अभी कोई सन्तोषप्रद संगठन नहीं हो सका है और फलस्वरूप केवल किताबी ज्ञान को प्राप्त करने के कारण जीवन के व्यावहारिक तथा भरण-पोषण में भी स्नातकों और शिक्षित लोगों को बड़ी कठिनाई हो रही है। इस कमी को दूर करने के लिये शिक्षा-क्षेत्र में अभी अनेक सुधारों की आवश्यकता है। धन की कमी भी एक मुख्य रोड़ा बनी हुई है, परन्तु आशा है कि शीघ्र ही शिक्षा का स्तर ऊँचा होगा, उसका अपना मूल्य होगा और शिक्षित व्यक्ति सचमुच शिक्षित होगा।

२. साहित्यिक परिचय

(१) **पुनरुत्थान**—अंग्रेजी काल में साहित्यिक उत्थान भी सामाजिक और धार्मिक पुनरुत्थान के साथ हुआ। इस साहित्यिक जागरण में अनेक पश्चिमीय विद्वानों की सहायता और उनके कार्य भी प्रमुख हैं जिन्हें भारतीय भुला नहीं सकते। सर्वप्रथम वारेन हेस्टिंग्स का ध्यान हिन्दू और मुसलमानी विधि की ओर गया और उसने न्यायालयों में न्यायदान के लिये दोनों विधियों का अँग्रेजी भाषा में अनुवाद और संकलन कराया। सर विलियम जोन्स ने

प्राच्य विद्याओं के अध्ययन के लिये 'एशियाटिक सोसायटी' की बंगाल शाखा की १७८४ ई० में नींव डाली। अनेक अँग्रेजों तथा जर्मनों ने भारतीय (संस्कृत) नाटकों, काव्यों तथा प्रबन्धों का पश्चिमीय भाषाओं में अनुवाद किया। मैक्समूलर ने १९ वीं शती के मध्यभाग में वैदिक साहित्य के अनेक ग्रंथों का प्रकाशन, अनुवाद और उनकी टीका लिखी। उसके बाद वैदिक साहित्य, संस्कृत साहित्य और प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति के अध्यापन की एक परम्परा बन गयी, जिसमें पश्चिमीय तथा भारतीय विद्वानों ने पूरा-पूरा भाग लिया। उन विद्वानों में ब्लूमफील्ड, मैक्समूलर, कार्लाइल, विल्सन, वेबर, कनिंघम, टाड, विन्टरनिट्ज़, कीथ, पार्जिटर, हैवेल, फ्लीट, स्मिथ, मार्शल तथा भगवानलाल इन्द्र जी, रामकृष्णगोपाल भण्डारकर, रमेशचन्द्र दत्त, काशीनाथ दीक्षित, गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा, हरप्रसाद शास्त्री तथा कुमारस्वामी आदि प्रमुख थे, जिनकी परम्परा आज भी अनेक भारतीय विद्वानों के द्वारा अक्षुण्ण बनी हुई है। प्राचीन ज्ञान की शोध में आज अनेक संस्थायें लगी हुई हैं और वह साहित्य का एक मुख्य विषय बन गया है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद संस्कृत भाषा और साहित्य की रक्षा, सभी भारतीय भाषाओं में मौलिक ग्रंथों के प्रकाशन और अनुवाद तथा विभिन्न प्रकार के लोगों और पाठकों की आवश्यकता और सुविधा का ध्यान करके प्रत्येक विषय पर नये साहित्य के प्रकाशन की ओर सारे देश का ध्यान जाने लगा है। देश की सभी साहित्यिक संस्थाओं ने नई-नई योजनाओं पर कार्य करना शुरू कर दिया है। केन्द्रीय सरकार की ओर से राष्ट्रीय बुक ट्रस्ट तथा राष्ट्रीय अकादमी ने भी इस क्षेत्र में कार्य प्रारम्भ कर दिया है और आशा है कि उस सरकार की सुविधाओं का उचित उपयोग कर साहित्यिक प्रगति के क्षेत्र में ये संस्थायें सबसे आगे चली जायेंगी।

(२) आधुनिक साहित्य का उदय—साहित्यिक प्रगति का दूसरा पक्ष रहा है देश में प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य का विकास और उनकी वृद्धि। जैसे वैदिक और संस्कृत साहित्य की पुस्तकों के अनुवाद पश्चिमीय भाषाओं में हुये, उसी प्रकार पश्चिमीय साहित्य, विशेषतः अँग्रेजी का अनुवाद भारतीय भाषाओं की प्रगति का प्रथम पग रहा है। भारतवर्ष की प्रायः प्रत्येक भाषा में यह हाल रहा और बहुत दिनों तक यहाँ के प्रान्तीय साहित्यों में अँग्रेजी विचारशैली की छाप बहुत अधिक रही। ईसाई धर्म-प्रचारकों ने इस कार्य को बहुत अधिक आगे बढ़ाया और अपने धर्म-प्रचार के लिये उन्होंने देशी भाषाओं की उन्नति की।

(३) हिन्दी—अठारहवीं शती के अन्त में हिन्दी का विकास प्रारम्भ हो गया। यद्यपि प्रारंभ में हिन्दी में व्रजभाषा का प्रावल्य रहा, परन्तु बाद में धीरे-धीरे खड़ी बोली का प्रभाव जम गया। उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में हिन्दी का विकास लल्लूलाल जी तथा सदलमिश्र ने किया। १८१८ ई० तक बाइबिल का हिन्दी अनुवाद छप गया था और १८३७ ई० में कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज में हिन्दी मुद्रणालय खुल गया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी प्रतिभा से हिन्दी की बड़ी सेवा की तथा हिन्दी को परिमार्जित करने का प्रयत्न किया। वे वास्तव में वर्त्तमान हिन्दी के प्रवर्त्तकों में प्रमुख हैं। स्वामी दयानन्द ने सबको संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के अध्ययन के लिये प्रेरित किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के मार्ग पर चलनेवाले प्रमुख लेखकों में पण्डित प्रतापनारायण मिश्र, पण्डित बदरीनारायण चौधरी, बाबू तोताराम, पंडित बालकृष्ण भट्ट तथा पंडित अम्बिकादत्त व्यास थे। तदुपरान्त पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के नेतृत्व में हिन्दी के स्वरूप और व्याकरण की शुद्धता की ओर अधिक ध्यान दिया गया। उन्हीं दिनों बंगला का भी हिन्दी पर प्रभाव पड़ा और अनेक ग्रंथों के अनुवाद हुए। पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी, मिश्र बन्धुओं और पद्मसिंह शर्मा के द्वारा आलोचना-साहित्य का सृजन प्रारम्भ हुआ। बाबू देवकीनन्दन खत्री तथा किशोरीलाल गोस्वामी ने हिन्दी में मौलिक उपन्यासों की रचना प्रारम्भ की। हिन्दी साहित्य के प्रसार और वृद्धि के लिये १८९४ ई० में बाबू राधाकृष्ण दास; श्यामसुन्दर दास, पण्डित रामनारायण मिश्र और ठाकुर शिवकुमार सिंह के प्रयत्नों से काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई जो निरंतर अपना कार्य करती आ रही है। बीसवीं शती में हिन्दी के आधुनिक युग का प्रारंभ हुआ और इसके सभी अंगों की पूर्ति हुई है। कहानी और उपन्यास-लेखन का कार्य प्रेमचन्द ने बड़ी उत्तमता से किया और उसका अनुसरण करने वालों में जयशंकर प्रसाद, बेचन शर्मा उग्र, विश्वम्भर शर्मा कौशिक, जैनेन्द्र कुमार, वृन्दावनलाल वर्मा, सुदर्शन तथा चतुरसेन शास्त्री आदि प्रमुख हैं। जयशंकर प्रसाद ने ऐतिहासिक नाटक भी लिखे और बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की।

कविता क्षेत्र में श्रीयुत मैथिलीशरण जी गुप्त, जयशंकर प्रसाद; सुमित्रानन्दनपन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', महादेवी वर्मा, रामधारी सिंह 'दिनकर' और श्यामनारायण पाण्डेय आदि ने अच्छी ख्याति पाई है। आलोचना-साहित्य को पं० रामचन्द्रशुक्ल, बाबू श्यामसुन्दर दास, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा पं० विश्व-

नाथप्रसाद मिश्र ने समृद्धि प्रदान की है। कृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'बेढब बनारसी' कान्तानाथ 'राजहंस' आदि ने हिन्दी को हास्यरस से युक्त किया है।

स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद हिन्दी देवनागरी लिपि में राज्य भाषा स्वीकार कर ली गई और इसकी अखिल भारतीय रूप से उन्नति और समृद्धि के लिये कार्य भी किये जाने लगे। संविधान लागू होने के १५ वर्षों बाद (१९६५ ई०) केन्द्रीय शासन की प्रधान भाषा हिन्दी हो जायगी, यह संविधान की धाराओं में निहित है। उन्हीं धाराओं के अनुसार १९५५ ई० में स्वर्गीय बालगंगाधर खेर की अध्यक्षता में एक हिन्दी आयोग की भी नियुक्ति हुई, जिसने प्रायः सर्वमान्य सुझाव दिये हैं। परन्तु सब कुछ होते हुए भी हिन्दी का जैसा विकास होना चाहिये था, वैसा नहीं हो रहा है। उस विकास की गति अत्यन्त धीमी है और यह कहना कठिन है कि १९६५ ई० तक राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी का कहाँ तक प्रयोग हो सकेगा। देश की राजनीति और कुछ अहिन्दी भाषाभाषी क्षेत्रों की मनःस्थिति का ध्यान करते हुए प्रधान मंत्री श्री नेहरू जी ने संसद में यह घोषणा कर दी है कि हिन्दी न बोलने वाले क्षेत्रों के लोग जबतक चाहेंगे अँग्रेजी माध्यम का प्रयोग कर सकेंगे। उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश और राजस्थान की राज्यीय सरकारों ने हिन्दी को राज्यभाषा घोषित कर उसमें अपना बहुत कुछ कार्य प्रारम्भ कर दिया है।

(४) उर्दू—मुगल-साम्राज्य के अन्तिम दिनों में उर्दू का विकास हुआ। उसके पहले मुगल-साम्राज्य की सरकारी भाषा फारसी थी, परन्तु बाद में हिन्दी-फारसी और अरबी के मेल से उर्दू बनी और धीरे-धीरे उसकी उन्नति होती गई। लखनऊ, दिल्ली, रामपुर और हैदराबाद आदि स्थान उर्दू के प्रसिद्ध केन्द्र हो गये। गालिब और ज़ौक़ ने उर्दू साहित्य को उन दिनों खूब समृद्ध बनाया। ग़ालिब के प्रयत्नों से उर्दू के गद्य और पद्य दोनों की उन्नति हुई। मुगल-साम्राज्य की अवनति के बाद लखनऊ के नवाबों ने उर्दू कवियों और लेखकों को आश्रय दिया। वहाँ नासिख़ और आतिश ने अपनी कविताओं के लिये बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। लखनऊ में मर्सियों के लेखन का भी बहुत प्रचार हुआ। 'आजाद' और 'हाली' ने उर्दू के नवीन युग का प्रारम्भ किया। अकबर इलाहाबादी, डाक्टर सर मुहम्मद इकबाल, जोश' मलीहाबादी ने भी उर्दू की बड़ी सेवायें की। आधुनिक उर्दू साहित्य में उनकी कविताओं का बड़ा आदर है। इकबाल और हाली को उर्दू साहित्य की दृष्टि समाज की ओर ले जाने का अधिक श्रेय है।

उर्दू के गद्य साहित्य को उन्नत करने के लिये सर्वप्रथम कलकत्ता के फोर्ट विलियम कालेज के अध्यक्ष गिलक्राइस्ट ने प्रयत्न किया। उन्होंने अनेक उर्दू के विद्वानों को इकट्ठा करके उर्दू की पुस्तकें लिखवायीं। १८३५ ई० में उर्दू अदालती भाषा बना दी गई और फलस्वरूप उत्तरी भारत में इसका खूब प्रचार हुआ। आधुनिक उर्दू की गद्य रचना का सर्वाधिक श्रेय 'गालिब' और सर सैयद अहमद को है। सरल और हृदयग्राही उर्दू लिखने में सर सैयद अहमद अत्यन्त निपुण थे। इनके अतिरिक्त उर्दू के गद्य लेखकों में मौलवी अल्ताफ हुसेन 'हाली', मौलाना शिबली, मौलवी अब्दुल हलीम, पण्डित रतननाथ 'सरशार' और मौलाना मुहम्मदहुसेन ने अच्छी ख्याति प्राप्त की। इनमें मौलवी अब्दुल हलीम और पण्डित रतननाथ अपने उपन्यासों के लिए अधिक प्रसिद्ध हुए। उर्दू में नाटकों को भी लिखने का प्रयत्न किया गया तथा अन्य कई भाषाओं के प्रसिद्ध नाटकों का अनुवाद हुआ। इधर अलीगढ़ और हैदराबाद उर्दू के प्रसिद्ध केन्द्र हो गये हैं। हैदराबाद के उस्मानिया विश्वविद्यालय ने उर्दू को शिक्षा का माध्यम बनाकर उसकी बड़ी सेवा की। उर्दू में मौलिक ग्रन्थों, अन्य भाषाओं के मुख्य ग्रन्थों के अनुवाद तथा पारिभाषिक शब्दकोश की रचनायें हुईं। औरंगाबाद के 'अंजुमने तरक्कीये उर्दू' ने उर्दू का अच्छा साहित्य प्रकाशित किया है।

(५) बंगला—बंगला साहित्य काफी पुराना है। आधुनिक काल में सिरामपुर के ईसाई धर्म-प्रचारकों ने बंगला साहित्य के गद्य को अपने उद्देश्यों के प्रचार के लिये प्रोत्साहित किया। राजा राममोहन राय ने प्रभावोत्पादक गद्यशैली का प्रारम्भ किया। उनकी भाषा पर कुछ फारसी शब्दों का अधिक प्रभाव था परन्तु श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने उसमें संस्कृत का पुट दिया। बंगाल की संत परम्परा से बंगला साहित्य को उन्नति के लिये बड़ा बल मिला। अँग्रेजी शासन का प्रभाव दक्षिण के बाद सर्वप्रथम बंगाल में पड़ा जो

बंकिमचन्द्र चटर्जी

साहित्य में भी परिलक्षित हुआ। उस प्रभाव की प्रतिक्रिया स्वरूप बंगला

के राष्ट्रीय साहित्य की नींव पड़ी। बंकिमचन्द्र चटर्जी इस परम्परा के प्रणेता थे। उन्होंने प्राचीन और अर्वाचीन का बड़ा सुन्दर समन्वय किया। उन्होंने 'आनन्द मठ' से बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की और देश को 'वन्देमातरम्' का राष्ट्रगान दिया। उनके अतिरिक्त शरच्चंद्र चट्टोपाध्याय, मधुसूदन दत्त, रमेशचन्द्र दत्त और द्विजेन्द्रलाल राय ने बंगाली साहित्य के विभिन्न अंगों को समृद्ध किया। बंगाल के काव्य साहित्य को चमका देनेवाले स्वर्गीय श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर केवल बंगाल के ही नहीं, सारे भारतीय साहित्य के अग्रणी कवि हुए हैं। 'गीताञ्जलि' पर उन्होंने विश्वप्रसिद्ध 'नोबेल पुरस्कार' भी प्राप्त किया। भारत की अनेक भाषाओं पर बंगला साहित्य का प्रभाव पड़ा है और वह अत्यन्त धनी और सुसंस्कृत साहित्य है।

(६) **मराठी**—अन्य भारतीय साहित्यों की भाँति मराठी साहित्य में भी पहले दूसरे साहित्यों की अच्छी कृतियों, विशेषतः अँग्रेजी का, अनुवाद हुआ परन्तु बाद में उसमें भी मौलिकता आयी। दादो और पाण्डुरंग ने मराठी का प्रथम व्याकरण बनाया। इसके बाद मराठी में प्रायः प्रत्येक विषय पर पुस्तकें लिखी गयीं। प्रसिद्ध निबन्ध लेखक विष्णुशास्त्री चिपलूणकर ने आधुनिक मराठी गद्य-साहित्य की नींव डाली। अण्णा साहब किरलोस्कर ने नाटकों की परम्परा को प्रवाहित किया और कृष्ण जी प्रभाकर तथा वासुदेव शास्त्री आदि ने इसे और आगे बढ़ाया। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने अपने 'केसरी' से तथा उनकी प्रेरणा से 'मराठा' आदि पत्रों ने भी मराठी साहित्य को आगे बढ़ाया। काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग और न्यायधीश रानाडे ने भी अपने सामाजिक और साहित्यिक लेखों द्वारा उसकी सेवा की। विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े तथा पारसनीस ने इतिहास में संशोधन-कार्य किया। हरिभाऊ आप्टेने आधुनिक मराठी उपन्यास तथा श्रीकृष्ण कोल्हटकर ने विनोद-साहित्य को जन्म दिया। विनायक सावरकर ने कविता-क्षेत्र में ओज पैदा किया। आधुनिक मराठी साहित्य के अन्य प्रसिद्ध लेखकों में चिन्तामणि विनायक वैद्य, डाक्टर केतकर, गो० स० सरदेसाई, महामहोपाध्याय द० वा० पोतदार, साने गुरुजी देशपाण्डे, ना० ह० आप्टे का नाम आदरपूर्वक लिया जाता है। आधुनिक मराठी साहित्य प्रत्येक दिशा में भरपूर उन्नति की ओर अग्रसर है।

(७) **गुजराती**—गुजराती साहित्य के सृजन का श्रेय अधिकांशतः संतों को है। उनमें प्रेमानन्द और ब्रह्मानन्द, जो स्वामीनारायण सम्प्रदाय के थे, प्रसिद्ध थे। उनके अतिरिक्त वल्लभ और हरिदास ने भक्ति-साहित्य सम्पन्न किया। दयाराम अत्यन्त प्रसिद्ध कवि हुए जिन्होंने गुजराती में सैकड़ों

पुस्तकें लिखीं। १८४८ ई० में प्रसिद्ध अंग्रेज फोर्ब्स ने 'गुजराती वर्नाक्यूलर सोसायटी' की स्थापना की, जिसके द्वारा पढ़ाने के लिये गुजराती पुस्तकें तैयार करायी गयीं। आधुनिक गुजराती साहित्य का सूत्रपात दलपतराम और दयाशंकर से होता है। रणछोरदास गिरधरभाई ने प्रारम्भिक शिक्षा के लिये गुजराती पुस्तकों को लिखवाने का प्रयत्न किया। नवरत्नराम
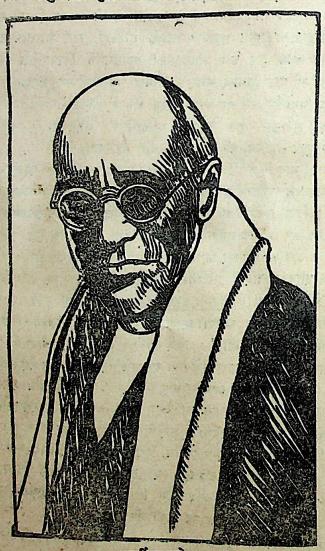
चक्रवर्ती राजगोपालचारी

ने आलोचना-शास्त्र को अपना विषय बनाकर गुजराती को समृद्ध किया। नन्दशंकर तुलाशंकर ने उपन्यास लिखना प्रारम्भ किया और उनका

'करण घेलो' नामक उपन्यास बहुत प्रसिद्ध है। गुजराती के अन्य आधुनिक काल के लेखकों में कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, वसन्तलाल देसाई, महादेव देसाई तथा बलवन्तराय अचार्य अधिक प्रसिद्ध हैं, परन्तु इनमें सबसे अधिक प्रसिद्धि कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी को प्राप्त हुई है। उन्होंने गुजराती साहित्य के अलावा हिन्दी साहित्य को भी समृद्ध किया है।

(८) दक्षिण भारतीय भाषायें और साहित्य—अँग्रेजी शासनकाल में दक्षिण भारत की भाषाओं ने काफी उन्नति की है। उनमें तामिल का स्थान सर्वप्रथम है। तामिल के आधुनिक गद्य-साहित्य को शेल्व केशवराय, महामहोपाध्याय स्वामीनाथ शास्त्री, माधवैद्द, श्रीनिवास आयंगर, श्रीनिवासशास्त्री और चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने समृद्ध किया है। इन लेखकों ने मुख्यतः गद्य लिखा है। उपन्यासक्षेत्र में सूर्यनारायण शास्त्री, रुछन पिल्लई, वेदनागयम पिल्लई, राजवेलु चेट्टियर आदि ने पर्याप्त कार्य किया है। नाटककारों में सुन्दर पिल्लई सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। राष्ट्रीय और रहस्यवादी कवियों में भारती प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार तेलगू ने भी प्रगति की है। आधुनिक तेलगू साहित्यकारों में वीरेशलिंगम् अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। नाटक, उपन्यास, गल्प और विज्ञान आदि सभी पर इनका अधिकार है। इनके अतिरिक्त लक्ष्मीनरसिंहम्, सुब्बारायडू और वेंकटेश्वर कवुलु ने भी तेलगू साहित्य की श्रीवृद्धि की है। आजकल 'आंध्र साहित्य-परिषद्' तेलगू की उन्नति के लिये अच्छा कार्य कर रही है।

भारत की अन्य सभी प्रमुख भाषाओं मलयालम, कन्नड़, उत्कल, और आसामी इत्यादि के साहित्यों में अँग्रेजी काल में कुछ न कुछ उन्नति हुई है और उनमें भी श्रेष्ठ रचनायें हो रही हैं।

(९) अनुशीलन—प्राचीनताओं से युक्त भारतवर्ष ने पश्चिम से संसर्ग में आने के बाद खोज कार्य की ओर भी ध्यान दिया और पर्याप्त उन्नति की। विज्ञान के क्षेत्र में इस देश के अनेक विद्वान् विदेशियों की तुलना में उठ खड़े हुये। उनमें सर जगदीशचन्द्र बोस, डाक्टर मेघनाथ साहा, सर सी० वी० रमन, आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय तथा डाक्टर भाबा ने वैज्ञानिक विश्वप्रसिद्धि प्राप्त की है। प्राचीन भारतीय इतिहास के क्षेत्र में भी खोज का कार्य बहुत आगे बढ़ा। राजेन्द्रलालमित्र, रमेशचन्द्र दत्त, भगवानलाल इन्द्रजी, डा० रामकृष्णगोपाल भण्डारकर, सर यदुनाथ सरकार, सरदेसाई, डा० रमेशचन्द मजुमदार, डा० राधाकुमुद मुकर्जी, डा० देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर, डा० काशीप्रसाद जायसवाल, प्रो० नीलकान्त शास्त्री, डॉ०अलतेकर आदि ने प्राचीन भारतीय इतिहास की शोध में उत्तम

कार्य किया है। उस क्षेत्र में कार्य करनेवाली संस्थाओं में रायल एशियाटिक सोसायटी की बम्बई शाखा, बंगाल शाखा, बिहार तथा 'उड़ीसा-रिसर्च-सोसायटी' शाखा तथा पूना के 'ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट' ने अच्छी ख्याति पायी है।

३. कलात्मक पुनर्जागरण

मुगल-साम्राज्य की अवनति के बाद भारतवर्ष राजनीतिक दृष्टि से तो युरोपीय जातियों का दास हो ही गया था, इसके साथ-साथ यहाँ की कला का भी बहुत ह्रास हुआ। अंग्रेजी सरकार ने, उसकी उन्नति करना तो दूर रहा, उसकी रक्षा का भी कोई उपाय नहीं किया और इस देश में कलाविदों की अत्यन्त कमी हो गयी। जो भी नवनिर्माण हुआ उसमें भारतीय दृष्टि से कलात्मक प्रवृत्तियों का अभाव होने लगा तथा पाश्चात्य चकाचौंध की केवल नकल मात्र रह गयी। परन्तु यह दयनीय अवस्था बहुत दिनों तक रहनेवाली नहीं थी और १९वीं शती के मध्यकाल में भारतवर्ष में पुनर्जागरण का जो युग प्रारंभ हुआ, उसके साथ कलात्मक पुनर्जागरण भी हुआ। इस कार्य में कुछ विदेशियों का भी हाथ रहा। सर अलेक्जैण्डर कनिंघम, फर्युसन तथा हुल्त्ज़ आदि विद्वानों ने जब भारतीय पुरातत्त्व के साथ भारतीय कला के नमूनों को उपस्थित करना प्रारंभ किया तो उससे अनेक भारतीय कलाकार प्रभावित हुये। फलतः प्राचीन कलाओं के प्रत्येक रूपों की ओर कलाविदों की दृष्टि गयी और उनको आधार मानकर नये-नये निर्माण होने लगे। नवनिर्माणों के साथ प्रगति भी हुई और प्राचीन तथा नवीन और पूर्व तथा पश्चिम के समन्वय का भी ध्यान रखा गया।

(१) **स्थापत्य**—स्थापत्य भारतीय कला का सदा से एक मुख्य अंग रहा है। पुनर्जागरण में स्थापत्य की ओर भी ध्यान दिया गया। जब अंग्रेज पहले पहल भारत में आये तो वे भारतीय ढंग के बने हुये मकानों में ही रहते थे, परन्तु जब पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित नये-नये शहर उन्होंने बसाना प्रारंभ किया तो युरोपीय ढंग के मकान भी बनने लगे। सीमेण्ट के पलस्तर और ईंटों के प्रयोग से कलकत्ता, मद्रास, बम्बई तथा मुर्शिदावाद जैसे शहरों का निर्माण हुआ; परन्तु पहले अधिकांश भवन सरकार के जन-निर्माण-विभाग के द्वारा बनाये जाते थे और वे सुन्दर नहीं होते थे। बाद में उनमें सौन्दर्य लाने का प्रयत्न किया गया और दिल्ली का वाइसराय भवन तथा कौंसिल भवन, कलकत्ते का विक्टोरिया मेमोरियल, और लखनऊ का कौंसिल भवन तथा ताल्लुकेदारों के बँगले, नमूने के रूप में गिनाये जा

सकते हैं। परन्तु इनकी शैली पाश्चात्य है। इनके अतिरिक्त भारतीय शैली का भी प्रचार होने लगा और अनेक भवन बनाये गये। वे विशेषतः राजपूताने में बने, परन्तु वहाँ के अतिरिक्त भी उनके सुन्दर उदाहरण प्राप्त हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भवन, दिल्ली का लक्ष्मीनारायण मंदिर, मथुरा का गीता-मन्दिर तथा काशी का भारतमाता का मंदिर भारतीय शैली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। यहां यह कह देना आवश्यक है कि स्थापत्य की इस भारतीय शैली की महत्ता को पुनर्जीवित करने का विशेष श्रेय श्री ई० वी० हैवेल महोदय तथा श्री आनन्दकुमार स्वामी के द्वारा प्रदत्त प्रेरणाओं को है।

(२) मूर्तिकला—अन्य कलाओं की तरह मूर्तिकला को भी पुनर्जीवन प्राप्त हुआ है। इसका सम्बन्ध चित्रकला से होने के कारण दोनों में प्रायः समानता रही है और उनका विकास साथ-साथ हुआ है। भारतवर्ष की प्राचीन मूर्तियों की कला का सजीव विश्लेषण करके श्री हैवेल महोदय ने मूर्तिकारों को एक नयी दिशा दी है। इस क्षेत्र के सर्वप्रमुख व्यक्ति श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर हैं। उन्होंने प्राचीन परम्पराओं को पुनः जीवनदान दिया है। तथा उनके पटु शिष्य श्री देवप्रसाद राय चौधरी उनका कार्य आगे ले चल रहे हैं।

(३) चित्रकला—हैवेल महोदय का नाम चित्रकला की अभिव्यञ्जना से भी है। उन्होंने तथा श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने सृजनात्मक चित्रकला की नींव डाली। परन्तु भारतीयों पर विशेष और क्रांतिकारी प्रभाव श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर का ही हुआ। उन्होंने 'दि इण्डियन सोसायटी आफ ओरियण्टल आर्ट' नामक संस्था को स्थापित करके भारतीय कला के पुनर्जीवन का आन्दोलन प्रारंभ किया और उनके साथ उनके शिष्यों, श्री सुरेन्द्र गंगोली, श्री नन्दलाल बोस और श्री असितकुमार हलधरने बहुत कुछ कार्य किया। इनमें श्री नन्दलाल बोस अत्यन्त प्रसिद्ध हुये और उनकी कलात्मक कृतियों और चित्रों की बड़ी प्रशंसा की जाती है। उनके अतिरिक्त अब्दुर्रहमान चगताई और अमृत शेरगिल भी इस क्षेत्र में प्रसिद्ध हो चुके हैं। इन व्यक्तियों के अतिरिक्त शांतिनिकेतन, बम्बई, कलकत्ता और लखनऊ आदि नगरों में कला-विद्यालयों के अन्तर्गत अनेक कलाकार चित्रकला की कृतियों के निर्माण में कार्य कर रहे हैं। बम्बई के कलामन्दिर ने इन चित्रों के लिये पाश्चात्य शैली का भी उपयोग किया है। ऐसा करने में वहाँ के डाक्टर सुलेमान अधिक प्रसिद्ध हैं।

(४) संगीत और नृत्य—मुगल-साम्राज्य की अवनति के बाद भारतवर्ष के संगीतज्ञों को कुछ निराश्रय होना पड़ा, परन्तु तब भी उनमें से

अधिकांश राजपूत दरबारों और नवाबों के यहाँ थे। इस प्रकार संगीत और संगीतज्ञ तो रहे, परन्तु कलात्मक विकास की दृष्टि से इसके लिये कुछ नहीं हुआ। इस दिशा में स्वर्गीय श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर और उनके परिवार ने बहुत बड़ा कार्य किया और सबके हृदय में संगीत-कला के लिये प्रेम उत्पन्न किया। रवीन्द्रनाथ के गीतों ने गायकों को नया स्वर दिया। इसके अतिरिक्त बम्बई की 'ज्ञानोद्रेक मण्डली' ने संगीत-क्षेत्र में पुनर्जागरण लाने का विशेष प्रयत्न किया। उसी के प्रतिनिधि सदस्य श्री भटखण्डे जी ने संगीत में नवीन शिक्षा का क्रम चलाया। उनके प्रयत्नों से ग्वालियर संगीत का एक मुख्य केन्द्र बन गया। उनके अतिरिक्त विष्णु दिगंबर जी का एक दूसरा भी दल था, जिसने संगीत-कला को ऊपर उठाया। अब बम्बई, पूना, कलकत्ता, बड़ौदा, लखनऊ, बनारस और इन्दौर में संगीत शिक्षा के लिये अनेक विद्यालय और महाविद्यालय खोले जा चुके हैं। समय समय पर सरकार देश के प्रसिद्ध संगीतज्ञों और कलाकारों को सम्मानित करती रहती है। अखिल भारतीय आकाशवाणी के कार्यक्रमों में अब उनको विशेष स्थान दिया जाने लगा है और आशा है संगीत को उत्साह मिलता रहेगा तथा उसके पुनर्जागरण की धारा आगे प्रवाहित होती रहेगी।

नृत्य में भी महान् पुनर्जीवन आया है। इस क्षेत्र में श्री दिलीपकुमार राय और श्री उदयशंकर के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन दोनों व्यक्तियों ने प्राचीन भारतीय नृत्य की परम्परा को पुनः जागृत करके उसमें लोगों की विशेष रुचि उत्पन्न कर दी है। श्री उदयशंकर ने भारतीय नृत्य की परम्परा से आधुनिक विचारों का आश्चर्यजनक समन्वय स्थापित करके कौतूहल और नृत्य के लिये विशेष आदर उत्पन्न किया है। भारतीय नृत्य के अन्य प्रसिद्ध प्रदर्शक श्रीमती रुक्मिणी देवी, रामगोपाल तथा कुमारी दमयन्ती जोशी आदि हैं। इन व्यक्तियों के अतिरिक्त आसाम के प्राचीन कुमारी नृत्य संघ, विश्वभारती, केरल कलामण्डल तथा भारतीय विद्याभवन आदि संस्थायें भी नृत्य-कला के विकास और उसमें पुनर्जीवन लाने के लिये प्रशंसनीय प्रयत्न कर रही हैं। फलतः देश में कथाकली, भरतनाट्यम् और मणिपुर नृत्य की लोकप्रियता बढ़ रही है। आधुनिक प्रवृत्ति यह हो रही है कि लोक-नृत्यों को भी प्रोत्साहित किया जाय।

(५) **रंगमंच**—आधुनिक सभ्यता के तीव्र अभियान आमोद-प्रमोद के अनेक नये-नये साधन आ गये हैं और प्रायः प्रत्येक रंगमंच अपनी विशेष आवश्यकताओं तथा कठिनाइयों के कारण पीछे पड़ गया है। सिनेमा विज्ञान

ने रंगमंच की लोकप्रियता को बहुत घटा दिया है और भारतवर्ष भी इसका अपवाद नहीं है। तथापि रंगमंच को पुनः अपनी पुरानी प्रतिष्ठा दिलाने का अनेक भारतीय कलाकार प्रयत्न कर रहे हैं। इस दिशा में सर्वप्रथम और मुख्य कार्य स्वर्गीय श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने किया था और उनके प्रयत्नों से प्राचीन भारतीय नाटकों का अभिनय कई क्षेत्रों में किया गया। देश में अनेक ऐसी नाटक मण्डलियां हैं जो रंगमंच की लोकप्रियता अब भी बनाये हुए हैं। इधर प्रसिद्ध कलाकार श्री पृथ्वीराज कपूर इस दिशा में अधिक प्रयत्नशील हैं और इस दिशा में उन्हें सफलता प्राप्त हुई है।

४१ अध्याय

सामाजिक और आर्थिक अवस्था

१. सामाजिक प्रगति

(१) उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में

भारतवर्ष में अंग्रेजों ने अपना साम्राज्य स्थापित कर लेने के बाद यहाँ की सामाजिक अवस्था को भी प्रभावित करना प्रारंभ किया। १८वीं शती के अन्त तक ईसाईयों ने तथा उनकी धर्म-प्रचारक संस्थाओं ने भारतीयों को अपनी ओर आकृष्ट करना शुरू किया और यहाँ एक ऐसे वर्ग का उदय होने लगा जो पश्चिमी सभ्यता और समाज को आदर्श मानकर भारतीय समाज को घृणा की दृष्टि से देखने लगा। हिन्दू मुसलमानों का कई सौ वर्षों तक साथ-साथ रहना भी एक दूसरे को सामाजिक दृष्टि से बहुत अधिक प्रभावित नहीं कर सका था और उनकी समानता अधिकांशतः केवल आर्थिक क्षेत्र तक ही सीमित थी। हिन्दुओं में एक कट्टरपन आ गया था और उसके कारण अन्ध विश्वास और रूढ़िवादिता अधिकांश हिन्दुओं में व्याप्त थी। कर्मठता और जीवन का अभाव था और सामाजिक दृष्टि से पुनर्जागरण की आवश्यकता थी।

(२) पुनर्जागरण

अंग्रेजी शिक्षा से भारतवर्ष में पाश्चात्य सभ्यता और विचारों का प्रचार हुआ। कुछ भारतीय ऐसे अवश्य रहे जिन्होंने अपने को पश्चिमी रंग में रंगकर अपनी भारतीयता बिल्कुल खो दी, परन्तु अधिकांशतः नवशिक्षितों ने पश्चिमीय सभ्यता का ज्ञान प्राप्त करके उसकी अच्छी बातों को अपने यहाँ लाने का प्रयत्न किया। भारतीय समाज की दृढ़ता में उनका विश्वास कम नहीं हुआ और वे कट्टरपंथ को छोड़कर उदारता के प्रचार में लग गये। साधारण लोगों का भारतीय समाज में अटूट विश्वास था और उसकी रक्षा के लिये वे सदा तत्पर रहते थे। केवल उसे गति देने की आवश्यकता थी। १९ वीं शती के प्रारंभ से ही भारतीय पुनरुत्थान प्रारम्भ हो गया। पुनर्जाग-

रण का कार्य सर्वप्रथम राजा राममोहन राय ने बंगाल से प्रारम्भ किया। उन्होंने वर्ण-व्यवस्था और मूर्ति-पूजा का विरोध किया और ब्रह्मसमाज की स्थापना की। यद्यपि वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी उनके विचारों से साधारण जनता बहुत अधिक प्रभावित नहीं हुई, परन्तु उनके अन्य उदार विचारों को पर्याप्त समर्थन मिला। साधारण हिन्दू समाज अब भी चार वर्णों और चार आश्रमों में विश्वास करता था। वर्णों का तो अभी पूर्ण आदर था, परन्तु आश्रमों की व्यवस्था का पालन ढीला हो गया। १८५७ ई० का जो राष्ट्रीय विप्लव हुआ उससे भारतीय समाज की वर्ण-व्यवस्था में आस्था स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ी।

राजा राममोहन राय

(३) सामाजिक आन्दोलन

ऊपर कहा जा चुका है कि अंग्रेजी शिक्षा के बढ़ते हुए प्रभाव के साथ-साथ भारत में सामाजिक उदारता लाने के लिये राजा राममोहन राय सर्वप्रथम प्रयत्नशील हुए। उन्होंने १८२० ई० में ब्रह्मसमाज की स्थापना की। उसमें सभी धर्मों से शिक्षित लोग बिना किसी भेदभाव से ईश्वर की पूजा के लिये आमंत्रित किये गये। उन्होंने वर्ण-बन्धन, जाति-बंधन, मूर्ति-पूजा, यज्ञ और बलि का विरोध किया और विश्वबन्धुत्व का समर्थन किया। उनकी मृत्यु के बाद देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन ने ब्रह्मसमाज को और अधिक प्रगतिशील बनाया; परन्तु बाद में मतभेद के कारण वे दोनों अलग होकर कार्य करने लगे। राजा रायमोहन राय ने सती-प्रथा का विरोध किया और विधवा-विवाह तथा अंग्रेजी भाषा का समर्थन। तत्कालीन अंग्रेजी सरकार से इन सबके सम्बन्ध में उन्होंने नया कानून भी पास कराया और उसे सामाजिक सुधार की ओर अग्रसर किया।

महाराष्ट्र में एक दूसरा सुधारवादी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। १८६७ ई० में बम्बई में 'प्रार्थना-समाज' की स्थापना हुई। इस समाज का उद्देश्य यह था कि अन्तर्जातीय विवाह, खान-पान, विधवा-विवाह, महिलाओं और हरिजनों का उत्थान तथा सामूहिक प्रार्थना हो। उस हेतु इसकी ओर से बम्बई और मद्रास में स्थान-स्थान पर प्रार्थना-समाजों की स्थापना के साथ ही साथ

विधवाश्रम, अनाथालय और अछूतोद्धार की अनेक संस्थायें खोली गयीं। सर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर और न्यायाधीश रानाडे इस आन्दोलन के नेता थे। रानाडे महोदय केवल एक न्यायाधीश ही नहीं अपितु एक इतिहासज्ञ, शिक्षा-शास्त्री और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्मदाताओं में से भी थे। उन्होंने अनेक उदीयमान समाजसेवियों और नेताओं को अपनी ओर आकृष्ट किया। उनकी प्रेरणा से १८८४ ई० में डेकन एजूकेशन सोसाइटी (दक्षिण शिक्षा-समिति) की स्थापना हुई और गोखले, तिलक तथा आगरकर जैसे व्यक्ति इसके सदस्य हुए। ये लोग आदर्शवादी व्यक्ति थे और शिक्षा-प्रसार में अटूट विश्वास करते थे। इन्हींके प्रयत्नों से पूना में 'फर्ग्युसन कालेज' की स्थापना हुई और सबने ७५) प्रतिमास जैसे थोड़े वेतन को स्वीकार कर शिक्षाकार्य करना प्रारम्भ किया। १९०५ ई० में श्रीयुत गोखले ने 'सर्वेण्टस आफ् इण्डिया सोसायटी' (भारत सेवक समाज) की स्थापना की, जो अब भी सामाजिक कार्यकर्ताओं का एक संघ है, जिसके सदस्य त्याग और आदर्श के लिये प्रसिद्ध हैं। सार्वजनिक जीवन का अध्ययन और साधारण सामाजिक सेवा करना इसका उद्देश्य था। इसके प्रमुख सदस्य नारायण मल्हार जोशी ने बम्बई की 'सोशल सर्विस लीग' के द्वारा, हृदयनारायण कुँजरू ने प्रयाग में 'सेवासमिति' द्वारा, श्रीराम वाजपेयी ने 'स्काउट्स एसोसियेशन' के द्वारा तथा श्री ठक्कर बापा ने गुजरात में भीलों के उत्थान-कार्य द्वारा देश की बहुत बड़ी सेवा की है।

श्रीमद्दयानन्द सरस्वती ने हिन्दू समाज के उत्थान और धर्म के सुधार के लिये १८७७ ई० में आर्यसमाज की स्थापना की। जैसे लूथर ने युरोप में ईसाई धर्म के आडम्बरों को चुनौती दी उसी प्रकार दयानन्द ने भारत में हिन्दू धर्म के आडम्बरोंके प्रति किया। उन्होंने केवल वेदों को प्रमाण माना और हिन्दुओं को उन्हीं की सादगी और पवित्रता की ओर लौटने के लिये प्रेरित किया। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'सत्यार्थ-प्रकाश' के द्वारा हिन्दुओं में प्रचलित अन्धविश्वासों और रूढ़ियों का विरोध किया और अनेकेश्वरवाद, मूर्तिपूजा, जाति-पाँति, अवतारवाद तथा श्राद्ध की आलोचना की। बाल-विवाह और समुद्र-यात्रा-

श्रीमद्दयानन्द सरस्वती

निषेध का भी उन्होंने विरोध किया। विधवा-विवाह और स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहित किया तथा हिन्दुओं की प्राचीन संस्कृति और आदर्श का स्मरण दिला कर उन्हें उत्साहित किया। उन्होंने स्वधर्म, स्वभाषा (हिन्दी), स्वदेश और स्वराज की आवाज उठायी। उनके मरने के बाद भी आर्यसमाज का आंदोलन ढीला नहीं हुआ। **स्वामी श्रद्धानन्द** ने **शुद्धि-आन्दोलन** को जन्म दिया तथा **लाला हंसराज** की प्रेरणा से देश में आर्यसमाज के सहयोग से चलनेवाली शिक्षा-संस्थाओं का एक जाल बिछा दिया गया। आर्यसमाज ने हिन्दू समाज में रूढ़िवादिता को नष्ट करके उदारता लाने का जो प्रयत्न किया वह राष्ट्रीय उत्थान में एक बहुमूल्य देन है।

१८७५ ई० में **'थियोसोफिकल सोसायटी'** की स्थापना हुई। **श्रीमती एनीबेसेन्ट** के नेतृत्व में इसकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई। यद्यपि इसका उद्देश्य यह था कि सभी धर्मों की सारभूत विशेषताओं और अच्छी बातों को लेकर उनका प्रचार किया जाय तथापि यह नवीन धार्मिक संस्था हिन्दू धर्म की ओर अधिक आकृष्ट रही और उसके द्वारा हिन्दू समाज की प्रतिष्ठा के साथ-साथ उसमें उदारता का विस्तार हुआ।

एनीबेसेन्ट

उपर्युक्त मुख्य आंदोलनों के अतिरिक्त देश में अनेक धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन चले। उनमें **रामकृष्ण परमहंस** की भक्ति और **स्वामी विवेकानन्द** की आध्यात्मिकता ने देश को बड़ा प्रभावित किया। स्वामी विवेकानन्द ने अपनी अपूर्व वक्तृता और प्रतिभा के बल से परमहंस रामकृष्ण के संदेशों और भारतीय आध्यात्मिकता को अमेरिका जैसे दूरस्थ देशों तक पहुँचाया। भारतवर्ष के भीतर **रामकृष्ण मिशनों** के द्वारा समाज की हर तरह से सेवायें हो रही हैं। **दयालबाग के राधास्वामी सत्संग** के द्वारा भी हिन्दू समाज का भेदभाव दूर हुआ है।

(४) सामाजिक उदारता और सुधार

ऊपर यह कहा जा चुका है कि १८५७ ई० के राष्ट्रीय विप्लव तक वर्ण, धर्म तथा रूढ़िवादिता का जोर रहा। परन्तु उसके बाद देश के अनेक धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों के फलस्वरूप उनमें ढिलाई आयी, कट्टरपंथी कम

होने लगी और उदारता बढ़ी। जाति-पाँति के भेद को कम करने में रेल, तार, डाक और यातयात के अन्य साधनों ने भी बड़ा काम किया। रेल के डिब्बों में साथ-साथ यात्रा करने और भोजन करने से हिन्दू आपस में ही नहीं अपितु मुसलमान, ईसाई, पारसी और अन्य सभी धर्मों के लोग एक दूसरे के निकट आने लगे। जातिभ्रष्ट होने का भय जाता रहा। स्वामी दयानन्द से प्रभावित संस्थाओं ने, जैसे—आर्यसमाज, इण्डियन सोशल कान्फरेंस और 'डिप्रेस्ड-क्लासेज मिशन सोसायटी' ने अनेक सामाजिक बुराइयों को रोकने का कार्य किया। बाल-विवाह, बलात् वैधव्य को रोकने, जाति-पाँति का भेद मिटाने और अछूतोद्धार के आंदोलन प्रारम्भ हो गये। १९२३ ई० में हिन्दू महासभा जैसी कट्टर संस्था ने भी अछूतों को सुविधायें प्रदान करने का प्रस्ताव पास किया। शारडा एक्ट (१९३० ई०) के द्वारा १४ वर्ष से कम की कन्याओं और १८ वर्ष से कम के लड़कों का विवाह कानूनन अवैध मान लिया गया। श्री ईश्वरचंद्र विद्यासागर के प्रयत्नों से विधवा-विवाह १८५६ ई० के एक कानून द्वारा यद्यपि वैध तो मान लिया गया किंतु उसका बहुत दिनों तक विरोध हुआ। अब ऐसी परिस्थिति आ गयी है, जब वह विरोध और घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जाता। स्वतंत्र भारत की कांग्रेस सरकार ने हिन्दू उत्तराधिकार विधान के द्वारा हिन्दू समाज की स्त्रियों को अपने पिता अथवा पति की सम्पत्ति में दाय और भाग पाने का अधिकारी बना दिया है। अनेक अवस्थाओं में उन्हें तलाक का भी अधिकार दे दिया गया है।

(५) अस्पृश्यता निवारण

जाति-व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष अछूतों की समस्याओं में दिखाई दिया। वे हिन्दू समाज के तिरस्कृत अंग हो गये। उनके प्रति सवर्ण हिंदुओं ने वर्जनशीलता दिखाना ही अपना धर्म समझा। मंदिरों, सार्वजनिक स्थानों तथा सामाजिक उत्सवों के उपयोग से वे वंचित हो गये। अस्पृश्यता बहुत बढ़ गयी और दक्षिण भारत में तो उनकी परछाईं का स्पर्श भी अपवित्र माना जाने लगा। इसकी बड़ी भारी प्रतिक्रिया हुई। पहले तो बहुत से अछूतों ने ईसाई धर्म को अपना लिया परंतु बाद में वे हिन्दू धर्म के भीतर ही रहकर अन्य हिन्दुओं से अपनी बराबरी का नारा बुलन्द करने लगे। देश की सभी समाज-सुधारक संस्थाओं ने उनकी दशा सुधारने का कार्य प्रारंभ कर दिया। आर्यसमाज उन सब में आगे था। 'शुद्धि' द्वारा अनेक ईसाई और मुसलमान बने अछूत पुनः हिन्दू बना लिये गये। बम्बई के दलित वर्ग मिशन ने उनके उत्थान का सराहनीय कार्य किया। परंतु सबसे अधिक सेवा अछूतों को

महात्मा गांधी से प्राप्त हुई। उनके द्वारा प्रेरित हरिजन सेवक संघ, हरिजन आंदोलन और 'हरिजन' पत्र ने अछूतों का नाम बदलकर हरिजन (ईश्वर का भक्त) कर दिया और उन्हें समाज में लाने का सराहनीय कार्य किया। जब भारतीय स्वतंत्रता की वेगपूर्ण लहरों को दबाने के लिये अंग्रेजों ने हरिजनों को सवर्ण हिन्दुओं से अलग करने की योजना बनायी, तो गांधीजी ने उसे रोकने के लिये १९३२ में आमरण अनशन प्रारम्भ किया और 'पूना पैक्ट' के फलस्वरूप हरिजनों को हिन्दू समाज का अविच्छेद्य अंग मानकर अनेक सुविधायें दी गयीं। स्वतंत्र भारत के संविधान में अस्पृश्यता प्रत्येक रूप में अवैध और दंडनीय मानी गयी है तथा हरिजनों को सरकारी नौकरियों में नियत संख्या दी गयी है। अन्य पिछड़ी जातियों को भी ऊपर उठाने का प्रयत्न किया जा रहा है और इस क्षेत्र में स्वर्गीय ठक्कर बापा का भीलों को उठाने वाला प्रयत्न सराहनीय रहा है।

(६) स्त्रियों की अवस्था

अंग्रेजी शासन-काल में स्त्रियों की उन्नति की ओर भी ध्यान दिया गया। १८५७ ई० के राष्ट्रीय विप्लव के पहले ही स्त्री-शिक्षा के लिये अनेक पाठशालायें खोली जा चुकी थीं। तदुपरान्त प्रायः सभी सामाजिक आन्दोलनों का यह प्रमुख लक्ष्य हो गया कि महिलाओं की शैक्षिक और सामाजिक उन्नति की जाय। १९०७ई० में भारतीय महिला संघ की स्थापना हुई और महिलाओं की सर्वांगीण उन्नति का प्रयत्न होने लगा। श्रीमती रानाडे ने १९०८ ई० में पूना में सेवासदन स्थापित किया तथा १९१४ ई० में उनकी डाक्टरी सेवा के लिये एक संस्था 'वीमेन्स मेडिकल सर्विस' स्थापित हुई। इन संस्थाओं के द्वारा स्त्रियों को 'नर्सरी' और 'मिडवाइफरी' (शिशु-सेवा और प्रसूताओं की सेवा) सम्बन्धी डाक्टरी परीक्षा दिलाने का प्रबन्ध भी किया गया। १९१६ ई० में स्त्रियों को डाक्टरी शिक्षा देने के लिये दिल्ली में लेडी हार्डिंज मेडिकल कालेज की स्थापना की गयी। इनके अतिरिक्त साधारण शिक्षा के लिये लड़कियों के अनेक विद्यालय और महाविद्यालय खोले गये। प्रोफेसर कर्वे द्वारा स्थापित पूना का महिला विश्वविद्यालय इन सबमें प्रमुख है, जिसने महिलाओं में शिक्षा-प्रचार में बड़ा योग दिया है। स्वतंत्र भारत में स्त्रियों का समाज में पुरुषों के बराबर स्थान है और उनको पूर्ण मताधिकार भी प्राप्त हैं। योग्यता होने पर वे प्रत्येक जनसेवा विभाग में छोटे-बड़े सभी पदों पर नियुक्त की जा रही हैं और उस नीति के फलस्वरूप राजनीतिक क्षेत्र में वे पुरुषों की बराबरी कर रही हैं। देश के अनेक प्रांतीय तथा केन्द्रीय मंत्रिमण्डलों, धारासभाओं, विदेशी दूतावासों और सदिच्छा प्रतिनिधि-मण्डलों में अनेक योग्य स्त्रियों ने

भाग लिया है और अपना कार्य योग्यतापूर्वक कर रही हैं। अखिल भारतीय महिला संघ (इंडियन विमेन्स एसोशियेशन) के अधिवेशनों द्वारा उनके अधिकार की रक्षा और वृद्धि का प्रयत्न हो रहा है। पर्दे की प्रथा धीरे-धीरे जा रही है। यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि हिन्दू स्त्रियों की ही भाँति मुसलमान स्त्रियाँ भी आगे बढ़ रही हैं। उनमें से बहुतों ने शिक्षा और समाज-सुधार को अपना उद्देश्य माना है और उनका भी एक प्रगतिशील समुदाय है।

(७) मुसलमानों में सामाजिक जागृति

यद्यपि मुसलमानों में छूआछूत और जातीय भेदभाव का अभाव रहा है, परन्तु बहुत दिनों तक देश में शासन करने के उपरान्त उनमें भी सामाजिक दुर्बलतायें आ गयी थीं। बहुविवाह, पर्दा-प्रथा और कुछ अन्य धार्मिक कुरीतियाँ प्रमुख रूप से सामने आयीं। ऐसी दशा में हिन्दू-धर्म और समाज के पुनर्जागरण से अनेक मुसलमानी नेताओं को भी बल मिला और उन्होंने धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन चलाये। इन सुधारवादी आन्दोलनों के नेता शाह अब्दुल अजीज, सैयद अहमद बरेलवी, शेख करामत अली, हाजी शुआयतुल्ला थे। इनके उपदेशों में कुरान की ओर जाने का संदेश था, परन्तु कहीं-कहीं साम्प्रदायिक कट्टरता भी थी। शेख करामत अली ने पश्चिमी शिक्षा और विचारों को प्राप्त करने का मुसलमानों से अनुरोध किया। मिर्जा गुलाम अहमद ने, जो पंजाब में कादियान के रहनेवाले थे, कादियानी अथवा अहमदिया आन्दोलन चलाया और संतों की पूजा मना करते हुये जेहाद की अनिवार्यता से इनकार किया। सर सैयद अहमद खां ने मुसलमानों को अपने प्राचीन गर्व का याद दिलाते हुये नवीन पाश्चात्य ज्ञान और सभ्यता की ओर झुकने का आवाहन किया। उन्होंने पर्दा-प्रथा का विरोध और मुसलमान स्त्रियों की शिक्षा का समर्थन किया। मुसलमानों में आधुनिक शिक्षा के प्रसार के लिए उन्होंने बहुत कुछ किया और अलीगढ़ में उसी उद्देश्य से 'मोहम्मडन ऐंग्लो ओरियण्टल कालेज' की स्थापना की जो बाद में अलीगढ़ मुसलिम विश्वविद्यालय हो गया। मौलवी चिरागअली ने मुसलमानों में प्रचलित बहुविवाह प्रथा को मिटाने का प्रयत्न किया। प्रथम महायुद्ध के बाद मुसलिम-लीग ने मुसलमानों में एक हिन्दू विरोधी भावना का प्रचार किया और मुसलमानों के सामाजिक और धार्मिक अभ्युत्थान को छोड़कर राजनीति को अपना लक्ष्य बना लिया जिसके फलस्वरूप अन्त में देश का बँटवारा हुआ।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत सरकार की निष्पक्ष नीति से भारतीय मुसलमानों में धर्मान्धता और साम्प्रदायिकता कम हो गयी है। देहातों में हिन्दू और मुसलमान मध्य-युग से साथ साथ रहते आये हैं और उन्हें अब भी कोई अन्तर नहीं मालूम होता है। वे होली, दीवाली और मुहर्रम में एक दूसरे का साथ देते हैं और साथ-साथ आनन्द लेते हैं। अवध के मुसलमान शासक और ताल्लुकेदार वसन्त-पंचमी के दिन नौरोज का त्यौहार मनाते हैं। हिन्दुओं का भारतवर्ष में मुसलमानों के ऊपर प्रभाव पड़ा है और उनमें भी किसी हद तक जाति-प्रथा घर कर गयी है, यद्यपि इसलाम के अनुसार सभी मुसलमान बराबर हैं और मस्जिद में और दस्तरखान पर वे सभी एक हैं जहाँ उनमें कोई भेदभाव नहीं रह जाता।

२. आर्थिक अवस्था

(१) व्यापार और उद्योग—भारतवर्ष में कम्पनी के शासन-काल का आर्थिक क्षेत्र में सबसे बुरा फल यह हुआ कि यहाँ का देशी व्यापार प्रायः सम्पूर्ण रूप में नष्ट-सा हो गया। १८वीं शती के मध्य भाग तक अँग्रेजी कम्पनी व्यापारिक क्षेत्र में प्रायः सभी विदेशी व्यापारिक कम्पनियों को पीछे ढकेल चुकी थी। यही नहीं, उसने भारतीय व्यापारियों का भी व्यापार उचित अथवा अनुचित ढंग से हड़पने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। बंगाल के हिन्दू और मुसलमान व्यापारी तिब्बत, चीन, अरब, फारस और तुर्की से व्यापार करते थे और बहुत अधिक लाभ उनके हाथ लगता था। बंगाल से कच्चा रेशम, रेशमी कपड़े, ढाका की मलमल, पटसन और अफीम इन देशों को जाती थी। रेशमी वस्त्र और मलमलों की बहुत ही अधिक मांग थी। देश के भीतर आपसी व्यापार की भी मात्रा भरपूर थी, परन्तु प्लासी की लड़ाई के बाद सारा दृश्य ही बदल गया। अँग्रेजों ने पहले तो मीर जाफर को बाद में मीर कासिम को और फिर बंगाल को खूब लूटा। जब १७६५ ई० में कम्पनी ने बंगाल की दीवानी नवाब से ले ली तो उसकी सारी मालगुजारी का लाभ भारतवर्ष में निर्यात होनेवाली वस्तुओं की खरीद कर कम्पनी की ओर से पुनः उसे निर्यात करने में लगाया जाने लगा। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दुस्तानी व्यापारियों का लाभ हड़पा जाने लगा। फलतः थोड़े ही दिनों में बंगाल दरिद्र हो गया। कम्पनी को जो सुविधायें चुङ्गी की छूट आदि में मुगल बादशाहों से मिली थीं, उनका पूरा दुरुपयोग किया गया और अँग्रेजों के व्यक्तिगत व्यापार बढ़ाने में उनका अनुचित उपयोग हुआ। कम्पनी के नौकर भी देश के भीतरी व्यापार में अनुचित सुविधायें जबरदस्ती भोगने लगे।

उनकी गलाकट और घृणित प्रतिद्वन्द्विता में भारतीय व्यापारी उखड़ गये। यही नहीं, वे भारतीयों का माल कम मूल्य पर जबरदस्ती खरीदते थे और अनुचित लाभ कमाते थे। मीर कासिम ने जब इन बातों का विरोध किया तो उसे गद्दी से हाथ धोना पड़ा। बुनकरों से जबरदस्ती सूती कपड़ों और रेशमी धागों को मनमाने दाम पर अंग्रेजों ने खरीदा और उन्हें उचित मूल्य पर दूसरों के हाथों बेचने से मना कर दिया गया। फल यह हुआ कि जुलाहों ने अपना सूत और कपड़ों का सारा रोजगार बन्द कर दिया। बंगाल में तो यह भी प्रसिद्ध है कि कम्पनी के नौकरों की जबरदस्ती से बचने के लिए अनेक कारीगरों ने अपने अँगूठे भी काट डाले। जो बचा खुचा बंगाल का रेशमी और मलमल का निर्यात इंगलैण्ड को होता भी था, उसे कानून बना कर बन्द कर दिया गया। वहाँ की सरकार कम्पनी की मदद से भारत का कच्चा माल, विशेषतः रूई और सूत इंगलैण्ड की मिलों के लिये मँगाने लगी और तैयार माल पुनः भारत में मनमाने दाम पर बिकने लगा। बंगाल का सारा व्यापार चौपट कर दिया गया और जो बचा वह सभी अंग्रेजों के हाथ चला गया। उद्योग में लगे हुये मजदूर खेती की ओर झुकने को विवश हो गये और पूँजी का निर्माण बन्द हो गया।

जिस प्रकार बंगाल का व्यापार अंग्रेजों ने चौपट किया, उसी तरह भारतवर्ष के और भागों का भी व्यापार और उद्योग नष्ट कर दिया गया। बंगाल के अलावा बनारस, लखनऊ, सूरत, अहमदाबाद, नागपुर और मदुरा अपने सूती और रेशमी व्यापार के लिये प्रसिद्ध थे। काश्मीर और पंजाब अपने दुशालों के लिये प्रसिद्ध थे। इनके अतिरिक्त बनारस, तंजोर, पूना, नासिक और अहमदाबाद अपने बर्तनों के लिये प्रख्यात थे। भारत के अन्य उद्योगों में सोने-चाँदी का कार्य, मोती और मीने के काम, संगमर्मर और हाथी दांत के काम तथा सुगंधित तैलों के काम काफी नाम कमा चुके थे। भारत में जहाजों के बनाने का उद्योग इंगलैण्ड से कुछ कम नहीं था, परन्तु वह कानूनन जबरदस्ती बन्द कर दिया गया। भारतवर्ष के प्रायः सभी उद्योग इंगलैण्ड में मशीनों से बने सस्ते माल की स्पर्धा में तथा भारत की अंग्रेजी सरकार की उदासीन नीति के कारण समाप्त हो गये। १९वीं शती के मध्य तक भारतवर्ष का प्रायः सारा व्यापार चौपट हो गया। देश केवल कच्चा माल उत्पन्न कर इङ्गलैण्ड को भेजने लगा और वहाँ का तैयार माल यहाँ बहुत बड़ी मात्रा में आने लगा। देश का धन केवल एक ही दिशा इङ्गलैण्ड की ओर बहने लगा और जनता निर्धन हो गयी।

यद्यपि १८१३ ई० के आज्ञापत्र में भारतवर्ष में अंग्रेजी कम्पनी के व्यापार

का एकाधिकार समाप्त कर दिया गया तथापि १९ वीं शती के अन्त तक इस देश का प्रमुख व्यापार अंग्रेजों के ही हाथों में रहा। परन्तु उसके बाद जापान और जर्मनी भी मैदान में उतरे और इङ्गलैण्ड का मुकाबला करने लगे। १८६९ ई० में जब स्वेज नहर का मार्ग खुल गया तो इस देश से विदेशी व्यापार बहुत बढ़ गया। १८५५ ई० से १८६० ई० तक भारत से होनेवाले विदेशी व्यापार का मूल्य लगभग ५२ लाख रुपया था; परन्तु वह बढ़ते-बढ़ते १९२८-२९ ई० में ६ अरब रुपये तक पहुँच गया। भारतवर्ष से विदेशों को जूट, गेहूँ, रूई, तेलहन और चाय का निर्यात होता था और युरोप में बनी हुई वस्तुयें यहाँ आती थीं। देश के भीतर भी व्यापार अन्तर-प्रांतीय स्तर पर बहुत बढ़ा तथा इस भीतरी व्यापार को बढ़ाने के हेतु भीतरी प्रतिबन्ध हटा दिये। रेल, तार, डाक, नहरों, जल में चलनेवाले स्टीमरों तथा सड़कों के उपयोग ने देश के भीतरी व्यापार को बढ़ाने में बहुत अधिक सहायता दी। १९१८ ई० में औद्योगिक आयोग (इंडस्ट्रियल कमीशन) की रिपोर्ट प्रकाशित हुई और उसमें यहाँ के व्यापार को बढ़ाने के उपाय बताये गये। युद्ध के कारण यहाँ के माल की बड़ी माँग हुई और उस समय अनेक उद्योगों का प्रारम्भ हुआ। भारतीय व्यापारी भी आगे बढ़े। उनमें ताता ने लोहा, बिजली तथा वैज्ञानिक-सामानों के निर्माण के लिये अनेक मिलों को खोला। पीछे बिरला परिवार तथा अन्य मारवाड़ी उद्योग-पति भी क्षेत्र में आये। चीनी का व्यापार भी उन्नति करने लगा, परन्तु अब भी भारतवर्ष मुख्यतः कच्चा माल ही बाहर भेजता था। जब द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ा तो भारतवर्ष के उद्योगों को चमकने का अच्छा अवसर मिला। पूर्वी देशों को युद्ध का सामान तथा सैनिकों की आवश्यकतायें पूर्ण करना अंग्रेजों को भारत से अधिक सरल दिखायी दिया। यहाँ हथियार, गोला, बारूद, बिजली के तार, लोहे के सामान, तथा वस्त्रों के निर्माण के लिये अनेक कारखाने खोले गये। भारतवर्ष के व्यापार को अपूर्व अवसर मिला और उसमें तत्कालीन अंग्रेजी शासन ने भी कुछ उदारता दिखायी। फलस्वरूप भारत ऋण लेनेवाले देशके बजाय एक ऋण देनेवाला देश हो गया और इङ्गलैण्ड के ऊपर इसका बहुत अधिक पौण्ड पावना हो गया। १९४६ ई० में यह घोषणा की गयी कि आधारभूत उद्योगों, जैसे-लोहा, कोयला, जहाज, इन्जन और तार तथा रेडियो आदि के सामान तैयार करने पर सरकारी नियंत्रण होगा। १९४७ ई० में जब भारत स्वतंत्र हुआ तो अनेक आधारभूत उद्योगों का राष्ट्रीकरण कर दिया गया। इनमें रेलवे, डाक-तार विभाग, गोला-बारूद, बम, इन्जनों तथा हवाईजहाज बनाने के कारखाने आदि प्रमुख हैं। यह भी कहा गया कि सरकार जिन उद्योगों का

राष्ट्रीकरण आवश्यक समझेगी, करेगी। परन्तु इससे व्यापारी वर्ग नये उद्योगों में पूँजी लगाने से डरने लगा। उत्पादन कम हो गया, परन्तु २२ फरवरी १९४९ ई० को सरदार पटेल ने मद्रास में व्यापारियों के सामने भाषण देते हुए कहा कि सरकार का न तो सभी उद्योगों का राष्ट्रीकरण करने का १० वर्ष तक कोई इरादा है और न उसके पास उसके लिए धन और शक्ति ही है। उन्होंने व्यापारियों को उद्योगों में पूँजी लगाने का आवाहन किया। तथापि आवश्यकतानुसार कांग्रेस सरकार राष्ट्रीकरण की ओर देखती है और अब नागरिक उड्डयन उद्योग का भी राष्ट्रीकरण हो गया है। पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि सम्बन्धी उद्योगों तथा बिजली-उद्योगों की ओर अधिक ध्यान दिया गया है और उनको राष्ट्र की ओर से समृद्ध किया जा रहा है। इस समय भारत का विदेशी व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय तुलना में काफी आगे बढ़ा हुआ है और भारत सरकार उसके लिए सब कुछ, जो सम्भव है, कर रही है।

अंग्रेजी शासन-काल में जब भारतवर्ष युरोपीय देशों का बाजार बन गया और मशीन से बनी सस्ती वस्तुयें प्राप्त होने लगीं, तो धीरे-धीरे लोगों की रुचि भी बदल गयी। देशी उद्योगों और दस्तकारियों को प्रोत्साहन कम मिला और आधुनिक सभ्यता की छोटी-छोटी वस्तुओं ने उन्हें प्रतियोगिता में बिलकुल पीछे ढकेल दिया। देश के भीतर बनी वस्तुओं के प्रयोग तथा विदेशी के बहिष्कार के लिये कांग्रेस ने कई बार आन्दोलन छेड़ा और वह स्वतंत्रता की लड़ाई का एक प्रमुख अंग हो गया। उनमें करघों और चर्खों से बना कपड़ा गांधी-आश्रमों के द्वारा काफी प्रचलित हुआ है; परन्तु अन्य गृह-उद्योगों की विशेष उन्नति नहीं हुई है। इस समय भारतवर्ष कपड़े के उद्योग में काफी आगे बढ़ा है। इस अवस्था को लाने में स्वदेशी-आन्दोलन का बहुत बड़ा भाग है। भारतवर्ष के गृह-उद्योगों की रक्षा आवश्यक है और उधर भारत सरकार ध्यान भी दे रही है।

(२) कृषि—यद्यपि भारतीय उद्योगों की उन्नति अंग्रेजी शासन स्थापित होने के पूर्व भरपूर थी, तथापि यह देश अत्यन्त प्राचीन काल से कृषि-प्रधान देश रहा है। अंग्रेजों की व्यापार और भारतीय उद्योगों की नीति इस तरह चलती रही कि धीरे-धीरे यहाँ के सभी उद्योग समाप्त हो गये तथा लोग मुख्यतया खेती पर ही निर्भर हो गये। परन्तु खेती की उन्नति के लिये भी अंग्रेजी सरकार ने कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया। भूमि सम्बन्धी जो उनके अनेक प्रबन्ध हुये वे भी जमीनके असली जोतनेवालोंको कुछ लाभ नहीं दे सके। ऐसे लोग बड़े-बड़े जमींदार और जागीरदार स्वीकार कर लिये गये जो केवल भूमि के सम्बन्ध में साम्पत्तिक अधिकार रखते थे, परन्तु वास्तव में वे उसे जोतते

नहीं थे। खेती करनेवाले किसानों को साम्पत्तिक अधिकार के अभाव में उसकी उन्नति करने में कोई उत्साह नहीं हुआ। भूमि का बहुत बड़ा भाग बेकार पड़ा रहा। जिस जमीन में खेती होती भी थी, उसकी उपज बढ़ाने का कोई विशेष उपाय नहीं किया गया। खेती के पुराने औजार और पुरानी पद्धति को बदल कर वैज्ञानिक खेती के लिये कोई प्रयत्न नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त धीरे-धीरे पारिवारिक बँटवारों से खेतों का आकार क्रमशः छोटा हो गया और वे बिखर गये। उनकी चकबन्दी की ओर भी ध्यान नहीं दिया गया। ऐसी दशा में भारतवर्ष में कृषि की अवस्था अंग्रेजी शासन-काल में बहुत दिनों तक पिछड़ी रही।

परन्तु ऐसी दशा का बहुत दिनों तक रहना असम्भव हो गया। १८८०ई० में विभिन्न प्रान्तों में अलग-अलग कृषि-विभाग खोले गये। लार्ड कर्जन के समय में वैज्ञानिक ढंग से खेती करने का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ। १९०३ ई० में पूसा में एग्रीकल्चरल इन्स्टीट्यूट (कृषि-संस्थान) की स्थापना हुई और १९०५ ई० में एक भारतीय कृषि बोर्ड बना। धीरे-धीरे खेती की वैज्ञानिक शिक्षा देने के लिये स्कूल और कालेज खोले जाने लगे। १९१९ ई० में कृषि विभाग प्रान्तीय सरकारों के अधीन मान लिया गया और १९२९ ई० में इम्पीरियल कौंसिल आफ एग्रीकल्चरल रिसर्च (कृषिशोध की साम्राजीय परिषद्) की स्थापना हुई। १९३७ ई० में जब प्रान्तों में उत्तरदायी सरकारें कायम हुईं तो कृषकों की रक्षा और समृद्धि के लिये विशेष प्रयत्न प्रारम्भ किया गया। जमींदारी-प्रथा को हटाकर भूमि का पुनर्वितरण करने का सिद्धान्त मान लिया गया। किसानों को कर्जों से मुक्ति दिलाने का भी प्रयत्न हुआ और उस सम्बन्ध में अनेक कानून पास किये गये। १९४७ ई० में स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद भारतवर्ष की कांग्रेस सरकार ने खेती की उन्नति की ओर विशेष ध्यान दिया है। उसके लिये जमींदारियों, ताल्लुकदारियों और जागीरदारियों का अन्त कर दिया गया है। भूमि के स्वामित्व को अधिकाधिक मात्रा में बाँटने का सिद्धान्त मान लिया गया है और आजकल की प्रायः प्रत्येक राज्यों की सरकारों ने अधिकतम भूमि के प्रतिपरिवार सीमाबन्धन के सम्बन्ध में विधान बनाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया है। सिद्धान्ततः जमीन जोतनेवाले को ही जमीन का मालिक मान लिया गया है। इधर भूमि के पुनर्वितरण के लिये श्रीविनोबा भावे ने भूमिदान-आन्दोलन प्रारम्भ करके बहुत बड़ी चेतना उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त की है। उन्हें तो आशा थी कि १९५७ ई० तक भारतवर्ष की भूमि समस्या सुलझ जायगी, परन्तु अभी यह संभव नहीं हो सका है। तथापि उनके उद्देश्यों से बहुत लोग सहमत हैं और उन्हें प्रायः प्रत्येक राजनीतिक

दल का सहयोग प्राप्त है। आशा है कि भूमि-स्वामित्व और उसके उपयोग के सम्बन्ध में उनके क्रान्तिकारी विचारों को देश ग्रहण कर सकेगा।

भारतवर्ष कृषिप्रधान देश होते हुये भी अब अपने भर को अन्न नहीं उत्पन्न कर पाता। सारी उपलब्ध खेती की जमीन का उपयोग में न आना, प्राकृतिक सुविधाओं पर आश्रित होना, सिंचाई के लिये इन्द्रदेव का मुँह ताकना तथा अत्यल्प साधनों का होना, खाद की उचित व्यवस्था न होना, अतिवृष्टि और अनावृष्टि तथा बाढ़ आदि विपत्तियों का शिकार होना तथा खेतों का छोटा-छोटा और छिटका हुआ होना आदि अनेक ऐसे कारण हैं, जो इस परिस्थिति के लिये उत्तरदायी हैं। कांग्रेसी सरकारों ने 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के द्वारा इन कठिनाइयों को दूर करने का प्रयत्न किया है परन्तु उन्हें अभी विशेष सफलता नहीं मिली है। अंग्रेजी सरकार ने सिंचाई की ओर विशेष ध्यान दिया पर वह पर्याप्त नहीं था। कुछ नहरें, जैसे—पश्चिमी और पूर्वी जमुना नहरें, गंगा नहर, पंजाब में बारी दोआब नहर आदि का निर्माण किया गया और कुछ बांध भी बांधे गये। वैज्ञानिक ढंग से आधुनिक बाँध तैयार हुये। इनमें बम्बई का लायड डाम, सिन्ध का सक्खर बैरेज पंजाब की सतलज योजना, मद्रास का कावेरी जल-वितरक और उत्तर-प्रदेश में शारदा नहर प्रमुख हैं। परन्तु इतने बड़े देश की खेती को सींचने के लिये उपर्युक्त सिंचाई के साधन अत्यन्त थोड़े रहे हैं। भारतकी स्वतंत्रता के बाद भारत सरकार का ध्यान भोजन की दृष्टि से देश को आत्म-निर्भर बनाने की ओर गया है। दो पंचवर्षीय योजनाओं में करोड़ों रुपये खेती की उन्नति में, विशेषतः सिंचाई के लिये, लगाये गये हैं। खेती की उन्नति ही उसका मुख्य अंग है। सिंद्री में खाद का कारखाना खुल चुका है, जो देश को रासायनिक खाद देगा तथा वैज्ञानिक खेती को बढ़ायेगा। सिंचाई के लिये नदियों को बांधकर जलविद्युत शक्ति उत्पन्न करनेवाली अनेक योजनायें हैं। इनमें पंजाब की भाखर-नांगल योजना, दामोदर घाटी योजना (बंगाल बिहार और उड़ीसा), बिहार नैपाल की कोसी योजना, उड़ीसा का हीराकुंड बाँध, मद्रास का रामपदसागर, बम्बई और मध्यप्रदेश की नर्मदा-ताप्ती योजना, हैदराबाद-मदरास की तुंगभद्रा योजना, उत्तरप्रदेश और नैपाल की गण्डक योजना, मध्यभारत की चम्बल योजना, तथा राजस्थान में जवाई नदी का बाँध आदि प्रमुख हैं। इनके अलावा प्रांतीय सरकारों की सैकड़ों छोटी-मोटी योजनायें हैं, जिनके पूर्ण हो जाने पर भारतवर्ष में कृषि की बहुत कुछ उन्नति हो सकेगी।

४२ अध्याय

राष्ट्रीय आन्दोलन, स्वातंत्र्य और पर-राष्ट्रनीति

१. राष्ट्रीय आन्दोलन

(१) प्रारंभिक प्रभाव—१९वीं शती भारतीय इतिहास में राष्ट्रीयता के विकास का युग थी। विदेशी सत्ता और संस्कृति के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। सामाजिक तथा सांस्कृतिक आन्दोलनों ने स्वतंत्रता के लिये क्षेत्र तैयार किया। १८३५ ई० के बाद अँग्रेजी के माध्यम से देश में शिक्षा का प्रचार होने लगा, तो अंग्रेजी भाषा के साथ ही साथ भारतवर्ष में युरोपीय स्वतंत्रता तथा समानता के विचार भी आने लगे। पाश्चात्य शास्त्र और विज्ञान के प्रचार ने नवशिक्षित भारतीयों में सम्मान का भाव उत्पन्न किया। देश में रेल, तार, डाक, शासन और कानून ने एकता तथा संगठन को जन्म दिया और पश्चिम के उदारवादी और स्वतंत्र विचार अत्यन्त तेजी से फैलने लगे। राजा राममोहन राय के ब्रह्मसमाज, महर्षि दयानन्द के आर्यसमाज तथा कर्नल आलकॉट और श्रीमती एनीवेसेन्ट की थियॉसाफिकल सोसायटी ने भी भारत का आत्मसम्मान जगाया और राष्ट्रीय विचारों को जन्म दिया।

(२) सांविधानिक मांग—१८५७ ई० का सशस्त्र राष्ट्रीय विप्लव असफल होते देखकर तत्कालीन राष्ट्रीय नेताओं ने अपनी मांगों को रखने के लिये वैधानिक मार्ग अपनाया। पहले तो शासन में भारतीयों का भी यथोचित स्थान हो, इस हेतु आन्दोलन हुये। आई० सी० एस० की परीक्षा में सफल हो जाने पर जब मामूली कारण से सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को १८७६ ई० में अपने पद से हटा दिया गया, तो देश में बड़ा असन्तोष फैला। उन्होंने एक संगठन 'इण्डियन एसोशियेशन' की स्थापना करके सारे देश का भ्रमण किया और शासन की मनमानियों के विरुद्ध आवाज उठायी। लार्ड लिटन के 'आर्म्स ऐक्ट' तथा 'वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट' का विरोध करने में वे सबसे आगे रहे और 'इण्डियन एसोशियेशन' की बड़ी ख्याति हुई। लार्ड रिपन उदारवादी वाइसराय थे। उनके 'इलवर्ट बिल' का जो विरोध अंग्रेजों ने किया उससे भारतीयों की आँखें खुल गयीं। इलवर्टबिल का ध्येय यह था कि अंग्रेजों को भारतीय न्यायाधीश भी न्यायदान दे सकते थे, परन्तु भारतीय शासन में लगे हुए अंग्रेजों ने इसका घोर विरोध किया और यह बिल पास न हो सका। इस पर भारतीयों को अंग्रेजों की ईमानदारी

पर कोई भरोसा नहीं रहा और एक अखिल भारतीय संस्था की आवश्यकता समझी जाने लगी।

(३) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना—१८८५ ई० में अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ और उस वर्ष के दिसम्बर मास में बम्बई में **उमेशचन्द्र बनर्जी** की अध्यक्षतामें इसका प्रथम अधिवेशन हुआ। सच तो यह है कि कांग्रेस के जन्म में कुछ अँग्रेजों का भी विशिष्ट सहयोग रहा। **ऐलन ह्यूम, हेनरी काटन** तथा **सर विलियम वेडरबर्न** उनमें मुख्य थे। **लार्ड डफरिन,** जो उन दिनों भारतवर्ष में वाइसराय थे, स्वयं एक ऐसी संस्था की आवश्यकता का अनुभव करते थे, जो शासन को भारतीय प्रतिक्रियाओं से अवगत करा सके। उन्होंने १८८६ ई० कांग्रेस के सदस्यों को एक पार्टी भी दी। कांग्रेस का कई वर्षों तक केवल यही उद्देश्य रहा कि भारतीयों को शासन में अधिक से अधिक लाने का प्रयत्न किया जाय और शासन के क्षेत्र में कुछ छोटे-मोटे व्यवस्था सम्बन्धी परिवर्त्तन कराये जायें। इसी के प्रयत्नों के फलस्वरूप १८९२ ई० का **'इंडियन कौंसिल ऐक्ट'** पास हुआ। परन्तु धीरे-धीरे कांग्रेस के प्रति अंग्रेजी शासनाधिकारियों के मन में शंका उत्पन्न होने लगी। कांग्रेस में केवल प्रस्ताव पास होते रहे और उनका कोई विशेष प्रभाव नहीं होता था।

धीरे-धीरे कांग्रेस में नवयुवकों का एक ऐसा दल उत्पन्न हुआ, जो उसकी नीति में कुछ कड़ाई लाने का प्रयत्न करने लगा। इस दल के नेता **लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक** थे। वे महाराष्ट्र के चितपावन ब्राह्मण थे और उनके हृदय में स्वतंत्रता की तेज आग जलती थी। उन्होंने यह विचार प्रकट किया कि केवल प्रस्तावों के पास करने अथवा प्रतिनिधिमण्डलों के भेजने से कुछ कार्य नहीं हो सकेगा। स्वतंत्रता भिक्षा मांगने से नहीं मिलती, अपितु उसके लिये त्याग की आवश्यकता होती है। उन्होंने महाराष्ट्र को अपनी ओर खींचा तथा अपने पत्र **'केसरी'** द्वारा और गणेशोत्सवों तथा शिवाजी सम्बन्धी स्मारकों द्वारा अंग्रेजी शासन के विरुद्ध कड़ी घृणा का भाव जगाया। इसी बीच १८९६ ई० में बम्बई और पूना में भीषण

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

प्लेग फैला तथा हजारों घर तबाह हो गये। सरकार कोई विशेष सहायता-कार्य न कर सकी और तिलकजी ने उसकी पूरी निन्दा की। १८९७ ई० में रैण्ड नामक एक अंग्रेज दो नवयुवक मराठा ब्राह्मणों द्वारा मार डाला गया और उस मुकदमे में तिलकजी को भी १८ मास की कड़ी सजा हुई। सारा देश उनकी ओर आकृष्ट हो गया और कांग्रेस में उनका तथा उनके गरम दल का जोर बढ़ता गया। उनके नेतृत्व में अरविन्द घोष, विपिनचन्द्र पाल तथा लाला लाजपत राय आ गये। पुराने दल में, जो नरम दल

विपिनचन्द्र पाल

लाला लाजपत राय

कहलाने लगा, सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, सर फीरोजशाह मेहता तथा गोपालकृष्ण गोखले आदि प्रमुख रहे और ऐसा प्रतीत होने लगा कि कांग्रेस में दो दल अलग-अलग बँट जायँगे। गरमदल शांति की नीति छोड़ कर अंग्रेजी शासन के विरुद्ध कड़ी कार्रवाई और उग्र आंदोलन के पक्ष में था और यह कहता था कि स्वतंत्रता भिक्षायाचना से नहीं मिलेगी। नरम दल अपनी पुरानी नीति पर दृढ़ था और वैधानिक आन्दोलन के ही पक्ष में था। परन्तु दलों का आपसी भेद बढ़ता गया और १९०७ ई० की पूना कांग्रेस में उनकी मुठभेड़ हो ही गई। कांग्रेस का अधिवेशन भंग कर दिया गया। दोनों दल अलग-अलग हो गये। नरमदल ने अलग होकर एक प्रस्ताव द्वारा पुनः अपना उद्देश्य तय किया और आगे १९१६ ई० तक कांग्रेस पर उसी दल का अधिकार रहा।

(४) वंग-भंग और स्वदेशी आन्दोलन—कांग्रेस के आन्दोलन को लार्ड कर्जन के बुद्धिहीन कार्यों से बड़ा बल मिला। इण्डियन यूनिवर्सिटीज ऐक्ट (१९०४ ई०), बंगाल के विभाजन (१९०५ ई०), तथा शासन की

अन्य कड़ाइयों के कारण भारतीय जनता बड़ी असन्तुष्ट हुई, और आन्दोलन ने जोर पकड़ा। उन्हीं दिनों रूस जैसे विशाल युरोपीय देश को जापान जैसे छोटे एशियाई देश ने जब १९०५ ई० में युद्ध में करारी हार दी तो भारतीयों के हौसले और भी बढ़ गये। स्वदेशी आन्दोलन तथा विदेशी के बहिष्कार ने जोर पकड़ा तथा देश के युवकों में कुछ हिंसात्मक प्रवृत्तियां भी उत्पन्न हुईं। बम फेंकना और अँग्रेज शासकों को मारना भी प्रारम्भ हो गया। ऐसी दशा में अंग्रेजी सरकार ने भारतीयों को प्रसन्न करने का कुछ उपाय सोचना प्रारंभ किया तथा १९०९ ई० में मॉर्ले-मिन्टो सुधार-कानून पास कर दिया गया। कांग्रेस के नरम-दल ने तो इसे स्वीकार कर लिया परन्तु गरम दल ने इसे अपर्याप्त मानकर ठुकरा दिया। इसका सबसे बड़ा दोष यह था कि अँग्रेजों ने हिन्दुओं और मुसलमानों को बांटनेवाली नीति का अवलम्बन करते हुये दोनों के लिये अलग-अलग निर्वाचन क्षेत्र की व्यवस्था की। १९११ ई० में बंगाल का विभाजन भी रद्द कर दिया गया।

(५) मुसलिम लीग—कांग्रेस का जन्म देनेवालों में प्रमुख हिन्दू नेता ही थे। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि उसमें मुसलमान नहीं आये। जस्टिस तैयब जी और मुहम्मद सयानी जैसे राष्ट्रीय मुसलमान कांँग्रेस के अध्यक्ष रहे और उसके छठे अधिवेशन में मुसलमानों की संख्या २२ प्रतिशत थी। तथापि अधिकांश मुसलमान उससे दूर रहे। मुसलमानों के उस समय सबसे बड़े नेता सर सैयद अहमद थे। उन्होंने अपने को काँग्रेस से अलग रखा। उन्होंने १८८८ ई० में अपर इण्डिया मुसलिम एसोशियेशन की स्थापना की। बाद में उन्हीं के प्रयत्नों से १९०६ ई० में मुसलिम लीग की स्थापना हुई जो मुसलमानों का प्रतिनिधित्व अपना अधिकार समझने लगी। सर सैयद अहमद तथा आगा खां ने एक प्रतिनिधिमण्डल के द्वारा भारतमंत्री मॉर्ले महोदय तथा वाइसराय लार्ड मिन्टो के सामने यह प्रस्ताव रखा कि अगले सुधारों में हिन्दुओं तथा मुसलमानों के निर्वाचन के क्षेत्र अलग-अलग रखे जायँ तथा अंग्रेजों ने फूट को बढ़ाने के लिए १९०९ ई० के सुधारों में उसे मान लिया।

(६) हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रश्न

देश में राष्ट्रीय आन्दोलन जोर पकड़ता गया। अंग्रेजी सरकार की दमन-नीति तथा विदेशी घटनाओं ने नवयुवकों को उत्साहित किया। आन्दोलन में वैध उपायों के अलावा हिंसात्मक उपायों का भी सहारा लिया गया। १९०८ में लोकमान्य तिलक को ६ वर्ष का कड़ा कारावास दण्ड मिला और वे कैद

करके माण्डले भेज दिये गये। जहाँ एक ओर दमनचक्र तथा कड़े कानूनों से अंग्रेजी सरकार आन्दोलन को दबाने का प्रयत्न करती थी, वहीं दूसरी ओर कुछ सुधार-कानूनों की ओर भी ध्यान दे रही थी। फलतः १९२० ई० का सुधार-कानून पास हुआ; परन्तु उससे आन्दोलनकारियों को विशेष सन्तोष न हुआ। धीरे-धीरे मुस्लिम-लीग भी सम्प्रदायवाद की नीति से कुछ अलग हटकर देश को स्वतंत्र करना अपना लक्ष्य मानने लगी। मुसलमान अंग्रेजों से अप्रसन्न होते जा रहे थे और उसका मुख्य कारण यह था कि अंग्रेजी सरकार की फारस और तुर्की के प्रति नीति उन्हें पसन्द नहीं थी। इसी बीच १९१४-१८ ई० का प्रथम महासमर छिड़ गया, उसमें अँग्रेज तुर्की के विरुद्ध मोर्चे में हुये। इन सब का फल यह हुआ कि मुस्लिम-लीग और अखिल भारतीय कांग्रेस एक-दूसरे के निकट आने लगीं और यह समझा गया कि हिन्दू मुसलमानों के आपसी मेल बिना स्वतंत्रता प्राप्त करना कठिन है। १९१६ ई० का वर्ष इस दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण साबित हुआ। श्रीयुत गोपाल कृष्ण गोखले की मृत्यु हो चुकी थी और लोकमान्य तिलक जेल से छूटकर पुनः आ चुके थे। नरम-दल के अन्य नेता भी उनसे मेल रखने को तैयार थे और कांग्रेस ने एक संयुक्त मोर्चा तैयार किया। कांग्रेस और मुस्लिम-लीग ने भी १९१६ ई० में लखनऊ में आपसी समझौता कर लिया, जो 'लखनऊ पैक्ट' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार देश में एकता का बीज पुष्ट करने का प्रयत्न हुआ और सभी दलों ने एक होकर अपनी मांगें उपस्थित कीं। आंदोलन धीरे-धीरे बहुत व्यापक हो गया। लोकमान्य तिलक तथा श्रीमती एनीबेसेण्ट ने, जो कांग्रेस में शामिल हो चुकी थीं, आंदोलन को उग्र रूप देने के लिये होमरूल-लीग की स्थापना की और असन्तोष बढ़ता गया। परन्तु आंदोलन चलाते हुये भी भारतीयों ने अँग्रेजी सरकार की युद्ध में सहायता की और वे समझते थे कि उन्हें उचित पुरस्कार मिलेगा। लेकिन हुआ कुछ दूसरा ही। १९१९ ई० का जो माण्टेगू-चेम्सफोर्ड सुधार-कानून पास हुआ, उसमें भारत में फूट का वृक्ष और भी मजबूती से लगा दिया गया। उससे किसी भी मुख्य राजनीतिक दल को संतोष नहीं हुआ और सारे देश ने उसे ठुकरा दिया। इस बढ़ते हुये असन्तोष को अँग्रेजी सरकार ने दमन-नीति से दूर करना चाहा। इस दृष्टि से १९१९ ई० का वर्ष बड़ा महत्त्वपूर्ण है। रौलट-एक्ट जैसे दमनकारी कानूनों के द्वारा भारतीय जनता पीसी जाने लगी और जलियाँवाला बाग जैसी घटनायें हुईं। पंजाब में फौजी कानून लगा दिया गया और आन्दोलनकारियों को गोली का शिकार बनाया गया। इसी बीच १ अगस्त सन् १९२० ई० को लोकमान्य तिलक का देहान्त हो गया। कांग्रेस

में उनका स्थान मोहनदास करमचन्द गांधी ने लिया, जिन्हें भारतीय जनता ने प्रेम और श्रद्धा से 'महात्मा' की उपाधि दी। भारतीय राजनीति में आने के पहले वे दक्षिणी अफ्रिका में गोरे लोगों के काले लोगों के प्रति अन्यापूर्ण कानूनों के विरुद्ध सविनय अवज्ञा आन्दोलन के द्वारा काफी ख्याति और सफलता प्राप्त कर चुके थे। उन्होंने भारतवर्ष में आकर राष्ट्रीय
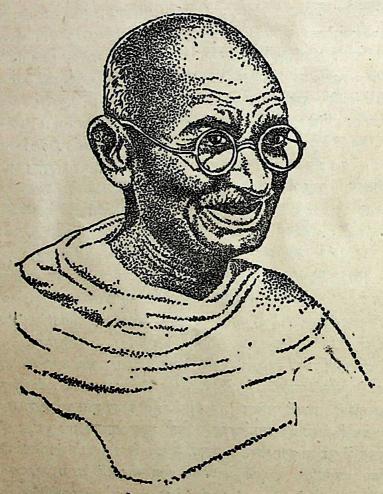
मोहनदास करमचन्द गांधी

आन्दोलन को गांवों तक फैलाया और प्रत्येक भारतीय के हृदय में देशभक्ति की भावना का संचार किया। मुसलमानों को मिलाने का प्रयत्न किया गया तथा अली बन्धुओं (शौकत अली और मुहम्मद अली) ने गांधी जी का पूरा साथ दिया। उनके खिलाफत-आन्दोलन ने भी खूब जोर पकड़ा।

(७) असहयोग-आन्दोलन—महात्मा गांधी के नेतृत्व में देश में असहयोग-आन्दोलन उग्र रूप पकड़ने लगा। सरकारी स्थानों, संस्थाओं, नौकरियों, पदवियों और वृत्तियों को छोड़ना, विदेशी माल का बहिष्कार तथा विद्यार्थियों और अध्यापकों का स्कूल-कालेज छोड़ना असहयोग की मुख्य बातें थीं। खादी और चर्खे का प्रचार करके गांधी जी ने देश को यह सिखाया कि शांतिपूर्वक लंकाशायर की मिलों का व्यापार चौपट किया जा सकता है और अंग्रेजों को विवश किया जा सकता है। इसी आन्दोलन में गांधी जी ने भारत को दो अस्त्र दिये—**सत्य और अहिंसा**—और उन्हीं के द्वारा युद्ध सिखाया। आन्दोलन के फलस्वरूप कई लोगों ने सरकारी पदवियों का त्याग कर दिया, जिनमें श्री **रवीन्द्रनाथ ठाकुर** और **सुब्रह्मण्यम् अय्यर** प्रमुख थे। विद्यार्थियों ने अपनी पढ़ाई-लिखाई छोड़कर तथा अनेक वकीलों ने वकालत छोड़कर आन्दोलन में भाग लिया। परन्तु देश अभी अहिंसात्मक आन्दोलन के लिये तैयार नहीं था। हिन्दू-मुसलमानों में पुनः वैर की भावना घर करने लगी और प्रसिद्ध **मोपला-विद्रोह** तथा **कोहाट** में दंगे हुए। यही नहीं, आन्दोलनकारी निरीह बच्चों पर पड़ी कठोर यातनाओं से चिढ़कर एक क्रुद्ध भीड़ ने उत्तरप्रदेश के गोरखपुर जिले में **चौरीचौरा** नामक स्थान में थाने को घेर लिया। थानेदार और अनेक सिपाहियों का वध कर डाला गया और अन्य हिंसा की घटनायें हुईं। गांधीजी को बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वे उन दिनों जेल में थे; परन्तु उन्होंने आन्दोलन बन्द कर दिया और आत्म-शुद्धि के लिये २१ दिनों का उपवास किया।

(८) स्वराज्य पार्टी—१९२३ ई० में कांग्रेस में नेताओं के दो मत हो गये। एक तो यह कि कौंसिलों में प्रवेश करके भीतर से अँग्रेजी सरकार को विवश किया जाय और दूसरे यह कि बाहर ही आन्दोलन को बढ़ाया जाय। परन्तु कौंसिल में प्रवेश करनेवालों का जोर बढ़ता गया। कांग्रेस ने भी उस सिद्धान्त को मान लिया तथा पं० **मोतीलाल नेहरू, देशबन्धु चितरंजनदास** और **एन० सी० केलकर** के नेतृत्व में १९२३ ई० में **स्वराज्य पार्टी** की स्थापना हुई। इन नेताओं का उद्देश्य यह था कि कौंसिलों में प्रवेश करके अपने बहुमत और प्रभाव से १९१९ ई० के सुधार कानून को या तो खतम कर दिया जाय या अँग्रेजों को उसमें पुनः सुधार करने के लिये विवश किया जाय। स्वराज्य पार्टी का जोर बढ़ता गया। इसी बीच १९२७ ई० में १९१९ ई० के सुधारों की सफलता की जांच के लिए **साइमन-आयोग** बैठाया गया। परन्तु कांग्रेस ने उसका जोरदार विरोध किया तथा 'साइमन लौट जाओ' के नारे के साथ उसका बहिष्कार किया गया और काले झण्डे दिखाये

गये। इधर देशमें मुख्य राजनैतिक दलोंको मिलाकर एक संयुक्त मोर्चा भी तैयार करने की बात चलती रही। पण्डित मोतीलाल नेहरूकी अध्यक्षता में एक समिति

मोतीलाल नेहरू देशबन्धु चितरंजनदास

इस हेतु बैठायी गयी कि वह भारत का एक सर्वस्वीकृत संविधान तैयार करे। १९२८ ई० में नेहरू-समिति ने अपनी रिपोर्ट दी और उसमें अँग्रेजी साम्राज्य के भीतर भारत को **'डोमीनियन स्टेटस'** की व्यवस्था का निर्णय हुआ। हिन्दुओं और मुसलमानों को मिलाने के लिए भी उसमें उपाय किये गये पर वह रिपोर्ट मुसलिमलीग ने अस्वीकार कर दी और कोई प्रगति नहीं हुई। फिर भी कांग्रेस का आन्दोलन किसी न किसी रूप में चलता रहा। १९२९ ई० में लाहौर में पं० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में उसका जो वार्षिक अधिवेशन हुआ उसमें उसका उद्देश्य **'पूर्ण स्वराज्य'** मान लिया गया। उन दिनों लार्ड अरविन भारतवर्ष के वाइसराय थे और उन्होंने 'डोमिनियन स्टेटस' को आधार मानकर एक गोलमेज सम्मेलन करने का प्रस्ताव रखा, परन्तु उस प्रस्ताव पर इङ्गलैण्ड में जो टीकायें हुईं उनसे कांग्रेस भड़क उठी तथा उसे अस्वीकार कर दिया।

(९) सविनय अवज्ञा—१९३० ई० में गांधीजी ने पुनः सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारंभ कर दिया। दूकानों पर धरना, विदेशी माल का बहिष्कार, तथा सरकारी नौकरियों आदि को छोड़ने के अलावा इस आन्दोलन

का मुख्य कार्यक्रम था नमक-कानून को तोड़ना। महात्मा गांधी के सहित कांग्रेस के प्रायः सभी नेता जेलों में डाल दिये गये। परन्तु सर तेज बहादुर सप्रू तथा श्री जयकर के प्रयत्नों के फ़लस्वरूप लार्ड अरविन का गांधीजी से ५ मार्च १९३१ ई० को समझौता हो गया, जो इतिहास में गांधी-अरविन समझौते के नाम से प्रसिद्ध है। उसी वर्ष इंगलैण्ड में होने वाली दूसरी गोलमेज कान्फ्रेन्स में भाग लेना कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया तथा उसकी ओर से महात्मा गांधी अकेले प्रतिनिधि होकर गये। पण्डित मदनमोहन मालवीय और श्रीमती सरोजिनी नायडू भी इंगलैण्ड गयीं, परन्तु वहाँ कोई समझौता नहीं हो सका और सभी लोग भारत लौट आये। १९३२ ई० में कांग्रेस ने पुनः सत्याग्रह-आन्दोलन प्रारंभ कर दिया और लार्ड वेलिंगटन ने, जो लार्ड अरविन के बाद वाइसराय होकर आये थे, आन्दोलन को कठोरता-पूर्वक दवाना प्रारम्भ कर दिया।

(१०) साम्प्रदायिक निर्णय के विरुद्ध आन्दोलन—इंगलैण्ड में सुधारों की बात चलती रही परन्तु साम्प्रदायिक प्रश्न बना ही रहा। इन सब बातों का निर्णय इंगलैण्ड के प्रधानमंत्री के हाथों में छोड़ दिया गया था और १३२९ ई० में उन्होंने अपना निर्णय दिया जो 'कम्युनल अवार्ड' (साम्प्र-दायिक निर्णय) के नाम से विख्यात है। इसमें मुसलमानों, सिखों तथा अन्य छोटे-मोटे स्वार्थों की रक्षा के नाम पर उन्हें प्रस्तावित सुधारों में अलग प्रति-निधित्व तो दिया ही गया, हरिजनों को भी सवर्ण हिन्दुओं से अलग करने का प्रयत्न किया गया और उनमें अनेक भेद कर दिये गये। महात्मा जी को यह राजनीतिक चाल असह्य थी और उन्होंने इसके विरुद्ध आमरण अनशन शुरू कर दिया। देश में कोलाहल मच गया और सभी लोग एक स्वर से उनके प्राणों की रक्षा की पुकार करने लगे। सभी राजनीतिक दलों ने तथा अँग्रेजी सरकार ने मिलकर पुनः पूना में समझौता किया। 'कम्यूनल अवार्ड' लौटा लिया गया और हरिजनों को हिन्दू समाज का अंग माना गया। यह समझौता 'पूना पैक्ट' के नाम से प्रसिद्ध है। १९३२ ई० में तीसरा गोलमेज सम्मेलन हुआ और उसके प्रस्तावों के आधार पर एक श्वेतपत्र निकाला गया जिसके फलस्वरूप १९३५ ई० का भारत संघ सरकार कानून पास हुआ, जिसका पीछे वर्णन किया जा चुका है। कांग्रेस का आंदोलन विध्वंसात्मक न होकर धीरे-धीरे रचनात्मक हो गया था तथा उसके नेता तथा स्वयंसेवक जेलों से बाहर निकलते और भीतर जाते रहे। धीरे-धीरे आन्दोलन सामूहिक न होकर व्यक्तिगत हो गया; परन्तु १९३४ ई० के भीषण भूकम्प के कारण कांग्रेस आंदोलन से हटकर सेवाकार्य में लग गई।

(११) प्रांतीय स्वराज्य—१९३५ ई० के संघ शासन-विधान के अनुसार १९३७ ई० में व्यवस्थापिकाओं के लिये जो चुनाव हुये, उनमें कांग्रेस ने भाग लिया। सात प्रान्तों में उसके समर्थकों का स्पष्ट बहुमत था; परन्तु उन्होंने मंत्रिमण्डल बनाने से इनकार कर दिया। परन्तु जब लार्ड लिनलिथगो ने यह आश्वासन दिया कि गवर्नरों के द्वारा विशेषाधिकारों का प्रयोग नहीं होगा, तो उन्होंने मन्त्रिमण्डल बनाना स्वीकार कर लिया। अन्य प्रांतों में भी मुस्लिम-लीग ने अथवा उससे संयोग करके दूसरे राजनीतिक दलों ने मंत्रिमण्डल बनाया। परन्तु देश में सबकी आँखें कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों क ओर ही लगी थीं। प्रायः सांविधानिक संकट उपस्थित ही रहते थे, परन्तु उनके होते भी दो वर्ष तक अर्थात् १९३९ ई० तक कोई विशेष घटना नहीं हुई। परन्तु उस वर्ष द्वितीय महासमर के छिड़ने पर लार्ड लिनलिथगो ने भारतीय नेताओं की राय लिये बिना ही भारत का जब धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया, तो कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों ने गांधी के परामर्श से त्यागपत्र दे दिया। युद्ध में भारत को बलात् घसीटे जाने के विरोध में १९४० ई० में गांधी जी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह चलाया। कांग्रेस के नेताओं और स्वयंसेवकों ने बारी-बारी से कानून तोड़कर सत्याग्रह किया और सहस्रों व्यक्ति जेलों में डाल दिये गये। देश में अँग्रेजी सरकार के प्रति असंतोष बढ़ता गया और स्वतंत्रता की मांग ऊँची होने लगी।

(१२) साम्प्रदायिकता का जोर और पाकिस्तान की माँग—कांग्रेस भारतवर्ष की एकता को बनाये रखने के भरपूर प्रयत्न कर रही थी और महात्मा गांधी ने इसके लिये कुछ उठा नहीं रखा। परन्तु दूसरी ओर मुहम्मद अली जिन्ना के नेतृत्वमें मुस्लिम-लीग साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन दे रही थी। जिन्ना महोदय ने दो राष्ट्रों का नारा लगाया और यह मांग की कि चूँकि हिन्दुओं और मुसलमानों के दो राष्ट्र हैं, इसलिए उनके लिये देश के दो टुकड़े हो जाने चाहिये। १९४० ई० के लाहौर वाले मुस्लिम-लीग के वार्षिक सम्मेलन में पाकिस्तान की स्थापना सम्बन्धी प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और मुसलिम-लीग की राजनीति भिन्न-भिन्न दिशाओं में चलने लगी।

(१३) समझौते का विफल प्रयत्न और १९४२ ई० का विप्लव—१९४२ ई० के आते-आते युद्ध में अँग्रेजों की हालत बहुत खराब हो गई थी। जापान भी जर्मनी तथा इटली की ओर से युद्ध में कूद चुका था। ऐसी दशा में भारतवर्ष के लिये भी बड़ा खतरा उत्पन्न हो गया था। अतः परिस्थितियों

को काबू में लाने के लिये सर विंस्टन चर्चिल की अँग्रेजी सरकार ने सर स्टैफर्ड क्रिप्स को भारतीय नेताओं से समझौता करने के लिये भेजा। उन्होंने कांग्रेस, मुस्लिम-लीग तथा अन्य राजनीतिक दलों से बातचीत करके अपनी योजना उपस्थित की; परन्तु वह भारतवर्ष के किसी भी राजनीतिक दल को मान्य नहीं हुई और वे खाली हाथों लौट गये। तदुपरांत महात्मा गांधी ने देश को उग्र आन्दोलन के लिये तैयार करना प्रारंभ कर दिया। 'हरिजन' के लेखों तथा अपनी प्रार्थना-सभाओं में वे अंग्रेजी राज के विरुद्ध प्रचार करने लगे और सारा देश अँग्रेजों को बाहर निकाल बाहर करने को सोचने लगा। उन्होंने **'भारत छोड़ो'** का अपना प्रसिद्ध नारा लगाया। ८ अगस्त १९४२ ई० को बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक का होना तय हुआ। अगला कदम क्या हो इस प्रश्न पर वहाँ विचार हो ही रहा था कि उसी दिन शाम को प्रायः कांग्रेस के सभी बड़े नेता तथा प्रांतों के प्रमुख कांग्रेसी सरकार की ओर से गिरफ्तार कर लिये गये। यह बात देश के कोने-कोने में अनायास हवा की तरह फैल गई और ९ अगस्त १९४२ ई० का प्रसिद्ध आन्दोलन अपने आप प्रारंभ हो गया। देश के अधिकांश क्षेत्र विद्रोह के अड्डे बन गये। आन्दोलनकारियों ने कहीं-कहीं आग लगाने, लूट लेने तथा एक-आध हत्यायें कर देने आदि की घटनायें कर दीं। अँग्रेजी नौकरशाही ने बड़ी निर्दयतापूर्वक उसका प्रतिशोध लिया। गोलियों की बौछार, सामूहिक जुर्माने तथा युद्ध के लिये बलात् धन-संग्रह करना, दमन के मुख्य हथकण्डे हो गये। सहस्रों व्यक्ति बिना मुकदमा चलाये जेलों में ठूँस दिये गये। अनेक समाचारपत्रों को नौकरशाही की दमन-नीति का विरोध करने के कारण अपना प्रकाशन विवशता से बन्द करना पड़ा। इस आन्दोलन में भारत के विद्यार्थी समाज ने प्रमुख भाग लिया। सरकारी दमन से देश में कुछ ही दिनों में ऊपरी शांति तो स्थापित हो गई परन्तु इससे अँग्रेजी साम्राज्य की नींव हिल उठी।

(१४) समझौते के पुनः प्रयत्न—१९४४ ई० में लार्ड लिनलिथगो की जगह पर लार्ड वावेल भारत के वाइसराय होकर आये। उसी वर्ष ६ मई को गांधी जी अस्वस्थता के कारण जेल से मुक्त कर दिये गये, परन्तु दूसरे नेता तथा कांग्रेसजन अभी जेलों में ही पड़े रहे। इसी बीच इंगलैण्ड में सरकार बनाने के लिये १९४५ ई० में नया चुनाव हुआ और उसमें क्लीमेण्ट एटली के नेतृत्व में मजदूर-दल की विजय के फलस्वरूप उनकी सरकार बनी। मजदूरदलीय सरकार ने भारत के प्रति अपनी नीति नरम करके कोई समझौता निकालने का प्रयत्न प्रारंभ कर दिया। चर्चिल की अनुदार नीति से

अधिकांश इंगलैण्डनिवासी असन्तुष्ट थे और वहाँ यह समझा जाने लगा था कि भारतवर्ष को उसकी इच्छा के बिना बहुत दिनों तक साम्राज्य में नहीं रखा जा सकता। एटली की सरकार इन भावनाओं से परिचित थी और उसने भारतीय जनमत के अनुरूप कार्य करना चाहा। उसके आदेशानुसार कांग्रेस के सभी लोग जेलों से छोड़ दिये गये और लार्ड वावेल की अध्यक्षता में भारत के सभी प्रमुख राजनीतिक दलों का शिमला में एक सम्मेलन हुआ; परन्तु दुर्भाग्यवश वहाँ कोई समझौता नहीं हो सका।

द्वितीय विश्व-युद्ध समाप्त हो जाने के बाद भारतवर्ष में नया चुनाव हुआ और प्रांतों में लोकप्रिय सरकारें बनीं। देश में स्वतंत्रता की मांग दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही थी और अँग्रेजी सरकार ने भारतवर्ष को संतुष्ट करना ही उचित समझा। १९४६ ई० में अँग्रेजी पार्ल्यामेण्ट के सदस्यों का एक शिष्टमण्डल भारतवर्ष भेजा गया जिसने यहाँ कुछ सप्ताहों तक भ्रमण करके अपनी रिपोर्ट सरकार (इंगलैण्ड) को दी। उसमें यह कहा गया कि सभी भारतीय राजनीतिक दल तथा जनता तत्काल स्वतंत्रता चाहती है और उसकी स्वीकृति में देर उचित नहीं होगी। उस शिष्टमण्डल ने यह भी कहा कि भारतीय नेता शासन का भार संभालने के लिये पूर्ण रूप से योग्य हैं। इस रिपोर्ट की जाँच की पूर्ति के बाद अँग्रेजी सरकार ने अपने मंत्रिमण्डल के तीन सदस्यों—लार्ड पैथिक लारेंस (भारत-मंत्री), ए० वी० एलक्जेण्डर तथा सर स्ट्रैफर्ड क्रिप्स को भारत भेजा। यह शिष्टमण्डल 'कैबिनेट मिशन' के नाम से विख्यात हुआ। इस दल ने भारतवर्ष की समस्याओं को सुलझाने के हेतु प्रमुख राजनीतिक दलों से भेंट की और अन्त में अपनी योजना प्रस्तुत की, जो 'कैबिनेट मिशन योजना' के नाम से प्रसिद्ध हुई। उसकी प्रमुख बातें ये थीं कि भारतवर्ष एक संघ-राज्य हो जिसमें सभी प्रान्त सम्मिलित हों। परन्तु प्रान्तों की तीन श्रेणियां की गयीं। 'अ' वर्ग के प्रान्तों में सभी हिन्दू बहुमत प्रांत रखे गये। 'ब' वर्ग में उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रांत, सिंध तथा पंजाब और 'स' वर्ग में बंगाल और आसाम रखे गये। उपर्युक्त सभी वर्गों के प्रांतों में शासन सम्बन्धी भीतरी स्वतंत्रता की व्यवस्था की गई। केन्द्रीय संघ में प्रतिरक्षा, यातायात और अर्थ का नियंत्रण रखा गया तथा यह व्यवस्था की गई कि अन्तरिम प्रश्नों को सुलझाने के लिये केन्द्र में एक अन्तरिम सरकार बनाई जाय जिसमें कांग्रेस, मुसलिम-लीग, और सिखों के प्रतिनिधि रहें। देश का अन्तिम रूप से पूर्ण संविधान बनाने के लिये एक संविधान-सभा के चुनाव की व्यवस्था की गई।

'कैबिनेट मिशन योजना' पर भी कांग्रेस तथा मुस्लिम-लीग में मतभेद हो गया। अतः इस योजना का कार्यान्वय पूर्ण रूप से नहीं हुआ। संविधान-सभा के लिये जो अप्रत्यक्ष चुनाव हुए, उनमें उपर्युक्त दोनों प्रमुख दलों ने भाग लिया; परन्तु संविधान बनाने का कार्य केवल कांग्रेस ने ही किया। ६ दिसम्बर १९४६ ई० को संविधान-सभा की प्रथम बैठक हुई, परन्तु मुस्लिम-लीग के सदस्यों ने उसमें भाग नहीं लिया। केन्द्र में जो अन्तरिम मंत्रिमण्डल बना, उसमें भी पहले केवल कांग्रेस के ही प्रतिनिधि सम्मिलित हुये। उन्होंने सिखों तथा स्वतंत्र मुसलमानों को भी उसमें रखा; परन्तु कुछ समय बाद मुस्लिम-लीग के प्रतिनिधि भी उसमें शामिल हुये। लेकिन उनकी नीति कांग्रेसी सदस्यों की नीति से बिलकुल भिन्न दशा में अग्रसर होती रही और और प्रत्येक कार्यों में साम्प्रदायिकता स्पष्ट झलकने लगी। अन्तरिम मंत्रिमण्डल की आपसी फूट स्पष्ट दिखाई देने लगी और किसी भी प्रकार की संयुक्त नीति और उत्तरदायित्व का अभाव प्रकट होने लगा। सरकार के बाहर मुहम्मद अली जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम-लीग के समर्थकों ने यह स्पष्ट कर दिया कि वे देश के विभाजन से ही तुष्ट हो सकते हैं और पाकिस्तान की स्थापना न होने की अवस्था में खून की नदी बहाने की धमकी दी जाने लगी। देश में अनेक स्थानों पर साम्प्रदायिक दंगे होने लगे। मुस्लिम-लीग ने अपने ध्येयों की पूर्ति के लिये 'प्रत्यक्ष आन्दोलन' (डाइरेक्ट ऐक्शन) प्रारम्भ कर दिया और १६ अगस्त १९४६ ई० को बंगाल में **सुहरावर्दी** की मुस्लिम-लीगी सरकार ने **'प्रत्यक्ष कार्य दिवस'** मनाने का निश्चय किया और **कलकत्ते** में भीषण दंगे हुये, जिसकी प्रतिक्रिया **बिहार** में हुई। परन्तु **बिहार** का बदला मुसलमानों ने **नोआखाली** (पूर्वी बंगाल) के हिन्दुओं को लूटकर, मारकर तथा बेइज्जत करके लिया। महात्मा गांधी ने, जो जीवन भर साम्प्रदायिक एकता स्थापित करने का प्रयत्न करते रहे, उपवास किया तथा अपने प्राणों की बाजी लगाकर इन साम्प्रदायिक दंगों को दूर करने का प्रयत्न किया। क्लीमेण्ट एटली के नेतृत्व में अँग्रेजी सरकार की नियत एकदम साफ थी और उन्होंने भारत की कष्टप्रद तथा अस्थायी परिस्थिति में निश्चय लाने की दृष्टि से २० फरवरी सन् १९४७ ई० को यह घोषणा कर दी कि अँग्रेजी सरकार जून सन् १९४८ ई० तक भारतवर्ष को अवश्य ही सत्ता हस्तान्तरित कर देगी। उन्होंने लार्ड वावेल को बुला लिया तथा उनके स्थान पर **लार्ड माउण्टबैटन** को निर्णय करने का पूर्ण अधिकार देकर भेजा। भारतवर्ष की राजनीतिक समस्याओं का हल निकालने के लिये उनसे आग्रह किया गया था।

२. स्वातंत्र्य

(१) लार्ड माउण्टबैटन और सत्ता हस्तान्तरण

२३ मार्च सन् १९४७ को **माउन्टबैटन** ने अपना कठिन कार्यभार सँभाला। भारत में आने के बाद तुरन्त ही यहाँ की परिस्थितियों का अध्ययन करके उन्होंने राजनीतिक दलों से अपनी बातचीत शुरू कर दी। उन्हें यह स्पष्ट हो गया कि भारतवर्ष के विभाजन के अलावा समस्या का कोई दूसरा समाधान नहीं है और भारतीय नेता भी इससे अनिच्छुक होते हुए भी सहमत हो गये। सबकी एकमात्र इच्छा यही थी कि शीघ्र से शीघ्र अस्थायी वातावरण समाप्त हो और साम्प्रदायिक दंगों की प्रक्रिया रुके। लार्ड माउण्टबैटन ने ३ जून १९४७ ई० को अपनी प्रसिद्ध योजना उपस्थित की, जिसके द्वारा हिन्दुस्तान का बँटवारा हुआ और हिन्दू बहुल जनतावाले प्रान्तों को भारत में रहने दिया गया तथा मुसलमानबहुल प्रान्तों से **पाकिस्तान** नामक एक नये देश की स्थापना हुई। पंजाब और बंगाल के दो-दो टुकड़े कर दिये गये और पश्चिमी पंजाब तथा पूर्वी बंगाल पाकिस्तान में शामिल हुए। आसाम के **सिलहट** क्षेत्र में मतगणना हुई और वहाँ के मुसलमानबहुल भागों ने अपने को पूर्वी बंगाल (पाकिस्तान) में मिला लिया तथा शेष आसाम (भारतवर्ष) के साथ बना रहा। उत्तरी पश्चिमी सीमाप्रान्त में भी मतगणना हुई और वह प्रान्त पाकिस्तान को मिल गया। भारतवर्ष और पाकिस्तान की राजधानियाँ क्रमशः **दिल्ली** और **कराची** में स्थापित हुईं और अंग्रेजी सरकार ने १५ अगस्त सन् १९४७ ई० को सत्ताहस्तान्तरण की तिथि निश्चय कर लिया। देशी राज्यों को यह स्वतंत्रता दी गयी कि वे भारतवर्ष अथवा पाकिस्तान जिसमें चाहें मिल जायँ। इङ्गलैण्ड की पार्ल्यामेंट ने इस समझौते को कार्यान्वित करने के लिये सर्वसम्मति से एक कानून पास कर दिया और १९४७ ई० की १५ अगस्त को माउण्टबैटन ने यह घोषणा की कि भारत तथा पाकिस्तान स्वतंत्र हो गये। भारतीय-संघ तथा देशी राज्यों में बड़ी धूमधाम से स्वतंत्रोत्सव मनाया गया। शहरों और गांवों में प्रसन्नता व्यक्त करने के लिये दीपावलियों का प्रबन्ध किया गया तथा भारतवर्ष के कोने-कोने में राष्ट्रीय ध्वज फहराने लगा।

(२) साम्प्रदायिक उन्माद

भारतवर्ष को स्वतंत्रता तो प्राप्त हुई, परन्तु उसकी प्रसन्नता में दुःख की काली रेखा भी थी। मुसलिम-लीग की साम्प्रदायिक नीति का फल यह हुआ था कि देश में अनेक स्थानों पर हिन्दू, सिख तथा मुसलमान अपने प्राचीन

भ्रातृत्व को भूलकर एक-दूसरे का गला काटने लगे। साम्प्रदायिकता की आग स्वतंत्रता प्राप्ति के थोड़े दिनों पहले ही से तीव्र रूप से बढ़ी चली आ रही थी, जो धीरे-धीरे बढ़कर पश्चिमी पंजाब, पूर्वी पंजाब, सिन्ध, उत्तरी-पश्चिमी सीमा-प्रान्त, दिल्ली तथा उत्तरप्रदेश के पश्चिमी जिलों तक फैल गयी। लूट-मार, बलात्कार और नाना प्रकार के अत्याचार एक-दूसरे पर ढाये गये तथा भीषण रक्तपात हुआ। महात्मा गान्धी देश के विभाजन से अत्यन्त दुःखी थे और उनका हृदय का घाव अभी भर भी नहीं पाया था कि उस पर यह दूसरी चोट लगी। उन्होंने सारे उपद्रवग्रस्त क्षेत्रों का शान्ति-स्थापन के हेतु भ्रमण शुरू किया और अपनी प्रार्थना-सभाओं में धार्मिक और साम्प्रदायिक उन्माद की तीव्र भर्त्सना की। सभी बड़े-बड़े नेता व्याकुल होने लगे। परन्तु उनके अनेकानेक प्रयत्नों के होते हुए भी पश्चिमी पाकिस्तान से हिन्दुओं का आना और भारतवर्ष के कुछ भागों से मुसलमानों का जाना प्रारम्भ हो गया। लाखों नर-नारियों का घर-बार छोड़कर अनजाने दिशा की ओर चलना एक करुण दृश्य उपस्थित करने लगा और भारतीय सरकार के लिये हिन्दुओं और सिखों को अपने घरों से उनकी रक्षा करते हुये ले आना तथा उन्हें बसाना और पाकिस्तान जाने को उत्सुक मुसलमानों को शान्तिपूर्वक जाने की सुविधा प्रस्तुत करना एक अत्यन्न कठिन कार्य हो गया। तथापि उसे भारतीय सरकार ने दृढ़तापूर्वक सम्पन्न किया। परन्तु यही सब कुछ नहीं था। महात्मा जी के शान्तिमय उपदेशों को अनेक गुमराह हिन्दू गलत रूप में समझकर यह सोचने लगे कि वे ही पाकिस्तान में हिन्दुओं की हत्या तथा विस्थापितों की समस्या के लिये उत्तरदायी हैं। **नाथूराम विनायक गोडसे** नामक एक मराठा युवक ने आवेश में आकर ३० जनवरी १९४८ ई० को उनको गोली का शिकार बना डाला। इस प्रकार गान्धी जी तो अपने विचारों की पूर्त्ति, विश्वासों की रक्षा और शान्ति के प्रयत्नों के लिये बलिदान हुए; परन्तु भारतवर्ष की अपूरणीय क्षति हुई। प्रधानमन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में देश का प्रकाश बुझ गया। एक भारतीय ने अपने ही राष्ट्रपिता का वध करके कृतघ्नता का परिचय दिया और अपने माथे पर कलंक का टीका लगाया; परन्तु यहाँ यह भी कह देना उचित है कि गांधीजी के प्राणों के उत्सर्ग से भारतवर्ष में साम्प्रदायिकता की रीढ़ टूट गयी।

(३) कश्मीर, हैदराबाद तथा अन्य राज्य

साम्प्रदायिकता के प्रश्न से ही सम्बन्धित एक प्रश्न और था। कश्मीर को जबरदस्ती हड़प लेने के लिये पाकिस्तान ने कबायलियों को उभाड़कर उसपर

अक्टूबर सन् १९४७ ई० में आक्रमण कर दिया। कश्मीर ने भारत के साथ अपना सीमित विलय कर लिया और भारतीय सेनाओं को वहाँ आक्रमण-कारियों को भगाने के लिये जाना पड़ा। भारतीय सेनायें वहाँ सफल हुईं परन्तु लार्ड माउन्टबैटन ने, जो उन दिनों भारतवर्ष के गवर्नर जनरल थे, कश्मीर का प्रश्न संयुक्त राष्ट्रसंघ में भेजने का सुझाव दिया और वहाँ उसे भेज भी दिया गया। आज भी वह प्रश्न उलझा हुआ ही है और कुछ अंशों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की शतरंज की मुहर बना हुआ है। इसी प्रश्न की तरह एक दूसरा प्रश्न हैदराबाद का था। वहाँ के निजाम ने, चारों तरफ भारतीय क्षेत्र से हैदराबाद के घिरे होते हुये तथा वहाँ जनता में हिन्दुओं का बहुमत होते हुये भी, भारतीय संघ में सम्मिलित होने में आनाकानी की। अंत में भारतीय सरकार को विवश होकर वहाँ पुलिस-कार्रवाई करनी पड़ी और निजाम सरकार ने हैदराबाद का भारतीय संघ में विलयन कर दिया। इन दो प्रमुख राज्यों के अलावा जूनागढ़ के नवाब ने भी पाकिस्तान के पक्ष में जाने का प्रयत्न किया परन्तु उसे विवश होकर भारतवर्ष में सम्मिलित होना पड़ा। इनके अतिरिक्त भारतवर्ष के लगभग ५०० छोटे-छोटे राज्यों का विलय भारतवर्ष में हुआ। इस कार्य में सरदार बल्लभभाई पटेल ने अपूर्व नीतिकुशलता, साहस और दूरदर्शिता का परिचय दिया। विलय के बाद ये राज्य शासन की सुविधा के लिये पहले एक दूसरे से मिलाये गये और उनका संघ तैयार किया गया; परन्तु बाद में वे अनेक समीपवर्ती प्रांतों में मिला दिये गये। अन्त में भारतीय राज्यों के पुनर्गठन में वे अनेक राज्यों का भाग बन गये। पुराने रियासती क्षेत्रों वाले आधुनिक राज्यों में कश्मीर और राजस्थान प्रमुख हैं। अन्य राज्यों की ही तरह वहाँ के भी शासन लोकतांत्रिक पद्धति से चलाये जाते हैं।

(४) स्वतंत्र संविधान

इन उपर्युक्त कार्यों के अलावे भारत ने सांविधानिक क्षेत्र में भी काफी प्रगति की और अपनी स्थिति को दृढ़ बना लिया। १९४६ ई० से ही जो संविधान-सभा संविधान बना रही थी, उसने अपना कार्य पूरा कर लिया तथा २६ जनवरी सन् १९५० को वह भारतवर्ष पर लागू भी हो गया। अब उसके अनुसार दो बार साधारण चुनाव भी हो चुके हैं और वह इस देश में पूर्ण रूप से लागू है। भारत ने अपनी स्वेच्छा से, अपनी पूरी स्वतंत्रता बनाये रखते हुए तथा अंग्रेजी राजमुकुट की प्रधानता को न मानते हुये भी राष्ट्रमंडल का सदस्य बने रहना स्वीकार कर लिया है।

३. पर-राष्ट्रनीति

(१) अंग्रेजों की पश्चिमोत्तर सीमान्त नीति

प्रथम अफगानिस्तान युद्ध के बाद भारतवर्ष की अँग्रेजी सरकार ने दोस्त-मुहम्मद के प्रति मित्रता की नीति का अवलम्बन किया। फारस ने जब अफगानिस्तान के प्रांत हिरात पर १८५६ ई० में आक्रमण कर दिया, तब अँग्रेजों ने उसे रोकने में दोस्तमुहम्मद की सहायता भी की। परन्तु १८६२ ई० के लगभग दोनों पक्षों के आपसी सम्बन्ध कुछ बिगड़ गये। १८६३ ई० में दोस्तमुहम्मद की ८० वर्ष की अवस्था में मृत्यु हो गयी। तदुपरान्त उसके १६ बेटों में उत्तराधिकार का आपसी युद्ध होने लगा। दोस्तमुहम्मद ने अपने तीसरे पुत्र शेरअली को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था और यह भी चाहा था कि अँग्रेज उसे स्वीकार कर लें। परन्तु तत्कालीन गवर्नर जनरल सर जान लॉरेंस ने तटस्थता की नीति का अवलम्बन किया और उत्तराधिकार के लिये युद्ध करनेवाले किसी भी दल को सहायता देने से इनकार कर दिया। उन्हें यह डर था कि अफगानिस्तान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने पर रूस भी अवश्य हस्तक्षेप करेगा। रूस की बढ़ती हुई शक्ति अफगानिस्तान में प्रभावशाली न हो, वे यही चाहते थे और उन्होंने इङ्गलैण्ड की सरकार को यह भी लिखा कि वे रूस से अफगानिस्तान में हस्तक्षेप न करने के सम्बन्ध में कोई समझौता कर लें। परन्तु उनकी इस तटस्थता की नीति का इङ्गलैण्ड में बड़ा विरोध हुआ और उनकी महान् अकर्मण्यता (मास्टरली इनऐक्टिविटी) के लिये उनकी निन्दा की गयी। अन्त में १८६८ ई० में जब शेरअली अपने सभी प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त करके अमीर बन जाने में सफल हुआ, तो सर जान लारेंस ने उसे स्वीकार कर लिया; परन्तु शेरअली को इससे संतोष नहीं हुआ। वह अंग्रेजों की स्वार्थपरता के सम्बन्ध में शिकायत कर चुका था।

सर जान लारेंस के बाद लार्ड मेयो १८६९ ई० में भारत के गवर्नर जनरल और वाइसराय होकर आये। उस समय तक रूस का मध्य-एशिया में बढ़ता हुआ प्रभाव तथा शेरअली की उदासीनता स्पष्ट हो चुकी थी। अतः लार्ड मेयो ने अफगानिस्तान को प्रसन्न करके वहाँ अपना प्रभाव बढ़ाने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। १८६९ ई० में उन्होंने शेरअली से अम्बाला में भेंट की और अपनी आवभगत से उसे अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। अमीर भी रूस के अफगानिस्तान की ओर बढ़ाव से चिन्तित था और उसने अंग्रेजों से सहायता लेनी चाही। परन्तु लार्ड मेयो बहुत दूर आगे बढ़कर उसकी हर

प्रकार से सहायता करने को तैयार नहीं थे। उन्होंने शेरअली को कुछ थोथे आश्वासन से ही संतुष्ट करना चाहा जो समय की आवश्यकता से बहुत कम था। इसी बीच रूस ने खीवा पर आधिपत्य जमा लिया। १८७३ ई० में शेरअली ने डरकर लार्ड नार्थब्रूक के पास इस निश्चित संधि के लिये प्रस्ताव भेजा कि अफगानिस्तान पर रूस अथवा और किसी शत्रु के द्वारा आक्रमण किये जाने की अवस्था में अंग्रेज शस्त्र और सैनिक सहायता से उसकी रक्षा करेंगे; परन्तु अँग्रेजोंने अब भी कोई निश्चित आश्वासन नहीं दिया। शेरअली ने लार्ड नार्थब्रुक के सामने यह भी प्रस्ताव रखा कि उसके बाद उसके जेठे पुत्र याकूबखां के बदले उसका छोटा लड़का अब्दुल्लाखां उसका उत्तराधिकारी मान लिया जाय, परन्तु इस प्रश्न पर भी भारत सरकार ने उसकी बात स्वीकार नहीं की और उसका असन्तोष बढ़ता ही गया। फलतः अमीर रूस की ओर झुकने लगा और उसने यह शिकायत की कि अँग्रेज जिसे ही शक्तिशाली समझते हैं, उसी को अपने स्वार्थ से सहायता देते हैं। इसी बीच इङ्गलैण्ड में सरकार का परिवर्तन हुआ। भारत-मंत्री लार्ड सैलिसबरी से लार्ड नार्थब्रुक कई प्रश्नों पर असहमत होने लगे और अन्त में १८७६ ई० में उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। उसके बाद लार्ड लिटन भारतवर्ष के वाइसराय होकर आये और उन्होंने अफगानिस्तान के सम्बन्ध में आगे बढ़ने की नीति का अवलम्बन किया। अँग्रेजों ने क्वेटा पर अधिकार कर लिया, परन्तु जब अमीर से यह प्रस्ताव किया गया कि वह काबुल में एक अँग्रेजी मिशन को रहने की आज्ञा दे दे तो उसने इनकार कर दिया। रूस का प्रभाव काबुल में बढ़ा जा रहा था और भारतवर्ष की अँग्रेजी सरकार उसे शान्तिपूर्वक नहीं देख सकती थी। लार्डलिटन ने १८७८ ई० में जबरदस्ती काबुल में मिशन रखवाने का प्रयत्न किया और खैबर के दर्रे से उसे भेज भी दिया गया परन्तु अफगानों ने उसे रोक दिया। इस पर लार्ड लिटन ने अमीर को अँग्रेजी मिशन को या तो स्वीकार करने अथवा युद्ध में सामना करने की चुनौती दी। अमीर को यह विश्वास था कि रूसी उसकी मदद करेंगे। परन्तु युरोप में रूसियों और अँग्रेजों की जो शत्रुता चल रही थी उसका १८७८ ई० में बर्लिन की संधि के द्वारा अन्त हो गया था और रूसियों ने अमीर की सहायता करने से इनकार कर दिया।

द्वितीय अफगान युद्ध—२० नवम्बर सन् १८७८ ई० को अँग्रेजों ने अफगानिस्तान पर आक्रमण कर दिया। राबर्ट्स ने कुर्रम के दर्रे को घेर लिया और जनरल स्टीवर्ट ने कन्दहार जीत लिया। शेरअली भागकर तुर्किस्तान चला गया जहाँ उसकी मृत्यु हो गयी। उसके उत्तराधिकारी

याकूब खाँ को संधि की बात चलानी पड़ी। २६ मई सन् १८७९ ई० में गंडमूक की संधि हो गयी। सन्धि के द्वारा याकूबखां को अमीर मान लिया गया। उसने काबुल में एक स्थायी अँग्रेजी प्रतिनिधि रखना स्वीकार कर लिया और अफ़गानिस्तान की पर-राष्ट्रनीति को भारतवर्ष के अँग्रेज वाइसराय के अधीन कर दिया। कुर्रम आदि के जिले भी अँग्रेजी शासन में मिला लिये गये। इस प्रकार गंडमूक की संधि अँग्रेजों के लिये बड़ी लाभप्रद हुई और उनकी प्रायः सभी शर्तें स्वीकार कर ली गयीं। बदले में अँग्रेजों ने अमीर को ६ लाख रुपयों की वार्षिक वृत्ति देना स्वीकार किया तथा अफ़गानिस्तान से सभी अँग्रेजी सेनायें हटा ली गयीं।

तृतीय अफ़गान युद्ध—गंडमूक की संधि से लड़ाई तो बन्द हो गयी, परन्तु अफ़गानिस्तान में पूरी शान्ति नहीं स्थापित हुई। वहाँ की साधारण जनता किसी भी व्यक्ति को, जो विदेशी शक्ति पर निर्भर हो, अपना शासक मानने को तैयार नहीं थी और भीतर ही भीतर असन्तोष बढ़ता जा रहा था। अँग्रेज रेजीडेण्ट **सर लुई कैवेगनरी** जब काबुल पहुँचा, तो वह असंतोष और भी बढ़ गया। ३ सितम्बर सन् १८७९ ई० को कुछ क्रुद्ध अफ़गानों ने उसके दल समेत उसे मार डाला। फलतः अँग्रेजों ने पुनः युद्ध किया। जनरल रावर्ट्स् ने काबुल पर अधिकार जमा लिया और उपद्रवकारियों से बदला लिया। याकूबखाँ, जो अमीर था, अंग्रेजों से मिल गया, परन्तु तब भी वह गद्दी से हटा दिया गया और उसे पेंशन देकर भारत भेज दिया गया और वह यहाँ १९२३ ई० तक जीवित रहा। शेरअली के भतीजे **अब्दुलरहमान** को अफ़गानिस्तान का अमीर बनने के लिये अंग्रेजों ने तैयार किया। परन्तु इसी बीच अंग्रेजी सरकार का इङ्गलैण्ड में परिवर्त्तन हो गया और लार्ड लिटन को अपनी अफ़गानिस्तान सम्बन्धी नीति में समर्थन न मिलने के कारण १८८०ई० में अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ा।

लर्ड लिटन के बाद **लार्ड रिपन** भारतवर्ष के वाइसराय होकर आये। उन्होंने अफ़गानिस्तान के प्रति सर जान लारेंस वाली शान्ति की नीति को अपनाया। अब्दुलरहमान से संधि करके उसको सालाना सहायता देने का भारतवर्ष की अंग्रेजी सरकार ने वचन दिया और बदले में उसने पर-राष्ट्रनीति का संचालन अंग्रेजों के हाथों में सौंप दिया। किन्तु अब्दुलरहमान को सारे अफ़गानिस्तान पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये अंग्रेजों की सहायता लेनी पड़ी। उसका सबसे बड़ा प्रतिद्वन्द्वी शेरअली का लड़का अयूबखाँ था। मेवन्द नामक स्थान पर अब्दुलरहमान की सेनाओं पर उसकी भारी विजय

हुई। अतः अंग्रेजों की ओर से जनरल रावर्ट्स पुनः अफगानिस्तान भेजा गया। उसने अयूबखाँ को कन्दहार के युद्ध में हराया और उसके बाद अफगानिस्तान पर अब्दुलरहमान का अधिकार स्थापित हो गया। अंग्रेजी सेनायें वहाँ से लौटा ली गयीं और इस तरह तृतीय अफगान युद्ध का अन्त हुआ।

लार्ड डफरिन के समय (१८८४-८८ ई०) में तथा उसके बाद भी वर्षों तक अंग्रेजों के सामने अफगानिस्तान और रूस की सीमाओं का निर्धारण मुख्य प्रश्न था। रूस आगे बढ़ने के लिये प्रत्येक मौके का लाभ उठाता रहा; परन्तु धीरे-धीरे रूस और इङ्गलैण्ड के सम्बन्ध अच्छे होते गये। अंग्रेजों का प्रयत्न यह होने लगा कि अफगानिस्तान को भारतवर्ष की सीमा पर रूस के मुकावले एक अन्तर-राज्य (बफर स्टेट) बना दिया जाय और उन्होंने अफगानिस्तान के अमीर से मित्रता सम्बन्ध और भी दृढ़ कियां। १८९७ ई० में रूस और अफगानिस्तान की सीमाओं का भी निर्धारण हो गया। अब्दुल-रहमान १९०१ ई० में मर गया और उसके बाद उसका पुत्र हबीबुल्ला अमीर बना। उसने अंग्रेजी सरकार के साथ होनेवाली अपने पिता के समय की संधियों के पालन पर जोर दिया और अन्त में अंग्रेजों ने उसके साथ भी एक संधि कर ली और उसकी अनेक मांगें स्वीकार कर ली गयीं। लार्ड कर्जन जब तक भारतवर्ष के वाइसराय रहे, उन्होंने अफगानिस्तान के प्रति नर्मी का व्यवहार किया और अंग्रेजी सेनाओं को अफगानिस्तान की सीमाओं से हटा लिया।

२० फरवरी सन् १९१९ ई० को अमीर हबीबुल्ला का उसके शत्रुओं ने वध कर डाला। उसके बाद अमीर के पद के लिये हबीबुल्ला के भाई और भतीजे में युद्ध छिड़ गया। अन्त में उसका लड़का अमानुल्ला अमीर बनने में सफल हुआ। वह महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था और पंजाब में रौलट बिल के कारण फैली अशान्ति से लाभ उठाकर उसने खैबर के दर्रेपर आक्रमण कर दिया; परन्तु अंग्रेजी सेनाओं ने उसे परास्त कर दिया और उसे विवश होकर संधि करनी पड़ी। अफगानिस्तान की स्वतंत्रता स्वीकार कर ली गयी; परन्तु उसके और अँग्रेजी भारत के बीच की भौगोलिक सीमायें निश्चित कर दी गयीं। अँग्रेजी सरकार ने यह वचन दिया की अफगानिस्तान की पर-राष्ट्रनीति पर किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जायगा। काबुल में एक अँग्रेजी राजदूत के रहने की व्यवस्था की गयी और अमीर का एक प्रतिनिधि लन्दन में भी रहने लगा। इस संधि के बाद प्रायः सर्वदा ही अफगानिस्तान की अंग्रेजों से मित्रता बनी रही और अँग्रेजों ने उसके घरेलू मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं किया।

(२) पूर्वी सीमा : बरमा

कम्पनी-काल में अँग्रेजों के बरमा से दो युद्ध हुये, जिनके फलस्वरूप अराकान, तेनासरीम और पीगू को अँग्रेजों ने हड़प लिया और निचले बरमा पर उनका प्रभाव स्थापित हो गया था। परन्तु उत्तरी बरमा में प्राचीन राजवंश का अधिकार बना रहा और माण्डले उसकी राजधानी हो गयी। अँग्रेजी सरकार की ओर से वहाँ एक रेजीडेण्ट रहता था जो व्यापार की देख-रेख करता था।

परन्तु दोनों सरकारों के आपसी सम्बन्ध अच्छे नहीं थे। निचले बरमा का हाथ से निकलना बरमा-निवासियों को सदा खटकता रहा। १८७९ ई० में थीबो उत्तरी बरमा का राजा हुआ। उसने अपने स्वतंत्र कार्यों से अंग्रेजों को अप्रसन्न कर दिया। बरमा की पूर्वी सीमाओं पर फ्रांसीसियों ने अपने उपनिवेश बनाना प्रारंभ कर दिया था और उन्होंने भी भारत में अँग्रेजों की तरह साम्राज्यवाद फैलाना चाहा। बरमा की सरकार उनसे मित्रता स्थापित करना चाहती थी। १८८५ ई० में उक्त दोनों सरकारों की एक व्यापारिक संधि हो गयी और माण्डले में एक फ्रांसीसी दूत रहने लगा। इससे अँग्रेज डर गये और वे मौका ढूँढ़ने लगे। थीबो ने यह गलती की कि उत्तरी बरमा में व्यापार करनेवाली एक अँग्रेजी कम्पनी पर एक भारी जुर्माना कर दिया। इससे भारत की अँग्रेजी सरकार बड़ी क्रुद्ध हुई और उसने यह माँग की कि सारा मामला भारत के वाइसराय की पंचायत में भेजा जाय। थीबो ने इसे मानने से इनकार कर दिया। इस पर अँग्रेजों ने थीबो को एक चुनौती दी, जो बरमा के शासक के लिये मानना असंभव था। जब उसने अँग्रेजों की शर्तों को स्वीकार नहीं किया तो भारत सरकार ने बरमा पर चढ़ाई कर दी। फ्रांसीसियों ने बरमा की कोई मदद नहीं की और २० दिनों के भीतर ही माण्डले पर अँग्रेजी सेनाओं का अधिकार हो गया तथा थीबो कैद कर लिया गया। उत्तरी बरमा को अँग्रेजों ने १८९७ ई० में दक्षिण बरमा से मिलाकर वहाँ अपना शासन स्थापित कर दिया। रंगून उसकी राजधानी बना तथा उसका शासन एक लेफ्टिनेंट गवर्नर के अधीन किया गया। १९२२ में पूरा बरमा एक अलग प्रांत मान लिया गया और वहाँ एक गवर्नर नियुक्त किया गया। १९३७ ई० में बरमा भारत से अलग हो गया तथा १९४७ ई० में जब अँग्रेजों ने भारतवर्ष को स्वतंत्र कर दिया तो उसी समय उन्होंने बरमा की भी स्वतंत्रता मान ली और आजकल बरमा में एक स्वतंत्र गणतंत्र के द्वारा शासन-कार्य होता है।

थीबो के प्रति भारत की अंग्रेजी सरकार ने जो कुछ किया वह स्वार्थपूर्ण और अन्याययुक्त था। बरमा को किसी भी देश से दूत सम्बन्ध स्थापित

करने का पूरा अधिकार था, क्योंकि वह एक स्वतंत्र देश था। थीवो की निर्दयता के लिये उसे दण्ड देने का अंग्रेजों को कोई भी अधिकार नहीं था। हाँ यह अवश्य कहा जा सकता है कि थीवोने अंग्रेजी व्यापारी कम्पनियों के प्रति जो कठोरता दिखायी वह अन्यायपूर्ण थी, परन्तु उतने ही के कारण युद्ध अनिवार्य नहीं था। परन्तु अँग्रेजों ने उस मौके का पूरा लाभ उठाया और बरमा पर अधिकार करके अपनी प्रभुता को बढ़ाया।

(३) अन्य सीमान्त देशों से सम्बन्ध

नेपाल से अँग्रेजों के युद्धों के बाद भारत सरकार की मित्रता हो गयी और नेपाल ने उस मित्रता को अन्त तक निभाया। बाद में नेपाल को भारत सरकार ने स्वतंत्र राज्य स्वीकार कर लिया। १८६५ ई० में भूटान ने अँग्रेजों से युद्ध छेड़ दिया; परन्तु अन्त में उससे संधि हो गयी तथा वहाँ के शासक ने यह स्वीकार किया कि भूटान से होकर किसी भी दूसरे राष्ट्र की सेना नहीं जा सकेगी। तिब्बत पर लार्ड कर्जन के शासन-काल १९०३ई० में अंग्रेजी सेना ने आक्रमण किया परन्तु अंत में तिब्बत से संधि हो गयी और अंग्रेजों ने तिब्बत के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया।

(४) भारत की वर्तमान पर-राष्ट्रनीति

१५ अगस्त सन् १९४७ ई० को जब भारतवर्ष स्वतंत्र हुआ तो उसकी कोई अपनी स्वतंत्र पर-राष्ट्रनीति नहीं थी। उसके पहले जो कुछ भी इस देश की विदेशी नीति थी वह अंग्रेजों के द्वारा इंगलैंड के हित में संचालित होती थी। यहाँ के लोगों को स्वतंत्रता के समय तक विदेशी नीति संबंधी कोई शिक्षा नहीं दी गयी थी और भारत को उस क्षेत्र में नया श्रीगणेश करना पड़ा। परन्तु इसका एक बहुत बड़ा लाभ यह हुआ कि भारत का कोई शत्रु राष्ट्र नहीं था और सब देशों को उसके प्रति सहानुभूति थी। अपने प्रधान-मंत्री तथा परराष्ट्र-मंत्री पण्डित जवाहरलालनेहरू के नेतृत्व में भारत किसी भी देश के प्रति शत्रुता की भावना न रखकर सबकी मित्रता प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद विश्व के प्रायः सभी देशों से भारत ने राजदूत सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। दुर्भाग्यवश द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद प्रायः सारा संसार दो गुटों में बँट गया है, जो अमेरिका तथा रूस के अलग-अलग नेतृत्व में एक दूसरे से संघर्ष के लिये तैयार हो गये और फलतः विश्वशान्ति खतरे में पड़ गई। परन्तु भारत ने दोनों गुटों में किसी भी गुट से मिलने से इनकार कर दिया और तटस्थता की नीति बरतने का प्रयत्न

किया। पहले तो इसे भारत की कमजोरी माना गया और तटस्थता को अकर्मण्यता कहा गया; परन्तु बाद में धीरे-धीरे विदेशों में भारत की तटस्थता का समर्थन किया जाने लगा और उसे लोग अधिक समझने लगे। इस तटस्थता के लिये भारत को कई अवसरों पर दोनों ही गुटों का क्रोध-भाजन होना पड़ा है परन्तु भारत ने उसकी परवाह नहीं की और एक ऐसी परिस्थिति आई कि विश्व के अधिकांश देश भारत की ओर विश्वशांति की आशा से आँख लगाने लगे। भारत की पर-राष्ट्र नीति का मुख्य लक्ष्य विश्वशांति स्थापित करना हो गया है। वह प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न को निष्पक्ष दृष्टि से देखता है और उसे सुलझाने का प्रयत्न करता है। कोरिया में विराम-संधि स्थापित करने में संयुक्त-राष्ट्र-संघ के द्वारा भारत ने अथक परिश्रम किया और उसी के प्रस्ताव के आधार पर वहाँ विराम-संधि हुई तथा वह युद्ध के कैदियों को उनके देशों को भेजने तथा अपने देशों को जाने में अनिच्छुक कैदियों की व्यवस्था करने का निष्पक्ष पंच माना गया। कोरिया ही नहीं विश्व के और भी अशान्त क्षेत्रों में शान्ति स्थापित करने में भारत की बहुमूल्य देनें हैं। १९५४ ई० में फ्रान्स और हिन्दचीन के युद्ध को समाप्त करने तथा विराम संधि की देखरेख करने आदि समस्याओं के सम्बन्ध में एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग की स्थापना हुई और भारतवर्ष उसका अध्यक्ष माना गया। १९५६ में स्वेज के प्रश्न को लेकर जब इङ्गलैण्ड, फ्रांस और इसराइल ने मिश्र पर आक्रमण कर दिया तो भारत ने अपनी तटस्थता की नीति खोये बिना भी उसका डटकर विरोध किया। संयुक्त-राष्ट्र-संघ के प्रयत्नों से जब वहाँ युद्ध बन्द हुआ तो युद्धबन्दी के पालन के लिये वहाँ एक तटस्थ राष्ट्रों का सैनिक आयोग भेजा गया, जिसमें भारतीय जवानों और अफसरों की प्रमुखता है।

(अ) राष्ट्रवाद का समर्थन—भारत की तटस्थता की नीति का अर्थ निष्क्रियता नहीं है, यह ऊपर कहा जा चुका है। भारत ने एशिया और अफ्रिका के दलित देशों का प्रबल समर्थन किया है। इस दिशा में उसका सर्वमुख्य कार्य रहा है युरोपीय साम्राज्यवाद का विरोध करना तथा परतन्त्र देशों को स्वतंत्र कराने में सहायता देना। बरमा की स्वतन्त्रता के लिये भारत अपनी स्वतन्त्रता की लड़ाई के समय से आवाज उठाता रहा और बरमा उसके साथ ही स्वतन्त्र हुआ। यही नहीं भारत ने युरोप की साम्राज्यवादी शक्तियों के क्रोध की परवाह किये बिना हिन्द-एशिया की स्वतंत्रता के लिये प्रबल सहयोग प्रदान किया। हालैंड हिन्द-एशिया पर अपने अधिकार को छोड़ना नहीं चाहता था और संयुक्त-राष्ट्र-संघ के तत्वावधान में दोनों देशों के बीच जो सन्धि हुई थी, उसका तिरस्कार करके हालैण्ड ने हिन्द-एशिया पर सैन्य बल

का प्रयोग किया और उसे अपने अधिकार में लाने के लिये १९४८ ई० के अन्त में उस पर आक्रमण कर दिया। भारत ने विश्व के सभी स्वतन्त्र देशों की सहानुभूति को हिन्द-एशिया के लिये संगठित किया और एशिया के १७ देशों का एक सम्मेलन २० जनवरी सन् १९४९ ई० को दिल्ली में किया गया जो 'एशिया-सम्मेलन' के नाम से विख्यात हुआ। उसमें हालैण्ड के हिन्द-एशिया के ऊपर साम्राज्य-वादी आक्रमण की निन्दा की गयी और यह प्रस्ताव पास किया गया कि संयुक्त-राष्ट्र-संघ हिन्दएशिया को हालैण्ड के चंगुल से मुक्त कराने में सहायता करे। भारत ने आगे भी अपना प्रयत्न जारी रखा और अन्त में हिन्द एशिया स्वतंत्र हो गया। इसी प्रकार भारत ने अफ्रिका के ट्यूनीशिया, मोरक्को और अलजीरिया जैसे देशों की स्वतन्त्रता का सदा समर्थन किया है। उनमें से कुछ तो स्वतंत्र हो गये हैं परन्तु अलजीरिया अब भी परतन्त्र बना हुआ है। और फ्रांस की सैनिक शक्ति से आक्रान्त है। परन्तु आशा है उसे भी आत्मनिर्णय का अधिकार जल्दी ही मिल जायेगा।

(आ) **रंग-भेद का विरोध**—भारत की पर-राष्ट्रनीति में रंग-भेद का विरोध भी मुख्य रूप से दिखायी देता है। रंग-भेद का सबसे अधिक नग्न रूप दक्षिणी अफ्रिका में दिखाई दिया है। महात्मा गांधी ने, जब भारतवर्ष स्वतंत्र भी नहीं हुआ था, वहां रंग-भेद के विरुद्ध सत्याग्रह किया था और अन्त में वहाँ के प्रधानमंत्री जनरल स्मट्स ने उनसे समझौता कर लिया। परन्तु इधर कई वर्षों से वहाँ के प्रधानमन्त्री मलान और उनके उत्तराधिकारियों के नेतृत्व में राष्ट्रवादी सरकार ने जाति-भेद का सिद्धान्त मानकर अफ्रिका वासियों और दक्षिण अफ्रिका के भारतीयों के प्रति अनेक कठोरतायें बरतना प्रारम्भ कर दिया है। भारत ने स्वतंत्र होते ही उसकी पृथक्करण की नीति का विरोध कर दिया और प्रायः प्रत्येक वर्ष उस प्रश्न को संयुक्त-राष्ट्र संघ में उठाया है परन्तु अभी वहाँ गोरे लोगों के प्रभुत्व के कारण, उस प्रश्न का संतोषपूर्ण निबटारा नहीं हो सका है और भारत अपने प्रयत्नों में लगा हुआ है कि प्रश्न का कोई शान्तिपूर्ण और सम्मानपूर्ण हल निकल आवे।

(इ) **पड़ोसी देशों के प्रति भारत की मैत्री-नीति**—भारत का सबसे निकट का पड़ोसी देश पाकिस्तान है। १९४७ ई० के पूर्व तक वह भारत का अंग था; परन्तु सांप्रदायिकता की उग्रता के कारण स्वतंत्रता के समय वह अलग हो गया और भारत के प्रति उसकी नीति शत्रुतापूर्ण रही है। दोनों देशों में काश्मीर, निष्क्रांत सम्पत्ति, नहरों का पानी, पूर्वी बंगाल के हिन्दुओं के प्रति व्यवहार तथा व्यापार सम्बन्धी कई विवाद उठ खड़े हुये। उनमें सबसे जटिल काश्मीर की समस्या है। पाकिस्तान वहाँ स्पष्ट रूप से

आक्रमणकारी है तथा भारत ने 'शान्ति की ही नीति को अपनाया है। यदि भारत चाहता तो इस प्रश्न का निवटारा वह शक्ति-प्रयोग से कर सकता था परन्तु उसने ऐसा नहीं किया है। इस प्रश्न को संयुक्त-राष्ट्र-संघ के सामने उपस्थित करके भारत ने अपनी शान्ति की नीति का परिचय दिया है, परन्तु वहाँ गुटबन्दी के कारण यह प्रश्न अब भी उलझा हुआ है। तथापि भारत का यह प्रयत्न है कि वह पाकिस्तान से अपने सभी झगड़ों को शान्तिपूर्वक सुलझा ले और इस दिशा की ओर प्रयत्न जारी है। पाकिस्तान में १९५८ ई० में सैनिक शासन स्थापित हो जाने के बाद दोनों देशों के सम्बन्धों में कुछ सुधार अवश्य हुआ है और अनेक प्रश्नों पर समझौते भी हो चुके हैं।

लंका से भारत का सम्बन्ध कुछ दिनों तक बहुत उत्साहपूर्ण नहीं था। कारण यह था कि लंका सरकार वहाँ बसे हुए १० लाख भारतीयों को नागरिकता के अधिकार से वंचित रखना चाहती थी परन्तु भारत ने इस प्रश्न पर भी कोई जबरदस्ती नहीं दिखाना चाहा और उसने वहाँ की कोटलेवाला सरकार से समझौता कर लिया। १९५६ ई० में होनेवाले लंका के आम चुनाव में जब भण्डारनायक की विजय हुई और उनकी सरकार बनी तो दोनों देशों के सम्बन्ध बहुत सुधर गये और दोनों की विदेशनीति प्रायः एक सी हो गई।

बरमा से भारत की पूर्ण मित्रता है और दोनों देशों के प्रधानमंत्रियों के सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ रहे हैं। भारत ने बरमा की हर प्रकार से मदद की है और वहाँ के गृहयुद्ध को खतम करने में वहाँ की सरकार की सहायता भी की गयी है। कोलम्बो-योजना में भाग लेकर राष्ट्रमण्डल के अन्य देशों के साथ बरमा को भारत ने भी आर्थिक सहायता दी है।

नेपाल से भी भारत का मैत्री-सम्बन्ध है। वहाँ जनता की सरकार स्थापित करने में भारत के प्रधानमन्त्री ने हर प्रकार से सहायता दी है तथा वहाँ के संवैधानिक राजा तथा जन-नेताओं को उचित परामर्श देते हुये भी भारत सरकार नेपाल के आन्तरिक मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं करती। नेपाल की उन्नति के लिये भारत ने अपने विशेषज्ञों को नेपाल-सरकार की मांग पर भेजा है और उसे कुछ ऋण और आर्थिक सहायता भी दी है। १९५० ई० में भारत और नेपाल में पारस्परिक मित्रता की अकालिक सन्धि हुई और यह भी निश्चय हुआ कि एक दूसरे पर आक्रमण होने की अवस्था में दोनों देश एक दूसरे से परामर्श करेंगे और पारस्परिक सहायता करेंगे।

भारतवर्ष की भौगोलिक सीमा के भीतर फ्रांस और पुर्तगाल के कुछ छोटे-छोटे उपनिवेश अभी शेष थे। फ्रांस ने भारत सरकार की बात मानकर

चन्द्रनगर में मतगणना के फलस्वरूप उसकी भारत के साथ मिल जाने की मांग को स्वीकार कर लिया और उसका शासन-भारत को सौंप दिया। बाद में पांडिचेरी, माहे और कराईकल को भी फ्रांस ने भारतवर्ष की वास्तविक प्रभुसत्ता के भीतर दे दिया। परन्तु इस सम्बन्ध में जो सन्धि हुई उसे फ्रांस की पार्ल्यामेन्ट ने उस समय अपनी अन्तिम स्वीकृति नहीं दी। आगे वह कार्य भी जल्दी ही हो गया। परन्तु पुर्तगाल का रुख शत्रुतापूर्ण था। गोआ तथा अन्य उपनिवेशों में भारतवर्ष के समर्थकों को दमनकारी नीति का शिकार बनाया गया और ऐसा प्रतीत होता था कि पुर्तगाल उन्हें छोड़ने को तैयार नहीं है। उस सम्बन्ध में भी भारत की नीति अभी शान्तिपूर्ण ही थी। अन्त में विवश होकर गोआ को बल प्रयोग द्वारा स्वतंत्र करना पड़ा।

(ई) भारतवर्ष और चीन—उत्तर में हिमालय के पार भारत के पड़ोसी देश तिब्बत और चीन हैं। इन दोनों से भी भारत ने मित्रता के सम्बन्धों को बनाये रखना ही अपनी परराष्ट्रनीति का उद्देश्य माना। १९४९ ई० में चीन के गृहयुद्ध के फलस्वरूप जब साम्यवादियों की विजय हुई और वहाँ साम्यवादी सरकार स्थापित हो गई तो भारत ने उसे मान्यता दे दी और तुरंत पेकिंग में अपना दूतावास भी खोल दिया। उसके बाद सभी उपयुक्त अवसरों पर भारत यह दलील देता रहा और प्रयत्न करता रहा कि चीनी साम्यवादी क्रान्ति और वहाँ की सरकार को अन्य देश, विशेषतः संयुक्तराष्ट्र संघ भी स्वीकार कर लें और उसे राष्ट्रसंघ में स्थान भी मिल जाय। भारतीय सरकार चीन को कोई भी अप्रसन्न होने का अवसर न देना चाहती थी और इसी उद्‌देश्य से १९५४ ई० में भारत और चीन का तिब्बत के सम्बन्ध में एक समझौता भी हो गया, जिसमें भारत ने अपने अनेक राजनीतिक अधिकारों को छोड़ दिया और चीन की तिब्बत पर राजनीतिक अधिसत्ता स्वीकार कर ली। परन्तु दोनों देशों में एक बहुत बड़ी समस्या बनी रही। चीन के नक्शों में भारत के बहुत बड़े हिस्सों को चीन का भाग दिखाया जाता रहा। भारत ने इस सम्बन्ध में कई बार प्रतिवाद किया पर चीन से कोई सन्तोषजनक उत्तर न मिला और भीतर ही भीतर भारतीय सरकार चीनी साम्राज्यवाद से सशंकित रहने लगी। सुधारों के नाम पर चीनी सरकार ने १९५९ ई० में तिब्बत की आन्तरिक स्वतन्त्रता सैनिक बल से खतम करदी और भारत से १९५४ ई० में होनेवाले पञ्चशील समझौते की परवाह किये बिना भारत के व्यापारिक और तीर्थस्थानी अधिकारों को भी समाप्त कर दिया। दलाई लामा को भागकर भारत में शरण लेनी पड़ी और भारत तथा चीन के सम्बन्ध स्पष्टतया बिगड़ने लगे। यही नहीं इसके कुछ पूर्वसे ही चीन ने अनेक भारतीय

स्थानों पर भी कब्जा करना प्रारम्भ कर दिया था। चीन ने भारतीय सीमापर गश्ती सिपाहियों को मारना और पकड़ना शुरू कर दिया है। फलस्वरूप सीमाओं की रक्षा के लिये भारत ने अपनी सेनायें भेज दी हैं और दोनों देशों में एक जबरदस्त सैनिक तनाव की स्थिति बनी हुई है। समझौते के प्रयत्न जारी हैं परन्तु समझौते की कोई निश्चितता नहीं है।

(उ) भारतवर्ष और संयुक्त-राष्ट्र-संघ—भारतवर्ष संयुक्त-राष्ट्र-संघ के उद्देश्यों में विश्वास करता है। यह उसकी विश्वबन्धुत्व की नीति का फल है। उसका विश्वास है कि विश्वशान्ति के लिये यह आवश्यक है कि सभी विवादग्रस्त प्रश्न आपसी विचार-विनिमय के द्वारा निर्णय किये जा सकते हैं और उनके निर्णय के लिये युद्ध की आवश्यकता नहीं है। भारत ने अपने विवादग्रस्त प्रश्नों को उस विश्व-संस्था के सामने रक्खा है, यद्यपि उसकी न्यायपूर्ण बातें भी उन मामलों में संयुक्त-राष्ट्र-संघ ने स्वीकार नहीं की हैं। तथापि भारत का यह विश्वास है कि निष्पक्षता की नीति से संयुक्त-राष्ट्र-संघ को सचमुच एक आदर्श विश्व-पंचायत बनाया जा सकता है और वह उसी विश्वास से उसका सदस्य ही नहीं बना हुआ है अपितु उसके व्यय का बहुत बड़ा भार भी उठा रहा है। भारत ने संयुक्त-राष्ट्र-संघ की मर्यादा को बनाये रखने का हमेशा प्रयत्न किया है और शान्तिपूर्ण पर-राष्ट्रनीति का अवलंबन करते हुये उसकी कमियों की ओर यथासमय निर्देश किया है। भारत के प्रधानमन्त्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने अपने अनेक भाषणों में देश की पर-राष्ट्रनीति का विशद विवेचन किया है। उससे यह स्पष्ट है कि विदेशी नीति में भारत का मुख्य उद्देश्य यह है कि स्वार्थ की भावना छोड़कर समझौते के मार्ग द्वारा विश्व में शान्ति स्थापित की जाय। प्रत्येक भारतवासी की यही कामना है कि देश अपने उद्देश्य की प्राप्ति में सफल हो।

४३ अध्याय

स्वतंत्र भारत

१. भारत की स्वतंत्रता

पूर्व पृष्ठों में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की चर्चा की जा चुकी है। उसके अंत में भारतवर्ष को १५ अगस्त सन् १९४७ ई० को स्वतंत्रता मिल गयी। इस घटना का ऐतिहासिक दृष्टि से असाधारण महत्त्व है। एक ओर तो महात्मा गांधी के नेतृत्व में निहत्थे भारतवर्ष ने विश्व को सत्य और अहिंसा के महत्त्व और शक्ति को दिखाया तथा दूसरी ओर अंग्रेजी साम्राज्य ने भारत जैसे विशाल देश को सहर्ष त्याग देने का अभूतपूर्व उदाहरण उपस्थित किया। अंग्रेज राजनीतिज्ञों ने भारतवर्ष में होने वाले स्वातंत्र्य आन्दोलन को कई वर्षों तक दबाने का प्रयत्न किया, परंतु उसका क्षेत्र और प्रभाव बढ़ता ही गया। १९४२ ई० के आन्दोलन के बाद तो उन्होंने निश्चित रूप से यह समझ लिया कि चाहे कितनी भी शक्ति का प्रयोग क्यों न किया जाय, भारतवर्ष को अधिक दिनों तक दास बनाकर नहीं रखा जा सकता। अंग्रेजी सरकार के सामने दो ही मार्ग बच गये। प्रथम तो यह कि आन्दोलन को सर्वदा दबाने के प्रयत्न में दमन-चक्र चलाकर हिंसा, वैर और प्रतिशोध की भावना को बढ़ाया जाय तथा दूसरा यह कि स्वतंत्रता की उचित मांग को स्वीकार करके भारत की अमूल्य मित्रता प्राप्त कर ली जाय और अपने अन्तर्राष्ट्रीय और व्यापारिक स्वार्थों की रक्षा की जाय। उन्होंने दूसरा ही मार्ग उचित समझकर भारतीय नेताओं से समझौता करना अपना लक्ष्य बना लिया और सचमुच १५ अगस्त १९४७ ई० को इस महान् भारतीय भूखंड को स्वतंत्रता सौंपकर इसे अपनी मित्रता का इच्छुक कर लिया। उन्होंने महात्मा गांधी के सत्याग्रही और अहिंसात्मक शस्त्रों की महत्ता को समझा और उनके प्रति अपना मूक आदर प्रदर्शित किया।

२. स्वतंत्र संविधान

स्वतंत्र भारत के संविधान की भी पहले चर्चा हो चुकी है। परंतु यहां उसकी कुछ विशेषताओं का वर्णन करना उचित होगा। संविधान में भारतवर्ष को सर्वसत्तात्मक लोकतंत्रीय गणतंत्र कहा गया है। परन्तु पूर्ण रूप से स्वतंत्र होते हुए भी भारत स्वेच्छा से ब्रिटिश राष्ट्रमंडल का

सदस्य बना हुआ है। भारतीय संविधान के पीछे एक विशेष उद्देश्य है। देश के स्वातंत्र्य संग्राम के नेताओं ने भारतीय जनता की सर्वतोमुखी सेवा का जो व्रत उठाया था उसकी पूर्ति का संकल्प संविधान में किया गया है। राज्य का यह उद्देश्य माना गया है कि वह प्रत्येक नागरिक को उसकी मूलभूत आवश्यकताओं, जैसे—भोजन, वस्त्र, घर, शिक्षा और स्वास्थ्य की प्राप्ति और रक्षा में सहायता दे। निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का प्रबंध करना, बेकारों को कामधंधा दिलाना, रोगियों की चिकित्सा का प्रबंध करना तथा वृद्धों को जीवनयापन के लिये वृत्ति देना आदि उसके कर्त्तव्य माने गये हैं। भारतीय संविधान का आदर्श ऊपर गिनाये गये उपायों के द्वारा जन-सेवा के अतिरिक्त मानव स्वतंत्रता का रक्षण और विकास भी है। प्रत्येक नागरिक को अनेक प्रकार के मूलाधिकार प्राप्त हैं। समानता, रक्षा, भाषण और लेखन, सभा और जुलूस, निवास और गति, धर्म और संस्कृति, विश्वास और पूजा तथा सम्पत्ति के अधिकार उसे प्राप्त हैं। राज्य को संविधान के द्वारा पूर्ण रूप से धर्म-निरपेक्ष राज्य का रूप दिया गया है और हर एक जाति, धर्म और संप्रदाय को पूरी आतंरिक स्वतंत्रता है। इन बातों के अतिरिक्त भारतीय संविधान ने देश की सामाजिक कमजोरियों को पहचान कर उन्हें दूर करने का प्रयत्न भी किया है। अस्पृश्यता का संविधानतः निवारण किया गया है और उसे अवैध तथा दंडनीय माना गया है। पिछड़ी हुई जातियों की रक्षा के लिये तथा उनके विकास के लिये उन्हें विशेष सुविधायें प्रदान की गयी हैं और उनकी सर्वतोमुखी उन्नति के लिये आयोग की व्यवस्था की गई है। इस प्रकार भारतीय संविधान को पूर्ण रूप से आधुनिक और लोक-तांत्रिक बनाया गया है।

भारतीय भूखंड के स्वतंत्रता के बाद दो भाग हो गये हैं। अभी तक हमने केवल भारत के संविधान की चर्चा की है। पाकिस्तान, जो उसका दूसरा भाग है, अभी तक अपना संविधान बना सकने में सफल नहीं हो सका है। वहां का शासन बहुत दिनों तक आधारिक रूप में १९३५ ई० के भारतीय संविधान के अनुसार ही चलता रहा है। हां उसमें कुछ संशोधन अवश्य किये गये। स्वतंत्रता प्राप्त हो जाने के बाद वहां एक अल्पकालिक संविधान की योजना बनायी गयी, जिसके द्वारा १९३५ ई० के भारतीय संघ संविधान को कुछ थोड़े से परिवर्तन के साथ काम चलाऊ मान लिया गया। तदनुसार गवर्नर जनरल के विशेषाधिकार हटा दिये गये और एक उत्तरदायी मंत्रिमंडल की स्थापना की गयी। पाकिस्तान ने भी अपना नया संविधान निर्माण करने का कार्य प्रारंभ किया और कई वर्षों के बाद जब वह बनकर तैयार

और लागू भी हुआ तो अनेक राजनीतिक परिस्थितियों के कारण बहुत थोड़े दिनों के प्रयोग के बाद वह स्थगित कर दिया गया। सेना के निर्देश पर वहाँ के गणतंत्र के अध्यक्ष जनरल इस्कन्दर मिर्जा ने ही उसे स्थगित किया और अपने क्रांतिजन्य अधिकारों की घोषणा की। परन्तु अत्यन्त अल्पकाल के बाद उन्हें भी सेना के सेनापतियों ने त्यागपत्र देने को विवश किया। १९५८ ई० से पाकिस्तान में सैनिक शासन और फौजी कानून लागू है।

३. देश का विभाजन

भारतवर्ष को स्वतंत्रता तो मिली परन्तु देश के दो टुकड़े हो गये। अंग्रेजों ने १८५७ ई० के प्रथम स्वातंत्र्य युद्ध के बाद हिन्दुओं और मुसलमानों को लड़ाने की जो नीति अपनायी थी उसका प्रभाव मुसलिम-लीग के द्वारा चलाये जाने वाले भारत के विभाजनवाले आन्दोलन के रूप में आया। अंत में वह आंदोलन सफल हुआ और कांग्रेस के नेताओं को देश का बटवारा स्वीकार करना पड़ा। महात्मा गांधी के अनेक प्रयत्नों पर भी देश एक न रह सका। भारतवर्ष को अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिये देश के विभाजन का यह बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ा। उससे महान् क्षति हुई और उसकी पूर्ति कब तक होगी, यह कहना कठिन है। मुस्लिम-लीग की विषैली सांप्रदायिक नीति ने देश में आपसी हिंसा, वैर और प्रतिशोध का समुद्र उछाल दिया। मुसलमान हिन्दुओं और सिक्खों पर तथा हिन्दुओं और सिखों ने मुसलमानों पर मानो अपनी खून की प्यास बुझायी। १६ अगस्त १९४६ को बंगाल की मुस्लिम सरकार ने प्रत्यक्ष कारवाई का दिन घोषित किया और वहीं से रक्तपात की धारा वह चली। कलकत्ते, बिहार, नोआखली और पूर्वी बंगाल में हिन्दू-मुसलमान आपस में कटने-मरने लगे। स्वतंत्रता प्राप्त होते-होते सारा पाकिस्तान और उत्तरी भारत सांप्रदायिकता की आग में झुलसने लगा। खून, लूट, बलात्कार और अत्याचारों की बाढ़ आ गई। पाकिस्तान के हिन्दू और उत्तरी भारत, 'विशेषतः पूर्वी पंजाब के मुसलमान अपने घरवार, भूमि और संपत्ति को छोड़ कर क्रमशः भारत और पाकिस्तान की ओर भागने लगे। इस सब का फल बड़ा ही घातक हुआ। दोनों देशों में विस्थापितों की भारी समस्यायें उत्पन्न हो गयीं जो अब भी पूर्णतः नहीं सुलझ सकी हैं। निष्क्रमणार्थी संपत्ति के प्रश्न को लेकर दोनों देशों में इस जनसंख्या-परिवर्तन से उत्पन्न अब भी बहुत बड़ा झगड़ा बना हुआ है। इस महान् विपत्ति के अलावा देश का और भी कई दृष्टियों से नुकसान

हुआ है । देश के इस विभाजन की यदि राजनीतिक दृष्टि से व्याख्या की जाय, तब भी इसका अनौचित्य स्पष्ट है । अंग्रेजी सरकार ने इस देश को छोड़ तो दिया, परन्तु विभाजन के रूप में उसने इसकी बहुत बड़ी हानि की । संप्रदाय और धर्म के भेदों को राजनीतिक रूप देकर भविष्य के लिये एक बहुत बड़ी भयानक परिस्थिति उत्पन्न कर दी गयी । जो देश भौगोलिक दृष्टि से एक था और जिसे प्रकृति ने एक बनाया था तथा जिसका संपूर्ण इतिहास समष्टि का द्योतक था, उसका कृत्रिम विभाजन निश्चय ही कृत्रिम प्रश्नों को उत्पन्न कर चुका है । भारत और पाकिस्तान की प्राकृतिक सीमायें नष्ट हो गयी हैं और उनकी प्रति-रक्षात्मक रेखायें बिलकुल अप्राकृतिक हो गयी हैं, फलस्वरूप दोनों को करोड़ों रुपये व्यर्थ की सैनिक मदों में व्यय करना पड़ा है । सत्य तो यह प्रतीत होता है कि दोनों देश एक दूसरे से डर रहे हैं और जो धन जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने में व्यय किया जा सकता था वह अब सेना और शस्त्रों पर व्यय किया जा रहा है । विभाजन के कारण देश का आर्थिक ढांचा भी कमजोर हो गया है । १९४७ ई० के पूर्व का इतिहास यह बताता है कि भारत का आर्थिक विकास एकता के आधार पर हुआ था । परन्तु कृत्रिम विभाजन के द्वारा अनेक समस्यायें उत्पन्न हो गयीं । पूर्वी बंगाल के जूट के लिये पाकिस्तान में मिलों का अभाव हो गया तथा भारत की मिलों के लिये जूट और रूई का अभाव हो गया । पंजाब के गेहूँ और पूर्वी बंगाल के चावल के न प्राप्त होने के कारण भारतवर्ष का अन्न भंडार कम हो गया । प्रायः सभी उद्योगों के भारत में ही रह जाने के कारण पाकिस्तान की औद्योगिक शक्ति ही नष्ट हो गयी । इस प्रकार की अनेक कठिनाइयों का फल अब भी दोनों देशों को भोगना पड़ रहा है । उनमें आर्थिक और व्यापारिक मेल न होने से साधारण जनता को अनेक कष्ट भोगने पड़ रहे हैं । इन समस्याओं के अतिरिक्त विभाजन ने और भी अनेक समस्याओं को जन्म दिया । उनमें कश्मीर की समस्या, शरणार्थियों की संपत्ति-समस्या, पंजाब की नदियों के पानी की समस्या तथा पूर्वी बंगाल के अल्पसंख्यकों की समस्यायें अब भी बनी हुई हैं । भारत उनको सुलझाने के लिये पंडित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में त्याग भी करने को तैयार रहा है, परन्तु पाकिस्तान उन्हें न सुलझने देने में ही अपना लाभ देख रहा था । पाकिस्तान अन्तर्राष्ट्रीय नीति में भारत के प्रति अपनी नीति के कारण कुछ उलझनें भी पैदा करता रहा है । इस प्रकार सभी दृष्टियों से विभाजन के कारण देश की हानि ही हानि हुई । यह बात अवश्य कही जा सकती है कि पाकिस्तान के निर्माण से भारतवर्ष के भीतर सांप्रदायिक समस्या का प्रायः

अंत सा हो गया है। देश उस दृष्टि से निश्चिन्त हो गया है। जो कुछ उस क्षेत्र में चिन्ता की जाती है वह पाकिस्तान के भीतर हिन्दुओं की कठिनाइयों के कारण ही है। इधर जब से पाकिस्तान में सैनिक शासन की स्थापना हुई है, भारत-पाकिस्तान के सम्बन्धों में अवश्य कुछ सुधार हुये हैं। नहरी पानी के विवाद के सम्बन्ध में विश्व बंक दोनों देशों में समझौता कराने का कई वर्षों से प्रयत्न करता रहा है और आशा है जल्दी ही कोई समझौता हो जायगा। विभाजन के कारण उत्पन्न हुये आपसी पावनों और देनों के प्रश्न पर भी समझौते के प्रयत्न जारी हैं। व्यापार और सीमा निर्धारण सम्बन्धी कुछ समझौते हो भी गये हैं।

४. देश की सार्वभौम प्रभुसत्ता

अंग्रेजी साम्राज्य संपूर्ण भारतवर्षपर शासन की दृष्टि से अपना प्रत्यक्ष अधिकार तो नहीं स्थापित कर सका, परंतु उसकी प्रभुसत्तात्मक शक्ति भारत के प्रत्येक भागपर स्थापित हो गई थी। कंपनी के काल में अंग्रेजी सेनाओं ने तथा अंग्रेजी गवर्नर जनरलों ने भारत के अधिकांश भाग पर अधिकार कर लिया और वेलजली, हेस्टिंग्स और डलहौजी की नीति ने अनेक देशी रियासतों को हड़प लिया। परंतु १८५७ ई० के स्वातंत्र्य-युद्ध के बाद उन्हें अपनी नीति बदल देनी पड़ी और देशी राज्यों पर जबरदस्ती अधिकार करना बन्द हो गया। फलतः भारतवर्ष दो प्रकार के शासनों में वँट गया। एक था अंग्रेजी भारत और दूसरा था देशी भारत, जहां भारतीय राजे और राज्य बच रहे। इन भारतीय राज्यों की संख्या लगभग ५०० थी परंतु अधिकांशतः नाम के ही थे। जो कुछ वड़े भी थे उन सब ने १८५७ ई० के पहले ही अंग्रेजी सरकार को अपना प्रभु मान लिया था। सभी बड़ी-बड़ी रियासतों में अंग्रेजी 'रेजिडेण्ट' रहते थे जो अंग्रेजी स्वार्थ की वहां रक्षा करते थे और मौका लगने पर वहां शासन और नीति के निर्णयों में हस्तक्षेप भी करते थे। यह परिस्थिति भारत को स्वतंत्रता मिलने के समय तक बनी रही। परंतु भारतवर्ष से जाते समय अंग्रेजी सरकार ने यहां भी भेदनीति का एक निशाना छोड़ दिया। कानूनी दृष्टि से अंग्रेजी भारत की सारी रियासतें जब स्वतंत्र होने वाले भारत और पाकिस्तान को मिलीं तो उसी के साथ उन्हें उसी विरासत के भागस्वरूप संपूर्ण भारत की अधिसत्ता (पैरामाउण्ट्सी) भी मिली। परंतु उनकी नीति दोनों नवोदित देशों को कमजोर करने की थी, अतः अंग्रेजी सरकार ने यह घोषणा की कि भारतवर्ष छोड़ने के साथ देशी रियासतों पर उसकी अधिसत्ता का अवसान हो गया।

परंतु भारतीय नेताओं के विरोध करने पर लार्ड माउण्टबेटन ने इस दलील का खंडन न करते हुए भी यह घोषणा की कि देशी रियासतों को पुनः स्वतंत्रता प्राप्त हो जाने पर भी यह उचित है कि दोनों राज्यों भारत और पाकिस्तान में किसी से मिल जायँ और उनसे अपना सम्बन्ध स्थापित कर लें। उनकी भेदनीति को कुछ देशी रियासतों ने अपने लिये अच्छा अवसर माना और उन्होंने अपने को स्वतंत्र करने की चेष्टा की। इस कोटि में मुख्य काश्मीर, भोपाल और हैदराबाद थे। परंतु काश्मीर पर जब पाकिस्तान की सहायता पाकर कबायलियों ने आक्रमण कर दिया तो वहां के महाराजा हरिसिंह ने विवश होकर राज्य की रक्षा के लिये भारत से प्रार्थना की और काश्मीर का संबंध भारत से स्थापित हो गया। इस संबंध की और चर्चा पहले की जा चुकी है। भोपाल के नवाब ने कुछ दिनों तक आनाकानी की परंतु चारों तरफ से भारतवर्ष से घिरे होने के कारण उन्हें भी विवश हो भारत से संबंध स्थापित करना पड़ा। इसी प्रकार त्रावणकोर के महाराजा महोदय तथा उनके दीवान श्री रामस्वामी अय्यर को विवश होकर भारत से संबंध-स्थापन करना पड़ा। परंतु हैदराबाद के निजाम और उनके परामर्शदाता स्वतंत्रता का स्वप्न बहुत दिनों तक देखते रहे। वहां रजाकारों की मुस्लिम संप्रदायवादी संस्था ने अनेक उपद्रवों को प्रारंभ कर दिया और निजाम भी उनके चंगुल में फँस गये। निजाम को भीतर ही भीतर पाकिस्तान से तथा अंग्रेजों से सहायतायें प्राप्त होती रहीं और वे भारत से लड़ने के लिये सैनिक तैयारी भी करने लगे। भारत सरकार ने समझौते के मार्ग का अनुसरण किया परन्तु उससे जब काम न चला तो वहां 'पुलिस कारवाई' करनी पड़ी और वहां सेनायें भेज दी गयीं। दो दिनों के भीतर ही निजाम की सेनाओं ने हथियार रख दिया और हैदराबाद भारतवर्ष का अंग बन गया। वहां एक सैनिक गवर्नर की नियुक्ति कर दी गई और भारत सरकार ने शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली। परन्तु उपर्युक्त तीन राज्यों के अलावे कुछ ऐसे भी राज्य थे जो चारों तरफ से भारत से घिरे थे तथा जहां की जनता का बहुमत हिन्दू था परन्तु उन्होंने अपना संबंध पाकिस्तान से स्थापित कर लिया। जूनागढ़ इनमें मुख्य था। वहां के मुसलमान नवाब ने पाकिस्तान से अपना संबंध स्थापित कर लिया। उसका अनुसरण मंगरोल और मानवदर के नवाबों ने भी किया। परंतु उन राज्यों की जनता विद्रोह करने लगी, शासन का अंत हो गया तथा सुव्यवस्था स्थापित करने के लिये पाकिस्तान सरकार ने भारतवर्ष से प्रार्थना की। भारतीय सेनाओं ने वहां शान्ति स्थापना का कार्य किया

और वे राज्य भी भारत के साथ हो गये। पाकिस्तान में बहावलपुर, खैरपुर, कलात तथा बलोचिस्तान की छोटी रियासतें शामिल हो गयीं और इस प्रकार सभी रियासतों ने भारतवर्ष अथवा पाकिस्तान से अपना संबंध जोड़ लिया।

भारतवर्ष में रियासतों के संबंध-स्थापन से ही सारी समस्यायें सुलझ गयी हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। देश की एकता स्थापन का कार्य अभी अधूरा था। इस संबंध में देश सर्वदा ही स्वर्गीय सरदार वल्लभ भाई पटेल का नाम आदर और कृतज्ञता के साथ स्मरण करेगा। जिन रियासतों ने भारत के बीच रहकर उससे संबंध स्थापन नहीं करना चाहा उनको उन्होंने समझाया, बुझाया और कभी-कभी साम दान का प्रयोग करके सही रास्ते पर लाया। उनके मंत्रित्व में भारत सरकार के रियासती-विभाग तथा उसके सचिव श्री वी० पी० मेनन ने इस क्षेत्र में अनवरत कार्य किया। सरदार पटेल की नीति-कुशलता और शक्ति-प्रदर्शन से ही त्रावणकोर, भोपाल, हैदराबाद तथा जूनागढ़ जैसे मामले सुलझ सके। परन्तु इससे ही समस्या का अंत नहीं हो गया। बड़ी-बड़ी रियासतों ने प्रायः केवल तीन विषयों—प्रतिरक्षा, यातायात और विदेशी नीति में ही अधीनता स्वीकार की थी। परंतु बाद में वहां की जनता का समर्थन प्राप्त कर तथा पूर्ण विलयन के लाभों को बताकर सरदार पटेल ने काश्मीर को छोड़ कर सबको भारत में पूर्ण विलीन हो जाने के लिये राजी कर लिया। विलीनीकरण के बाद अनेक रियासतों को मिलाकर एकीकरण हुआ और अनेक रियासतों के संघों का निर्माण हुआ। इनमें दक्षिण का त्रावणकोर-कोचीनसंघ, राजस्थान-संघ, मत्स्य-संघ तथा पूर्वी पंजाब की रियासतों का संघ मुख्य थे। इसी के साथ मध्य भारत तथा राजपूताना आदि की अनेक छोटी-छोटी रियासतों को वहां के निकटस्थ प्रांतों से मिला दिया गया, जो अब उन प्रांतों के द्वारा शासित प्रदेश बन गयी हैं। कुछ बड़ी रियासतों या उनके समूह को शासकीय इकाई मान लिया गया। भारतीय संविधान ने पहले तो इन्हें 'आ' और 'इ' श्रेणी का राज्य मानकर राजप्रमुखों, लेफ्टिनेन्टगवर्नरों तथा कमिश्नरों के अधीन शासन का प्रांत मान लिया। उसी संविधान के अनुसार प्रायः सभी राजाओं, महाराजाओं तथा नवाबों को

सरदार वल्लभभाई पटेल

व्यक्तिगत भोग के लिये स्वीकृत 'कर' दिया गया है तथा कुछ को राजप्रमुख और राज्यपालों का पद भी दे दिया गया। सभी ने संतुष्ट होकर नये संविधान को स्वीकार कर लिया। १९५६–७ ई० में भारतीय राज्यों का पुनः संगठन हुआ तथा 'आ' और 'इ' राज्य समाप्त कर दिये गये। प्राचीन रियासतों का रहा सहा स्वरूप भी समाप्त हो गया और उनके क्षेत्रों पर भी अन्य राज्यीय सरकारों की तरह लोकतांत्रिक सरकारें स्थापित हो गईं।

५. भाषावार राज्यों की मांग

भारत की स्वतन्त्रता मिल जाने के बाद अनेक क्षेत्रों से भारत को भाषा की दृष्टि से पुनः राज्यों में विभाजित करने की माँगें उपस्थित की गईं। सचमुच भारत में अँग्रेजों ने जितने भी प्रांतों को बनाया सभी मनमाने ढंग पर आधारित थे। एक तो जैसे-जैसे उन्होंने प्रदेशों को जीता वैसे-वैसे प्रांत बनाते गये और दूसरी ओर शासन की सुविधा और सैनिक दृष्टियों से उनका निर्माण उन्होंने किया। उन्हें प्रांतों में सांस्कृतिक, विचारगत अथवा भावनात्मक एकता हो इसकी चिन्ता नहीं थी। फलस्वरूप अँग्रेजी शासन-काल में भी प्रांतों के पुनर्निर्माण की माँगें की गयी थीं और उनको देश की सबसे बड़ी राजनीतिक संस्था, अखिल भारतीय कांग्रेस का समर्थन भी प्राप्त था। फलतः बंगाल से उड़ीसा और विहार तथा पंजाब से सिन्ध अलग कर दिये गये। परन्तु स्वतंत्रता के बाद यह मांग बहुत बढ़ने लगी कि भारत में भाषा को आधार मानकर राज्यों का निर्माण किया जाय। इस देश में अनेक प्रादेशिक भाषायें हैं और उनके बोलनेवाले लोग भी हैं। वे चाहने लगे कि जहाँ तक संभव हो उन्हें एक राज्य में रहने दिया जाय ताकि उनका सांस्कृतिक विकास पूर्ण हो सके। ये मांगें अनुचित नहीं थीं। भारत सरकार ने इसका सिद्धान्त स्वीकार करके पहले तो आन्ध्र-राज्य का निर्माण [illegible]या। आंध्र में भाषावार प्रांत-निर्माण का आन्दोलन लगभग ४० वर्षों से चल रहा था और अंत में वहां इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये श्री पोट्टू श्री रामलू ने अनशन के द्वारा अपना प्राण-त्याग भी कर दिया। परन्तु इस प्रकार की मांगों के पीछे कहीं-कहीं राजनीतिक और आर्थिक स्वार्थों की भी झलक दिखाई देती थी। यह प्रवृत्ति बुरी और देश की एकता की दृष्टि से भयावह थी। भाषा की दृष्टि से संपूर्ण भारत का मानचित्र बदलना पृथक्करण की नीति को प्रोत्साहन देनेवाला सिद्ध हुआ है। परन्तु सरकार भी विवश थी। आंध्र के निर्माण के बाद हैदराबाद के विघटन, केरल, महाराष्ट्र और महागुजरात के निर्माण जैसी मांगों को अस्वीकार कर देना असंभव सा हो गया। फलस्वरूप भाषा के

आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के लिये एक **राज्य पुनर्गठन आयोग** की स्थापना की गई और उसकी सिफारिशों के फलस्वरूप भारतवर्ष में कुछ केन्द्र-शासित क्षेत्रों के अतिरिक्त कुल १४ राज्य स्थापित किये गये। फिर भी बम्बई और महाराष्ट्र के प्रश्न को लेकर दंगे और हत्यायें की गईं। १९५७ ई० में **राज्य पुनर्गठन विधान** संसद ने पारित कर दिया परन्तु उसके बाद भी अनेक क्षेत्रों में असन्तोष बना रहा। अब यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया है कि महाराष्ट्र और महागुजरात की मांग को स्वीकार कर लिया जाय और बम्बई प्रांत को उन दोनों के रूप में बांटने की प्रक्रिया शुरू हो गई है। परन्तु अभी कुछ क्षेत्रों में विदर्भ और पंजाबी सूबे की मांग बनी हुई है। स्पष्ट है कि भाषावार प्रांतों की मांग और स्वीकृति ने विघटनात्मक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित किया है।

६. परराष्ट्र-नीति

स्वतंत्र भारत की परराष्ट्र-नीति की विशेष प्रवृत्तियों और उद्देश्यों पर कुछ विचार पहले किया जा चुका है। एशिया के उठते हुए राष्ट्रीय आन्दोलनों तथा स्वातन्त्र्य युद्धों का समर्थन और उनका पक्षग्रहण, साम्राज्यवाद और वर्णभेद का विरोध, पड़ोसी तथा एशियाई देशों से मैत्री और विश्व में शांति-स्थापन का प्रयत्न करते रहना स्वतंत्र भारत की सरकार का उद्देश्य रहा है। परन्तु इन क्षेत्रों में उसे विशेष सफलता प्राप्त हो सकी हो, यह नहीं कहा जा सकता। इसके कई कारण हैं। स्वतंत्र भारत को विदेशी नीति के गूढ़ तत्वों का अध्ययन करने का विशेष अवसर नहीं प्राप्त हो सका और जब भारतीय प्रतिनिधियों ने सरकार में प्रवेश किया तो उनके सामने प्रधानतः कठिनाइयाँ ही रहीं। विश्व में दो विरोधी गुटों के होने के कारण सर्वत्र अविश्वास का वातावरण था। भारत सरकार के यह तय करने पर कि भारत किसी भी गुट में शामिल न होकर प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न पर स्वतंत्र तथा निष्पक्ष रूप से विचार करेगा, उसकी कठिनाइयाँ और भी बढ़ गयीं। दोनों गुटों में किसी ने हम पर विश्वास नहीं किया और हमारी भौतिक शक्ति भी इतनी अधिक नहीं थी कि हम किसी गुट को भयभीत कर सकते। इंगलैण्ड के लोग भारत छोड़कर चले तो गये थे, परन्तु कुछ वर्षों तक वे भी भीतर से भारत का विरोध ही करते रहे। काश्मीर के प्रश्न पर इंगलैण्ड और अमेरिका दोनों ने पाकिस्तान का पक्ष ग्रहण किया। साम्राज्यवाद का विरोध करने के कारण प्रायः सभी साम्राज्यवादी शक्तियां भी भारत के विरुद्ध हो गयीं और प्रायः सारा पश्चिमी युरोप और अमेरिका का भूखण्ड हमें सन्देह-

भरी दृष्टिओं से देखने लगा। परन्तु यह परिस्थिति लगभग सन् १९५० ई० तक विशेष रूप से रही। उसके बाद अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पल्ला कुछ भारत की ओर भी झुकने लगा।

१९५० ई० के लगभग विश्व की राजनीति में तहलका मचा देनेवाली कुछ घटनायें हुईं। उनका क्षेत्र विशेषतः सुदूरपूर्व था। चीन के महान् देश पर साम्यवादियों का अधिकार हो गया। उत्तरी कोरिया के साम्यवादियों ने दक्षिण कोरिया पर आक्रमण कर दिया। दक्षिण कोरिया की मदद के लिए संयुक्त-राष्ट्र-संघ की ओर से अमेरिका के नेतृत्व में पश्चिमी गुट की सेनायें आयीं और कोरिया अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध का अखाड़ा बन गया। पहले तो उत्तरी कोरियाइयों ने दक्षिणी कोरियाइयों को समुद्र तक ढकेल दिया, परन्तु उसके बाद अमेरिकी मदद से वे भगा दिये गये और संयुक्त-राष्ट्र-संघ की सेनाओं ने कोरिया की विभाजन-रेखा ३८ वें अक्षांश को पार करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। भारतीय सरकार ने बुद्धिमानी से युद्ध को रोकने का प्रयत्न किया। उसने चीन की साम्यवादी सरकार को मान्यता दे दी थी और यह चेतावनी दी कि यदि संयुक्त-राष्ट्र-संघ की सेनायें उत्तरी कोरिया पर चढ़ीं तो चीन भी युद्ध में उतर आयेगा। यह चेतावनी सही निकली और अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भारत का आदर बढ़ने लगा। २६ जनवरी १९५० ई० को पूर्ण स्वतंत्र हो जाने के बाद भी जब भारत ने राष्ट्रमण्डल में रहना स्वीकार कर लिया, तो इंगलैण्ड ने भी उसके प्रति अपनी नीति में परिवर्त्तन किया। उसकी बातें ध्यान से सुनी जाने लगीं और कई अवसरों पर जैसे—चीन को मान्यता देने में—इंगलैण्ड ने भारत का अनुसरण भी किया। अमेरिका की प्रतिक्रियायें भी अनुकूल होने लगीं। चीन को मान्यता देने तथा उसे संयुक्त-राष्ट्र-संघ में स्थान दिलाने की हिमायत करने के कारण रूसी गुट भी कुछ प्रसन्न हुआ। दोनों गुटों ने भारत का आदर करना प्रारंभ कर दिया। अन्त में जब कोरिया में विराम-संधि की चर्चा चलने लगी तो वह भारत के ही प्रस्तावों के आधार पर सम्भव हो सकी और उसकी शर्तों में भारत को सर्वमुख्य तटस्थ राष्ट्र मान लिया गया। वहाँ शान्ति के लिये जो भी प्रयत्न किये गये उनमें भारत ने भरपूर और महत्त्वपूर्ण कार्य किया। कोरिया में प्रत्यपर्ण-आयोग के अध्यक्ष के रूप में तथा युद्ध-बन्दियों की अभिरक्षक सेना के रूप में भारतीय सिपाहियों के कार्यों की मुक्तकण्ठ से सारे विश्व ने प्रशंसा की। इस प्रकार विश्व में शांतिस्थापन का महत्त्वपूर्ण कार्य भारत सरकार की वैदेशिक नीति का एक विशेष अंग हो गया।

शांति-स्थापन-कार्य के अलावा भारत वैदेशिक नीति में एक तीसरे क्षेत्र के निर्माण में भी कुछ सफल हुआ है। एशियाई राष्ट्रों की स्वतंत्रता तथा उनकी बातों को सुनाने के लिए वह प्रयत्नशील है और उसके प्रयत्नों से संयुक्त-राष्ट्र-संघ में एक ऐसा अरब-एशियाई गुट तैयार हो गया है, जो शांति का समर्थक है तथा साम्राज्यवादिता और वर्णभेद का विरोधी है।

दक्षिण अफ्रिका में भारतीयों और अफ्रिकावासियों के प्रति चलनेवाली वर्णभेद की नीति का विरोध भारत स्वतंत्रता-प्राप्ति के पहले से ही कर रहा है। परन्तु उसने इस विषय पर संयुक्त-राष्ट्र-संघ में केवल सैद्धान्तिक विजय पायी है और उक्त लोगों को कोई सक्रिय अथवा साकार लाभ नहीं हुआ है। इसका प्रधान कारण यह है कि शक्तिशाली शक्तियाँ, विशेषतः पश्चिमी युरोप और अमेरिका, इस विषय पर या तो उदासीन हैं या दक्षिण अफ्रिका के गोरों से सहानुभूति रखती हैं और भारत की तथा वर्णभेद के शिकार लोगों की कोई मदद नहीं करतीं।

साम्राज्यवाद के विरोध के क्षेत्र में भारत सरकार अपने देश के भीतर भी साम्राज्यवादियों के अंत के लिये शस्त्रग्रहण को तैयार नहीं है, बाहर की तो बात ही नहीं उठती। समझौतों की बातों और कूटनीति में उसका विश्वास है और उसके अनुसार शस्त्रग्रहण का प्रश्न नीति और शांति के विरुद्ध है। इधर हाल में प्रायः सर्वत्र अनुदारदलीय सरकारों के कारण साम्राज्यवादी शक्तियाँ कठोर हो गई हैं तथा 'इण्डोनेशिया कान्फरेन्स' के बाद इस क्षेत्र में भारत सरकार कुछ ठोस कार्य नहीं कर सकी है।

तटस्थता, स्वतंत्रता, साम्राज्यवाद का विरोध और शांति की नीति के कारण अधिकांश एशियाई राष्ट्र भारत के मित्र हो गये हैं। इनमें अफगानिस्तान, बरमा और हिन्देशिया प्रमुख हैं। लंका भी भारत का मित्रराष्ट्र है परन्तु वहाँ बसे भारतीयों के प्रश्न पर दोनों देशों में कुछ मतभेद अवश्य है। तथापि ऐसा निश्चित है कि यह प्रश्न समझौते के मार्ग से तय हो जायगा।

पाकिस्तान के सम्बन्ध में भारत की पर-राष्ट्र-नीति का विशेष महत्त्व है। वह अपने ही देश का भाग है परन्तु अलग हो गया है। धार्मिक कट्टरपंथिता और साम्प्रदायिकता को पाकिस्तान के द्वारा विदेशी नीति में, विशेषतः भारत के सम्बन्ध में महत्त्व दिये जाने के कारण, हमारे अनेक सम्बन्ध उससे उलझे हुये हैं। परन्तु यदि विचार कर देखा जाय तो भारत और पाकिस्तान की

विदेशी नीति एक ही होनी चाहिये। ठण्डे युद्ध में लिप्त होने की पाकिस्तान की इच्छा होने के कारण उसके सम्बन्ध भारत से अच्छे नहीं रहे हैं। भारतीय पर-राष्ट्र-नीति के पाकिस्तान से सम्बन्धित और पहलुओं पर पहले विचार किया जा चुका है और यहाँ उनके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है।

७. राष्ट्र का निर्माण

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारतवर्ष की जनता ने अपनी भौतिक उन्नति को हर प्रकार से सम्पन्न करना चाहा है और उस चाह की अभिव्यक्ति देश की केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों में भी परिलक्षित है। प्रत्येक प्रकार की आर्थिक समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया जा रहा है। अपने देश की आर्थिक व्यवस्था का आधार खेती है और इधर कई दशकों से या तो खेती के लिये नई भूमि को प्रयोग में न लाने से अथवा उपयोग में लाई हुई भूमि की उपज बढ़ाने के प्रयत्नों को न करने से देश को भरपूर अन्न की भी कमी हो गई है। विदेशों से अन्न मँगाने पर देश का बहुत अधिक धन लग जाता है। इस अवस्था से मुक्त होने का प्रयत्न किया गया है। नई जमीनें तोड़ी गई हैं और सिंद्री जैसे स्थानों में विशाल कारखाने खाद बनाने के लिये तैयार किये गए हैं। भूमि वितरण की व्यवस्था में समानता लाने के लिये अनेक प्रांतों ने अपने अपने क्षेत्रों में जमींदारियों और तालुकदारियों का अन्त कर दिया है। देश के उद्योगों को भी विस्तृत करने का प्रयत्न जारी है। इस क्षेत्र में व्यक्तिगत पूँजी लगाने को पूँजीपतियों को उत्साहित किया जा रहा है। इसके अलावा केन्द्रीय और अनेक प्रांतीय सरकारों ने स्वतः भी अपनी पूँजी लगाकर अनेक उद्योगों का प्रारम्भ और विस्तार किया है। खेती की उन्नति, वाणिज्य-विकास, उद्योगों का प्रसार तथा अन्य जनकल्याण-कार्यों के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार ने प्रथम पंचवर्षीय योजना तैयार की जो कार्यरूप में १९५६ ई० तक परिणत हो गई। द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना के भी चलते लगभग साढ़े तीन वर्ष पूरे हो चुके हैं।

भारतवर्ष की प्रगति और सर्वाङ्गीण उन्नति के लिये एक योजना बनाई जाय और तदनुसार आगे बढ़ा जाय, इसकी प्रेरणा अपने देश के वर्तमान प्रधानमंत्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू से मिली। फलस्वरूप भारत सरकार ने एक योजना-आयोग की स्थापना कर दी। उसने नियोजन कार्य को अपने हाथ में लेकर दो पञ्चवर्षीय योजनाओं को उपस्थित किया। प्रथम पञ्चवर्षीय योजना का कार्यकाल १९५१-५२ से १९५५-५६ तक था। इस योजना पर

५ वर्षों में २,०६८.७८ करोड़ रुपया व्यय करने की व्यवस्था की गई। व्यय की मात्रा निर्धारित करने में योजना में निम्नलिखित बातों का विचार किया गया। १—विकास का ऐसा क्रम अपनाया जाय कि भविष्य में भी बड़ी-बड़ी योजनाओं को कार्यान्वित किया जा सके। २—विकास कार्यों के लिये देश के कुल उपलब्ध साधनों को ज्ञात किया जाय। ३—निजी तथा सरकारी साधनों के बीच निकट सम्बन्ध स्थापित किया जाय। ४—योजना आरंभ करने के पूर्व केन्द्रीय तथा प्रांतीय सरकारों के द्वारा आरंभिक योजनाओं को भी पूरा किया जाय। ५—देश-विभाजन से बिगड़ी आर्थिक व्यवस्था को पुनः ठीक किया जाय। उपर्युक्त निर्देशनों को ध्यान में रखते हुए योजना का यह लक्ष्य था कि १९७७ ई० तक भारत की प्रत्येक व्यक्ति की आय कम से कम दुगुनी कर दी जाय। तात्पर्य यह था कि इस कार्य में प्रथम पंचवर्षीय योजना के अतिरिक्त कई और योजनाओं के निर्माण और प्रयोग की आवश्यकता समझी गई।

(१) प्राथमिकता

प्रथम पंचवर्षीय योजना में विकास कार्यों में प्राथमिकता का क्रम भी निश्चित किया गया। देश की आर्थिक व्यवस्था कृषि और गांवों पर आधारित है और इस दृष्टि से देश को उन्नत और आत्मनिर्भर बनाने का प्रयत्न किया गया। योजना में अनुमानित कुल खर्च का लगभग ४४·५ प्रतिशत अर्थात् ९२१·८४ करोड़ रुपयों को कृषि, सामुदायिक विकास, सिंचाई और बिजली के उत्पादन पर व्यय करना निश्चित किया गया। यातायात और संचार-साधनों की उन्नति पर कुल खर्च का २४ प्रतिशत अर्थात् ४९७·१० करोड़ रुपया लगाने की व्यवस्था की गई। उद्योग की उन्नति के लिये ८·४ प्रतिशत अर्थात् १७३·०४ करोड़ रुपया लगाना निश्चित हुआ। शेष समाजसेवा, पुनर्वास और विविध पर व्यय करना तय हुआ। आयोग ने कृषि को अधिक महत्त्व देने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए यह बताया कि खाद्यान्न और कच्चे माल की वृद्धि में पर्याप्तता न होने पर उद्योगों का भी सत्वर विकास असंभव है। गांवों की जनता की जब तक क्रयशक्ति नहीं बढ़ेगी, उत्पादन बढ़ जाने पर भी गरीबी बनी रहेगी। औद्योगिक क्षेत्र में जूट, प्लाईवुड, लोहा, इस्पात, एल्यूमोनियम, सीमेण्ट, रासायनिक खाद तथा भारी उद्योगों के लिये आवश्यक मशीनों और औजारों की उत्पादन वृद्धि का विशेष ध्यान रखा गया। प्राथमिकता के क्रम में प्रत्येक उपलब्ध साधनों के उपयोग पर जोर दिया गया।

(२) वित्त

पंचवर्षीय योजना के कार्यान्वय में जो धन लगने वाला था, उसे देश के भीतर तो प्राप्त करने का प्रयत्न किया ही गया, विदेशों से भी सहायता प्राप्त करने की ओर ध्यान दिया गया। केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों की आय की बचत, रेलवे की आय की बचत, जनता से ऋण तथा विदेशी सहायता की रकम इसमें मुख्य रूप से लगीं। भारत के पौण्ड पावने तथा विदेशी सहायता और ऋण पर पूरा ध्यान दिया गया। यदि कहीं कमी रही तो अतिरिक्त कर और जनता से ऋण लेकर उसे पूरा किया गया।

१९५६ ई० में प्रथम पञ्चवर्षीय योजना के पूरा हो जाने के बाद दूसरी पञ्चवर्षीय योजना लागू हुई। उसके भी समाप्त होने पर तीसरी योजना चल रही है।

८. योजनाओंके अन्तर्गत प्रगति

भारतवर्ष की प्रथम पंचवार्षिक योजना को १ अप्रैल सन् १९५१ ई० को लागू किया गया और तब से योजनाओं का युग चल रहा है। दूसरी योजना का यह पाँचवाँ वर्ष है और अब तक काफी उन्नति की जा चुकी है। देश में पहले की अपेक्षा अन्नोत्पादन बढ़ गया है और अब विदेशों से मंगाये जाने वाले अन्न की मात्रा में अपेक्षाकृत कमी हो गयी है। अनेक छोटी-बड़ी सिंचाई की योजनायें तैयार हो चुकी हैं। सिन्द्री में स्थापित खाद का कारखाना अपना कार्य प्रारंभ कर चुका है और वह भारत को ही नहीं, अन्य एशियाई देशों को भी खाद देने में समर्थ है। बिजली की सहायता से पानी देने के जो उपाय प्रारंभ किये गये हैं उनसे लगभग १५ लाख एकड़ अधिक भूमि की सिंचाई का कार्य प्रारंभ हो चुका है। इसके अलावा पानी से जहां बिजली उत्पन्न करने की योजना है, वहाँ वह योजना-काल के आगे चल रहा है। देश में चारों ओर सामुदायिक योजनाओं का जाल बिछा दिया गया है; परन्तु इस क्षेत्र में अमेरिकी सहायता पर विश्वास किया गया है और उसकी गति धीमी होने से विशेष प्रगति नहीं हो सकी है। भाखरा-नांगल बांध, दामोदरघाटी योजना, हीराकुंड बांध और तुङ्गभद्रा सिंचाई योजना में भी काफी प्रगति हो चुकी है। उद्योग के क्षेत्रों में आसनसोल का चितरंजन कारखाना अब रेलगाड़ियों के इंजिन तैयार कर रहा है। बंगलोर का टेलीफोन कारखाना भी टेलीफोन के अनेक सामानों को बनाने लगा है। उत्तरप्रदेश में खुर्दबीन तथा पानी के मीटर बनने लगे

हैं। विशाखापट्टम में जहाज का कारखाना तीन जहाजों को बना चुका है और दो शीघ्र ही तैयार होने वाले हैं। देश के भीतर सूती कपड़े और सीमेण्ट का उत्पादन बढ़ गया है। परन्तु यहाँ यह ध्यान रखा गया है कि मिलों के उद्योग के बढ़ जाने से ग्रामोद्योग के विकास को कोई क्षति न हो। ग्रामोद्योग, विशेषतः करघों के उद्योग को सरकार की ओर से संरक्षण दिया जा रहा है। सूती मिलों में उत्पादित धोतियों के उत्पादन-प्रतिशत को अध्यादेश चालू करके कम कर दिया गया है और बारीक कपड़ों पर चुङ्गी लगाकर करघा-व्यवसाय को सहायतायें दी जा रही हैं। खादी की उन्नति तथा प्रचार के लिये सरकार की ओर से आर्थिक और अन्य प्रकार की सहायतायें दी जा रही हैं। ग्राम्य क्षेत्रों के अन्य कुटीर-शिल्पों के विकास के लिये सहकारी-समितियों का निर्माण और उन्हें प्रोत्साहन देने की व्यवस्थायें की गई हैं।

९. विचारधाराओं का संघर्ष

बीसवीं शती को ऐतिहासिक दृष्टि से विचारधाराओं के आपसी संघर्ष का युग कहा जा सकता है। विश्व, विशेषतः युरोपीय देशों में विचारों के संघर्ष को आधुनिक सभ्यता की नयी परिस्थितियों ने प्रभावित किया है। फ्रान्सीसी राज्यक्रांति के बाद यदि समता, स्वतंत्रता और बन्धुत्व के नारे लगाये गये तो व्यावसायिक क्रांति ने विश्व में नई आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों का निर्माण किया। धनीवर्गों तथा मजदूरों की जीवन दशाओं में जो विशेष अन्तर दिखाई दिया उसके कारण नये विचारों को प्रोत्साहन मिला। जीवन का दृष्टिकोण पूर्ण रूप से भौतिकवादी हो गया और जीवनयापन की सुविधाओं के समान उपभोग की आवाज उठने लगी, जो समता के सिद्धान्त पर आधारित थी। इन विचारों के अतिरिक्त साम्राज्यवाद का १९वीं शती में अधिक जोर बढ़ जाने के कारण एक ऐसी प्रतिक्रिया हुई जो राष्ट्रवादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करने लगी। इन विचारों का भारतवर्ष पर भी प्रभाव हुआ। अँग्रेजी भाषा के प्रचलन तथा अँग्रेजी राज्य होने से युरोप के विचार यहाँ भी तेजी से आये और फलस्वरूप यहाँ का भी इतिहास प्रभावित हुआ।

स्वतंत्रता प्राप्ति तक भारतवर्ष की मुख्य विचारात्मक प्रवृत्ति राष्ट्रवाद की ओर उन्मुख थी। इस राष्ट्रवाद का तात्कालिक कारण तो विदेशीय राजनीतिक सत्ता, शोषण तथा उत्पीड़न था; परन्तु उसका आधार मानसिक पुनर्जागरण था। १९वीं शती के प्रारंभ से ही इस देश पर पश्चिमी सभ्यता

और विचारों का प्रभाव पड़ने लगा। एक ओर जहाँ उसे ग्रहण की प्रवृत्ति पढ़े-लिखे लोगों में आयी, वहाँ दूसरी ओर आत्मवेक्षण का भी भाव जागने लगा। धीरे-धीरे यह अनुभव किया जाने लगा कि देश की दुरवस्था दूर करने के लिये अपने प्राचीन साहित्य, कला, संस्कृति और सभ्यता से प्रेरणा प्राप्त की जा सकती है और इस प्रकार देश का मानसिक पुनर्जागरण प्रारंभ हुआ। राजा राममोहन राय, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन, महादेव गोविन्द रानाडे, काशीनाथ त्र्यम्बक तेलंग, रामगोपाल भण्डारकर, महर्षि दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द और श्रीमती एनीबेसेण्ट आदि इस मानसिक पुनर्जागरण के अग्रदूत थे। इन सभी व्यक्तियों ने अपने अतीत के गौरव को उपस्थित करने के साथ वर्तमान की धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक कमियों को दूर करने का भी प्रयत्न किया। जब अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा (इंडियन नेशनल कांग्रेस) का जन्म हुआ और उसका कार्य आगे चलने लगा तो उसके नेताओं में भी इस मानसिक पुनर्जागरण की प्रवृत्ति आयी। महात्मा गांधी में देश का मानसिक पुनर्जागरण और राष्ट्रवाद समष्टि तथा सामञ्जस्य को प्राप्त हुआ और यह सामञ्जस्य की प्रवृत्ति स्वतंत्रता प्राप्ति तक चलती रही। परन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश के वास्तविक निर्माण का प्रश्न उपस्थित हुआ है और अब विचारधाराओं का संघर्ष स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होने लगा है। यदि उन सभी संघर्षों का समन्वय किया जाय तो उसके दो मुख्य प्रकार दिखाई देंगे। विचारगत संघर्ष का एक क्षेत्र है पूर्व और पश्चिम की सभ्यता और संस्कृति में वरीयता का प्रश्न और दूसरा है प्राचीन और नवीन के चुनाव की समस्या।

यहाँ पहले पूर्व और पश्चिम की सभ्यताओं तथा संस्कृतियों के चुनाव का प्रश्न विचार के लिये लिया जा सकता है। भारत और चीन पूर्व के ऐसे राष्ट्र हैं जिन्होंने विश्व में अत्यन्त प्राचीन सभ्यताओं और संस्कृतियों का निर्माण किया है और उसके द्वारा विचारों का क्षेत्र सम्पन्न किया है, आध्यात्मिक चिंतन की उच्चता प्राप्त की है, धार्मिक सहिष्णुता दी है तथा जीवन का त्यागात्मक दृष्टिकोण उपस्थित किया है। परन्तु इनके साथ ही उनकी सभ्यता तथा संस्कृति ने धार्मिक अन्धविश्वास भी पैदा किया है तथा सामाजिक कुरीतियां और वैषम्य उपस्थित करके ऊँच-नीच का भाव भी बढ़ाया है। इसके विपरीत पश्चिम के वे देश हैं जो भौतिकता को प्रथम स्थान देते हैं, आधुनिक लोकतंत्र का पालन करते हैं तथा सामाजिक समता का भोग करते हैं। इनमें से किसे चुना जाय यह प्रश्न सैद्धान्तिक और विचारगत युद्ध का कारण बना हुआ है।

तुर्की और जापान जैसे एशिया के ऐसे देश हैं जिन्होंने अपने को पश्चिमीय रंग में रंग कर पर्याप्त उन्नति की है। क्या भारत भी उस दिशा पर चल सकता है? इस प्रश्न का उत्तर केवल यही हो सकता है कि उपर्युक्त दोनों पक्षों में किसी भी एक को एकान्ततः स्वीकृति नहीं दी जा सकती। प्रत्येक देश की अपनी विचार-पद्धति, जातीय और राष्ट्रीय गुण, भौगोलिक विशेषता और ऐतिहासिक प्रवृत्ति होती है और वह सचमुच उसी की सरणि में आगे बढ़ सकता है। धार्मिक अन्धविश्वासों के अन्त तथा सामाजिक कुरीतियों और वैषम्य को दूर करने में भारत पश्चिम की नकल तो अवश्य कर सकता है तथा लोकतंत्रात्मक प्रणालियों के अनुसरण से उसे लाभ प्राप्त करने की भी सम्भावना है; परन्तु पश्चिम की अंधाधुन्ध नकल से उसका हर प्रकार से लाभ होगा, यह नहीं कहा जा सकता। आज अनेक ऐसे पश्चिमी विचारक भी हैं जो यह मानते हैं कि पश्चिम स्वयं अपनी सभ्यता और अपनी उन्नति का शिकार बना हुआ है पश्चिम में भौतिकता को इतना अधिक महत्त्व प्रदान कर दिया गया है कि उसे बहुत अधिक साधनों की प्राप्ति होते हुये भी वहाँ सन्तोष, शान्ति और सुख नहीं है। ऐसी दशा में भारत को अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्ति और सर्वकल्याण की भावना का त्याग नहीं करना चाहिये तथा त्यागात्मक भोग पर जोर देना चाहिये। इस प्रकार के सामञ्जस्य से ही देश की उन्नति संभव है।

दूसरा प्रश्न है प्राचीन और नवीन के चुनाव का। कुछ लोग ऐसे हैं जो केवल प्राचीन की सत्यता में ही विश्वास करते हैं और किसी भी नयी चीज को या तो स्वीकार नहीं करते अथवा उसे प्राचीनता में खोजने का प्रयत्न करते हैं। दूसरे ऐसे हैं जो प्राचीनता को दकियानूसी और प्रतिक्रियावादिता की संज्ञा देते हैं और नवीनता की पुरोहिती करते हैं। परन्तु ये दोनों ही अतियाँ है जिनका मुख्य आधार एक-दूसरे के प्रति अज्ञान और भ्रम है। ऐसी अनेक प्राचीन वस्तुएं, विचार, प्रथाएँ, परम्पराएँ तथा विश्वास हैं जो आज भी समाज के लिये उपयुक्त हैं और विचार करने पर वे सही ज्ञात होते हैं। उनके साथ कुछ ऐसे भी विचार और तज्जन्य कार्य हैं जिन्हें आज ठीक नहीं कहा जा सकता और जिन्हें या तो आज परिवर्त्तित करने की या छोड़ने की आवश्यकता है। अनेक में संशोधन भी होने चाहिये। ऐसी दशा में दोनों के समन्वय और सामञ्जस्य की आवश्यकता है। यह कहना कि जब हमारा प्राचीन था तब था और अब उसके ढोल पीटने की कोई आवश्यकता नहीं है, प्रश्न को या तो नहीं समझना है या उसे टाल देना है। सच तो यह है कि प्राचीन और नवीन एक ही सरणि के दो छोर हैं। जिसका अपना

प्राचीन नहीं है, उसका वर्त्तमान और भविष्य भी नहीं होगा, यह कहना कुछ गलत नहीं जान पड़ता।

विचारधाराओं के संघर्ष के उपर्युक्त दोनों ही रूप एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं और उन्होंने सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा आर्थिक सभी क्षेत्रों में अपना घर कर लिया है। उनका प्रभाव इन सभी विषयों से सम्बद्ध साहित्यों, भाषणों और विचार गोष्ठियों में देखा जा सकता है। परन्तु समन्वय और सामञ्जस्य के बिना प्रगति संभव नहीं है तथा बिना विवेक के देश का पुनर्निर्माण नहीं हो सकता। यदि इस बात का ध्यान रखा जाय कि संघर्ष के बिना समन्वय नहीं होता तो देश निर्माण में कोई भय का कारण नहीं दीख पड़ेगा। संघर्ष में विवेकबुद्धि स्वतः विकसित होगी और देश उन्नति के पथ पर चलेगा।
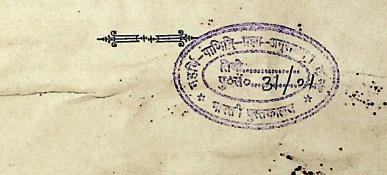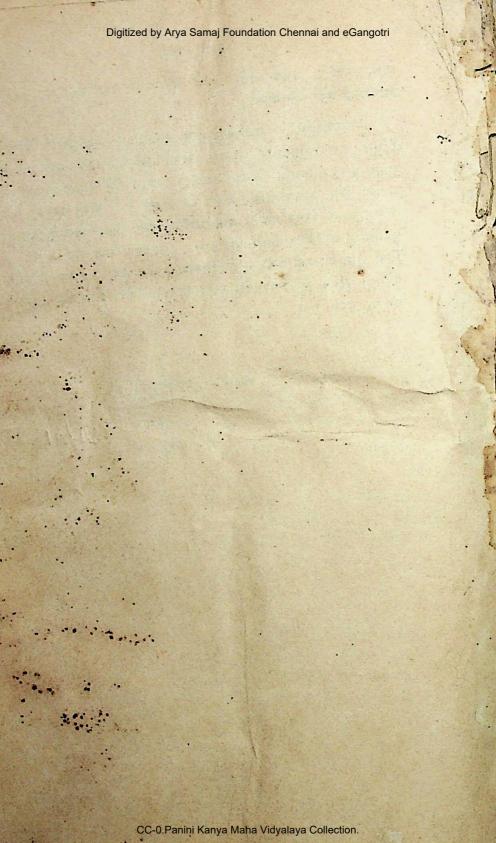
हिन्दू संस्कार

(सामाजिक तथा धार्मिक अध्ययन)

डॉ० राजबली पाण्डेय

गर्भ में आने के समय से मृत्यु के समय तक और मृत्यूत्तर संस्कारों के माध्यम से उसके परवर्ती लोकोत्तर प्रयाण तक के हिन्दू जीवन को समझने के लिये यह ग्रन्थ कुञ्जी का काम देता है। हिन्दुओं की सामाजिक तथा धार्मिक संस्थाओं के विविध अंगों के रहस्य इससे स्पष्ट हो जाते हैं। मानव-जीवन बराबर रहस्यपूर्ण रहा है। उसका प्रादुर्भाव, विकास और तिरोभाव मानव-मन को बराबर आन्दोलित करते हैं। संस्कारों ने इस रहस्य की गम्भीरता को थहाने और प्रवहमान रखने में बराबर योग दिया है। हिन्दू जीवन को, एक प्रकार के मार्ग और पद्धति के रूप में, अक्षुण्ण रखने में संस्कारों का बड़ा हाथ है। वेदों से प्रारम्भ कर मध्ययुगीन और किन्हीं स्थलों में आधुनिक भारतीय साहित्य के भी अध्ययन के परिणाम इस ग्रन्थ में समाविष्ट हैं। मूल्य १५-००

विक्रमादित्य [संवत्-प्रवर्तक]

डॉ० राजबली पाण्डेय

प्रस्तुत ग्रन्थ में अनेक मत-मतान्तरों की समीक्षा करके यह दृढ़तापूर्वक स्पष्ट किया गया है कि ५७ ई० पूर्व में विक्रमादित्य द्वारा बर्बर शकों का पराजय और मालवगण की पुनःस्थापना करके एक नवीन संवत् का प्रवर्तन असंदिग्ध ऐतिहासिक घटना है। इस घटना का बहुत बड़ा राष्ट्रीय महत्त्व है। इसके अतिरिक्त विक्रमादित्य के जीवन तथा तत्कालीन भारतीय इतिहास पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। यह बहुत ही गवेषणा-पूर्ण और विचारोत्तेजक रचना है। भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों और पाठकों के लिये अत्यन्त उपादेय है। छपाई-गेटअप आधुनिकतम। मूल्य १०-००

प्राप्तिस्थानम्—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१